ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
UGC Care Approved Research journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

त्रैमासिक

बहुरि नहिं आवना

अंक-26
जनवरी, 2024 - मार्च, 2024
मूल्य : 200 रुपए

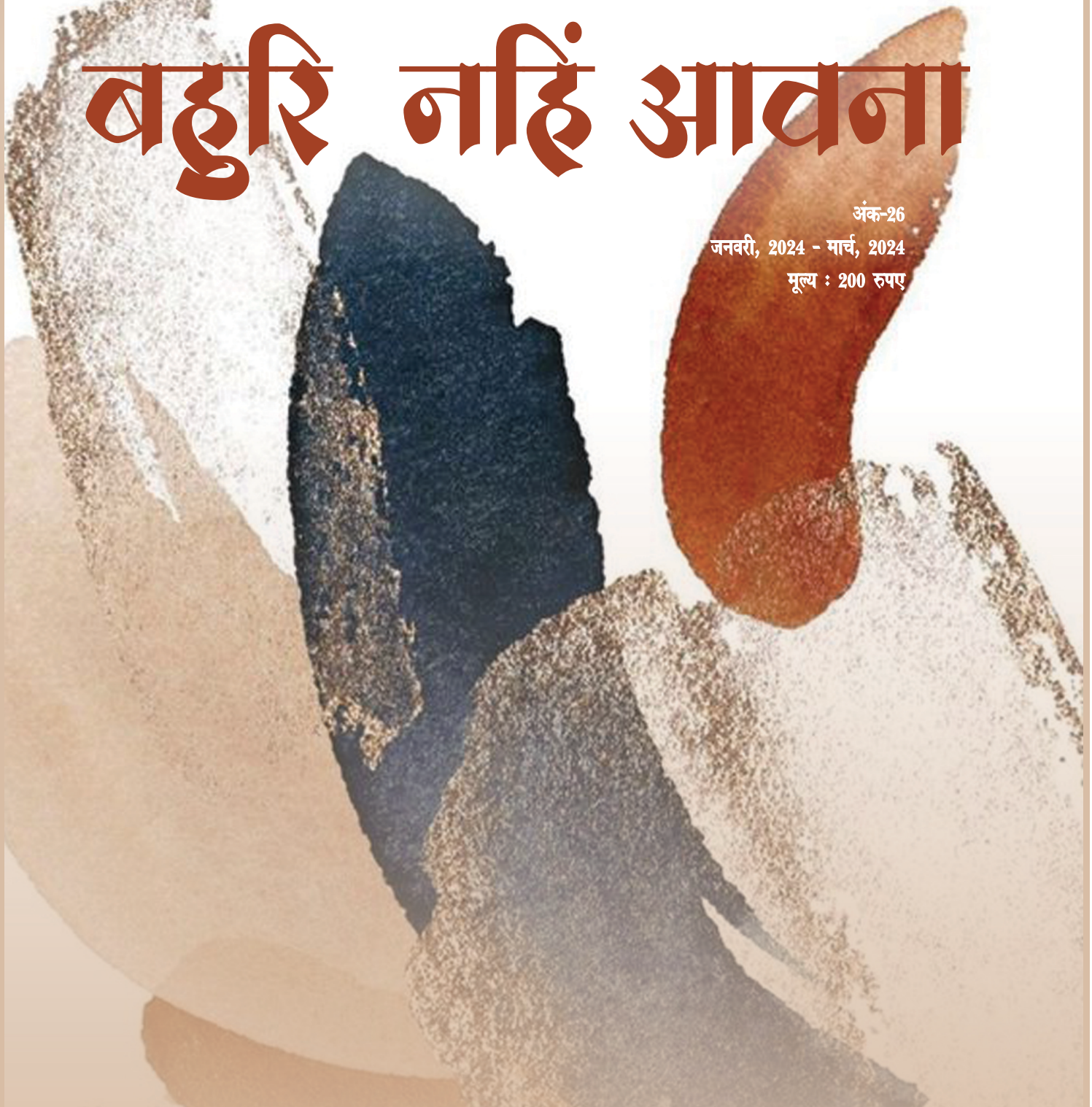

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत

संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

प्रधान संपादक
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
संपादक
प्रो. दिनेश राम
सहायक संपादक
डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'
तान्या लाम्बा
भाषा सहयोग
डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'
डा. राजकुमार राजन
कानूनी सलाहकार
एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ
डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार, डा. मनोज दहिया
अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ
ओमप्रकाश वाघा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव, डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

वर्ष : 16
अंक : 26
अंक : जनवरी, 2024 - मार्च, 2024
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Page Rs. 20,000/-
Half Page Rs. 10,000/-
Qtr. Page Rs. 5,000/-
Back Cover Rs. 40,000/- (four colour)
Inside Front Rs.35,000/- (four colour)
Inside Back Rs. 35,000/- (four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page12 cms x 9 cms

*पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
*पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
*अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
*'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
*स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली–30 से प्रकाशित।
*'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय : रब ने बना दी जोड़ी?	*–ज्योति कुमारी*	5
1. खुशवंतनामा पढ़ते हुए	*–प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'*	7
2. आजीवक परंपरा के सिद्धांत और सद्गुरु रैदास की विचारधारा	*–डॉ. दीनानाथ*	14
3. कार्टून और चुटकुलों में बदलते देश का दस्तावेज हैं धूमिल की कविता	*–डॉ. सत्यप्रकाश सिंह*	18
4. तीसरी कसम : हीराबाई और हिरामन के रिश्तों का समाजशास्त्रीय अध्ययन	*–डॉ. प्रवीण कुमार*	25
5. समकालीन हिन्दी कविता और शमशेर की बिम्ब-योजना	*–डॉ. नीलम सिंह*	28
6. मलयज की दृष्टि में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सौन्दर्य की भोगभूमि और कर्मभूमि	*–डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार सन्तोष*	33
7. बौद्ध ग्रन्थों के आलोक में प्राचीन भारतीय चिकित्सा परम्परा एक ऐतिहासिक अध्ययन	*–डॉ. रंजना रावत*	37
8. संस्कृति-पुरुष : डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु	*–डॉ. हेमंत कुमार हिमांशु*	41
9. हिन्दी सिनेमा और समाज	*–डॉ. अलोक रंजन पाण्डेय*	44
10. किसान की भोर	*–डॉ. रीता नामदेव*	48
11. राजनीतिक पार्टियों का आम जनता के मतदान व्यवहार पर प्रभाव	*–डॉ. मुकेश कुमार* *–लाल सिंह*	51
12. भारतीय संविधान और मानवाधिकार एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	*–अरुण कुमार* *–डॉ. जितेन्द्र कुमार*	55
13. प्रवासी हिंदी नाटक मॉरीशस के विशेष संदर्भ में	*–डॉ. मुनिल कुमार वर्मा*	58
14. राजस्थान के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री	*–डॉ. जयसिंह मीणा*	62
15. भारतीय समाज की नवजागृति में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के अभूतपूर्व योगदान का अध्ययन	*–लता शर्मा* *–डॉ. अनीता सिंह*	65
16. नई कहानी के दौर में पारिवारिक संबंधों का यथार्थ	*–डॉ. सिन्धु जी नायर*	69
17. हिंदी सिनेमा पर बाजारवाद का प्रभाव	*–डॉ. नमिता जैसल*	73
18. इक्कीसवीं सदी की दलित कहानियों में दलित चेतना का बदलता स्वरूप	*–नेहा कुमारी*	76
19. पाश्चात्य साहित्य में स्त्री चेतना 'ओथेलो' के विशेष सन्दर्भ में	*–श्रीमती प्रियंका*	80
20. राग दरबारी : स्वातंत्र्योत्तर अवध की भदेस गाथा	*–विनीत कुमार अवस्थी*	85
21. भारतीय सिनेमा का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव	*–डॉ. दीप सिंह*	89
22. रामदरश मिश्र कृत उपन्यास 'थकी हुई सुबह' : एक दृष्टि	*–डॉ. शशी पालीवाल*	93
23. बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स (श्रीअन्न) की खेती की संभावनाएं–एक अध्ययन	*–डॉ. हीरालाल*	96

24. भारतीय दर्शन में उपमान प्रमाण का तार्किक अनुशीलन	*–डॉ. श्रीप्रकाश तिवारी*	100
25. कुमाऊँ के असंगठित क्षेत्र में बाल श्रमिक	*–डॉ. निदर्शिता बिष्ट*	103
26. श्रीरामचरितमानस की अनुशीलन विधि	*–डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी*	107
27. विवाह के असुधार्य भंग का सिद्धांत : पूर्ण न्याय की अवधारणा	*–डॉ. चन्द्र भूषण मिश्र*	110
28. उत्तराखण्ड की संस्कृति के विभन्न आयाम विशेषतः तीसरी सदी ई. पू. के संदर्भ में	*–ललित सिंह*	115
29. असुर आदिवासियों की जिजीविषा (रणेन्द्र कृत उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' के संदर्भ में)	*–सौरभ कुमार* *–डॉ. जगदीश सौरभ*	118
30. नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्रियों की सामाजिक चेतना	*–राम कुमार* *–डॉ. मंजुला सिंह*	121
31. 73वें संविधान संशोधन के परिप्रेक्ष्य में पंचायतीराज व्यवस्था की समीक्षा	*–विजय सिंह* *–प्रो. धर्मेन्द्र कुमार सिंह*	124
32. अनामिका कृत 'खुरदुरी हथेलियाँ' में अभिव्यक्त लोक एवं स्त्री जीवन	*–डॉ. उपेन्द्र कुमार*	128
33. राजनीतिक भूगोल के वैदिक आयाम	*–डॉ. रत्नेश शुक्ल* *–रोहणी तिवारी*	131
34. न्याय की सामाजिक एवं आर्थिक अवधारणा एक दृष्टि	*–माधवेन्द्र तिवारी* *–डॉ. तरूण कुमार राय*	135
35. हौशंगाबाद जनपद की ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाने में जनसंचार माध्यम एवं 'स्वयं सहायता समूह' की भूमिका	*–डॉ. बिनीता मौर्या*	138
36. नागार्जुन का काव्य-दर्शन	*–डॉ. शिखा रानी*	141
37. लाजवाब कमलेश्वर : सन्दर्भ कहानी 'चप्पल'	*–प्रो. मनोज कुमार पाण्डेय*	144
38. कुमाऊँ के लोक देवताओं का धार्मिक व सामाजिक महत्व	*–गरिमा पाण्डेय*	146
39. कानपुर देहात में पर्यावरण प्रदूषण कारण एवं बचाव	*–अंजू प्रिया*	148
40. गीत से नवगीत का इतिहास	*–डॉ. मनोरमा मिश्रा*	151
41. प्रेमचंद की कहानियों का विषय विन्यास	*–उत्तम कुमार*	154
41. स्वाधीनता संग्राम कालीन कवि रूप में अम्बिकागिरी राय चौधरी और माखनलाल चतुर्वेदी : एक तुलनात्मक विवेचन	*–डॉ. नफीसा अहमद*	157
43. भारत में मंदिर निर्माण का विकास नागर कला शैली के विशेष संदर्भ में	*–डॉ. कृष्णकांत शर्मा* *–डॉ. दीपक कुमार* *–निर्दोष*	161
44. भारत में कृषि व्यवस्था : मौर्य काल के विशेष संदर्भ में	*–डा. रितु*	164
45. भारत में पंचायती राज और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक प्रस्थिति	*–डॉ. मनमोहन सिंह*	168
46. हाशिए की जातियाँ और शराब की संस्कृति	*–गौतम शर्मा*	173
47. असम में भक्ति आंदोलन के प्रचार में अंकिया नाट व भाओना की भूमिका	*–अमरजीत कुमार*	177

48. वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का संवर्धन	*–डॉ. हरेन्द्र कुमार* *–डॉ. हरिन्द्र कुमार*	180
49. अनामिका के उपन्यासों में चित्रित स्त्री	*–प्रियंका सरोज*	184
50. कृष्णा सोबती के उपन्यासों में चित्रित पितृसत्तात्मक समाज	*–डा. हरीश कुमार* *–पूजा सरोज*	187
51. तत्सम : जिजीविषा की विजयगाथा	*–डॉ. ममता चावला*	191
52. वर्तमान समय के हिन्दी साहित्य में महिलाओं के योगदान का एक अध्ययन	*–डॉ. नवीन कुमार*	194
53. केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में लोकचेतना की अभिव्यक्ति	*–डॉ. धनंजय कुमार*	197
54. संघर्षों का रथी	*–नीतू गुप्ता*	199
55. 'बाकी सब खैरियत है' में स्त्री स्वत्व के विविध रूप एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	*–षमीना. टी* *–डा. शोभना कोक्काडन*	202
56. आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य परम्परा : नीरज का प्रदेय	*–शिवम गिरि*	206
57. पाश्चात्य मान्यताएँ एवं नई कविता	*–शिवा अग्निहोत्री*	210
58. डिजिटल दुनिया में लघु समाचार पत्र लखनऊ में रुझान, चुनौतियां और रणनीतियाँ	*–माधुरी तिवारी* *–डा. मिली सिंह*	212
59. विश्वविद्यालय के छात्रों की धारणाओं और सामाजिक अंतःक्रियाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव : सीखने और शिक्षा पर प्रभाव	*शैलेन्द्र सिंह बिष्ट* *–डा. मिली सिंह*	218
60. जीवन की सार्थकता के मौलिक प्रश्नों को विश्लेषित करता 'अंतिम अरण्य'	*–डॉ. संगीता कुमारी*	223
61. उपभोक्तावादी संस्कृति का वर्तमान समाज पर प्रभाव संदर्भ'रेहन पर रग्घू'	*–डॉ. मनीष चौधरी*	226
62. लांगुरिया का लोकचिंतन	*–डा. महेश कुमार चौधरी*	229
63. डॉ. भीमराव अंबेडकर : सामाजिक जनतंत्र, स्वतंत्रता, समानता एवं समान नागरिक संहिता की पहल	*–डॉ. रणजीत कुमार*	232
64. भारतीय साहित्य की कहानियाँ और विभाजन की त्रासदी	*–डॉ. विन्ध्याचल मिश्रा*	235
65. वर्तमान परिदृश्य में शिक्षा में शैक्षिक तकनीकी की प्रासंगिकता का अध्ययन	*–माया सोनकर*	239
66. भारतीय प्रवासी : स्वदेश एवं विश्व के सन्दर्भ में इनका योगदान	*–डॉ. हिमांशु यादव*	243
67. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के ललित निबंधों में भारतीय संस्कृति के तत्त्व	*–डॉ. गीता अस्थाना* *–रूबी सिंह*	248
68. आदिवासी कविता में प्रस्तुत प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण	*–डॉ. अमित कुमार भारती*	252
69. हिंदी कहानी के पटल पर विभाजन की दास्तां	*–डॉ अनुपम कुमार*	257
70. भारतीयता की अवधारणा और साहित्य	*–डॉ. राजकुमार राजन*	260
71. पुस्तक समीक्षा : पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1	*–डॉ. संजीव कुमार गौतम*	262
72. उनतीसवाँ देवीशंकर अवस्थी सम्मान निशान्त को	*–डॉ. कमलेश अवस्थी*	26

संपादकीय

डेटिंग एप : रब ने बना दी जोड़ी?

मनुष्य बहुत ही अकेला है बावजूद इसके कि वह अपने परिचितों से हर पल घिरा हुआ है. वह सोशल साइट्स पर हजारों लोगों को जानता है फिर भी वह किसी विशेष के अंतरंग संग-साथ के लिए बेसब्र रहता है। वह चाहता है कि उसके साथ कोई ऐसा व्यक्ति हो जिससे वह अपने मन की बात कर सके अथवा भावों को साझा कर सके। सवाल यहाँ यह किया जा सकता है कि वर्तमान में जब सोशल साइट्स पर लोग नाच-गा कर, तरह-तरह के व्यंजनों को बनाने की विधि बताकर, विभिन्न प्रकार के सौंदर्य के टिप्स बताकर अथवा अपनी किसी भी कला को दुनिया के इन आभासी मंचों पर रखकर वह कितने ही लोगों को अपना फॉलोअर बनाने का हुनर रखते हैं। इसके बाद भी वे अकेले क्यों हैं? विचित्र बात यह भी है कि खुश रहने वाला व्यक्ति दुनिया को अचानक यह बताता है कि वह किस प्रकार से तनाव का शिकार है। कभी-कभी तो सदाबहार खुश रहने वाला व्यक्ति अपने जीवन को समाप्त कर लेता है।

कभी कबीलों में रहने वाला व्यक्ति आज इतना शक्तिशाली बन चुका है कि वह प्रकृति और अपने जीवन को बहुत हद तक नियंत्रित कर सकता है। बावजूद इसके वह अकेलेपन का शिकार है। ऐसे में वह एक साथी की तलाश करता है। वर्तमान में वह इसका एक उपाय डेटिंग एप पर खोज रहा है। आप के फोन में न सही पर आप के बगल में बैठे व्यक्ति के फोन में ये डेटिंग एप्स अब रहने लगे हैं। देखा जाए तो इसमें कोई गलत बात भी नहीं पर यह शोध का विषय भी है जो यह बता रहा है कि इस आधुनिक परिवेश में हमारे संबंध कैसे बदल रहे हैं।

शहरों में युवाओं में और परिपक्व उम्र को पा चुके लोगों में डेटिंग एप्स काफी लोकप्रिय हैं। डेटिंग एप की कंपनियों का व्यवसाय भारत में करोड़ों रुपए से भी अधिक का है। इंटरनेट पर उपलब्ध प्रथम जानकारी के मुताबिक डेटिंग एप भारत में पाँचवें नंबर का बढ़ता हुआ उद्योग है जहाँ देश के युवा बहुत धन खर्च करते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका प्रतिशत बढ़ता ही जा रहा है। भारत में इस्तेमाल किए जा रहे ढेरों डेटिंग एप के बारे में जानकारी, ऑनलाइन दुनिया में संकलित तरह-तरह की रिपोर्ट पढ़कर ली जा सकती है। इन डेटिंग एप्स की ब्रांडिंग से लेकर विज्ञापन तक की दुनिया में उन सभी बातों का खयाल रखा जाता है जिससे युवाओं अथवा इसके उपभोक्ताओं को आकर्षित किया जा सके और उन्हें इसके उपभोग को इस्तेमाल करने को प्रोत्साहित किया जा सके।

ये डेटिंग एप्स की कंपनियाँ अपने टारगेट समूह की दिलचस्पी, मिजाज, उम्र, क्षेत्र, दूरी, धर्म, विचार और जरूरत आदि का ध्यान रखते हुए अपने एप्स की संरचना करते हैं। यहाँ तक कि ये कंपनियाँ अपने उपभोक्ताओं को लुभाने के लिए कई रणनीति भी बनाती हैं। ऐसा नहीं है कि यह केवल भारत के संदर्भ में ही है। बल्कि कोरोना महामारी के अन्तराल में और परिस्थितियों में रहने और उसके बाद के समय में लोगों के मानसिक जीवन में अभूतपूर्व बदलाव आए हैं। लोग एक-दूसरे से जुड़ना चाहते हैं या फिर कुछ गुणवत्ता वाला समय बिताना चाहते हैं। अतः ऐसे में ये डेटिंग एप्स कहीं न कहीं इस खालीपन को भरने का माध्यम बन रहे हैं।

फिर भी डेटिंग एप्स की इस चमकीली दुनिया में सब कुछ वैसा नहीं है जैसा दिखाई पड़ता है। रोज कई जी-बी डेटा पैक का इस्तेमाल करने वाला युवा नितांत अकेला है कि वह अपने लिए सही जोड़ीदार खोजने की खातिर पैसा खर्च करने से भी नहीं हिचकता। डेटिंग एप पर बहुत से लोगों का रुझान खूबसूरत चेहरों से शुरू होता है और कई बार खत्म, दुःख अथवा गुस्से पर होता है। कई बार लोग यह भी शिकायत करते हुए मिल जाते हैं कि उनके साथ ऑनलाइन धोखाधड़ी तक कर दी गयी है। भारत में साठ प्रतिशत से कुछ ज्यादा लड़के इन एप्स पर मौजूद हैं और लगभग चालीस प्रतिशत से कुछ कम लड़कियाँ इसका इस्तेमाल करती हैं।

ऐसा नहीं है कि इन डेटिंग एप्स से लोगों को अपने दोस्त और जीवनसाथी खोजने का बिलकुल मौका नहीं मिल रहा। अगर ऐसा होता तो शायद इन एप्स का बाजार इतना गतिशील न होता। लेकिन कुछ प्रतिशत लोग इन डेटिंग एप्स को अच्छा नहीं मानते अथवा उनके अनुभव उतने अच्छे नहीं रहते। इसी के चलते वे अपनी प्रोफाइल डिलीट कर देते हैं। पर बाजार के पास अपने उपभोक्ताओं को अपने पास ही टिकाए रखने के ढेरों विचार हैं। वे अपने ग्राहकों को अपने पास से कहीं नहीं जाने देना चाहते। कई एप्स कंपनियाँ अब ऑफलाइन मीटिंग तय कर जोड़ियाँ बनाने का कारोबार(?) कर रही हैं। इनके उपभोक्ताओं को यह पसंद भी आ रहा है।

अपनी पसंद का दोस्त अथवा जीवनसाथी खोजने के लिए उत्साहित करते ये एप्स उस विचार को बहस में ले आते हैं जहाँ लव मैरिज और अरेंज्ड मैरिज की चर्चा की जाती है। डेटिंग एप्स पर ऐसे लोगों की संख्या भी काफी है

जिनका तलाक हो चुका है और वे जीवन में अपने लिए एक अन्य साथी खोजकर उसके साथ रहना चाहते हैं। लेकिन एक लोकप्रिय सोशल साईट पर महिलाओं का समूह है जो अपने को 'स्टेटस सिंगल' से प्रस्तुत करता है और जो अपने विचारों के संगी-साथी, अकेले जीवन की चुनौतियों अथवा पूर्व जीवन के अनुभवों को साझा करता है। ये महिलाएं अपने विचार एक-दूसरे से साझा कर कई बार दूसरी महिला की परेशानियों का हल तक देती हैं और साहित्य की रचना भी करती हैं। डेटिंग एप अथवा अकेले लोगों का समूह आदि ऐसे विषय हैं जिन पर निश्चित रूप से गहरे शोध की आवश्यकता है। पर इतना तय है कि आधुनिक समय में मनुष्यों के संबंधों पर तकनीकी पूंजीवाद बड़ा प्रभाव डाल रहा है।

प्रेमियों के संदर्भ में एक कहानी कही जाती है कि अन्तरिक्ष में आवारा भटकते हुए पत्थर या उल्का पिंड वास्तव में अपने बिछड़े हुए साथी की तलाश में यहाँ से वहाँ जाते हैं। वे तब तक इस स्थिति में रहते हैं जब तक कि वे अपने साथी को खोज न लें। अब देखना यह होगा कि धरती के हम सभ्य और दिमागदार उल्का पिंड अपने लिए साथी की तलाश को किसी डेटिंग एप के माध्यम से पूरा करते हैं अथवा ऑफलाइन पारस्परिक बातचीत से खोज में निकल पड़ते हैं।

–ज्योति प्रसाद

खुशवंतनामा पढ़ते हुए

—प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'

हमारे यहां बेबाक और बेधड़क लेखकों का जो साहित्यिक अवदान है उनमें खुशवंत सिंह सबसे आगे दिखायी देते हैं। खुशवंत सिंह की बेबाक आत्मस्वीकृतियाँ मुझे मजबूर करती रहीं कि कुछ लिखूं। खुशवंत सिंह अंग्रेजी के विवादास्पद और मशहूर लेखक हैं। 'खुशवंतनामा'[1] एक तरह से उनका कबूलनामा लगता है। हालांकि, उन्होंने इसे जिंदगी का सबक कहा है। खुशवंत सिंह का अनुभव-क्षेत्र सुविधा भोगी पत्रकारों वाला है, जहाँ सुरा और सुन्दरी की संगति अस्वभाविक नहीं थी। उनकी व्यक्तिगत आदतें और शौक भी काफी अनुदार प्रकार के रहे हैं। लेकिन वह अपनी गलतियों को आंशिक तौर पर स्वीकार करने से गुरेज नहीं करते। खुशवंत सिंह का जन्म ब्रिटिश संरक्षित एक सुविधाभोगी शाही परिवार में हुआ। वे अंग्रेजी साहित्य लिखते-पढ़ते रहे हैं और अपने लेखन में वे उर्दू-फारसी के शायरों को अक्सर उद्धृत करते थे। हां, उन्हें दलित साहित्य की समझ नहीं थी। इस कारण सामाजिक न्याय के लिए संघर्षरत वंचित जनता पर उनकी नजर न के बराबर गई। हमारी मान्यता है कि लेखक वही हो सकता है जिसके दिल में संवेदना हो, उदारता हो। हम जानते हैं कि क्रौंच पक्षी के वध पर आदि कवि वाल्मीकि के अन्तर्मन में पीड़ा और दुख का संचार हुआ था, वही उनकी कविता का निमित्त बना था।

लेकिन खुशवंत सिंह पशु-पक्षियों के प्रति अत्यंत हिंसक रहे। अपने इस कृत्य का पश्चाताप करते हुए उन्होंने लिखा है—"कई शाम मैं अपने उन पापों के बारे में सोचते हुए बिताता हूं जो मैंने अपने आरंभिक सालों में किए थे। एयर गन से मैंने दर्जनों गौरेयाओं को मार दिया था, जबकि उन्होंने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा था। मैंने एक बतख को तब गोली मार दी थी जब वह अंडों के ऊपर बैठी हुई थी। वह ऊपर की तरफ उड़ी, तब तक अपने पंख फड़फड़ाती रही जब तक वह गिर नहीं गई।..... और यह एक ऐसा पाप था जिसकी कोई माफी नहीं थी। मैं अपने कर्मों की कीमत दे रहा हूं और शाम दर शाम उन निर्दोष जंतुओं की यादें मेरा पीछा करती हैं।" लेखक पीड़ित का दुख आत्मसात करता है। लेखक परकाया प्रवेश कर वही हो जाता है जिसका वह दुख व्यक्त कर रहा होता है। कुछ नहीं बिगाड़ने वालों को मारने वाले खुशवंत सिंह विरले लेखक नहीं हैं। उन्होंने तो चिड़िया और गौरेयाओं को मारा, स्पृश्य हिंदुओं ने हजारों साल से भारत के मूलनिवासी दलित आदिवासियों को रास्ते पर चलने पर मारा, पानी पीने पर मारा। स्वच्छ वस्त्र धारण करने पर मारा, मूंछ रखने पर मारा, बरात निकालने पर मारा, नल छूने पर मारा उनका क्या? निर्दोषों को मारना उनकी प्राचीन संस्कृति है। लेखक के उपरोक्त वक्तव्य को पढ़ कर मन में एक सवाल पैदा होता है। कहा जाता है कि लेखक होने के लिए व्यक्ति का संवेदनशील होना आवश्यक है, यहाँ अब यह बात कहाँ रह जाती है कि लेखक होने के पीछे संवेदनशील हृदय होता है। यहाँ तो लेखक पेट भरने के लिए ही नहीं, बल्कि शौक और सनक में भी जीव हिंसा कर रहा है।

उनकी अगली आत्मस्वीकृति है—"मैं इस दुखद नतीजे पर भी पहुंचा हूं कि मैं कुछ कामुक किस्म का इंसान हूं। चार साल की कम उम्र से लेकर आज तक जबकि मैंने अपने जीवन के सत्तानवे साल पूरे कर लिए हैं, कामुकता ही मेरे दिमाग में सबसे ऊपर रही है। मैं कभी भी इस भारतीय आदर्श को कबूल करने के योग्य नहीं रहा जिसमें औरतों को माँ, बहन और बेटियों के रूप में देखा जाता है। चाहे उनकी उम्र जो भी हो, वे मेरे लिए कामुकता का विषय रही हैं।" हम आप में न जाने कितने लोग इसी प्रकार की कामुकता से ग्रस्त रहे हैं। परन्तु कबूलनामा कम ही लिख पाए हैं। राजेंद्र यादव का यह गुण-अवगुण सतह पर था परन्तु वे चाहते थे कि अन्य लेखक इस तरह की अपनी हरामजदगियां दर्ज करें। खुशवंत सिंह ने अपनी कामुकता की शिकार हुई किसी औरत की सूरत नहीं दिखाई। इसलिए खुशवंत सिंह के मुकाबले हिंदी लेखक/लेखिकाएं बहुत मासूम हैं। सिंह मांस खाते हैं पर आस-पड़ोस में हड्डियाँ नहीं फेंकते। खुशवंत सिंह ने दोनों हाथों में दो तलवारें रखीं। उन्होंने बताया, "मैंने काफी साल कानून की पढ़ाई पढ़ने और वकालत करने में लगाए जिससे मुझे नफरत थी। मुझे उन बरसों का भी अफसोस है जो मैंने देश-विदेश में सरकार की सेवा करते हुए बिताए और वे साल जो मैंने यूनेस्को के साथ पेरिस में काम करते हुए बिताए। वैसे तो मैंने दुनिया देखी और जीवन का आनंद उठाया और कुछ कहने के लिए खास नहीं था तो लिखना शुरू कर दिया। मैं यह काम काफी अधिक

कर सकता था। हालाँकि, मुझे सबसे अधिक अफसोस इस बात का है कि मैंने जिन औरतों की प्रशंसा की उनके साथ कुछ खास कर नहीं पाया, लेकिन मेरे अंदर इतना साहस नहीं था कि मैं उनके साथ प्यार-मुहब्बत जैसा कुछ कर पाता।'' सरकारी सुविधाओं का लाभ लेकर थोड़ी-बहुत सेवा देने पर अफसोस प्रकट करना शुद्ध स्वार्थी होना है। स्त्रियां, पुरुषों की तरह मित्र क्यों नहीं हो सकतीं। उनके अंग विशेष से आनंद न उठा पाना अफसोस कैसा? यह तो अच्छी बात हुई कि किसी के साथ बेमर्जी नहीं हुई और किसी के कारण आप 'मीटू' पत्रकारों की स्थिति में नहीं पहुंचे। ब्लैक मेलिंग से भी बचे। खुशवंत सिंह और अजीत कौर बड़े मंचों पर थे, परन्तु इनकी दृष्टि इतनी चौड़ी न थी कि दूर बैठे 'बहिष्कृत भारत' तक पहुंच पाती। ये जिनको मंच देते रहे, जिनके चर्चे करते रहे, वे वर्चस्वशाली स्पृश्य थे।

खुशवंत सिंह की खाने की आदतें दलितों, अश्वेतों और मुस्लिमों से मेल खाती हैं। यह उनकी नैसर्गिक जीवन शैली की सहजता को दर्शाती है। आदि-जीवन मांसाहार से ही बचा है। यह बात दीगर है कि आज गरीबी के कारण अधिसंख्य दलित महंगा मांसाहारी भोजन प्राप्त नहीं कर पाते जैसा अमीरजादे होने के कारण खुशवंत सिंह को उपलब्ध था। मुसलमानों का खान-पान भी खुशवंत सिंह और दलितों को अपना-सा लग सकता है। यही कारण है कि वे खाते-पीते समय भी 'गालिब' को याद करते हैं। उन्होंने अपने इस 'खुशवंतनामा' में बताया है, ''मैं खाने और पीने की आदत के मामले में अपने आदर्श असदुल्ला खान गालिब का अनुसरण करता हूं। वह हर शाम स्कॉच व्हिस्की की बोतल खोलने से पहले नहा-धो कर, धुले हुए कपड़े पहनते थे। फिर गिलास में अपने हिसाब से शराब डालते थे, फिर उसमें सुराही से सुगंधित पानी डालते थे और पूरी खामोशी से पीते थे तथा शराब और औरतों की प्रशंसा में अमर शायरी लिखते थे।'' यह जीने का शाही अंदाज है, इसमें रोमांस तो है विद्रोह नहीं है। चूंकि वह औरत और शराब के अलावा है। इसलिए ये सब वहाँ नदारद है। जैसे 'फैज' भी कहते हैं 'और भी गम हैं जमाने में मौहब्बत के सिवा।'

सेवा-निवृत्ति को लेकर खुशवंत सिंह के अनुभव हमारे काम आ सकते हैं। उन्होंने लिखा है, ''अपनी सेवानिवृत्ति की योजना सावधानीपूर्वक बनाएं। दो महत्वपूर्ण बातें हैं जिनके बारे में किसी को सोचने की जरूरत होती है। स्वास्थ्य और आर्थिक स्थिरता। बुद्धिमानी यह होती है कि इस योजना की शुरुआत जल्दी हो जाए ताकि सेवानिवृत्ति के बाद का जीवन आराम से कटे। बजाए इसके कि रोया-धोया जाए, अपने ऊपर अफसोस किया जाए, व्यक्ति को समय का इस्तेमाल लाभकारी ढंग से करना चाहिए। अनेक लोग मंदिरों में, गुरुद्वारों में जाकर प्रार्थना करने लगते हैं और वहाँ जाकर आध्यात्मिक तसल्ली और मन की शांति पाते हैं। कुछ लोग गप्प मारने के लिए दोस्तों या रिश्तेदारों के पास चले जाते हैं। वे अपने समय को मारते हैं और समय कीमती होता है। सेवानिवृत्त लोगों के पास करने को सैंकड़ों काम होते हैं। अगर उनके पास पैसों की कमी न हो तो वे किसी प्रकार का व्यापार शुरू कर सकते हैं, जिससे नगदी मिलती हो। अगर उनके पास पैसा पर्याप्त है तो वे किसी हॉबी को अपना सकते हैं, किसी चीज में रुचि पैदा कर सकते हैं; बागवानी कर सकते हैं या कोई भाषा सीख सकते हैं या किसी आर्ट क्लास में जा सकते हैं या खुद को किसी सामाजिक कार्य में लगा सकते हैं। उदाहरण के लिए गरीब परिवारों के बच्चों को पढ़ाना, आवारा कुत्तों की देखभाल करना। वे बूढ़े और बीमार लोगों की मदद कर सकते हैं। लेकिन कुछ नहीं करने से आप नाकाम बन जाते हैं और अंत की तरफ तेजी से बढ़ने का एक पक्का जरिया अपना लेते हैं।'' लेखक का आशय शायद यह कहना है कि निठल्ले-निकम्मे लोग जल्दी मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

दिल्ली दलितों के लिए बड़ा सहारा बनी। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब और बिहार के काफी दलित यहाँ आए। 'दिल्लीःबड़ी दुनिया में छोटे कदम' मैंने भी अपनी आत्मकथा के एक अध्याय में दिल्ली प्रवास को दर्ज किया है। आज भी मेरी औकात दिल्ली में घर खरीदने की तो नहीं बन पाई है। 'दिल्ली विकास-प्राधिकरण' में कभी लॉटरी निकल नहीं पाई। खुशवंत सिंह कहते हैं, ''मैं अपने बचपन से दिल्ली वाला हूं। दिल्ली वाले पिछले कुछ सालों में अपने शहर से लगाव रखने लगे हैं, जितना कि 1947 से लेकर अब तक नहीं रखा गया था। मुझे लगता है कि यह आबादी की प्रकृति में बदलाव के कारण हुआ है।'' यह प्रकृति क्या है और यह बदलाव क्या है। खुशवंत सिंह ने खुलासा नहीं किया, पर इतनी जानकारी दी है, ''अंग्रेजों के शासनकाल में मुसलमानों की आबादी 40 प्रतिशत के करीब थी। विभाजन के बाद उनमें से 30 प्रतिशत से अधिक पाकिस्तान चले गए, लेकिन उससे बड़ी संख्या में पंजाब, उत्तर-पूर्व सीमा प्रांत और सिंध से हिन्दू और सिख आए। जब मैं पहली बार दिल्ली आया था तो उस समय मेरी उम्र बमुश्किल पाँच साल की थी और तब नई दिल्ली नहीं बनी थी। मुझे याद आता है कि जहाँ आज सुंदर नगर, कालिंदी कॉलोनी और महारानी बाग है, वहाँ पहले हिरणों के झुंड, नीलगाय और जंगली सूअर दिखाई देते थे।''

वे आगे बताते हैं, ''मैंने दिन ब दिन नए शहर को बनते हुए देखा, क्योंकि मेरे पिता सरदार शोभा सिंह को साउथ ब्लॉक, इंडिया गेट और बहुत कुछ बनवाने का ठेका मिला था। ज्यादातर ठेकेदार सिख थे और जंतर-मंतर रोड

पर रहते थे। आज जो संसद मार्ग है वहाँ पहले रेलवे लाइन थी और उसको इंपीरियल दिल्ली रेलवे कहा जाता था।... . जब किंग जॉर्ज पंचम और महारानी मेरी 1911 में भारत आए और उन्होंने यह घोषणा की कि राजधानी को कलकत्ता से दिल्ली कर दिया गया है, तो उन्होंने दो शिलान्यास उस जगह किए जिसे 'किंग्सवे-कैंप' कहा जाता था, जहाँ आज दिल्ली 'विश्वविद्यालय' है। खुशवंत सिंह की दिल्ली के ब्रिटिश कॉलोनी निर्माण विषयक जानकारी ज्यादा प्रामाणिक है। यह बात दीगर है कि उनके पिता अंग्रेजों के प्रिय थे जिससे उन्हें काफी कुछ जगह पर कब्जा कराया। दिल्ली में बाहरी लोगों की आमद बढ़ती गई और दिल्ली की कमर बोझिल होती गई। वे आगे लिखते हैं, ''लुटियंस ने इस शहर को कुछ हजार सिविल सेवकों और कर्मचारियों के लिए बनाया था, अब इसकी आबादी करीब 90 लाख है, उसने कुछ हजार कारों, तांगों और साइकिलों के लिए सड़कें बनाई थीं, अब लगभग हर परिवार के पास एक या दो या तीन कारें हैं और सड़कें सुबह से लेकर शाम तक और इसके बाद तक जाम रहती हैं। यह एक ऐसा शहर है जहाँ मुंबई के मुकाबले महिलाओं के साथ दो गुना से अधिक छेड़छाड़ की घटनाएं होती हैं। यह शहर घुट कर मर जाएगा।''

खुशवंत आशाभरी बात कहते हैं,''हालाँकि अब हालात बदलने लगे हैं। जिन चार लोगों ने बदलाव लाने की दिशा में बड़ी भूमिका निभाई वे हैं बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर, बाबू जगजीवन राम, कांशीराम और मायावती। इन चारों में डॉ. अम्बेडकर मसीहा थे। उन्होंने गांधी को कभी भी इसके लिए माफ नहीं किया कि उन्होंने निचली जातियों के लिए केवल सीटों का आरक्षण दिया, अलग मतदाता मंडल (पृथक निर्वाचन क्षेत्र) नहीं। उन्होंने भारत के संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और बाद में नेहरू के मंत्रिमंडल में 'कानून मंत्री' बने। जातिगत सोपानक्रम से दुखी होकर डॉ. अम्बेडकर ने अपने अनुयायियों से यह आह्वान किया कि किसी और धर्म को अपनाएं और अपने महार समुदाय को उन्होंने एक साथ बौद्ध धर्म को अपनाने के लिए कहा। वे दलितों में सबसे सम्मानित प्रतीक हैं और एक महानतम भारतीय।'' क्या गैर महारों से नहीं कहा था? खुशवंत सिंह का क्या वास्ता अम्बेडकर से? वे तो गांधी की प्रशंसा करते हैं।

वे गाँधी के प्रशंसक थे। वे खुद को गांधीवादी कहते थे। बावजूद इसके वे उनकी आलोचना करने से भी पीछे नहीं रहते। वे कहते हैं, ''मुझे गांधी से दूसरी शिकायतें रही हैं। उन्होंने अपनी पत्नी कस्तूरबा के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया और अपने बेटों के प्रति वे उदासीन रहे। उनमें कुछ अन्य तरह के नकारात्मक गुण भी थे, जिनको उनसे जोड़ना बहुत शर्मिंदगी वाला है। तो भी मैं उनकी प्रशंसा करता हूं और गांधीवादी होने का दावा करता हूं।'' खुशवंत को पढ़ते हुए मैं पाठक की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार उनसे अपनी तुलना करने लगता हूं। खुशवंत सिंह के अनुसार,'गालिब जो सबसे महान था।' इसके तहत वे बार-बार गालिब की ओर मुड़ते हैं और मैं मुड़-मुड़ कर डॉ. अम्बेडकर की ओर देखता हूं, सीखता हूं। सबसे महान कहे बगैर भी मैं पाता हूं कि शायरों की शायरी से वह नहीं हुआ जो संविधान होने से हुआ। गालिब के पिता सिपाही थे। अम्बेडकर के पिता सूबेदार थे। उनका जन्म 14 अप्रैल, 1891 में महू (म. प्र.) छावनी में हुआ था। खुशवंत और गालिब में शराबी-शराबी होने की समानताएं होने के साथ-साथ, एक शायरी में दूसरा पत्रकारिता में शीर्ष पर रहे हैं।

खुशवंत अपने आदर्श गालिब का परिचय कराते हैं। वे शीर्षक देते हैं, 'गालिब, जो सबसे महान था'। मेरे ख्याल से यह दारू का कमाल था। खुमारी में एक शराबी, दूसरे शराबी को ऐसे ही महान कहता है। खुशवंत को जैसी सुविधाभोगी, विलासिता भरी जिंदगी मिली थी उसमें उनका आदर्श गालिब ही हो सकता था अम्बेडकर नहीं, जबकि उन्होंने गालिब को कभी देखा तक नहीं था और अम्बेडकर उनके सामने सामाजिक अन्यायियों और स्पृश्य अत्याचारियों के खिलाफ दहाड़ रहे थे। गालिब का बचपन ननिहाल में बीता। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने अधिकतर मुसलमानों को दिल्ली से बाहर कर दिया। गालिब जिनको विद्रोहियों से कोई हमदर्दी नहीं थी, विद्रोह के दौरान अपने घर में ही रहे। जब अंग्रेजों ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया तो उनको कर्नल बने व्यक्ति ने बुलाया और पूछा, 'तुम मुसलमान हो?' गालिब का जवाब था, 'आधा, मैं सूअर नहीं खाता लेकिन शराब पीता हूं।' गालिब की शायरी से अदब समृद्ध हुआ। उनका ऋणी होना चाहिए। पर उनकी आदतों से आप को अच्छी सीख नहीं मिलती।

आज की आपा-धापी की दुनिया में पढ़ने के लिए समय कम होता जा रहा है। ऐसे में हमें जो बात कई किताबें पढ़ कर न मिले और एक किताब में मिल जाए तो लेखक का बड़ा उपकार समझें। हमें बतौर लेखक एक साल में दस किताबें देने वाले से बचकर दस साल में एक अच्छी किताब लिख देने वाले का आभारी होना चाहिए। ऐसी किताब जिसका एक-एक वाक्य हमारे भीतर समा जाए। भूलना चाहें तब भी घटनाएं-समस्याएं, संघर्ष और सफलताएं भूली न जा सकें। हमारे मुश्किल भरे अंधेरे सफर में हमारी राह रोशन कर जाएं। नवें दशक में मैं कह रहा था के दलित साहित्य संख्यात्मक दृष्टि से प्रचुर मात्रा में आना चाहिए। जिससे विश्वविद्यालयों के आचार्यों वर्ण-आलाचकों 'दलित साहित्य है कहां?' का जवाब दिया जा सके। अब किन्हीं ने लिखा है कि वे साल में 20

किताबें लिखते हैं और महर्षि जय प्रकाशननेन्दु ने तो एक साल में दस-दस कविता संग्रहों के दो बंडल मेरी नजर कर दिए हैं। पर उन बीस संग्रहों में से मैं दस पंक्तियां भी नहीं चुन पा रहा जिन्हें अपने पास रख सकूं।

डॉ. अम्बेडकर ने बहिष्कृत भारत में लिखा था, ''अंग्रेजी विद्या बाघिन (शेरनी) का दूध है।'' भारतीय नेताओं ने जिस अनुपात में यह दूधपान किया, उसी अनुपात में वे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध दहाड़े। मैंने 1993 में अपने शोध प्रबंध 'हिन्दी दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव' में इसे उद्धृत किया। चन्द्रभान प्रसाद को दिखाया उन्होंने अंग्रेजी देवी का मंदिर बनाने का प्रचार किया। राजेन्द्र यादव को बताया तो उन्होंने इसे संशोधित कर अंग्रेजी के बजाय शिक्षा को शेरनी का दूध कहा। खुशवंत ने भी शेरनी का दूध पीया और कहा, ''मुझे अक्सर यह लगता है कि भाषायी शुद्धतावादी अपनी मातृभाषाओं के सबसे बड़े दुश्मन हैं। सच्चाई यह है कि जितना ही कोई भाषा दूसरों से कुछ लेती है उतना ही यह खुद को समृद्ध करती है। अंग्रेजी दुनिया की सबसे समृद्ध भाषा है, क्योंकि इसने उन सभी भाषाओं से शब्द लिए हैं जो इसके संपर्क में आया। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है।'' भारत में दो दर्जन से अधिक भाषाएं हैं। अंग्रेजी ने उनमें से हर भाषा से शब्द लिए हैं। हिंदी ने, जो हमारी राष्ट्रीय भाषा है, नहीं लिया जिसका नतीजा यह हुआ कि हिंदी, जिसे हमारी संपर्क भाषा होना चाहिए था, नहीं हुई और देश के सभी हिस्सों को जोड़ने वाली भाषा अंग्रेजी ही बनी रही।

खुशवंत सिंह की कुछ बातें हमें अपीलिंग लगती हैं। मसलन, जब वे बताते हैं, ''मैं एक कमजोर विद्यार्थी था, एक ऐसा वकील जिसके पास कोई मुवक्किल नहीं आता था। चतुराई से हीन, राजनयिक और गलत सूचनाओं से लैस पत्रकार बना। इसलिए मुझे तब बहुत आश्चर्य हुआ जब बैंगलोर में किसी प्रेस वाले ने यह कहा कि मैं भारतीय पत्रकारिता का द्रोणाचार्य हूं।'' तब तो जरूर किसी दलित रूपी एकलव्य का लेख (मत) रूपी अंगूठा काटा होगा। मैंने स्कूल या कॉलेज में कोई पढ़ाई नहीं की। पढ़ाई तो मैंने बाद में की, जब मैं वकालत कर रहा था और राजनयिक सेवा में था, जहाँ मेरे पास करने के लिए कुछ खास काम नहीं था, तब मैंने गंभीरता से पढ़ना शुरू किया। खुशवंत सिंह से मैं अपने विद्यार्थीपन से तुलना करूं और आठवीं से आरम्भ करते हुए अपने सहपाठियों से कमजोर छात्र महसूस कर रहा था। परन्तु असल में, मैं कमजोर नहीं था, बल्कि 'पाली (अलीगढ़) में पहली-दूसरी कक्षा में तब मैं पढ़ता था तब चौथी-पाँचवी तक के सवाल हल कर लेता था। पर मुझे स्कूल छोड़ना पड़ा। रूपसिंह बाद तक पढ़ा था। मैं उसके पीछे बैठ कर उसके लिए प्रश्न हल कर देता था, तो अध्यापक मुझे अपने पास बुला लेते थे। लेकिन भिखारी लाल द्वारा जब मेरी किताबें जलाई गईं, स्कूल से निकाल कर भट्ठे के लिए बेचा गया। बाल-बंधुआ बन कर लम्बे समय तक स्कूलों से बाहर खेतों और खलिहानों के अन्दर रहा। दर्जनों प्रकार के काम करता रहा। तब क्या इंग्लिश और क्या हिन्दी कुछ भी नहीं मिला। स्कूल और किताबों से दूर रहना और सब कुछ होकर न पढ़ना या कमजोर छात्र कहना दोनों में अंतर है। खुशवंत सिंह को भारतीय पत्रकारिता का द्रोणाचार्य किसी ने सही कहा, परन्तु उसने इस संदर्भ से नहीं कहा होगा कि उन्होंने पत्रकारिता में कितने एकलव्यों के अँगूठे कटवाए होंगे। एक भी दलित आदिवासी वर्ग का पत्रकार मुझे नहीं मिला जो कहे कि खुशवंत के आचार्यत्व में वह पत्रकार बना, किसी मीडिया संस्थान में टिक सका। उनके न्यूजरूम में प्रवेश कर पाया। भारतीय पत्रकारिता के मठ-मंदिरों में अछूत का प्रवेश कराने की बाध्यता कानून द्वारा भी नहीं है।

मृत्यु तो असमय भी आती है, परन्तु उम्र की ढलान के साथ-साथ मनुष्य मृत्यु के बारे में अधिक सोचने लगता है। मृत्यु मनुष्य मात्र के साथ ही नहीं जुड़ी है, सजीव-निर्जीव, चल-अचल, वस्तु-पंछी सब की मृत्यु जीवन के साथ है। वस्तु की मौत निषेध का निषेध नियम लागू होता है। पेड़-पौधे, नदियाँ, तालाब सब जीते-मरते हैं। मनुष्य प्रकृति को मारते हुए स्वयं को जिंदा रखना चाहता है। पर वह जीयेगा वनस्पतियों, नदियों, हवा, जल, धूप आदि के साथ ही। उन्हें मार कर नहीं। जीवन के साथ ही मृत्यु का क्रम चलता रहता है। हरिवंश राय बच्चन ने लिखा है, ''स्वागत के ही साथ, विदा की होती देखी तैयारी।'' विदाई तय है, परन्तु कवि को मुगालता है कि विदा की तैयारी साथ-साथ अपितु जाने की तो न इच्छा है, न तैयारी; मोह अपार है। मृत्यु के अनुभव को कोई बता नहीं सका। इस कारण कि मृत्यु के बाद तो वह रहता ही नहीं। वह यह भी नहीं जान पाता कि उसकी मृत्यु के बाद किस को दुख मिला, किस को सुख। किसने नकली आँसू बहाए, किसके दिल की गहराई में उसकी कमी के एहसास में गोते लगाए। चर-अचर हर वस्तु में यह निषेध का निषेध लागू होता है। हर किसी का दृश्य-अदृश्य क्षय होता ही रहता है। एक मेज हमें नहीं दिखती है,बनने के बाद से ही उसमें बिगड़ने मिटने की प्रक्रिया अंतरचालित हो रही होती है। विशाल भवन धीरे-धीरे अपनी उम्र को पहुँच रहा होता है। पुलों की म्याद आ रही होती है। फसलें पक कर दाने छोड़ देती हैं, वैसे ही मनुष्य प्राण छोड़ देता है। पैदा होते ही हम हर पग मृत्यु की ओर चल पड़ते हैं। हर क्षण हमारी उम्र घटती है और हम बड़े होने के जश्न के रूप में जन्मदिन मनाते रहते हैं। खुशवंत सिंह वैसे नहीं हैं, उन्हें कोई पूजनीय लेखक नहीं मानता। पर वे तर्कसंगत बात करते हैं। इसलिए मैं

उनकी लिखत पर गौर करता हूं।

खुशवंत सिंह बड़ी संतुलित और व्यावहारिक शब्दावली में कहते हैं, ''मैंने इस बात को काफी पहले ही समझ लिया था कि मेरे पास जीने के लिए एकमात्र जीवन है, यह नहीं जानता था कि इसका अंत कब होने वाला है, इसलिए मैंने यह फैसला किया कि इस जीवन से मैं जितना काम ले सकता था उतना ले लूँ।'' खुशवंत सिंह कहते हैं, ''मैंने अपना जीवन भरपूर जीया है। मैंने दुनिया घूमी है, अपनी इंद्रियों से प्रकृति की सुंदरता का आनंद उठाया है और उस सबका जो उसके पास देने के लिए था। मैंने सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन, भोजन का स्वाद लिया है, बेहतरीन संगीत सुना है और बेहतरीन औरतों के साथ संभोग किया है। जो समय मुझे मिला है, मैंने उसका बेहतर उपयोग किया है। जीवन-मरण, स्वर्ग-नरक की बातें संत, महात्मा करते हैं मुझे वे सच्चे नहीं लगते।'' खुशवंत सिंह ने 'दलाई लामा' और आचार्य रजनीश जैसे दार्शनिकों से मृत्यु के बारे में बात की। पर मेरी दृष्टि में खुशवंत खुद क्या कह रहे हैं वह अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि रजनीश और दलाई लामा के विचार महत्वपूर्ण नहीं हैं। जब हम उनके मत पर विचार करेंगे तब उन्हीं पर ध्यान देंगे। 'खुशवंतनामा' में हम पत्रकार खुशवंत तक स्वयं को सीमित रखेंगे। आगे देखें वे क्या कह रहे हैं। कई बार हमें भ्रम होता है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की प्रचुरता से लदे व्यक्ति के जीवन में कोई दुख-संताप नहीं हो सकता। बेशक, वह मूलभूत सुविधाओं की कमी का शिकार नहीं होता, परन्तु खुशवंत भले ही दर्जनों मकानों के मालिक थे, परन्तु रहे तो एक ही कमरे में, खाना तो एक ही थाली में खाते थे, पीते तो एक पैग ही। किसी को दुनिया से क्या चाहिए? जिए तो टाँगे फैलाने को चारपाई, खाने को दो रोटियाँ और पैर समेटने (मरने) के बाद कब्र या विद्युत शवदाह अथवा हाड़-माँस के शरीर के लिए चिता की लकड़ियाँ। वृद्धावस्था में जोड़ी बनी रहे तो शेष जिंदगी थोड़ी ठीक से कट जाती है। यह विशेष या सामान्य सब के लिए जरूरी है। मरने से पूर्व भी मौत से मुलाकात होती है।

खुशवंत सिंह के आत्मीय अनुभव हैं। ''मुझे मौत का सामना तब करना पड़ा जब मेरी पत्नी का देहांत हुआ। नास्तिक होने की वजह से मुझे धार्मिक अनुष्ठानों में शांति नहीं मिली। मूल रूप से अकेला रहना पसंद करने के कारण मैंने सांत्वना देने आने वाले रिश्तेदारों और मित्रों को आने से हतोत्साहित किया। मैंने पहली रात अकेले अँधेरे में कुर्सी पर बैठकर बिताई। बीच-बीच में मैं रोने लगता था लेकिन जल्दी ही खुद को संभाल लेता था। कुछ दिनों के बाद मैं अपनी सामान्य दिनचर्या पर लौट आया।'' नहीं मिली तो धार्मिक अनुष्ठान कराए क्यों, ऐसा ही भारत के स्वर्ण-कामरेडस कहते हैं कि 'हम जाति भेद नहीं मानते कि हम कर्मकाण्डी अंधविश्वासी और अतार्किक नहीं हैं लेकिन हमें पत्नी की इच्छा के लिए हवन में पूजा-पाठ में कर्मकाण्ड में शामिल रहना पड़ता है।

खुशवंत सिंह अपनी सार्वजनिक शिरकत के बारे में लिखते हैं, ''मैं शायद ही किसी की शादी में जाता हूं लेकिन अंतिम संस्कार में जरूर जाता हूं। मैं मृत व्यक्ति के रिश्तेदारों के साथ बैठता हूं और अक्सर निगमबोध-घाट के शमशान घाट भी जाता हूं और वहाँ चिता में आग लगते हुए शरीर को लपटों में जलते हुए देखता हूं। इसने एक तरह से भाव विरेचन का काम किया। इसने मेरी क्षुद्रताओं को साफ कर दिया और गुमान को तोड़ दिया और इसमें मेरी मदद की कि जीवन के झटकों को सहज भाव से ले सकूं। मैं अपने जीवन का जायजा लेता हूं और उसके लिए शुक्रगुजार होता हूं जो कुछ भी मुझे मिला। मैं अपनी शांति में घर लौटता हूं।'' बहुत अच्छी बात है, जीवन की नश्वरता का बोध होता रहे। ये तो मनुष्य-मनुष्य के प्रति क्रूर अमानवीय अहंकारी जात्याभिमान न रहे। शोषण-दमन करने लूट खसोट कर घर भर ने की प्रवृत्ति पर भी कुछ लगाम लगे। इस बोध से कि सब कुछ तो यही छूटना है और गुरूर भी तो नष्ट ही होना है। मृत्यु तो आनी ही है। वह तो अछूत नहीं है, वह तो आपके देह रूपी मंदिर में घुसेगी और आप का प्राण खींच कर ले जाएगी।

मृत्यु के संदर्भ में खुशवंत सिंह की तरह कितने लोग सोचते हैं। पेरियार रामास्वामी नायकर निरीश्वरवादी हो गए थे। डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दुओं का ईश्वर छोड़ दिया था परन्तु 'निर्वाण' की संकल्पना बौद्धों में, जैनियों के कैवल्य और हिन्दुओं के मोक्ष और ईसाइयों के हैवन से अलग नहीं हो पायी। खुशवंत सिंह ने लिखा, ''मैं चाहता हूं कि विद्युत शवदाह गृह में मेरा अंतिम संस्कार हो। मैंने कहाई धर्म के मानने वालों के प्रबंधन से यह पूछा था कि क्या मेरा अंतिम संस्कार उनके परिसर में हो सकता था? पहले तो वे तैयार हो गए फिर कई तरह की शर्तों और नियमों के साथ वे आ गए और उन्होंने साफ किया ''मैं न तो धर्म में विश्वास करता हूं, न ही किसी तरह के धार्मिक अनुष्ठान में और चूँकि ईश्वर में मेरा कोई विश्वास नहीं है, न ही न्याय के दिन के सिद्धांत में, न ही पुनर्जन्म में, इसलिए मुझे पूर्ण विराम वाली बात को मारना पड़ा। मेरी इस बात के लिए आलोचना की जाती रही है कि मैं उन लोगों की आलोचना भी कर देता हूं जो मर चुके हैं, लेकिन मृत्यु किसी व्यक्ति को पवित्र नहीं कर देती है और अगर मुझे यह पता चला कि वह आदमी भ्रष्ट है तो मैं उसके बारे में उसके जाने के बाद भी बात करता रहूंगा।''

मृत्यु पर्यंत भी आलोच्य की आलोचना, निंदनीय की निंदा इसलिए की जानी चाहिए कि जो अभी मरे नहीं हैं वे तो अपने आप को संभाल लेंगे। अनुपस्थित पर बात

करने का एक ही सवाल उठता है कि जो रहा ही नहीं, वह जवाब क्या दे, सफाई कौन दे? पर विचार के रूप में उपस्थित रहने वाले से तो जिक्र करना वाजिब है। गलत को गलत कहने से तब रोका जाता है या अभद्रतापूर्ण माना जाता है जब वह मर चुका होता है। देखें खुशवंत सिंह क्या ख्वाहिश रखते हैं, ''मैं मदद के लिए रोना नहीं चाहता या ईश्वर से यह नहीं कहना चाहता कि वे मुझे मेरे पापों के लिए माफ कर दें। मैं उसी तरह से जाना चाहता हूं जिस तरह से मेरे पिता गए थे। उनकी मृत्यु शाम को स्कॉच पीने के कुछ मिनट बाद ही हो गई। मैं जाने से पहले आखिरी बार पीना चाहूंगा।'' फिर याद आती है हरिवंशराय बच्चन की 'मधुशाला' की पंक्तियाँ कवि कुछ अलग तरह की ख्वाहिश व्यक्त कर रहा है। ''मेरे शव के पीछे चलने वालों याद इसे रखना 'राम नाम सत्य है' न कहना। कहना 'सच्ची मधुशाला।' दुनिया में आमद का उत्सव मनाने वाले तो खूब आगे रहे तो विदाई का जश्न मनाने वाले दर्शन पीछे क्यों? हर गली मौहल्ले, गाँव, शहर सुखी जीवन, भविष्य द्रष्टा साधु-पुजारियों की फौज घूमती मिलती है। यह फौज भोजन-पानी के लिए परजीवी होती है। साधू श्रम नहीं करते, इसके उलट एक अनुभवी लेखक लंबे जीवन तथा खुश रहने संबंधी सुझाव दें तो कुछ तो मतलब के होंगे ही। खुशवंत वैज्ञानिक नहीं हैं, पर वे जीव-विज्ञान की बात कर रहे हैं, दर्जन भर सुझावों के साथ। मुझे लगता है कि किसी की जीवन अवधि को तय करने में आनुवांशिकी की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिनके माता-पिता लंबी उम्र जीते हैं, उनके बच्चों की लंबी उम्र तक जीने की संभावना होती है। खुशवंत सिंह कुछ उपाय बताते हैं :

1. किसी खेल को खेलने की कोशिश करें या नियमित तौर पर व्यायाम करें। एक घंटे तेज चलना, तैरना या दौड़ना अच्छा होता है।
2. अगर आप इनमें से कुछ नहीं कर सकते तो दिन में कम से कम एक बार अच्छी तरह से मालिश करवाइए। तेज हाथों से सिर से पावं तक मालिश करवाने से रक्त संचार बेहतर होता है।
3. खाना और पीना कम कर दीजिए। खाने के बारे में सख्त दिनचर्या का पालन कीजिए। मैं सुबह 6.30 बजे नाश्ता कर लेता हूं।
4. शाम को 'सिंगल माल्ट' व्हिस्की का एक पैग आपकी पाचन प्रक्रिया को ठीक करता है।
5. रात के खाने से पहले खुद से कहिए, 'अधिक मत खाइए।' खामोशी में अकेले खाने की कोशिश कीजिए।
6. एक तरह की सब्जी या मांस लीजिए और फिर थोड़ा सा चूरन। (इडली-डोसा सबसे स्वास्थ्यकर विकल्प है क्योंकि इसे पचाना बहुत आसान होता है।)
7. कब्ज न होने दें। एनिमा, लैक्सेटिव, ग्लिसरीन आदि जिस तरीके से भी हो अपने पेट को साफ रखें।
8. मन की शांति के लिए बैंक में पैसे जमा रखें। यह करोड़ो में हो कोई जरूरी नहीं, लेकिन इतना होना चाहिए कि आप की भविष्य की जरूरतें पूरी हो सकें तथा बीमार होने की अवस्था में आप के काम भी आ सके।
9. गुस्सा न हों और अवसर देखें।
10. झूठ न बोलें।
11. उदारता से दें। इससे आपकी आत्मा साफ होगी। याद रखिए, जो आप के पास है उसे आप साथ लेकर नहीं जा सकते।
12. पूजा-पाठ कर के समय काटने से बेहतर है कि कोई शौक पाल लें—बागवानी, संगीत, बच्चों या जरूरतमंदों की मदद करना। याद रखिए, अपने आप को व्यस्त बनाए रखिए। अपने दिमाग और हाथों को काम में लगाए रहिए।

क्या मैं अपनी राय बदल सकता हूं? मेरी राय में चुटकुलेबाज गम्भीर और जिम्मेदार लोग नहीं होते। खुशवंत सिंह जब लिखते हैं, ''मेरे चुटकुलों की किताबें मेरे किसी भी लेखन से अधिक बिकीं और अधिकतर पाठक मेरे स्तंभ का आखिरी हिस्सा पढ़ते हैं जो मैं चुटकुले या हँसी उपजाने वाले किस्से के लिए सुरक्षित रखता हूं। मुझे यह बहुत मजेदार लगता है कि चुटकुलों की किताब ऐसे देश में बेस्टसेलर हैं, जहाँ हास्य का कोई बोध नहीं है।'' चुटकुले राजा रानियों पर भी बने, तानाशाहों, जिद्दी और सनकी बादशाहों पर भी, परन्तु खुशवंत और आगे बढ़कर सच्चाई स्वीकार करते कहते हैं, ''हमारे देश में सबसे अधिक चुटकुले जातीय यथास्थितिवाद और समुदायों को लेकर बनाए जाते हैं। मजेदार बात यह है कि इनमें से अधिकतर खुद उन समुदायों द्वारा बनाए जाते हैं।'' खुशवंत सिंह के सुझाव अमीरों के लिए हैं जो अफोर्ड कर सकते हैं। वे ऐसी जीवन शैली अपना सकते हैं। आम नागरिकों को भी शरीर रखने के लिए उपाय खोजने चाहिए। पेट साफ रखने के लिए चूर्ण के अलावा व्हिस्की के स्थान पर सिरका लेना चाहिए। हमारे सबसे अच्छे चुटकुले मौखिक परंपरा का हिस्सा बन जाते हैं और वे शायद ही कभी प्रकाशित रूप में दिखते हैं। खुशवंत सिंह उद्धृत करते हैं—''माँ की कोख से मैं नंगा आया, और नंगा ही मैं लौटूंगा; ईश्वर ने दिया और ईश्वर ने ले लिया; भाग्यवान हो ईश्वर का नाम बनो।'' ऐसा कहने वाले संतो ने अरबों-खरबों की संपत्ति पर कब्जा कर रखा है। आशाराम, डेरा सच्चा सौदा और रामदेव ऐसे कितने धन बटोरू बाबा जनता को लूट रहे हैं। खुशवंत सिंह ने संभवतया ज्ञानी जैलसिंह के प्रति पूर्वाग्रह के साथ लिखा, ''वे उच्चशिक्षा की औपचारिक उपाधि धारी नहीं थे। दूसरे वे दलित थे।'' पत्रकार सिंह ने आगे लिखा

है—''राष्ट्रपति 'जैल सिंह' का ऑपरेशन टेक्सस के उसी अस्पताल में हुआ जहाँ उनके पूर्ववर्ती संजीव रेड्डी का हुआ था। जब उनको ऑपरेशन थियेटर ले जाया जा रहा था तो मुख्य सर्जन ने राष्ट्रपति से पूछा, 'आप रेडी (तैयार) हैं।' 'नहीं, मैं वो तो रेडी नहीं हूं।' उनका जवाब था। 'मैं तो जैल सिंह हूं।'

रजत के साथ मैं उक्त अंश पर बात कर रहा था। उनका तर्क था कि ज्ञानी जी ने स्पष्ट किया होगा कि वह कहीं उन्हें संजीव रेड्डी न समझ बैठें क्योंकि कैपीटेशन फीस देकर प्राइवेट संस्थाओं से ऐसे नाकाबिल ही काबिल बने हुए हैं। भारत में प्राइवेट डाक्टर कैसे-कैसे चमत्कार करते हैं? किसी की किडनी, किसी का गुर्दा बदल देते हैं। सिंह की शैली ध्यान खींचती है, ''मुझे 'पद्म भूषण' और 'पद्म विभूषण'सम्मान मिल चुके हैं, लेकिन मुझे इस बात का अफसोस रहेगा कि मुझे जॉर्ज बुश, पी. के चिदंबरम या एल. के. आडवानी जैसी प्रमुखता हासिल नहीं हुई कि मुझे अपने ऊपर जूता फेंके जाने का सम्मान नहीं मिला।'' खुशवंत सिंह जीवित होते तो 'केजरीवाल' से भी ऐसे सम्मानों को जोड़ते और ईर्ष्या करते। खुशवंत सिंह आज जिस्मानी तौर पर दुनिया में नहीं हैं। लेकिन उमा भारती का गुस्सा है और खुद भी हैं उन्होंने हाल ही में कहा है, ''आपको नहीं पता ब्यूरोक्रेसी की औकात कुछ नहीं होती है, बल्कि चप्पल उठाने वाली होती है।''(जनसत्ता, अमर उजाला 21-9-2021) यह एक संयोग ही है कि हम उमा जी की भाषा, खुशवंत की नजर से देख रहे थे कि हमारे सामने खुद उमा जी का बयान आ गया। हालांकि, दिग्विजय सिंह कि टिप्पणी—'भारतीय संविधान में नौकरशाही नियम कानून के अंतर्गत निष्पक्षता से कार्य करती है, के लिए प्रतिबद्ध है। वे आपके नौकर नहीं हैं, चप्पल उठाने वाले नहीं हैं।'' उन्होंने लिखा, ''मैं आगे से अपनी भाषा में सुधार करूंगी।'' (जनसत्ता 23-9-2021)

खुशवंत सिंह ने अपने लेखों में भिंडरावाले की आलोचना की थी। सिक्खों की खालिस्तान की मांग के खिलाफ लिखा तो जाहिर है सिंह को इस का ईनाम मिलना था। सो उन्होंने अपनी हिट लिस्ट में उन्हें रख लिया। ''सुपारीवाला मुझे खोज नहीं पाया। लेकिन मुझे नफरत भरी चिट्ठियां खूब मिलीं। कनाडा से आया एक पत्र यादगार बन गया। उसमें चुन-चुन कर पंजाबी में गालियां लिखी हुई थीं। वह पत्र गुरुमुखी में लिखा गया था। केवल पता अंग्रेजी में लिखा हुआ था। 'बास्टर्ड खुशवंत सिंह इंडिया।' मैं सबसे अधिक प्रभावित हुआ भारतीय डाक तार सेवा की कार्य कुशलता से कि उसने देश के इस एक मात्र हरामी का पता खोज लिया। मैं उसे अपने सभी दोस्तों को खुशी से दिखाता फिरता था लेकिन एक दिन मेरी पत्नी ने दुखी होकर उसे फाड़ दिया।''

उन्होंने एक प्रसंग में लिखा, ''उमा भारती' को मेरे ऊपर बहुत गुस्सा आ गया था। उनका गुस्सा बहुत भड़काऊ होता था और इस दफा उनके निशाने पर मैं था। मैंने चार महिलाओं द्वारा मुसलमानों के प्रति जहर उगलने को उनकी काम कुंठा से जोड़ कर देखा था। उन्होंने मुझे शुद्ध हिंदी में एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने मेरे ऊपर स्त्री-द्वेशी होने का आरोप लगाया था। काश यह सच होता, क्योंकि महिलाओं को पसंद करने की मेरी भावना ने ही मुझे कुख्यात बनाया। ..... उस पत्र के साथ उन्होंने मुझे पीने के लिए गोमूत्र भेजा था। गोमूत्र चिकित्सा में मेरा विश्वास नहीं है। गोमूत्र के खयाल से ही, चाहे वह मोरारजी देसाई का हो, चाहे उनका, या मेरा अपना या पवित्र गाय का, मेरे गले में उबकाई आने लगी। मैंने टॉयलेट में जाकर उलटी की।'' जब बाबू जगजीवन राम रेल मंत्री थे, उन्होंने एक विधेयक तैयार किया जिसमें सांसदों की पत्नियों के लिए मुफ्त रेल यात्रा का सुझाव था। श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने, जो कुँवारे सांसद थे, यह पूछा कि 'क्या कुंवारे अपने साथ मुफ्त में किसी संगिनी को ले जा सकते थे। 'जगजीवन राम का जवाब था—'आदरणीय सांसद महोदय यह भूल गए हैं कि यह कानून पत्नी (स्पाउज) के लिए है न कि मसाले (स्पाइस) के लिए।

संदर्भ

- खुशवंतनामा मेरे जीवन के सबटक, खुशवंत सिंह, अनुवादक, प्रभात रंजन, पेंगुइन बुक्स इंडिया प्रा. लि. (हिन्दी संस्करण 2014) 11 कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110 007
- कंवल भारती, फेसबुक पोस्ट, 22 सितंबर, 2021
- Train to Pakistan, Khushawant singh

—प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आजीवक परंपरा के सिद्धांत और सद्गुरु रैदास की विचारधारा

—डॉ. दीनानाथ

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में वैदिक धर्म की वर्ण-वर्चस्ववादी नीतियों के विरोध में अनेक महापुरुष खड़े हुए थे जिनमें अजित केशकम्बली, संजय बेलट्ठपुत्त, महावीर स्वामी, मक्खलि गोसाल, पूरण कस्सप और गौतम बुद्ध बड़े दार्शनिकों में से थे। द्विज चिंतनधारा में बुद्ध और महावीर को बड़े सम्मान के साथ और विस्तार से पढ़ा और पढ़ाया जाता है तो अन्य का नाम उतनी ही उपेक्षा से या बहुत ही कम लिया जाता है। ब्राह्मण धर्म में वर्णव्यवस्था का क्रम उच्चता और निम्नता के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का है तो आचार्य अश्वघोष की वज्रसूची के अनुवादक संघसेन सिंह ने बौद्ध धर्म में वर्णों का क्रम 'क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र' बताया है। (उद्धृत—महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा धर्मवीर, पृ. 51)। सुत्त पिटक के वाल्यूम 3 के पृष्ठ 652 में भी इस वर्णक्रम को देखा जा सकता है जहाँ बुद्ध कहते हैं—''चत्तारोमे, वासेट्ठ वण्णा—खत्तिया, ब्राह्मणा, वेस्सा, सुद्दा।'' (उद्धृत—डा अंबेडकर बुद्ध से बड़े थे, डॉ. दिनेश राम, पृ. 115)। देखा जाए तो इसमें मात्र ऊपर के दो वर्णों का क्रम बदला है, शेष दो का नहीं। जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था का क्रम क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण' के रूप में मिलता है। (उद्धृत—महान आजीवक कबीर रैदास और गोसाल, डॉ. धर्मवीर, भूमिका से)। जब कि जैन ग्रंथ 'भगवतीसूत्र' के पृष्ठ 307 में खुद गोशाल कहते हैं कि वे अवर्णवादी हैं। डॉ. धर्मवीर ने अपनी पुस्तक में भगवती सूत्र, पद्मपुराण, वायु पुराण और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के हवाले से मक्खलि गोसाल के आजीवक धर्म को अवर्णवादी सिद्ध करते हुए लिखा है—''उन्होंने किसी वर्ण को स्वीकार नहीं किया। वे अवर्णवादी हैं। वहाँ न कोई शूद्र है, न वैश्य, न क्षत्रिय है, न ब्राह्मण है। उनमें कोई विभाजन नहीं है, सारा समाज एक है और एकजुट है। हर मनुष्य समान है। उनमें कोई भेदभाव और ऊंच-नीच नहीं है। इस तरीके से आज का दलित चिंतन आजीवक धर्म के रूप में अपने मूल तक पहुंचता है।''(वही, भूमिका से)

इतिहास की एक विचित्र घटना यह है कि जैन, बौद्ध और आजीवक धर्म जहाँ एक साथ वैदिक यानि ब्राह्मण धर्म से लड़ रहे थे, वहीं आजीवक धर्म वैदिक के अलावा जैन और बौद्ध से भी लड़ रहा था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो मक्खलि गोसाल का संघर्ष अन्य की अपेक्षा ज्यादा बड़ा है। मक्खली गोसाल से बुद्ध की दुश्मनी को दर्शाते हुए संपादक और भाष्यकार 'आचार्य महाप्रज्ञ' भगवती सूत्र के 142 वें सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—''बुद्ध तत्कालीन मतों व मत प्रवर्तकों में आजीवक संघ और गोशालक को सब से बुरा समझते थे। सत्पुरुष और असत्पुरुष का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—''कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो कि बहुत जनों के अलाभ के लिए होता है, बहुत जनों की हानि के लिए होता है, बहुत जनों के दुख के लिए होता है, वह देवों के लिए भी अलाभकर और हानिकारक होता है, जैसे—मक्खली गोशाल'।...गोशाल से अधिक दुर्जन मेरी दृष्टि में कोई नहीं है।.....श्रमणधर्मों में सबसे निदृष्टि और जघन्य मान्यता गोशाल की है। जीवन-व्यवहार में ऐसा ही निरुपयोगी गोशाल का नियतिवाद है।'' (उद्धृत—महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोसाल, पृष्ठ 30)। इसी तरह जैन ग्रंथों में जैनियों और आजीवकों के महासंग्राम की कथा भी वर्णित है।

आजीवक शब्द के दो अर्थ लिए जाते हैं। पहला अर्थ अपनी आजीविका स्वयं कमाकर खाने से है, तो दूसरा अर्थ अजीव से है। अर्थात मरने के बाद जीव यानि आत्मा नहीं बचती। इस तरह से देखा जाए तो आज के दलित चिंतन में और इसके पहले संत आंदोलन में भी आजीवक शब्द के उक्त दोनों अर्थ समाहित हैं भले ही यह शब्द संतों के सामने न गुजरा हो। न गुजरने का कारण है कि जैन और बौद्ध धर्म से संघर्ष में इसे सत्ता का साथ न मिल पाना है। दलित चिंतन की परंपरा में आने वाले सभी रचनाकारों ने महाकवि रैदास के काव्य के अवर्णवादी रूप के कारण उनके प्रति असीम सम्मान व्यक्त करते हुए उन्हें अपना पुरोधा माना है। इनके काव्य में आजीवक धर्म के अवर्णवादी रूप को देखा जा सकता है—*''रैदास इक ही बूँद सों, सब ही भयो विस्तार। मूरख हैं जो करत हैं, बरन-अबरन विचार''*

''बरन-अबरन कथै जिनि कोई, घट-घट व्यापि रह्यो हरि सोई।'' ''जिहि पद सुर नर प्रेम पियासा, सो पद रम रह्यो रैदासा''" ''रैदास इक ही नूर ते, जिमी उपज्यो संसार। ऊंच-नीच किह विध भए बाम्मण और चमार'' ''बाम्मण अरु चंडाल मह, रैदास न अंतर जान। सब में एक ही जोति है, सब घट एक भगवान।''

जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्म पूर्वजन्म और पुनर्जन्म वाले दर्शन पर आधारित हैं। ब्राह्मण धर्म के सारे ग्रंथ जहां पूर्वजन्म पर टिके हैं, वहीं बौद्ध धर्म की जातक कथाएं पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को लेकर ही लिखी गई हैं। स्वामी द्वारका प्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित और अनुवादित सुत्तपिटक मज्झिम निकाय प्रथम भाग के पृष्ठ 34-35 पर बुद्ध के पूर्वजन्म संबंधी विचार देखे जा सकते हैं जिसमे बुद्ध ने अपने अनेक पूर्वजन्मों की गतिविधियों का वर्णन किया है। जबकि आजीवक धर्म में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के विरोध में साक्ष्य मिलते हैं। यहाँ पूर्वजन्म के स्थान पर अपने पूर्वजों के सम्मान तथा पुनर्जन्म के बदले अपनी संतान के पालन-पोषण की बात कही गई है। मध्यकालीन संतों के काव्य में भी पुनर्जन्म के दर्शन को खारिज करने में आजीवक धर्म का ही समर्थन दिखाई देता है। दलित साहित्य की एक बहुचर्चित पत्रिका का नाम ही 'बहुरि नहिं आवना' है। कबीरदास के कई पद बहुरि नहिं आवना को लेकर हैं। रैदास के इस पद को देखें– *''चल मन, हरि चटसाल पढ़ाऊँ। गुरु की साटि ज्ञान का अच्छर, बिसरै तो सहज समाधि लगाऊँ। प्रेम की पाटी सुरति की लेखनि, ररा-ममा लिख अंक दिखाऊँ। कागद कंवल मति मसि कर निरमल, बिन रसना निस दिन गुन गाऊं। कहै रैदास राम भज भाई, संत साखि दे बहुरि न आऊं''*

वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म में कर्मफल के सिद्धांत का महिमामंडन है। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति के द्वारा पूर्वजन्म में किए गए कार्य का परिणाम वर्तमान जन्म है तथा वर्तमान जन्म में किए गए कार्य का परिणाम अगले जन्म में मिलेगा। कहने का आशय यह है कि यदि किसी व्यक्ति का जन्म तथाकथित उच्च कुल में हुआ है तो यह उसके पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। उसी तरह यदि किसी व्यक्ति का जन्म भारत में अछूत जाति में हुआ है तो वह भी उसके पूर्वजन्म का फल है। यदि इस कर्मफल के सिद्धांत को माना जाए तो वर्तमान जन्म कभी सुधर ही नहीं सकता। अपनी दुरवस्था को सुधारने के लिए हमें अगले जन्म की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इस प्रकार से कर्मफल का दर्शन परिवर्तन विरोधी सिद्ध होता है। इसीलिए आजीवक धर्म के प्रणेता मक्खलि गोसाल ने इसके विरुद्ध नियतिवाद का सिद्धांत दिया। कुछ आलोचक आजीवकों के नियतिवाद का अर्थ भाग्यवाद से लगाते हैं जबकि ऐसा बिलकुल नहीं है। भाग्यवाद परिवर्तन-विरोधी अवधारणा है जब कि नियतिवाद परिवर्तनकामी है। नियति का अर्थ 'निश्चित' होता है। दार्शनिक दृष्टि से जन्म और मृत्यु के संदर्भ में ही इसे देखा जाना चाहिए। दलित चिंतन में इसका आशय है कि जन्म और मृत्यु निश्चित है। मृत्यु कहाँ और किस जगह होगी, किसी कर्मफल के अनुसार नहीं है। उसी तरह हमारा जन्म अर्थात् हम अपने माता-पिता का चुनाव स्वेच्छा से नहीं कर सकते। जीवन के कष्टों को दूर करने के लिए और सामाजिक परिवर्तन में आगे बढ़ने के लिए वर्तमान जन्म ही काफी है, किसी दूसरे जन्म के इंतजार में बैठे रहने की जरूरत नहीं है। इसी परिवर्तनकामी नियतिवादी दर्शन को लेकर रैदास और कबीर भी आन्दोलनरत दिखाई देते हैं– *''जीवन जोति कैसे जगी, कैसे होई अंत। रैदास मानुष न जानहि, जानत है भगवंत'' ''पर किरती परभाव बस, मानुष करत है कार। मानुष तो है निमित रूप, कहै रैदास विचार''*

वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म में जहाँ संन्यास को महिमामंडित किया गया है, वहीं आजीवक धर्म में घर-गृहस्थी पर जोर दिया गया है। इस के पीछे सिविल कानूनों की बड़ी भूमिका है। प्रायः देखा जाता है कि जिन धार्मिक समाजों में तलाक और पुनर्विवाह की मनाही होती है वहाँ घर छोड़ने की परंपरा पाई जाती है। चूंकि ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म में विवाह सात जन्मों का बंधन माना गया है, इसलिए इन धर्मों के साहित्य में क्रमशः संन्यासी, मुनि, और भिक्खु का गुणगान भरा पड़ा है। अवर्णवादी दलितों में आज भी तलाक के मामले में दोनों पक्ष के लोग मिल बैठकर पुनर्विवाह के रूप में इसका समाधान निकाल लेते हैं। आजीवकों के इसी सिविल कानून को डा अंबेडकर ने भारतीय संविधान में हिन्दू कोड बिल के रूप में प्रस्तुत किया है। सद्गुरु रैदास के यहाँ संन्यासी, मुनि और भिक्खु को महत्व न देकर गृहस्थों के गीत मिलते हैं जो आजीवक दर्शन का ही प्रभाव है। *''गृहहिं रहु, सत करम करहु, हिरदै चिंतहु ओंकार। रैदास हमारो बांधना, केवल नाम अधार'' ''नेक कमाई जो करे, घर तज बन नहिं जाय। रैदास हमारो राम जी, घर में मिलहीं आय'' ''वन खोजत पिय ना मिले, वन में प्रीतम नाहिं। रैदास पिय है बस रह्यो, मानव प्रेमहि माहिं'' ''काहे बन खोजत फिरै,काहे धूनि रमाई? रैदास राम अंतर बसै, ज्यों मुकुर में छाई'' ''गिरि बन काहे खोजत जाही, घट अभियंतर भाई। पुहुम मध्य जो बास बसत है, त्यों सब घट हरि राई''*

अवतारवाद की कथा से वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म के साहित्य भरे पड़े हैं। जातक कथाएं अवतार-कथा ही हैं। बुद्ध खुद विष्णु के अवतार माने गए हैं। सुत्त पिटक के संयुक्त निकाय के प्रथम भाग में ब्रह्मा के साथ संवाद में बुद्ध खुद को अनंतद्रष्टा भगवान बताते हुए कहते हैं–''अप्पं हि एतं न हि दीघमायु,यं त्वं बक मय्यसि दीघमायुं। सतं सहस्सानं निरब्बुदानं, आयुं पजानामि तवाहं ब्रह्मे ति। अनंतदस्सी, जातिजरं सोकमुपातिवत्तो।'' अर्थात ''यह आयु भी अल्प ही है बहुत लंबी भी नहीं जैसा कि तुम समझ रहे हो। हे ब्रह्मा! मैं तुम्हारी सैकड़ों वर्षों की आयु को जानता हूं। मैं अनंतद्रष्टा भगवान हूं। जाति, जरा और शोक को अतिक्रांति कर चुका हूँ।'' (बौद्धभारतीग्रंथमाला-40,

संपादक एवं अनुवादक स्वामी द्वारकादास शास्त्री, उद्धृत-डा अंबेडकर बुद्ध से बड़े थे, डॉ.दिनेश राम, पृष्ठ 320)। जबकि मक्खलि गोसाल के आजीवक धर्म में कोई अवतार-कथा नहीं है। रैदास की कविता में भी किसी अवतार की मनाही दिखाई देती है–

''इस जग में साधो बहुत गए झक मार। जोगी, जती, तपी, सिद्ध, साधक, राव-रंक अवतार, कच्छ, मच्छ, बाराह, नृसिंघ, नन्द घर कृष्ण अवतार। राम, लखन, भरत, शत्रुघन, रही नहीं जनक दुलार। रावण कुम्भ, हिरणाकश, पांडव मिट गया कुल परिवार। कर्ण दान स्वर्ण का करता, एक दिन हो गया छार।.....कहै रैदास भ्रम का भांडा, फूटेगा सब के द्वार''

वैदिक, जैन और बौद्ध धर्म में स्त्री-पुरुष विभेद के उदाहरण अक्सर देखे जाते हैं। वैदिक धर्म में जहां स्त्री को पाप योनि कहा गया है, वहीं बुद्ध की मौसी प्रजापति गौतमी को उपसंपदा ग्रहण करने के लिए कई कठोर शर्तें माननी पड़ी थी। जैन आगम 'सूयगडो' में जैन मुनि आर्द्र और गोसाल के बीच स्त्री प्रसंग की बहस से पता चलता है कि इस मामले में जैन धर्म भी ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के ही समान है। डॉ. हरिपाद चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'एसिटिज्म इन एन्सियन्ट इंडिया इन ब्राह्मनिकल, बुद्धिस्ट, जैन एण्ड आजीविक सोसाइटी (फ्राम द अर्लीएस्टटाइम्स टू द पीरियड आफ शंकराचार्य) के पृष्ठ 454-55 में लिखा है–''आजीवक धर्म की एक बड़ी विशेषता यह है कि इस में स्त्री को छोड़कर जीवन की साधना नहीं होती। यही नहीं, इस समाज में स्त्री और पुरुष दोनों समानता के स्तर पर रहते हैं।''(उद्धृत–महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, पृष्ठ 58)। आजीवक धर्म में 'अंजलि कम्म' की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। हुआ यूं कि एक बार मक्खलि गोसाल ने अपनी पत्नी हालाहला के सामने हाथ जोड़कर प्रणाम किया जो 'अंजलि कम्म' के नाम से जाना गया। यह घटना महावीर स्वामी को नागवार लगी। कहा जाता है कि यहीं से महावीर स्वामी को मक्खली गोसाल के इस दर्शन से विरक्ति हो गई । बाद में मक्खलि गोसाल अपनी पत्नी हालाहला को अपने स्कूल आफ थाट्स का वारिस बनाते हैं। वास्तव में अंजलि कम्म लैंगिक समता का दर्शन था जिसे रैदास ने भी अपनी कविता के माध्यम से स्त्री-पुरुष को एकनिष्ठ रहते हुए परिवार की नैतिकता को बनाए रखने की बात की है–*''ससि चकोर, सूरज कंवल, चातक घन की रीत। रैदास इहि मुख राखियो, हित चित पूरण प्रीत।'' '' ज्यों लों पिव मन नहिं आई, का सोरह सिंगार बनाई? सोई सती रैदास बखानी, तन मन सूं पिव रंग समाई।''* आजीवक धर्म का सिद्धांत है–'नो धम्मो त्ति, नो तवो त्ति' अर्थात कोई ऐसा धर्म नहीं है और कोई ऐसा तप नहीं है जो किसी को सांसारिक बंधनों से मुक्ति दिला सके। जबकि अन्य धर्मों में ऐसा करना ही मुक्ति का मार्ग बताया गया है। भगवती सूत्र में नन्द वंश के राजा विमलवाहन (आजीवक मत के अनुयाई) को मक्खलि गोसाल मानकर जो कथा लिखी गई है, उससे पता चलता है कि मक्खलि गोसाल किसी तप और धर्म को निरर्थक मानते थे। तदनंतर इस प्रकार जब वे राजेश्वर यावत सार्थवाह आदि विनयपूर्वक राजा विमलवाहन से विनती करेंगे, तब वह राजा-धर्म (कुछ) नहीं, तप निरर्थक है, इस प्रकार की बुद्धि होते हुए भी मिथ्या विनय बताकर उनकी विनती को मान लेगा।'' (उद्धृत, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, पृष्ठ 61)। इसी तरह भगवती सूत्र में मक्खलि गोसाल की एक कथा महावीर स्वामी ने गौतम बुद्ध को सुनाया है कि वह (गोसाल) तप-कर्म करने वालों की कैसे खिली उड़ाते हैं। इसी तरह के किसी भी कर्मकांड की भर्त्सना हम रैदास की कविता में पाते हैं–*''माथे तिलक हाथ जप माला, जग ठगने कूँ स्वांग बनाया। मारग छोड़ कुमारग डहके, सांची प्रीत बिन राम न पाया'' ''कहै रैदास प्रकाश परम पद, का जप तप व्रत पूजा? एक अनेक, अनेक एक हरि,कहो, कौन विधि दूजा?''*

दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र के अंतर्गत प्रेम, सदाचार, श्रम और अध्यात्म केन्द्रीय तत्व माने जाते हैं। यही परंपरा संत आंदोलन में दिखाई देती है जिसकी पृष्ठभूमि में आजीवक दर्शन काम करता है। सद्गुरु रैदास के दोहों में इसे देखा जा सकता है–''श्रम को ईसुर जानिके, जो पूजे दिन रैनि। रैदास तिन्हहि संसार में, सदा मिले सुख चौन।'' ''रैदास सोई साधु भलो, जो आपा न जताय। सतवादी साँचा रहे, मन हरि चरनन लाय'' ''तुरक मसीत अल्लह ढूँढ़ई, देहरे हिन्दू राम गुसाईं। रैदास ढूँढिया राम कूँ, जहँ मसीत देहरा नाहीं'' ''मस्जिद सो कुछ घिन नहीं, मंदिर सो नहिं प्यार। इन में अल्लाह राम नहिं, कहै रैदास चमार'' ''जूयूं सुधि आवत पीव की, बिरह उठत तन लाग।ज्यू चूने की कांकरी, ज्यों छिटकै त्यों आग'' ''रैदास वचन जो दे दिया, वह न जाने पाय। वचन हरे को जगत में, कछु न सेस रहाय''

आजीवक धर्म अवर्णवादी होने के नाते समतावादी है। इस दर्शन में कोई भी जन्म से ऊंचा और नीचा नहीं होता चाहे वह किसी भी जाति और धर्म में क्यों न पैदा हुआ हो। रैदास जी वर्णगत असमानता को दूर करने हेतु बड़ी बेबाकी से कहते हैं कि गुणहीन ब्राह्मण गुरु होने लायक नहीं है–*''रैदास बाभन मत पूजिए,ज्यों होवै गुणहीन। पूजहि चरण चंडाल के, जो होवै गुण परवीन।।'' ''जात पांत के फेर में, उरझि रहे सब लोग। मानुषता कूँ खात है, रैदास जात का रोग'' ''धरम करम जानै नहीं, मन में जाति अभिमान। ऐसो बाभन सो भलो, रैदास भ्रमक हुँ जान'' ''जात जात में जात है, ज्यों केलन के पात। रैदास मानुस*

नहिं जुड़ सके, जब लौं जात न जात'' आजीवक धर्म वेद, शास्त्र और तीर्थ का विरोधी था। इसके लिए लोक में जो अनुभव के द्वारा प्राप्त ज्ञान था, वही सत्य था। रैदास भी अनुभव साँचा की बात करते हैं—*''पोथी बांचौ, वेद उचारै, घर-घर कथा सुनावै। पता नहीं हम कहाँ जाहिंगे, घर लगी बाहर बुझावै।।''*

''चारिउ वेद किया खंडौति। जन रैदास करै डंडौति।।''

''का मथुरा का द्वारिका, का कासी हरिद्वार? रैदास खोजा दिल आपना, तो मिलिया दिलदार।।'' ''अंतहकरन अनुभव करहि, तो मानव सब सत्त। रैदास निज अनुभव में, सत्त में जानहि सत्त।।''

रैदास और कबीर की कविता आजीवक धर्म और दर्शन की कविता है। डॉ. धर्मवीर इनकी पहचान आजीवक के रूप में बताते हुए अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—''यह भारत में चर्चित वर्ण व्यवस्था का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से कुछ नहीं है क्योंकि यह अवर्णवादी है। नन्द वंश के रूप में यह भारत का राजा रहा है, तब इसे विरोधी खेमों की समाज व्यवस्थाओं का शूद्र नहीं कहा जा सकता। मौर्य साम्राज्य में भी आजीवक धर्म का दबदबा रहा था। चन्द्रगुप्त मौर्य बाद में जैन हो गए थे पर उनके बेटे बिन्दुसार आजीवक ही रहे थे। बिन्दुसार के बेटे अशोक आजीवक माता-पिता की संतान थे। अशोक आजीवक भी रहे और बाद में बौद्ध की तरफ झुक गए।'' (उद्धृत, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, भूमिका से)। मक्खलि गोसाल कुंभार थे, बीजक दास थे, रैदास चमार थे, कबीर कोरी और फिर जुलाहा थे, अछूतानन्द चमार थे, अंबेडकर महार थे। इस प्रकार देखा जाए तो इस धर्म को मानने वालों में तथाकथित शूद्र, दास और अस्पृश्य जातियाँ ही दिखाई देती हैं जिससे सिद्ध होता है कि यह धर्म आज की दलित और अन्य पिछड़ी जातियों का धर्म था। इसीलिए सद्गुरु कबीर और सद्गुरु रैदास की कविता की भाषा इन पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के प्रति मुलायम होने लगती है। रैदास कहते हैं—*''दीन दुखी की सेव में, लागि रह्यो रैदास। निसि बासर की सेव सों, प्रभु मिलन की आस।।'' ''दीन दुखी के हेत जो, वारै अपने प्राण। रैदास उह नर वीर को, साँचा सूरा जान।।''* धर्म प्रचारकों का हर समय में अपना विशेष महत्व रहा है। अन्य धर्मों के समान आजीवक धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए भी साधु हुआ करते थे जो भीख नहीं मांगते थे बल्कि अपने -अपने पेशे से जुड़कर कमाते और खाते थे। मक्खलि गोसाल मिट्टी के बर्तन बनाने के पेशे से जुड़े थे, कबीर कपड़ा बुनने का पेशा अपनाए हुए थे, रैदास के पास जूतों का व्यापार था। इसीलिए अवर्णवादी कवियों के यहाँ 'माँगन मरण समान' वाली कहावत चरितार्थ हुई जबकि वैदिक, जैन और बौद्ध परंपरा के वर्णवादी कवि 'माँगि के खइबो मसीत में सोइबो' और 'बाभन को धन केवल भिक्षा' वाली कहावत का समर्थन करते दिखाई देते हैं। रैदास कहते हैं—''जिह्वा सों ओंकार जप, हत्थन सों कर कार। राम मिलहि घर आइ कर, कह रैदास चमार।।''

आजीवक धर्म में दो शब्द बड़े महत्व के हैं जो अन्य किसी भी धर्म में नहीं मिलते—'संसार शुद्धि' और 'मण्डल मोक्ष'। बेनी माधव बरुआ ने अपनी पुस्तक 'द आजीविकाज' में 'संसार शुद्धि' को बौद्ध ग्रंथों से उद्धृत किया है जिसका अर्थ है—'आत्म शुद्धि' के माध्यम से संसार को सुधारना। डॉ. धर्मवीर बड़े स्पष्ट रूप से इसे लिखते हैं कि ''योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि नहीं बल्कि समता, स्वतंत्रता, और भ्रातृत्व के सिद्धांत संसार शुद्धि के अंतर्गत आते हैं।''(महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल,पृष्ठ 199)। दूसरे रूप में हम कह सकते हैं कि समाज के समतावादी कानूनों को सही तरह से लागू कर जीवन को संचालित करना ही संसार शुद्धि है। अजीवकों की इसी से जुड़ी हुई दूसरी देन 'मण्डल मोक्ष' की है। डॉ. धर्मवीर ने इसे ध्यान में रखते हुए लिखा है, ''आजीवकों का मण्डल मोक्ष बौद्धों के निर्वाण, जैनियों के कैवल्य और ब्राह्मणों के मोक्ष से पूर्णतया भिन्न है''(वही पृष्ठ, 204)। अर्थात् आजीवकों का मण्डल मोक्ष लौकिक जगत की समस्याओं और उनके समाधान को प्रस्तुत करने वाला सिद्धांत है। लौकिक जगत में समाज जातियों और जातीय वर्गों में बंटकर जातिवाद, गरीबी और अपमान को झेलते हुए अमानुषिक गुलामी की जिंदगी बसर कर रहा है। इसी गुलामी को मिटाने की कोशिश ही मण्डल मोक्ष है।

मक्खलि गोसाल के आजीवक धर्म के अनेक साक्ष्य हम संत रैदास की कविता में खोज सकते हैं। गोसाल और रैदास के लोग दंड से बचने के लिए अन्य धर्मों की तरह 'मामेकं शरणं ब्रज' और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' जैसी किसी आध्यात्मिक पुरुष की शरण को स्वीकार नहीं करते बल्कि संविधान की शरण में जाना चाहते हैं जिसमे कानून आता है। रैदास की कविता में सुहागन के गीत, दुहागन की भर्त्सना, जीवन की सहजता, जरा और मृत्यु आदि संबंधी कविताओं पर आजीवक दर्शन का ही प्रभाव है। उनका यूटोपिया 'बेगमपुरा' आजीवक दर्शन का अप्रतिम उदाहरण है।

—डॉ. दीनानाथ
एसोसिएट प्रोफेसर और संयोजक
हिंदी विभाग, सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज, प्रयागराज

कार्टून और चुटकुलों में बदलते देश का दस्तावेज हैं धूमिल की कविताएँ

—डॉ. सत्यप्रकाश सिंह

भूमिका—धूमिल की कविता पर बात करते हुए हम प्रायः यह स्वीकार करके चलते हैं कि उसमें असहमति है, सपाटबयानी है, व्यक्तव्य है, प्रत्यक्ष ठोस यथार्थ है और है एक रचनाकार की शाश्वत विपक्ष की भूमिका। यह सब और इसके अतिरिक्त भी, 'खास' पहचान है जिसके आधार पर बहुत निष्कर्षात्मक रूप से धूमिल को जानने का प्रयास किया जाता है। एक पाठक के तौर पर हमारा ध्यान भी यह जानने पर होता है कि कविता में 'खास' क्या है? किंतु इस प्रश्न के साथ ही यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है, शायद ज्यादा महत्वपूर्ण है कि इस खास में कविता क्या है? कविता बन कैसे रही है? यानी, 'खास' की उपस्थिति के बजाय रचना में उसकी प्रस्तुति, अर्थात उसके आपसी संयोजन, रचाव-बसाव का सवाल अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। आलोचक को कविता के बुनियादी सरोकारों और संरचना से जूझना होता है किंतु 'खास' की तलाश में उसकी आलोचना समाजशास्त्र की नकल हो सकती है और कविता से मुक्त या अर्धमुक्त काव्याभास भी हो सकती है। अनेक बार कविता भी इस 'खास' की तलाश में निकलती है। अकवितावादियों के अनेक काव्य-प्रयोग इसी श्रेणी के रहे हैं। यह प्रवृत्ति साहित्य का अहित तो करती ही है, पाठक की समझ को भी संकुचित करने का प्रयास करती है। साहित्यकारों के इस 'निजी सनातन खास' में कविता के सवाल का जिन्दा रहना अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि कविता की तलाश, काव्याभास तथा आलोचनाभास से छुटकारा तो दिलाती ही है साथ ही पाठकों में भी कविता को पढ़ने की, उसे समझने और ग्रहण करने की एक तमीज विकसित करती है। नामवर सिंह ने 'कविता और अकविता' नामक लेख में लिखा है कि 'अनायास लेखन अंततः अनायास ग्रहण को प्रश्रय देता है।'[1] इसलिए प्रयास रहा है कि 'कार्टून और चुटकुले' कविता को कविता की तरह पढ़ा जाये और पंक्तियों में अनुस्यूत यथार्थ को पकड़ने का प्रयास किया जाए।

मुख्य शब्द— काव्याभास, आलोचनाभास, बिडंबना, व्यवस्था, प्रतिरोध, यथार्थ, पक्षधरता

धूमिल मूलतः राजनीतिक भाव-बोध के रचनाकार हैं। राजनीति की विसंगति उनकी रचनाओं में लोकतंत्र की विडंबना के रूप में व्यक्त हुई है। इसका निहितार्थ यह भी है कि 'हत्यारी संभावनाओं के नीचे' राजनीति ही वह सत्ता है, जो अन्य सत्ताओं को संतुलित करते हुए बदलाव की जमीन तैयार कर सकती है। किंतु उससे कुछ सार्थक न होता देख, एक हताशा और तल्खी का भाव अकसर उनकी रचनाओं में पाया जाता है। लेकिन जैसा अकसर होता है विरोध का प्रतिष्ठानीकरण कर दिया जाता है या संगठित राजनीति, चाहे वह किसी समूह, वर्ग या धड़े की हो, अवसर मिलते ही उसका राजनीतिक उपयोग कर ले जाती है। रघुवीर सहाय के शब्दों में—'साथ दो न दो हाथ तो उठा दो' की तर्ज पर। इस तरह की राजनीति के दो खतरे हैं। एक तो रचना की राजनीति का संगठित राजनीति द्वारा उपयोग हो जाना, इसमें बुरा केवल इतना है कि रचना के अपने मोर्चे का अपहरण हो जाता है। दूसरा खतरा है, कविता पोस्टर और बैनर पर चिपके और उसी से ही कोई कविता, कविता होने के दायित्व का निर्वाह कर सके, इस 'खास' समझ के कारण रचनाकार का व्यक्तिगत दायित्व-बोध से स्वयं को मुक्त मान लेना। मसलन, जातीय और वर्गीय मानसिकता के अनुरूप व्यवहार करते हुए अपने साहित्य और पात्रों की क्रांति को क्रांति का विकल्प मान ले। साहित्य और साहित्यकार देश-काल से स्वतंत्र नहीं है। उन पर सामयिक प्रवाहों का दबाव होता ही है, होता रहा है, किंतु अनेक दबावों के बावजूद कविता की अपनी राजनीति जिंदा रहनी चाहिए, धड़कती रहनी चाहिए। इसलिए वास्तविक राजनीतिक कविता वह कविताएं होती हैं जिनकी अपनी राजनीति तो होती है, किंतु संगठित राजनीति उनका उपयोग नहीं कर पाती है। 'कार्टून और चुटकुले', ऐसी ही कविता है। यह कविता भारतीय लोकतंत्र का मृत्यु पत्र होते हुए लोकतंत्र की जिंदा कविता है। जीवन की कविता है।

'कार्टून और चुटकुले' धूमिल की सबसे अच्छी कविता नहीं है। लेकिन रचनाकर्म में से सबसे अच्छी रचनाएं ढूंढ़ने का शगल, रचना में चमकदार पंक्तियों को ढूंढ़ने जैसा ही है। स्वयं धूमिल, बतौर काशीनाथ सिंह, चमकदार पंक्तियों को

ढूढ़ते रहे। उनके अधिकतर चाहने, न चाहने वाले आलोचकों ने भी सबसे ज्यादा उनकी चमक को ही चाहा, शायद उनके लिए चमक ही वह 'खास' है, जिसे प्रशस्त करना या उससे तनाव का रिश्ता बनाना सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। इन सबमें धूमिल का कुछ-कुछ छूट गया। अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि धूमिल उत्तरोत्तर 'संसद से सड़क तक' वाले ही धूमिल नहीं रहे। सच के अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति के कई रंग उनकी कविताओं में जुड़ते गए हैं। लेकिन चमक को विशेष मान लेना और विशेष को ही धर्म, हिंदी आलोचना की वह प्रवृत्ति रही है, जिसने रचना और आलोचना, दोनों का अहित किया है।

प्रत्येक रचनाबोध को गाढ़ा करती है, अनुभव में कुछ जोड़ती है और समझने तथा ग्रहण करने की समझ विकसित करती है। इस प्रकार वह उन्हें जागरूक करती है, जो बदलाव का मूल हो सकते हैं। यहीं रचनाकार और पाठक का अन्योन्याश्रित संबंध निर्मित होता है। अनेक लेखक जो रचना में ही क्रांति कर डालते हैं या फिर रचना के पात्रों से करवाकर अपने दायित्व की पूर्ति समझ लेते हैं, एक विशेष तरह की रोमानी वृत्ति का शिकार होते हैं। यह एक तरह की संस्कृति है जिसमें काव्य के समांतर काव्याभास, आलोचनाभास मिलकर यथार्थाभास निर्मित करने की कोशिश करते हैं, जो अनेक बार यथार्थ से कोसों दूर होता है। धूमिल विशेष के नहीं सामान्य के रचनाकार हैं। उनकी कविता सामान्यजन की विडंबनापूर्ण जीवन-स्थितियों को ही व्याख्यायित करती है। किंतु उनका मूल्यांकन विशेष पैमानों पर किया गया है। 'कार्टून और चुटकुले' कविता सहजता के साथ यथार्थ को पकड़ने की, उसे उतनी ही सहजता से अभिव्यक्त करने की कोशिश करती है। ऐसा करते हुए न रचना यथातथ्यता को प्रशस्त करती है, न यथास्थितिवाद को। वह सामयिक प्रवाहों से प्रायः असहमत होकर अपने समय के मनुष्य के साथ खड़ी होती है। उसको भरी-खरी आँखों से देखती है, उसे महसूस करती है और कहती है। ऐसा कहने के लिए, जिसके बारे में कहा जा रहा है, वैसा होना या वैसा महसूस करना जरूरी है। उसे दिशा देना जरूरी है। इस आधार पर यह कविता, कविता बनी रहती है।

हिंदुस्तान बेचैन है, अस्त-व्यस्त है। उस वायुयान की तरह जिसमें बम होने की खबर है।[2] स्वयं के नष्ट होने का संकट प्रत्यक्ष है, इसलिए बेचैनी है। लेकिन यही बेचैनी यदि अपनी स्थिति के प्रति होती तो हिंदुस्तान 'बम' पर नहीं बैठा होता। इसलिए इस बेचैनी का बदलाव से कोई सीधा संबंध नहीं बनता है। चिंताएं बहुत तात्कालिक हैं, जीवन सतत गतिमान है। इस सातत्य के परिप्रेक्ष्य में ही इस तात्कालिकता को समझा जा सकता है, नहीं तो चिंताएं सतही होंगी। बेचैनी वर्तमान बोध से जुड़ी हुई है, अर्थात समस्या समसामयिक है। वर्तमान बोध की समकालीनता से ही यह कविता, कविता बनने की प्रक्रिया में आकार पाना शुरू करती है। समकाल में होना और समकालीन होना दो अलग-अलग स्थितियां हैं। 'नवगीतात्मकता क्या समकालीन प्रौढ़ता को अवरुद्ध करती है?' नामक शीर्षक से डायरी में (धूमिल समग्र- 3 में डायरी खंड-1) धूमिल ने समकालीन होने का मतलब स्पष्ट करते हुए लिखा है—''समकालीन होने का मतलब है : स्वतंत्रता की पूरी समझ और उसकी चरितार्थता के लिए पहल। भ्रम की मुक्ति के लिए एक कारगर कोशिश। शोषण के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध आततायी के खिलाफ आक्रामक रुख सर्वहारा वर्ग की सामूहिकता और स्वतंत्रता का सक्रिय स्वीकार।''[3] समकालीनता की इस समझ और व्यवहार का अभाव इस कविता में परोक्ष रूप से विन्यस्त है। समय विशेष में होने मात्र को धूमिल शब्द देते हुए कहते हैं कि 'एक भेड़िया भी दूसरे भेड़िये का समकालीन हो सकता है।' अर्थात, सवाल समय विशेष में होने मात्र का नहीं है अपितु मनुष्य होने की भूमिका का है। समकालीन होने का अभिप्राय है मनुष्यता के प्रति पक्षधरता। देश-काल में मानवीय और तार्किक हस्तक्षेप। समझौता करनेवाले तथा राजनीतिक चेतना से शून्य लोगों की समस्या है कि वे अपने हित में सत्ता-व्यवस्था के साथ व्यवहार में निरंतर सहमति अथवा फैशनबल असहमति, जो कि सहमति ही है, के द्वारा सब कुछ या बहुत कुछ नष्ट कर देने को तत्पर रहते हैं, या फिर निःसंगता का आश्रय लेकर यथास्थितिवाद को प्रशस्त करते हैं।[4] यह कविता हमें ऐसे ही प्रश्नों की तरफ लेकर जाती है।

व्यवस्थाओं के कुचक्र में निरंतर पिस रहे लोग जीवन के प्रति आत्मीयता और अनुराग महसूस नहीं कर पा रहे हैं। उदासी और टूटन के बीच, इस रेगिस्तान में जहाँ कोई हरित भूमि और तंबू दिखाई पड़ जाता है, लोग सुस्ताने के लिए पड़ाव डाल लेते हैं। ये तंबू विश्वासों, आदर्शों और विचारधाराओं के प्रतीक हैं, जिनकी निरंतर पड़ताल आवश्यक है। किंतु, सुस्ताने की प्रक्रिया में लोगों का नींद में पड़ जाना, उस तंबू को कब्र में बदल देता है, लगातार बदल रहा है। यदि व्यवस्थाओं की अपनी विसंगतियां हैं तो तंबुओं के अपने संकट हैं। विचारधाराएं, व्यवस्थाएं, छोटे-छोटे साहसिक प्रयास और हर वो चीज, जो मनुष्यता को ताकत देती रही है, निरंतर नाकाफी सिद्ध हो रही है। सत्ता-व्यवस्था की समझ के साथ उन्हें भी बार-बार जांचने और समझने की जरूरत है। धूमिल इसे अपनी तरह से समझते हैं—''न कोई प्रजा है/न कोई तंत्र है/यह आदमी के खिलाफ/आदमी का खुलासा/ षड्यंत्र है।''[5] वस्तुस्थितियों को समझने के हमारे मापदंड अलग हो सकते हैं, होने भी चाहिए। किंतु प्रश्न विचारणीय है। अथाह रेगिस्तान जैसे

जीवन में, जहाँ जीवन को संचालित करने वाली अनेक शक्तियां सक्रिय होकर उसे निरंतर रेगिस्तान बना रही हों, वहां पर 'कोई किसी से लगातार प्यार नहीं करता', बड़ी विडंबना की तरफ संकेत करता है। विचारधाराओं के अपने कंसर्न तथा लोगों की अपनी तात्कालिक चिंताएं होती हैं। इस नितांत आत्महीन व्यावहारिक दौर का यही चरित्र है, जहाँ स्नेह, जुड़ाव तथा संरक्षण के लिए अवकाश निरंतर सीमित होता जा रहा है। संगठित सत्ता के समांतर जनता भी सत्ता ही है। लेकिन वह कोई प्रतिरोध नहीं पैदा कर पा रही है। उसका आपसी कटाव, उसकी उदासीनता जीवन को निरंतर रेगिस्तान बना रही है—''कोई किसी से लगातार प्यार नहीं करता/सारा जीवन अथाह रेगिस्तान है/थोड़ी देर के लिए/तुम देखते हो कहीं कोई नखलिस्तानऔर एक तंबू/तुम उसमें सुस्ताने के लिए/एक दिन का पड़ाव डालते हो/लेकिन सावधान! नींद में न पड़ना/रात रेत की आँधी उड़ेगी और वह तंबू/सूर्योदय की किरण फटने के पहले ही/एक कब्र में बदल जाएगा/''[6]

संभव है, थोड़ी बेहतर सी लगती स्थिति हमें भुलावे में डाल दे, हमें छले। जहाँ से हम अपने नष्ट होने की आहट भी न महसूस कर सकें। इसलिए सचेत रहना आवश्यक है। लोकतंत्र निरंतर जागृति की मांग करता है। मनुष्यता और नागरिक जीवन का भी यही तकाजा है। लोकतंत्र में परीक्षा अथाह रेगिस्तान में ही नहीं नखलिस्तान में भी होती रहती है। अथाह रेगिस्तान को रोकने का यही एकमात्र उपाय है। यहाँ कविता, जीवन के अथाह रेगिस्तान में नहीं है, न ही कवि की चेतावनी में है। कविता, सुस्ताने की जगह नींद में पड़ने की बराबर बनी हुई संभावना में है और है 'कोई किसी से लगातार प्यार नहीं करता' कथन के निहितार्थ में। जहाँ नींद के कारण कब्र में बदलने की सर्वाधिक संभावना है, वहीं यह कविता अपने निहितार्थों में जीवन की सर्वाधिक संभावना की कविता बन जाती है। धूमिल की कविता 'भाषा में आदमी होने की तमीज' इसी रूप में है। वह पाठक से सोचने, समझने और व्यावहारिक जीवन में सक्रिय होने की मांग करती है। प्रस्तुत कविता आपातकाल के छह वर्ष पहले लिखी गयी है, किंतु आपातकाल की आहट इसमें मौजूद है। नींद में न पड़ने का आह्वान, भावी संकट से बहुत कुछ बचाये रखने का प्रयास है। 'यथार्थ' यथास्थितिवाद नहीं है। जीवन में आस्था और मनुष्य में विश्वास बनाये रखना ही कविता का यथार्थ होता है। बेहिसाब धड़कती असंगतियों की सत्ता के बीच धूमिल का यह यथार्थबोध विकल्पहीनता के दौर में, विकल्प की चेतना प्रदान करता है। किंतु विकल्प ऊबकर नहीं, ऊब से उबरकर ही प्राप्त किया जा सकता है।

रोजमर्रा जीवन जीते हुए प्रतिदिन अनेक ऐसी स्थितियों से सामना होता है, जहाँ सामान्य मनुष्य, मनुष्य से एक या कई दर्जा नीचे जीने को विवश होता है और वह आदतन उसे जीवन का हिस्सा बनाकर, उसे जीवन पर लाद लेता है। यह जानते हुए कि इस तरह से केवल जिंदा रहा जा सकता है, जिंदा बनकर नहीं रहा जा सकता है। 13 फरवरी, 1971 डायरी में धूमिल ने लिखा है— ''दरअसल गरीबी आर्थिक कारणों से शुरू होकर दिमागी आदत में तब्दील हो जाती है। इसके साथ ही वह एक भाग्यवादी नजरिये से बांधकर परंपरा या देह का संस्कार बना दी जाती है। यह क्रिया, नर्क को सहन करने की सीख शालीनता देने लगती है।''[7] यही शालीनता लगातार दुर्व्यवहार सहना सिखा देती है। लोग ऊब के सहारे जिंदा रहना स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ साहस काम की चीज हो सकती है, लेकिन वह युवाओं में भी संकटकालीन नमूने के तौर पर शेष रह गयी है। धूमिल लिखते हैं—''लगातार दुर्व्यवहार होते रहने वाले जमाने में/तुम केवल अपनी ऊब के सहारे जिन्दा रह सकते हो/साहसिकता संकटकालीन नमूने के तौर पर बाकी रह गई है युवा लोगों में/''[8]

रघुवीर सहाय 'ऊबे हुए सुखी' कहकर निस्संगता, पलायनवादिता और सरोकार हीनता को इस ऊब का लक्षण बता चुके हैं। कबीरदास इसे 'सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै' के रूप में व्यक्त कर चुके हैं। मुक्तिबोध का मध्यवर्ग संबंधी चिंतन भी इसी संकट से हमारा साक्षात्कार कराता है। धूमिल की चिंता स्वाभाविक तौर से यहीं जुड़ती है, जब वे कहते हैं कि 'लेकिन सावधान! नींद में न पड़ना।' किसी स्थिति को जानना, समझना और मन, वचन तथा कर्म के स्तर पर ग्रहण करना जागृति की मांग करता है। यह कार्य लोकतंत्र में जनता किया करती है, प्रजा या भीड़ नहीं। विडंबना है कि व्यवस्था ने लोगों को भीड़ बनाये रखने का निरंतर उपक्रम किया ही, साथ ही नायकों के सान्निध्य में सुरक्षा का भाव-बोध तथा औपनिवेशिक मानसिकता के चलते लोगों ने प्रजा बनना अधिक श्रेयस्कर समझा—''आततायी को देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती है। सामान्य व्यवस्थित जीवन में साहसिकता की कमी से वीर पूजा की भावना पैदा होती है। कायरतापूर्ण उत्साह अक्सर आदमी को उस जमीन पर ले जाता है जहाँ आदमी की कमजोरियाँ क्रूरता की उपासना करने लगती हैं।''[9] ऐसे में साहस संकटकालीन नमूना बन जाये, स्वाभाविक ही है। किंतु, युवाओं में पैदा हो चुकी यह 'अस्वाभाविक स्वाभाविकता' विशेष चिंता का विषय है।

हमारा समयबोध प्रायः समय में प्रवाहित संकट की विभीषिका को संकट नहीं स्वीकार करता है। जिंदगी से मौत की तरफ बढ़ती जीवन स्थितियाँ हमारे बोध का हिस्सा नहीं बन पाती हैं। जब परिस्थितियां सतह पर उपस्थित होकर संकट के रूप में आकार ले लेती हैं, जिनसे हमारा प्रत्यक्ष अहित होता है या होने की संभावना होती है,

हम उसे संकट मानते हैं। व्यवस्थाओं की संगठित अमानवीयता के दौर में यह मरे हुए समाज की निशानी है। ऐसा नहीं है कि हम संकट को महसूस नहीं कर रहे होते हैं किंतु हमारी ऊब उसे हमारे बोध का हिस्सा बनने नहीं देती है। जबकि इस ऊब का कारण भी इसी व्यवस्था में है। विवशताओं से घिरा हुआ व्यक्ति स्वयं के प्रति क्रूर बन गया है। वह अपनी विडंबनाओं का कारण नहीं समझ पा रहा है, संकटकालीन दायित्व नहीं पहचान पा रहा है, अपना जीवन दांव पर लगाकर अपने ही सौदे को विवश है। स्वयं इस लोकतंत्र में कार्टून और चुटकुला बना हुआ है। कार्टून और चुटकुले विसंगतियों की अभिव्यक्ति करते हैं। प्रायः उन पर हंसने का उपक्रम करते रहे हैं, जिन पर हंसने का सामर्थ्य लोग सामान्य स्थिति में जुटा नहीं पाते हैं। इस प्रकार कार्टून और चुटकुले जनसामान्य का अपना मोर्चा रहे हैं। इन्हें समझकर ही बरता जा सकता है। जनसामान्य जब इनका उपयोग अपने पक्ष में करता है तो इसे समझकर, आत्मसात करता हुआ ही बरतता है। किंतु समय के साथ इस अभिजनवादी तंत्र ने इनके सरोकार बदल दिये हैं। जो कार्टून और चुटकुले, अभिजन को या विसंगतियों को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते थे, अब वे सामान्य जन और लोकतंत्र पर हंसते हैं। हर उस चीज पर हंसते हैं जिनके होने से फर्क तो पड़ता है किंतु उसके होने न होने का कोई मतलब नहीं रह जाता है। यह देश की समझ का क्षरण है, विचारों और व्यवहारों का क्षरण है।

'कोई दूसरा नहीं' काव्यसंग्रह में संकलित कविता 'हंसी' में कुँवर नारायण अपनी हंसी से आत्म के विलगाव को रेखांकित करते हुए लिखते हैं—''धीरे धीरे टूटता जाता/मेरी ही हंसी से मेरा हर नाता/अकसर वह सही जगहों पर नहीं आती/अकसर वह गलत जगहों पर आ जाती है/मानों कोई फ़र्क ही न हो सही और गलत में/मानो हंसी मेरी हंसी नहीं अपनी मर्जी हो/चेहरे पर अपने ढंग से चढ़ा हुआ एक रंग/जो किसी खुशी का द्योतक न होकर/एक विदूषक की भूमिका हो किसी प्रहसन में/''[10] धूमिल ने अपहरण शब्द का अत्यंत सटीक प्रयोग किया है। व्यवस्था में बने रहना है। मनचाही व्यवस्था बनाये रखना है तो सृजनशील स्रोतों को ठूंठ में बदलते रहने की आवश्यकता है। समाप्त करेंगे तो लोकतंत्र की समाप्ति पर बहस छिड़ सकती है और बहस खतरनाक हो सकती है—''हंसो पर चुटकुलों से बचो/उनमें शब्द हैं/कहीं उनमें अर्थ न हों/जो किसी ने सौ साल पहले दिए हों/''[11] उसे नए स्वरूप में ढाला जा सकता है। उसके लक्ष्य को भ्रष्ट किया किया जा सकता है। 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' कविता संग्रह की कविता 'आपकी हंसी' में रघुवीर सहाय व्यंग्य और हंसी के बदलते पाठ को हमारे सामने रखते हैं।[12] इस सवाल के साथ कि क्या जनतंत्र के साधनों का भ्रष्ट होते जाना इतना सामान्य है? कहा जा चुका है कि कविता लेखन का समय अघोषित आपातकाल का समय है। कार्टून और चुटकुलों पर विशेष निगाहें भी रखी जा रही थीं। लोकतंत्र को कार्टून या चुटकुलों में बदलने का यह भी एक तरीका है। लेकिन यह दौर इस बात की भी ताकीद करता है कि कार्टून और चुटकुलों से भी आगे कुछ करने की जरूरत है। काशीनाथ सिंह ने धूमिल की मृत्यु पर आलोचना पत्रिका में 'विपक्ष का कविः धूमिल' लेख में एक वाकये का जिक्र किया है जिससे प्रस्तुत कविता को समझने की एक दृष्टि प्राप्त होती है। उन्होंने लिखा है—''जब कभी हम अस्सी पर चाय की दुकान में बैठे होते और लोग आपस में हंसी-मजाक करते तो वह कहता, यह कितने दुख की बात है कि सारा शहर और तमाम लोग चुटकुलों और मजाक में फेंक दिये गये हैं। वे अपने परिवार और रोजी-रोटी और सब्जी-तेल के लिए तो संघर्ष करते हैं, लेकिन जब बतियाने बैठते हैं तो चुटकुला, मजाक। यह ऐसे ही है जैसे हम लोग किसी विषय पर गंभीरता से बात कर रहे हों और कोई फुस्स से हंस दे या पाद दे।''[13] बकौल काशीनाथ सिंह, धूमिल यह बात शहर को गांव की तुलना में कहते हैं फिर भी धूमिल की उस तल्खी का इस कविता से एक संबंध जरूर बनता है। नहीं तो वह नहीं लिखते—''मगर मत भूलो/ऐसे चुटकुले कितनी करीबी से/देशी मेधा का अपहरण कर रहे हैं/''[14]

'भाषा की रात' कविता में धूमिल लिखते हैं—''और वह देखो/वह निहाल—तोंदियल/ कैसा मगन है / हुचुर-हुचुर हंस रहा है।''[15] उसे भाड़े की भीड़ के अंधे जनून एतराज नहीं है। सारी अवहेलनाएं, सारा जोश, सारी ऊब, सारा रोष, उसके लिए महज तमाशा है। उसकी ऊब ने उसे इस तरह उदासीन और निःसंग बना रखा है कि वह किसी पर भी हंस सकता है। कभी भी हंस सकता है। कार्टून और चुटकुलों की मजमेदारी में अपने जीवन की सार्थकता तलाश सकता है। स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए सत्ता-व्यवस्था ऐसे अनेक प्रपंच रचती है, ऐसी संस्कृति विकसित करती है जिससे जनता का ध्यान वास्तविक मुद्दों की तरफ जा ही नहीं सके और वह सस्ते मनोरंजन में ही निमग्न रहे। रघुवीर सहाय भी इस आत्मघाती हंसी पर क्षोभ व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं।[16] यह कविता कहने की वह कला है जहाँ साहित्य में प्रतिरोध अभिव्यक्त करने भर से दायित्व निर्वाह नहीं हो जाता है, क्योंकि उससे यह स्थिति नहीं बदलने वाली है। संवाद करें तो चुटकुला और मजाक, हर बात पर हंस देना भी दरअसल ऊब का ही एक प्रकार है। कविता जहाँ तक पहुंच रही है, जो उसे पढ़ रहा है, उसे समझने के लिए प्रेरित करना जरूरी है। धूमिल की कविताएं इन्हीं विशेषताओं के साथ कविताएं बनती हैं। प्रस्तुत कविता लोगों की उदासीन और निःसंग प्रवृत्ति का

विरोध करती है। हालांकि, प्राथमिक तौर पर लगता है कि धूमिल कार्टून और चुटकुलों का ही विरोध कर रहे हैं, किंतु प्रवृत्ति का ही है—''कार्टून और चुटकुले, मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि इस देश में नहीं होने चाहिए। क्या कहा?''[17] राजा के मजाक का बारीक होना महत्वपूर्ण नहीं है। यह कोई नयी बात नहीं बल्कि उसका होना राजा बने रहने को लेकर है। इसलिए उसके वक्तव्य में उसके निहितार्थ छिपे हों, स्वाभाविक है। लेकिन वही मंतव्य जहर बनकर जनता के खून में उतर आये और 'राजाजी' के पाठ को दोहराए तो वह चिंता स्वाभाविक है। अपनी वर्गीय स्थिति की समझ का संकुचित होना, ऐसे में हमारे सरोकार प्रायः सतही होते हैं। लोकतंत्र में यह एक खतरनाक और आत्मघाती स्थिति है—''और एक सतही दिलचस्पी की जकड़ में सारा देश/विचारहीन होता जा रहा है।''[18]

यहाँ ध्यान देने की बात है कि राजा के साथ प्रजा शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रजा शब्द राजा के प्रति लॉयल्टी को अधिक दर्शाता है, देश के प्रति कम। प्रजा भीड़ हो सकती है, लोग लोग मार तमाम लोगों का समूह हो सकती है, वह उसी रूप में जनता नहीं होती है जैसा कि जनतंत्र में होना चाहिए। वह लोकतंत्र में प्रजा होती है। इसलिए धूमिल राजा और प्रजा शब्द का उपयोग करते हैं तथा अतीत से जोड़कर यथार्थ का अतिरिक्त तीखा बोध कराते हैं—''मुझे वे दिन याद आते हैं जब राजाजी के मजाक/बारीक हुआ करते थे/और आज भी वही दौर/लेकिन अब 'प्रजाजी' के खून में/यह बारीक जहर उतर गया है।''[19] जनता अधिकारों के प्रति सचेत होती है और कर्तव्यों के प्रति जागरुक। वह स्वतंत्रता, समानता और न्याय की समझ रखती है, साहचर्य और संवाद में विश्वास करती है। वह सत्ता के बरक्श सत्ता होती है तथा राजनीतिक रूप से संगठित होने का सामर्थ्य रखती है, इसलिए उसको प्रजा बनाये रखना, व्यवस्था में बने रहने से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। दुःखद है कि जनता स्वयं 'प्रजाजी' बनने के प्रति उत्सुक और लालायित रहती है। यहाँ 'प्रजाजी' शब्द व्यंग्यबोधक है, जो लोगों की आत्मविस्मृति और राजनीतिक चेतना के अभाव को दर्शाता है। ऐसे में हिंदुस्तान का टाइमबम पर बैठना स्वाभाविक ही है, किंतु संकट है कि 'टाइमबम' भी बेचैन कर रहा है, उद्वेलित नहीं। सुस्ताने के स्थान पर नींद में पड़ जाना, तंबू का कब्र में बदल जाने की संभावना, जिंदा हों, लेकिन ऊब के सहारे, क्रूर इतने कि अपनी भी फिक्र नहीं रहे, जुबान में राजा के शब्द, इत्यादि स्थितियां भारतीय लोकतन्त्र और नागरिक समाज की विफलता की गवाही देती हैं।

धूमिल कविता में अपनी शैली लेकर आते हैं। कहने का एक अलहदा अंदाज। उनकी भाषा छायावादी रोमानियत और नयी कविता के नयी काव्य-भाषा से अलग है। वह नए कवि इस रूप में सबसे अधिक हैं कि कविता में कहने का गद्य सा सामर्थ्य पैदा करते हैं। मोहभंग के दौर में अव्यवस्था और उसके कारणों को छिन्न-भिन्न कर डालने की आकांक्षा और उत्साह में उनकी भाषा निर्मम और पैनी होती जाती है। कविता में संवाद की यह नयी भाषा है, जो नवीन आकांक्षाओं की ही प्रतिध्वनि है, यह भाषा असहमति और आक्रमण में विश्वास करती है। टूटकर विरोध करती है। मध्यवर्गीय कुंठाओं और बीच का मार्ग तलाशने के बजाय गुथ जाती है, लड़ती है, दुत्कारती है। काशीनाथ सिंह ने इसे सपाटबयानी से जोड़ते हुए लिखा है—''इन अक्षरों ने, शब्दों में अपनी एक अलग तर्ज पैदा की, जिसे हम अपनी जुबान में 'लट्ठमार' कहते हैं। इसे ही साहित्य में आलोचकों ने सपाटबयानी कहा। ये वे शब्द थे जो नयी-कवितावादियों की तरह न तो बन-ठनकर या सज-संवरकर निकले और न घुमावदार-चक्करदार अंधेरी गलियों के रास्ते आये, वे जैसे और जिस हालत में थे, सीधे वैसे ही चाकू, छुरे या तमंचे की तरह तनकर आ खड़े हुए, बिना किसी लाग-लपेट के।''[20] इसका एक बड़ा कारण था कि धूमिल भाषा को ठीक करने से पहले आदमी को ठीक करना जरूरी समझते हैं।[21] वह आम आदमी की भाषा में ही संभव है। धूमिल लिखते हैं— ''प्रतीक और बिंब जहाँ सूक्ष्म सांकेतिकता और सहज संप्रेषणीयता में सहायक होते हैं वहीं अपनी अधिकता से कविता को 'ग्राफिक' बना देते हैं। आज महत्त्व शिल्प का नहीं, कथ्य का है। सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह कहा है। सवाल यह है कि आपने क्या कहा है? इसके लिए आदमी की जरूरतों के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनीतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम करना अत्यंत आवश्यक है।''[22] संभव है यह विचार उन्हें सीधे-सीधे, सपाट शब्दों और सूक्तियों में अपनी बात कहने के लिए प्रेरित करता रहा हो। हालांकि, कथ्य और शिल्प के जिस द्वैत की बात वे उठाते हैं, वह उनके ही रचनाकर्म से खंडित होता दिखाई पड़ता है।

नामवर सिंह 'कविता के नये प्रतिमान' पुस्तक में 'सूक्तियों के सार्थक प्रयोग' को धूमिल की महत्वपूर्ण विशेषता घोषित करते हैं।[23] सपाटबयानी उनके यहाँ सहजता, स्पष्टता, वास्तविकता की मूर्त रूप में तो है ही, धूमिल उसे सूक्तियों में अभिव्यक्ति से भी जोड़ते हैं। सपाटबयानी, सहजता और साफगोई के साथ रोजमर्रा के बुनियादी सवालों को समेटती हुई उनकी कविता में अभिव्यक्त हुई है। किंतु धूमिल की कविता की वही कमजोरी है, जो उसकी ताकत है। उन्होंने लिखा है— 'एक सही कविता पहले एक सार्थक व्यक्तव्य होती है।' यहाँ तक कोई बुराई नहीं है। वह हो सकती है, होती है। लेकिन कविता की

सार्थकता केवल व्यक्तव्य से नहीं जुड़ी होती है। व्यक्तव्य की तलाश में धूमिल जिस बेबाक भाषा की तलाश करते हैं, अनेक बार वह भी बेसबब होती दिखाई पड़ती है। फिर, सवाल यह भी है कि क्या कविता अंततः भी वक्तव्य ही होती है। धूमिल की कविता केवल सपाट बयानी नहीं है। जहाँ कहीं हो गई है, वहाँ महत्वपूर्ण बात कहती हुई भी कमजोर कविता है। हालाँकि आलोचनाभास में वही खास कविता है। कार्टून और चुटकुले, केवल कथ्य ही नहीं शिल्प के स्तर पर भी महत्वपूर्ण कविता है। यह सवाल यहाँ, शायद मुनासिब न लगे, किंतु वक्तव्य के लिए जिस निष्कर्षात्मक अवस्था तक पहुंचना होता है, वह कई बार पूरी समझ पर आधारित नहीं होती है। अनेक बार जातीय-वर्गीय स्थितियों के निहितार्थ उसे और सपाट बना देते हैं। सपाटबयानी और सतहीपन का अंतर मिट जाता है। वह नारों में बदलती है, पोस्टरों पर चिपकती है, किंतु वास्तव में उनका आवेश संगठित राजनीति का शिकार हो जाता है। आवेश, जिसके पीछे उत्साह से अधिक हताशा थी, वह निराश मनोवृत्ति का शिकार हो गयी। अनेक निष्कर्षात्मक उक्तियाँ इस हताशा से उपजी होती हैं।

धूमिल की यह कविता अलग तरह के शिल्प-गठन की कविता है। धूमिल की प्रचलित शैली, जैसे कि नाटकीयता, आक्रामकता का इस कविता में स्पष्ट अभाव है। किंतु सूत्रात्मकता और सपाटबयानी का संयमित उपयोग अवश्य किया गया है। परिवेश समसामयिक है और सपाटबयानी यथार्थपरक। धूमिल ने कविता में जीवन और समाज के एक-एक रग-रेशे में घर कर गयी अनेक अमानवीय स्थितियों का संयोजन किया है। प्राथमिक तौर पर जिनमें आपसी एकसूत्रता परिलक्षित नहीं होती है। वह अलग-अलग संवेदनाओं, स्थितियों, घटनाओं का संग्रह और समीकरण लगती है, बावजूद वह एक ही डिजाइन का अलग-अलग आयाम है। अनेक असंबद्ध और भिन्न स्थितियों को संयोजित करके अर्थ निर्मित किया गया है। जैसे हिंदुस्तान का वायुयान की तरह बेचैन होना, किसी को निरंतर प्यार न करना, ऊब के सहारे जिन्दा रहना, साहसिकता का संकटकालीन नमूना होना, चुटकुलों द्वारा देशी मेधा का अपहरण, प्रजा के खून में राजा के बारीक जहर का उतर जाना और सतही दिलचस्पी की जकड़ में सारे देश का विचार ही न होते जाना। इन असंगत स्थितियों की संगति ने इस लोकतंत्र को विसंगतियों की धड़कती सत्ता में बदल दिया है। धूमिल ने अलग-अलग संदर्भों को पूरी कविता में उठाया है किंतु उस सबमें कोई न कोई ऐसा सूत्र मौजूद है, जो उनको आपस में जोड़कर रखता है। अनेक और अलग संदर्भों के संगुंफित यथार्थ का साहचर्य कथ्य को अधिक मर्मस्पर्शी, व्यापक बनाता है। खतरनाक बनाता है। इस शैली के माध्यम से धूमिल अधिक बातों को, जरूरी बातों को कविता के रूप में विन्यस्त करने में सफल हुए हैं।

भाषा में कहना जानते हैं धूमिल। उन्हें कहना आता है। इस कविता में वे अनुप्रास के माध्यम से कथ्य की रोचकता और प्रवाह सुनिश्चित करते हैं। जैसे 'रात रेत की आँधी', 'साहसिकता संकटकालीन' इत्यादि। दो अलग-अलग वस्तुओं वस्तुस्थितियों से अर्थ का चमत्कार तो उत्पन्न हुआ ही है साथ ही लय की सृष्टि द्वारा कविता की संरचना में कसावट का संचार किया गया है। यह कविता बहुत संयमित भाषा में रची गयी है, उनकी अन्य कविताओं की तरह इसमें भाषिक कौतूहल बहुत कम है किंतु अनुप्रास के माध्यम से एक तेवर और गति पैदा करने की कोशिश इस कविता में मौजूद है। व्यंग्य से कथ्य को धार देने का प्रयास भी महत्वपूर्ण है। 'राजाजी' और 'प्रजाजी' ऐसा ही व्यंग्य-बोधक प्रयोग है। यह व्यंग्य अपनी प्रकृति में अत्यंत सटीक और मारक है। पूरी वाक्य संरचना में यह इस प्रकार से विन्यस्त है कि एकबारगी उसके व्यंग्य होने का अनुमान ही नहीं होता है किंतु अपने समय की पूरी विडम्बना को खोलकर रख देता है। प्रजा के सामने जी लगाकर राजाजी और प्रजाजी को आमने-सामने खड़ा किया गया है, किंतु उनकी वर्गीय स्थिति और शक्ति का अंतर लोकतांत्रिक विडंबना के रूप में अभिव्यक्त हुई है।

धूमिल दो अलग प्रकार की स्थितियों को सामने रखकर पाठक से पूछते हैं कि वह कहाँ है? जैसे साहसिकता की संकटकालीन उपस्थिति, जिंदगी और ऊब, लोकतंत्र और राजा, चेतना और नींद, जनता और प्रजा इत्यादि ऐसी वस्तुस्थितियों का निर्माण करती है कि पाठक को इनसे जुड़कर ही इन्हें डिकोड करना होता है। इसके लिए वह इन्हें जानने, समझने का प्रयास करता है। जब समझ जाता है तब उसे बुद्धि, मन और व्यवहार के स्तर पर ग्रहण करता है। तत्पश्चात, उसका अपना एक पक्ष हो सकता है। एक रचनाकार सोच, समझ के उपकरणों को ऐसे ही पैना करता है। कविता जिस तरह से जीवन को पकड़ती है, उसी तरह से जीवन की रगड़ से उनकी भाषा भी निर्मित होती है। इस कविता की भाषा कथ्य की जरूरतों की निर्मिति है। अन्य कविताओं की तरह इस कविता में भी निष्कर्षात्मक उक्तियाँ हैं। लेकिन वे कविता की संरचना में इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि अर्थ-प्रवाह को गतिशील बनाने का कार्य करती हैं। जिन संकटों की अभिव्यक्ति तथा मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उनका प्रयोग किया गया है, वह यथार्थ को अतिरिक्त तीखे बोध के साथ ग्रहण करने में सहायक हुआ है।

संदर्भ

1. ''कविता में महत्त्व बोध का क्षय अनिवार्यतः 'अनायास लेखन' की ओर ले जाता है। 'अनायास लेखन' अंततः 'अनायास ग्रहण प्रथम संस्करण-2003' को प्रश्रय देता है और इस प्रकार आगे चलकर दायरा पूरा हो जाता है। अनायास लिखने के साथ अनायास पढ़ने की क्रिया अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है।'' संपादक, भारत यायावर, आलोचना के रचना-पुरुष नामवर सिंह, पृष्ठ-385, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2003
2. ''आज सारा/हिंदुस्तान उस वायुयान की तरह बेचैन है/ जिसे बेतार के तार से खबर मिली है कि उसमें / 'टाइमबम' है।'' संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-1, (कार्टून और चुटकुले) पृ. 380, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
3. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-3, पृष्ठ-119, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
4. ''हर तरफ धुआँ है/हर तरफ कुहासा है/जो दाँतों और दलदलों का दलाल है/वही देशभक्त है/अंधकार में सुरक्षित होने का नाम है—तटस्थता/ यहाँ/कायरता के चेहरे पर/ सबसे ज्यादा रक्त है/जिसके पास थाली है/हर भूखा आदमी/उसके लिए, सबसे भद्दी/गाली है।'' संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-1, (पटकथा) पृ. 119, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
5. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-1, (सुदामा पाँड़े का प्रजातंत्र-2) पृ. 186, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
6. वही, (कार्टून और चुटकुले), पृ. 381
7. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-3, पृ. 93, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
8. वही, (कार्टून और चुटकुले), पृ. 381
9. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-3, पृ. 93, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
10. संपादक यतीन्द्र मिश्र, कुँवर नारायण : संसार, पृ. 153-154, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2002
11. संपादक, सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय रचनावली-1, (हँसो हँसो जल्दी हँसो), पृ. 168, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2000
12. ''निर्धन जनता का शोषण है/ कहकर आप हँसे / लोकतंत्र का अंतिम क्षण है/ कहकर आप हँसे/सबके सब हैं भ्रष्टाचारी/कहकर आप हँसे/चारों ओर बड़ी लाचारी/ कहकर आप हँसे/कितने आप सुरक्षित होंगे/ मैं सोचने लगा/सहसा मुझे अकेला पाकर/फिर से आप हँसे।'' संपादक- सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय रचनावली-1, पृ. 163, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2000
13. संपादक, नामवर सिंह, आलोचना, काशीनाथ सिंह—विपक्ष का कविः धूमिल, पृ. 17, अप्रैल-जून, 1975
14. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-1, (कार्टून और चुटकुले) पृ. 381, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
15. वही, (भाषा की रात) पृ. 111
16. बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो/ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे/और ऐसे मौकों पर हँसो/ जोकि अनिवार्य हों/जैसे गरीब पर किसी ताकतवर की मार/ जहाँ कोई कुछ कर नहीं सकता/उस गरीब के सिवाय/ और वह भी अक्सर हँसता है।'' संपादक, सुरेश शर्मा, रघुवीर सहाय रचनावली-1, (हँसो हँसो जल्दी हँसो), पृ. 168, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2000
17. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-1, (कार्टून और चुटकुले) पृ. 381, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
18. वही
19. वही
20. संपादक, नामवर सिंह, आलोचना, काशीनाथ सिंह— विपक्ष का कविः धूमिल, पृ. 18, अप्रैल-जून, 1975
21. ''भाषा उस दरिंदे का कौर है/जो सड़क पर और है/ संसद में और है/ इसलिए बाहर आ!/ संसद के अँधेरे से निकलकर/ सड़क पर आ!/ भाषा ठीक करने पहले आदमी को ठीक कर'' संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-1 (भाषा की रात), पृ. 111
22. संकलन-संपादन, डॉ. रत्नशंकर पाण्डेय, धूमिल समग्र-2, (कविता पर एक वक्तव्य) पृ. 266, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021
23. धूमिल में शब्दों और तुकों से खेलने की अपेक्षा सूक्तियों से खेलने की वृत्ति अधिक है। नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ. 160, राजकमल प्रकाशन, चौथा संस्करण छठी आवृत्ति -2003

—डॉ. सत्यप्रकाश सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

तीसरी कसम : हीराबाई और हिरामन के रिश्तों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

—डॉ. प्रवीण कुमार

'गोदान' के बारे में कहा जाता है कि इसकी कथा जितनी 'होरी' की है उतनी ही 'धनिया' की भी है। क्या यही बात 'तीसरी कसम' के बारे में कही जा सकती है? होरी और धनिया को जोड़ने वाली स्थिति दांपत्य है लेकिन कथा में दांपत्य के बंधन से अधिक उनके जीवन-संघर्ष ने दोनों की देह को एक प्राण में तब्दील कर दिया है, अतः वह एक जोड़े की भी संघर्ष कथा है, क्रौंच मर जाता है और क्रौंची छटपटा रही है; फिर मा निषाद प्रतिष्ठाम्! क्या इसी तरह की छटपटाहट को 'तीसरी कसम' में हम देख पाते हैं? क्या हिरामन-हीराबाई जोड़े हैं? दोनों ही कथाओं में भिन्नता है मगर क्या जोड़ा बिछड़ने का कारण दोनों ही जगहों पर सामाजिक संरचना छिपे हुए हैं और वह भी एक ही तरह की संरचना में? प्रेमचंद के यहाँ पात्रों की विवशता की कारक-शक्तियां साफ़ साफ़ दिखाई देती हैं - पुरोहित से लेकर रायसाहब तक, पर रेणु के यहाँ कम से कम इस कहानी में वे शक्तियां साफ़-साफ़ नहीं दिखतीं, केवल उनका स्याह असर दिखाई देता है। वाकई? क्या इस कहानी के बारे में दावा किया जा सकता है कि हिरामन और हीराबाई को जोड़ने वाली भाव-स्थिति 'प्रेम' ही है?

रेणु ने रचना के प्रचलित मानदंड ही नहीं बदले बल्कि आलोचना के प्रचलित मानदंडों को अपनी रचनाधर्मिता से दरका दिया है। उनकी रचना के भीतर से गुजरने के लिए आलोचना के प्रचलित औज़ार किसी लायक नहीं बचते! कहानीकार प्रेमचंद से अलग लीक वाले रेणु इसलिए भी अलग हैं कि वे सपाट की जगह 'विभावन व्यापर' के लेखक हैं। उनके यहाँ कहानी खत्म होने के आसपास है और 'छि-ई-ई-छक्क! गाड़ी हिली। हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अंगूठे को बाएं पैर की एड़ी से कुचल लिया। कलेजे की धड़कन ठीक हो गई हीराबाई हाथ की बैंगनी साफी से चेहरा पोंछती है! साफी हिलाकर इशारा करती है अब जाओ।' बीस साल से लगातार गाड़ीवानी करने वाले चालीस साले कुंवारे हिरामन का कलेजा, पहली बार उस देह के टप्पर-गाड़ी में बैठने से साथ ही जो धड़कना शुरू होता है वह अंततः अंगूठे को कचरने के बाद भी थमने का नाम नहीं लेता। हिन्दी कहानी में अपनी धडकनों को रोकने का इतना मार्मिक प्रयास शायद ही किसी पात्र ने किया हो! लेकिन ये हीराबाई को क्या हो गया है? 'आसिन-कातिक' में चेहरे पर पसीना? पसीना या कुछ और? इसी 'कुछ' में रेणु हैं, उनके अनुभव हैं और कलम की धार है।

कथा में एक सुबोध है तो दूसरा अबोध। हिरामन अबोध न होता तो अबतक भला कुंवारा रहता! वह जिस आबोहवा में पला-बढ़ा है वहां नाच है, नौटंकी है, 'पुतरिया' शब्द से वह परचित है पर है इस दुनिया से कोसों दूर। एहसाह तो उसे सबकुछ का है पर एहसास जगे नहीं थे अबतक। उसके एहसास पहली बार संबोधनों से जगते हैं—भैया, मीता, मेरा हिरामन, उस्ताद, गुरूजी से। हिरामन के लिए भी हीराबाई के लिए सच्चे और कल्पित कई संबोधन हैं—कंपनी की औरत, पश्चिम की औरत, परी, डाक्डरनी, चंपा का फूल, कुंवारी लड़की, विदागी, भगवती, लाल होंठ पर गोरस का परस जैसे पहाड़ी तोता - पर पूरी कथा में हिरामन ने सीधे सीधे हीराबाई को कभी भी किसी नाम से संबोधित नहीं किया है। बस एक संबोधन है जिससे हीराबाई को वह पूरी कहानी में बचाता फिरता है, वह है 'पुतरिया'। यह संबोधन समाज का है उसका नहीं। हीराबाई सबकुछ हो सकती है पर 'पुतरिया' नहीं। इस शब्द की धार से वह मेले में लगातार छिल-छिल जाता है 'आज वह हीराबाई से मिलकर कहेगा, नौटंकी-कंपनी रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग। सरकस कंपनी में क्यों नहीं काम करतीं?...।''

कहानी में एक दूसरा संबोधन भी है जिससे वह हीराबाई को नहीं बल्कि खुद को बचाता फिरता है—'मालकिन'। टप्पर-गाड़ी जब फॉर बिसगंज पहुच जाती है तब 'लालमोहर ने कहा ''इनाम बकसीस दे रही है मालकिन, ले लो हिरामन!'' हिरामन ने कटकर लालमोहर की ओर देखा बोलने का जरा भी ढ़ंग नहीं है इस लाल मोहरा को।' कहानी के इसी प्रसंग में हिरामन अपने एहसास को पकड़ लेता है। सारे संबोधनों के अर्थ कम से कम उसके मन में इसी जगह खुल जाते हैं अतः मालिक-मालकिन वाले सम्बन्ध त्याज्य ही नहीं अस्वीकार्य हैं। यही है चालीस की दहलीज

पर खड़े एक काले-कलूटे कुंवारे गाड़ी वान के पीठ पर उठती गुदगुदी का राज! पर हीराबाई क्या 'पूरक' है? वह तो बस एक एहसास जगा कर चली जाती है 'गाड़ी ने सिटी दी। हिरामन को लगा, उसके अन्दर से कोई आवाज निकलकर सिटी के साथ ऊपर की ओर चली गई— कू-उ-उ! इस्स!'

तो फिर 'महुआ घटवारिन' की कथा का क्या करें? 'महुवा घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है, गुरूजी!' इसका मतलब हुआ कि 'महुवा घटवारिन' की कथा और हिरामन-हीराबाई की कथा एक ही है? दोनों ही जगहों पर प्यासे प्रेमी हैं पर उनकी तथाकथित प्रेमिकाएं? एक न थकने वाली जल की मछली है तो दूसरी कंपनी की औरत। महुआ भी मजबूर थी और हीराबाई भी। पर एक सौदागर की नाव से बहती धारा में छलांग लगा देती है लेकिन दूसरी बहती रेल में बैठी रहती है। यदि नाव और रेल इतिहास की प्रतीकात्मक गति है तो महुआ और हीराबाई के अलग-अलग फैसले किस्से और यथार्थ का फ़र्क बताते हैं। फिर 'बैंगनी साफी से चेहरा' पोंछने में किसी बड़ी विवशता की कोई बड़ी सूचना है? ध्यान रहे कि दोनों ही कथा के प्रेमी 'चाहत' के शिकार हैं, बस यही एकता है दो कथाओं में। लेकिन इतने भर से ये दोनों कथाएं एक दूसरे की पूरक नहीं बन जातीं। आंचलिकता की पहचान इससे भी है कि एक जैसी लगने वाली कथा और किस्से प्रसंग में क्रमबद्धता और एकतानता की जगह क्रमभंग और बहुतानता होती है। बहुतानता का आाय किसी अन्य घटना या कथा का मुख्य कथा से आत्यंतिक स्तर पर जुड़ाव के नहीं होने से है। अलग अलग कथाएं अपने एकान्तिक भाव में विशिष्ठ हैं पर उसका दूसरी कथा से स्वतंत्र और गैर-सम्बंधित रिश्ता हो सकता है, आंचलिक साहित्य में इन अन्य कथाओं का 'ओवरलोड' होता है। हालाँकि इस कथा को आंचलिकता के ठेठ रूपक के रूप में नहीं बल्कि एक स्वतंत्र कथा के रूप में देखने का आग्रह ज्यादा होना चाहिए। महुआ-घटवारिन की कथा लेखक और हिरामन का एक अस्त्र है, पाठक और हीराबाई को सम्मोहित करने के लिए, आंचलिकता गद्य में कविता है; उसका एक लक्ष्य भावविभोर करना भी होता है। इसी बहाने कई तरह का दर्द पसरा हुआ है, कथा में, किस्सों में, गीत में, यथार्थ में, जीवन में, भूत में और शायद भविष्य में भी। लेखक और हिरामन मिले हुए हैं और उनकी पैदा की हुई भावुकता के अनंत विस्तार में सब कुछ बहा जा रहा है, अब तक।

हिरामन और हीराबाई का अंतर यहाँ वर्गीय नहीं जितना भावावेग और भाव-प्रबंधन का है। यह अंतर अनुभव का भी है, आंचलिक-गंवई 'मन' और शहराती 'मन' का है। हिरामन की भीतरी पीड़ा में, अबूझ स्थिति में जो खीज है, उसमें सहज आंचलिकता-बोध का उभार है। हीराबाई कोई विदेशी नहीं पर 'पश्चिम' की हीराबाई किसी दूसरे अंचल या सांस्कृतिक भूमि की बोधक भी है, वह आती है और हिरामन का सब कुछ दांव पर लग जाता है। बाहरी जीवन-स्थितियां या हिरामन के अंचल से बाहर की विकसित जीवन-स्थितियां उस अंचल के लिए, गंवई हिरामन के लिए अग्राह्य हैं, इसलिए भी 'तीसरी कसम' है। पर मामला केवल इतना ही नहीं है, यह 'मारे गए गुलफाम' का भी मामला है; गुलफाम शब्द उभय-लिंगी विशषण है, यह फूलों जैसी देह के लिए नजाकत से भरा संबोधन है, जितना मर्द के लिए उतना ही औरत के लिए। पर गुलफाम संज्ञा भी तो है! शहर का प्रेमी कलेजे की धड़कने तेज होने पर अपने दाहिने पैर के अंगूठे को बाएं पैर की एड़ी से शायद ही कुचले! हिरामन जिस 'पीर' से गुजर रहा है उसे संभालना उसके बूते से बाहर है। भावना की चरम अवस्था है धड़कनों का तेज होना और 'बैंगनी साफे' से चेहरे का पोछा जाना भाव-प्रबंधन है। हीराबाई ईमानदार है, अच्छी है पर अनुभवी है और भाव-कुशल भी। हिरामन अपनी नाराजगी से उसे अब तक जाता चुका है कि उसे हीराबाई पसंद है, उसके प्यार का एहसास उस नाराजगी से भांप लेती है, हिरामन के कलेजे से रेल की सिटी के साथ उठ रही हूक हीराबाई साफ-साफ सुन रही है। सो हूक में एक ने अंगूठा कुचला तो दूसरे ने भाव-प्रबंधन कर लिया। हिरामन वह आदमी है जो अपने बूते के बाहर की चीजों से दूर रहता है। जो चीज उसे खटकती है वह चीज उसके बूते का नहीं। वह अपनी टप्पर-गाड़ी में सर्कस का बाघ तो लाद सकता है पर स्मगलिंग का सामान और बांस नहीं, इसलिए उसने पहले ही दो कसमें खा लीं थी। पर यह तीसरी कसम? यह इसलिए भी कि इस अनुभूति को, इस पीर को संभालना उसके बूते का नहीं। वह अंचल का है किसी शहर का नहीं, उसे भाव-प्रबंधन नहीं आता। एक कभी न खत्म होनेवाली अनुभूति, लगातार खटकनेवाली अनुभूति। हीराबाई के दिए रुपये-पैसे से जो गरम चादर आएगा उससे हिरामन के भीतर की ठिठुरन कम नहीं होने वाली। क्या इसी घटना को कहानी में 'त्रासदी' मानकर आगे बढ़ा जा सकता है? यहाँ कहानी में 'त्रासदी' तो है पर यह तबतक एक अधूरी त्रासदी है जब तक एक और विडंबना को इससे न जोड़ा जाय जो कथा में बहुत पीछे छूट गई है।

यह विडंबना राग का रूप धरे हुए है, इसलिए उसकी पहचान थोड़ी मुश्किल है "लाली लाली डोलिया में लाली रे दुल्हनिया आह दुल्हनिया, तेगछिया गाँव के बच्चों को याद रखना। लौटती बेर गुड का लड्डू लेते अइयो। लाख बरिस तेरा दूल्हा जिए! कितने दिनों का हौसला पूरा हुआ है हिरामन का! ऐसे कितने सपने देखे हैं उसने!" पर

हीराबाई इस प्रसंग में गायब है। इस प्रसंग के ठीक पहले वह जो मुस्कुराती हुई गाँव निहारती है, यहाँ नहीं है। इस प्रसंग के बाद कथा में वह फिर उपस्थिति होती है मुस्कुराते हुए। और अब महुआ-घटवारिन की कथा है; कथा खत्म होते होते हिरामन भावुक हो जाता है "उसने हीराबाई से अपनी गीली आँखें चुराने की कोशिश की। किन्तु हीराबाई तो उसके मन में बैठी न जाने कब से सब-कुछ देख रही थी"। आखिर वह देख क्या रही है? दोनों चरित्रों का 'कंस्ट्रक्शन' यहाँ अलग अलग है। इन दोनों घटनाओं से पाठक और हिरामन दोनों ही हुलसित होते हैं, पर हीराबाई? वह "तकिये पर केहुनी गड़ाकर, गीत में मगन एकटक उसकी ओर देख रही थी" पर अगली ही पंक्ति आती है "खोयी हुई सूरत कितनी भोली लगती है!" जीवन की वास्तविक त्रासदी 'राग' की अनुपस्थिति से नहीं उभरती बल्कि जीवन की ओर बार-बार बढ़े आ रहे 'राग' की अवहेलना और अवहेलना की वजहों की पहचान से उभरती है। 'खोयी हुई सूरत' राग से सामना होने पर भी उससे तटस्थ है। वह किस अनंत में किस अ-संभव का तलाश रही है; किसी और प्रेम का या किसी के दुल्हन होने से अ-तटस्थ या तटस्थ? हीराबाई के अनुभूति-बोध में 'प्रेम' है पर उसका सगुण रूप हिरामन नहीं, संभवतः कहीं कोई सगुण है ही नहीं, यह उसकी त्रासदी है; एक का दूल्हा होना नसीब नहीं, दूसरे का दुल्हन होना नसीब नहीं, किसी की भी दुल्हन नहीं। बस एक क्षणिक अनुभूति है, कम से कम हिरामन और पाठक के लिए, हीराबाई के लिए नहीं। यहाँ जिस भारतीय समाज का सच है उसमें कम समर्थवान की त्रासदी तो है ही समर्थवान की भी त्रासदी है। टप्पर-गाड़ी से लेकर रेलगाड़ी तक दोनों ही नए भावों के अजायबघर में आवाजाही कर रहे हैं, हीराबाई के लिए हिरामन मिता है, गुरूजी है, उस्ताद है और 'मेरा हिरामन' है। इस सम्बन्ध में गहरी मानवीय गंध है पर मानवीय कह देने भर से वह 'प्रेम' का पर्याय नहीं बन जाता। राग से, एहसास से तटस्थता हीराबाई के भीतरी विवशता का सूचक है। त्रासदी यह भी है कि दोनों मजबूर हैं, दोनों में प्यास है, पर एक पानी है एक बर्फ, एक का चरित्र तरल है एक का ठोस; एक रागधर्मी है तो दूसरा दुनियादार। पानी कहीं और है, प्यास कहीं और। हिरामन की विडंबना यह है कि अंगूठा कुचलने के बाद भी उसे उन्ही राहों से गाड़ीवानी करते हुए बार बार गुजरना होगा जो कभी हीराबाई की वजह से जादुई हो गईं थी। हीराबाई को भी हिरामन जैसा 'सच्चा' नहीं मिलने वाला। पर सच्चा किसी का 'प्रेमी' हो जाए यह जरूरी नहीं, यही नियतिजन्य प्रश्न है, कहानी इसलिए भी यहाँ आकर बड़ी हो जाती है। 'बैंगनी साफी' से पुछता हुआ चेहरा एक औरत की इकहरी विवशता नहीं, बल्कि दुहरी विवशता की सूचना है जो जान गई है हीरा का 'मन' पर उसके उस एहसाह का वह कुछ नहीं कर सकती। इसलिए यह कथा दोनों की है, अविवाहित जोड़े की कथा; उनको आपस में जोड़ने वाली चीज उनकी अपनी-अपनी त्रासदी है, एक ही समय में घटित होने वाली दो त्रासदियाँ। हिरामन के अनुरागी 'मन' और हीराबाई के हिलते हुए तटस्थ 'मन' में कथा-विश्लेषण की अनंत संभावनाएं छोड़ दीं हैं रेणु ने, यही उनकी ताकत है। ताकत यह भी है कि अलग अलग दो चरित्र हमें 'जोड़े' दिखने लगते हैं, यह जानते हुए भी कि दोनों के नामों में केवल छोटी 'इ' और बड़ी 'ई' का ही भेद नहीं है, यहाँ और भी बहुत 'कुछ' है।

–डॉ. प्रवीण कुमार
सहायक प्रवक्ता
सत्यवती महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

समकालीन हिन्दी कविता और शमशेर की बिम्ब-योजना

—डॉ. नीलम सिंह

कविता में जब कवि कल्पना के प्रयोग से बिम्ब की सृष्टि करता है तब वह अपने अनुभव को ठीक उसी रूप में व्यक्त करना चाहता है जैसा वह अनुभव करता है। यानी, बिम्ब के प्रयोग से कवि अपने अनुभव को प्रमाणित करता है, उसे यथार्थ रूप देता है। बिंब विधान के एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए डॉ. नामवर सिंह का मत है, ''...भावहीन सपाट वक्तव्य की अपेक्षा ये भावचित्र (बिम्ब) अपने संक्षिप्त रूपाकार में प्रायः एक से अधिक भावों एवं विचारों की जटिल स्थिति को व्यंजित कर जाते हैं।''[1] आधुनिक काल में 'बिंबवाद' काव्य सिद्धांत 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में पाश्चात्य काव्य शास्त्र में सामने आया। इलियट ने आब्जेक्टिव कोरिलेटिव सिद्धांत पेश करते हुए परंपरागत वाक्य विन्यास के उपयोग को चुनौती दी एवं मत व्यक्त किया, ''भाषा तभी विश्वसनीय होती है जब वह वाक्य विन्यास के तार्किक संघटन को छोड़कर विछिन्न शब्दों के रूप में बिंब रचना करती है''[2] वस्तुतः बिंबवाद के मूल में यह मान्यता अन्तर्निहित है कि ''हमारा सारा चिन्तन बिम्बों में होता है।''[3]

हमारी इन्द्रियाँ जिस चीज को भी अनुभव करती हैं उसकी अभिव्यक्ति बिम्ब प्रक्रिया से ही संभव है। अतएव बिबंवादी सिद्धांत से यह मान्यता उभरी कि बिम्बों की भाषा ही श्रेष्ठ भाषा है एवं वह अविछिन्न भावबोध का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। केदारनाथ सिंह ने कहा, ''कविता में मैं सर्वाधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब विधान पर। बिम्ब विधान का संबंध जितना काव्य की विषय वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त एवं ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त एवं दीप्त।.. तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था, आज की कविता में वही स्थान 'बिंब' या 'इमेज' का है।''[4] शमशेर बिंबों के कवि हैं। उनका बिंब विधान युगीन सदर्भों एवं कवि के व्यक्तिगत जीवन दोनों से अपनी शक्ति ग्रहण करता है। ऐसे में उनकी बिंब योजना का स्वरूप इन तत्वों के आलोक में ही व्याख्यायित किया जा सकता है। डॉ. नामवर सिंह ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''प्रयोगवाद की यथार्थवादी, अन्तर्मुखी तथा बौद्धिक प्रवृति ने कविता के शब्द चयन, वाक्य विन्यास, छंद संगीत और प्रतीक योजना को भी प्रभावित किया।''[5] प्रयोगवाद की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी यथार्थवादी चेतना रही है। डॉ. सुधेश ने प्रयोगवाद की यथार्थवादी चेतना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''छायावद की स्वपन दृष्टि एवं आदर्शवादिता का उसमें अभाव है- जगत के भौतिक एवं मूर्त विधान को ही स्वीकृति दी गई है किसी परलोक या आलौकिक जीवन के प्रति रुचि प्रदर्शिन नहीं की गई है।''[6]

स्पष्ट है, प्रयोगवाद की इस यथार्थवादी चेतना में यथार्थ पर बल दिया गया। भावनाओं या भावुकता के स्थान पर ऐन्द्रिय संवेदना या प्रत्यक्षात्मक अनुभवों पर बल दिया गया। शमशेर भी प्रत्यक्षात्मक अनुभवों के प्रति समर्पित कवि हैं एवं कविता में यथार्थ चेतना पर बल देते हैं। उन्होंने लिखा है, ''कवि का कर्म अपनी भावनाओं में—प्रेरणाओं में आंतरिक संस्कारों में समाज सत्य के मर्म को ढालना—उसमें अपने को पाना और उस पाने को अपनी पूरी कलात्मक सच्चाई के साथ व्यक्त करना है।''[7] जाहिर है कि जिन अनुभवों को शमशेर व्यक्त करना चाहते हैं वे ज्यादातर ऐन्द्रिय हैं। इस के कारण ही उनकी भाषा अपनी प्रवृति में चित्रात्मक या बिम्बात्मक दिखाई पड़ती है। विषय वस्तु एवं क्षेत्र के आधार पर शमशेर बिंबों का चुनाव प्रकृति एवं मानव जीवन दोनों के ही भीतर से करते हैं— *''पश्चिम में काले और सफेद फूल और पूरब में पीले और लाल/डतर में नीले कई रंग के और हमारे यहाँ चम्पई-सांवले/उत्तर में हरियाली कहाँ नहीं/जहाँ भी आसमान बादलों से जरा भी पीछे जाते हैं/और आज गुलदस्तों में रंग-रंग के फूल सजे हुए हैं/और आसमान इन खुशियों का आइना है/''*[8] इन पंक्तियों में कुछ विशेष रंग के फूल निःसंदेह प्रकृति के भीतर से लिए गए हैं पर शमशेर की कविता में आकर रंगों के ये बिम्बात्मक प्रयोग पूरे मानव समुदाय के रंगों के चित्र संकेत बन गए हैं।

बिम्बों की खोज में वर्तमान और अतीत दोनों ही उन्हें आकृष्ट करते हैं तब जो चिली के महाकवि नेरुदा के लिए उपमा खोजते समय उन्हें *''दुनिया के शान्ति पोस्ट आफिस का/प्यारा व सच्चा कासिद''*[9] का बिम्ब सूझता है तो युद्ध की विभीषिका का चित्रण करते हुए वे अतीत की पौराणिक कथाओं के भीतर से बिम्ब निकाल लाते हैं—
''मेरी देहली में प्रहलाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर युद्ध के हिरण्य कश्यप को चीर रही हैं।''[10] शमशेर

की बिम्ब योजना के विश्लेषण के क्रम में हम पाते हैं कि वे कई विधियों से बिम्बों का सृजन करते हैं। शमशेर की कविताओं में बिम्बों की खोज करते समय एवं उनकी रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय यह बात बड़े साफ तौर पर उभरती है कि शमशेर के यहाँ कुछ विशेष व बार-बार दोहराए जाने वाले शब्द हैं और उन्हीं के जरिए या उन्ही के आस-पास शमशेर का बिंब विधान घूमता रहता है। उदाहराणार्थ 'शाम' से संबंधित कुछ बिम्बों के लें– *''1) एक पीली शाम पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता, 2) ये शाम है कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का, 3) नींबू का नमकीन सा शरबत शाम/ प्राचीन इसाई चीजों सी कुछ राजघराने सी/ बहुत कुछ गहरी सोन-शाम शांत/तुम्हारी सारी की सी शाम/बहुत परिचित मेरे दिल के अजीब फैलाव की/लातीनी पीतल-काँसे की घंटी की सी क्लासिक शाम/ बहुत दूर बहती हुई शाम/''* यहाँ तीन अलग-अलग कविताओं में शाम के बिम्ब अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग अर्थ ग्रहण करते हैं। पहली कविता की पीली शाम-पतझर की उदासी की सूचना देती है तो दूसरी कविता की शाम इससे बिलकुल भिन्न शोक एवं आक्रोश के मिले-जुले वातावरण की सूचना देती है। तीसरी कविता में शाम के अनेक प्रसंगों में अनेक अर्थ उद्घाटित होते हैं।

इसी प्रकार 'चाँदनी' के लेकर भी कवि ने कई बिम्ब रचे हैं–*''1) 'एक नीला आईना' बेठोस सी यह चाँदनी, 2) चाँदनी की उंगलियाँ चंचल/क्रोशिए सी बुन रही थी चपल, 3) चाँदनी में घुल गए हैं/बहुत से तारे कुछ/''* यहाँ भी तीनों संदर्भों में चाँदनी का बिम्ब अलग-अलग अर्थ उद्घाटित करता है। पहली कविता में चाँदनी को बेठोस बताकर उसके सूक्ष्म परन्तु इन्द्रियों द्वारा ग्रहण स्वरूप की ओर लौटने का संकेत है तो दूसरी कविता में चाँदनी का मानवीकरण है। तीसरी कविता में चाँदनी में तारे के घुलने मिलने का बिम्ब व्यापकता की ओर संकेत करता है। शमशेर की कविताओं में बिम्ब योजना के विश्लेषण के क्रम में हम पाते हैं कुछ विशेषणों को भी शमशेर बार-बार दोहराकर इस तरह कविता में लाते हैं कि प्रायः किसी बिम्ब या रूपक की रचना होती है। उदहारणार्थ 'मौन' एवं 'गहराई' दो शब्दों को लें–*1) अब हो उठा मानै का डर/और भी मौन 2) तू किस गहरे सागर के नीचे के/गहरे सागर के नीचे का/गहरा सागर होकर/''*

यहाँ पहली कविता मौन के डर का मौन हो उठने का बिम्ब मौन की गहराई की ओर संकेत करता है जबकि दूसरी कविता में गहरे शब्द के बार-बार दुहराने से जिस बिंब की रचना हुई है वह अतल गहराई को व्यक्त करता है कि जिसे किसी दूसरे तरह से व्यक्त नहीं किया जा सकता। शमशेर की बिम्ब योजना की एक खास बात यह है कि वे कभी-कभी अमूर्त शब्दों से भी मूर्त बिम्ब निर्मित कर लेते हैं। गहरापन सावंलापन सुदूरपन ऐसे अमूर्त शब्द भी शमशेर के यहाँ बिम्ब के रूप में आए हैं जैसे–*नया गहरापन/तुम्हारा हृदय में डूबता चला जाता/न जाने कहाँ तक/''* यहाँ डूबने की क्रिया गहरेपन को आकार दे रही है एवं बिम्ब निर्मित हो रहा है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण में *''ओ साँवलेपन/ओ सुदूरपन/''* यहाँ साँवलेपन एवं सुदूरपन जैसे शब्दों में सजीवता एवं ऐन्द्रियता का अहसास जो सम्बोधन के द्वारा होता है। अपनी बिम्ब योजना में शमशेर ने कुछ पुराने बिम्बों के नए संधान भी किए हैं, नई अथर्वत्ता भी दी है। 'कोलाहल' के बिम्ब को ही लें। 'प्रसाद' के यहाँ यह एक अत्यंत रोमांटिक बिम्ब है–*अम्बर चुम्बी हिम शृंगों से/कलरव कोलाहल साथ लिए/विद्युतकी प्राणमयी धारा/बहती जिसमें रसधार लिए/''* शमशेर के यहाँ भी कोलाहल का बिम्ब है लेकिन थोड़े भिन्न रूप में वह कोलाहल जो कोयलों से भरा है–*''सुनकर तु विक्षुब्ध हो जाता/क्या उपनिषदों का शोर/उसे दबा पाता/''* शमशेर के यहाँ कोलाहल के बिम्ब की टक्कर उपनिषदों के शोर से हो रही है। संकेत यह है कि उपनिषदों के शोर (ज्ञान) से भी ज्यादा शक्ति कोयलों के कोलाहल (प्रकृति) में निहित है। इस प्रकार यहाँ कोलाहल का बिम्ब एक नया संधान है, पुराने बिम्ब का।

शमशेर की भाषा का अधिकांश सौंदर्य उनके नवीन बिम्बों की योजना में ही निहित है। उदाहरण स्वरूप– आँख जो कि अँखुआ/आई हो बहुत ही करीब बहुत ही करीब/'' यहाँ आँख का अंखुआना–आँख भरने के निकट आने का बिम्ब रचा गया है। इस बिंब विधान का सौंदर्य इसी में है कि कहीं भी याद आने का जिक्र किए बिना सारी बात खोल जाता है। आँख के अँखुआने का बिम्ब कवि का नवीन सृजन है जिसमें भाषा का सौंदर्य निहित है। बिंबों की रचना के लिए शमशेर कुछ विशेषणों को प्रयुक्त करते हैं एवं कभी-कभी तो अमूर्त शब्दों से भी मूर्तबिंब की रचना कर लेते हैं। इस संबंध में डॉ. रंजना अरगड़े का कथन सत्य ही प्रतीत होता है, ''शमशेर की कविता में अभिव्यक्ति समृद्ध होती है उनकी भाषा के द्वारा और उनकी कविता में आए बिंबों के द्वारा।''[11] अब तक के विश्लेषण से शमशेर के बिंबों को ऐतिहासिक संदर्भ, बिम्बों का चुनाव क्षेत्र एवं बिम्बों की रचना प्रक्रिया के विभिन्न पहलू उभरकर सामने आ चुके हैं। अब हम समग्र रूप से शमशेर की बिम्ब योजना की महत्वपूर्ण विशेषताओं एवं उनसे जुड़े पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करेंगे। शमशेर की बिम्ब-योजना में बिंबों की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हुई है। कविताओं में बिंब कई अर्थ छायाओं–अर्थ की कई परतों को अपने अंदर सामाहित

किए हुए है—मैंने शाम से पूछा/या शाम ने मुझसे पूछा/इन बातों का मतलब/ मैंने कहा—शाम ने मुझसे कहा/राग अपना लें/'' कविता में प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य (मैं) एवं प्रकृति (शाम) के समीकरण की खोज करता हुआ कवि एक बिंब प्रस्तुत करता है—''राग''। यह राग क्या है? डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है, ''राग का कोई एक और अर्थ निश्चित नहीं, वह अपने आप में पूरा संवेदन है। राग के अर्न्तगत मनोभाव, व्यक्तित्व, संगीतात्मक आकर्षण, रंग की विधि अर्थ-छायाएँ संश्लिष्ट हैं जो एक दूसरे से टकराकर उन्हें संवारती तलाशती हैं।''[12] इसी प्रकार एक अन्य बिम्ब का उदारण देखें—एक पीली शाम/पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता/..गिरा, अब गिरा वह अटका हुआ आँसू/सांध्य तारक सा अतल में।'' यहाँ अटका हुआ पत्ता एवं 'अटका हुआ आँसू' दो बिम्ब आए हैं। रामस्वरुप चतुर्वेदी के शब्दों में, ''यह मनुष्य एवं प्रकृति का संश्लिष्ट रूप है, कविता में अर्थ की कई परतें हैं जिनमें ध्वनिशास्त्रियों में शब्दावली को नकारते हुए न कोई मुख्यार्थ है एवं न कोई व्यंग्यार्थ। यह कुल अर्थ-संश्लेष है जो अँटके हुए आँसू के बिंब से गतिशील है।''[13]

इस प्रकार स्पष्ट है कि शमशेर की बिम्ब योजना में बिंबों द्वारा संश्लिष्ट भावों की अभिव्यक्ति हुई है। दूसरे शब्दों में संश्लिष्टता बिंबों का महत्वपूर्ण तत्व है शमशेर की बिंब योजना में। इस दुरुह संश्लिष्टता के मूल में कुछ तो युगीन प्रभाव है एवं कुछ कवि के अपने व्यक्तिगत का प्रभाव। युगीन प्रभावों की व्याख्या करते हुए डॉ. सुधेश लिखते हैं, ''प्रगतिवादी काव्य के मार्क्सवादी समाजवादी दृष्टिकोण के विपरीत प्रयोगवाद व्यक्तिवादी दृष्टिकोण लेकर उपस्थित हुआ जिसके अनुसार व्यक्ति को इतिहास के क्रमिक विकास का यंत्रवत रूप नहीं बल्कि एक चेतन प्राणी बताया गया जो इतिहास को प्रभावित करता हो। अधिकांश प्रयोगवादी काव्य में अहम्वाद एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण का बोलबाला है।''[14]

यही व्यक्तिवादी दृष्टिकोण काव्य की दुरुह संश्लिष्ट शैली का मूल है। इसका एक कारण शमशेर का खुद का व्यक्तित्व भी है। मुक्तिबोध ने लिखा है—''शमशेर के काव्य में उलझन है वह अस्पष्ट और दुरूह है। इसके लिए शमशेर कुछ हद तक स्वयं जिम्मेवार हैं। वस्तुतः...शमशेर यथार्थवादी कवि होते हुए भी आत्मपरक हैं। उनकी आत्मपरकता उन्हें भाव-प्रसंग के भीतर उपस्थित अपनी संवेदना के चित्रण के लिए बाध्य करती है। ऐसे में डॉ. सुधेश का वक्तव्य सही प्रतीत होता है कि 'शमशेर की दुरुह संश्लिष्ट शैली का एक करण उनका जीवन के प्रति घनघोर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी है।''[15]

शमशेर की बिम्ब योजना में बिम्ब न केवल संश्लिष्ट हैं वरन आपस में गुंथे हुए भी हैं। कविता में बिम्ब एक दूसरे से इस प्रकार गुंथे होते हैं कि उनके विश्लेषण के लिए एक-एक शब्द को पकड़ना पड़ता है जैसे—*'' 'धु' शाम है कि/आसमान खेत है पके हुए अनाज का/लपक उठीं लहू-भरी दराँतियाँ/कि आग है/''* इन चार पंक्तियों में बिम्ब का प्रयोग कई स्तरों पर किया गया है। शाम के लिए पके हुए अनाज के खेत का बिम्ब नवीन एवं मार्मिक है। शाम की विशिष्टता दर्शाने के लिए प्रयुक्त इस बिम्ब द्वारा कवि ने नया अनुभूतिपूरक प्रयोग किया है। अनाज पक गए हैं यानी उनके कटने का वक्त आ गया है—दराँतियों के लपकने में यही भाव निहित है लेकिन यहाँ एक बात और भी दराँतियाँ लहू से भरी है-खून से भरी दराँतियाँ लाल-लाल आग सी यहाँ आकर बिम्ब का एक नया स्तर उद्घाटित होता है जिसके परिप्रेक्ष्य में पूरी कविता का मर्म उद्घाटित है। लहू भरी दराँतियाँ गवालियर की उस खूनी शाम का स्मृतिजन्य बिम्ब प्रस्तुत करती है जिसको याद करके कविता लिखी जा रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शमशेर की बिम्ब योजना में एक-एक शब्द को पकड़ना होता है। उनकी बिम्ब योजना में बिम्ब आपस में इस प्रकार गुंथे रहते है कि बिना विश्लेषण के बिम्बों का अर्थ नहीं खुलता है। शमशेर के बिम्बों के आपस में उलझे रहने की प्रवृति की व्याख्या करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि ''उनकी संवेदना वास्तविक है —वास्तविकता एक फार्मूला नहीं है। जीवन प्रसंग अनके सूत्रों से अनेक तत्वों से उलझे हुए होते हैं। वास्तविकता हमेशा, अनिवार्य रूप से अटूट नियम की भाँति उलझी होती है।''[16]

ऐसे में स्वाभाविक ही है कि इन संवेदनाओं के बिम्ब भी उलझे हुए रूप में ही सामने आएं। हमने शमशेर की बिंब-योजना के विवेचन से पूर्व पाश्चात्य 'बिंबवाद' की चर्चा की थी एवं उसके सैद्धांतिक मान्यताओं के संदर्भ में बिम्बों की 'फ्री एशोसिएशन पद्धति' का जिक्र किया था। शमशेर की बिम्ब योजना में बिम्बों की फ्री एशोसिएशन पद्धति का प्रयोग देखते हैं। फ्री एशोसिएशन पद्धति में एक बिम्ब दूसरे बिम्ब से प्रायः अलग दिखाई देता है। एवं कम से कम ऊपर से बिम्बों में कोई आपसी रिश्ता दिखाई नहीं देता। उदाहरणार्थ 'टूटी हुई बिखरी हुई' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ—*''टूटी हुई बिखरी हुई चाय/की दली हुई पांव के नीचे पत्तियाँ/मेरी कविता बाल झरे हुए/मैल से सूखे गर्दन से फिर भी चिपके/कुछ ऐसी मेरी खाल/मुझसे अलग सी मिट्टी में मिली सी/''* कविता में चाय की पत्तियाँ, कविता, झरे हुए बाल आदि ऐसे बिम्ब हैं जिनको जोड़ने वाला कोई प्रत्यक्ष मनोभाव दिखाई नहीं देता है। पर ये सारी बातें एक साथ रखकर शमशेर ने किसी गहरे भाव की व्यंजना की कोशिश की है। डॉ. नामवर सिंह ने शमशेर की बिंब योजना के इस पहलू को

व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि ''प्रायः ये स्मृतिचित्र (बिम्ब) क्रमहीन तथा विशृंखल रूप में—फ्री एशोसिएशन के रूप में उठते दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः यह सुरियलिस्ट मनोवृति है जिसमें बाहर से असम्बद्ध दिखाई पड़ने वाले बिखरे स्वप्न आप से आप एक रूपरेखा तैयार करने के लिए छोड़ दिए जाते हैं।'' 'सुर्रियललिस्ट' बिम्ब शमशेर की बिम्ब योजना को एक नया आयाम देते हैं—'सींग ओर नाखून' रचना में इसी प्रकार की बिम्बात्मकता मिलती है—*सींग और नाखून/लोहे के वख्तर कंधों पर/सीने में सुराख हड्डी का/आंखां में घास काई की नमी/एक मुर्दा हाथ/पाँव पर टिका/उल्टी कलम थामें/तीन तसकों में कमर का घाव सड़ चुका है/जड़ों का भी कड़ा जाल हो चुका है पत्थर/''* केवल इस आधार पर कि वे पश्चिमी चित्रकला से प्रभावित है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वे परिचय के प्रत्येकवाद से प्रभावित रहे हैं।

बिखरे हुए अलग-अलग से दिखाई पड़ने वाले कई बिम्ब कविता में दृष्टिगोचार होते हैं सींग एवं नाखून आदिम हिंस्त्र प्रवृतियों के प्रतीक हैं जिनसे रक्षा के लिए 'लोहे के वख्तर' का बिम्ब सामने आया है। सीने में हड्डी का सुराख युद्ध के अंजाम को प्रतिबिम्बित कहा है तो 'उल्टी कलम' से लेखकीय बिडंबना की ओर संकेत है। कविता में प्रत्येक बिम्ब अलग एवं विशिष्ट महत्व रखते हुए भी एक अदृश्य मनोभाव से जुड़े प्रतीत होते हैं। यहाँ एक अन्य उल्लेखनीय बात है कि कविता में बिम्ब एवं प्रतीक अन्तर्गुथित है। यद्यपि बिम्ब एवं प्रतीक दो अलग-अलग अवधारणाएं हैं। प्रतीक मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों हो सकता है जबकि बिम्ब के लिए मूर्त्तता आवश्यक है। प्रतीक सदैव एक निश्चित अर्थ की ओर संकेत करते हैं जबकि बिम्ब हर नए वातावरण में नए रूप और अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। फिर भी बिम्ब एवं प्रतीक में आत्यंतिक अंतर नहीं है। प्रायः बिम्ब रूढ़ होकर प्रतीक बन जाते है। शमशेर के यहाँ बिम्ब के साथ-साथ प्रतीकों का भी बहुतेरे प्रयोग हुआ है। शमशेर की बिम्ब योजना का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू बिम्बों की सांकेतिकता है। मुक्तिबोध इसे शमशेर की 'इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार'[17] की मनोवृति से जोड़कर देखते हैं। इंप्रेशनिस्टिक चित्रकार चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देता है जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से प्रभावपूर्ण संकेत-शक्ति रखते हैं। केवल कुछ की ब्रशेज में वह अपना काम करके दृश्य के शेष संकेतों को दर्शकों की कल्पना के भरोसे छाड़े देता है। शमशेर के बिम्बों में भी यही बात दिखाई देती है। उनके बिम्बों में सांकेतिकता महत्वपूर्ण होती है। इसी 'सांकेतिकता' की ओर संकेत करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि ''शमशेर के यहाँ प्रायः वाक्य नहीं शब्द मिलते हैं वे ग्राफ पेपर पर जैसे बिंदु निश्चित करते हैं जिन्हें मिलाने का काम पाठक के उपर रहता है।''[18] शमशेर की बिम्ब योजना की एक अन्य विशेषता है—बिंबों की सादगी। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, ''नई कविता के बिंबों की सादगी का वैभव शमशेर में कुछ वैसे ही मिलता है जैसे छायावादी आभिजात्य का बिंब वैभव प्रसाद में संकेंद्रित हुआ है। बिंबों की सादगी के साक्ष्य रूप में 'धूप कोठरी के आईने में खड़ी' कविता के बिम्ब को प्रस्तुत किया जा सकता हैं—*''धूप कोठरी के आइने में खड़ी हँस रही है/एक मधुमक्खी हिलाकर फूल को/बहुत नन्हा सा फूल उड़ गई/आज बचपन का उदास माँ का मुख/याद आता है/''* कोठरी के आईने में खड़ी धूप, नन्हें से फूक को हिलाकर उड़ गई मधुमक्खी, एवं उदास माँ का मुख—यहाँ अलग-अलग टुकड़ों के जोड़ में बिम्ब का रूप झलकता है। पूरी कविता में एक सादगी-आत्मीयता है''[19] कोठरी के धूप में जो आत्मीयता है वह निष्पन्न होती है माँ के उदास चेहरे की याद में। यहाँ एक छोटी सी मनःस्थिति है किसी जीवन दर्शन रचने का प्रयास नहीं।

इस प्रकार शमशेर की बिंब-योजना के विभिन्न पहलुओं के विवेचन-विश्लेषण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि उनकी काव्य कला में बिंब विधान का एक महत्ववपूर्ण स्थान है। यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से वे ऐन्द्रिय संवेदनों को महत्व देते हैं एवं इस ऐन्द्रियता के कारण ही उनकी भाषा बिंबात्मक हो उठती है। शमशेर अपने परिवेश से ही प्रकृति एवं मानव दोनों से बिम्बों को चुनते हैं। कुछ शब्द उनकी बिंब योजना में बार-बार आते है, लेकिन प्रत्येक बार अलग-अलग प्रसंगों में नये अर्थ उद्घाटित करते हैं। बिम्बों की रचना के लिए शमशेर कुछ विशेषणों एवं कभी-कभी तो अमूर्त्त शब्दों को भी प्रयुक्त करते हैं। पुराने बिम्बों को उन्होंने नया अर्थ दिया है तो एकदम मौलिक एवं नवीन बिम्बों को भी सृजित किया है। शमशेर की बिम्ब योजना में 'इंप्रेशनिष्ट चित्रकार' सी सांकेतिकता है तो 'फ्री एशोसिएशन पद्धति की बिम्ब योजना में उनके बिम्बों में सादगी है तो संश्लिष्ट अभिव्यक्ति एवं जटिल उलझाव भी है जो कि पाठक उवं कविता के माध्य उसकी संप्रेषणीयता की दृष्टि से बाधक बन जाता है। डॉ. नामवर सिंह ने शमशेर की बिम्ब योजना के संबंध में बड़ी ही सटीक टिप्पणी करते हुए लिखा है—''सभी चित्र(बिम्ब) अनिवार्यतः 'इंप्रेसनिस्टिक' ही नहीं हैं, कुछ सुर्रियलष्टि भी हैं कुछ सरल रेखांकन मात्र हैं, और कुछ पत्थर की तराशी हुई मूर्ति की तरह ठोस... इस चित्रशाला में इतने रंगों की लीला है, तरह-तरह के रंगों की इतनी धुलावट है कि सबका विवरण देना लगभग असंभव है। हिन्दी कविता में रंगों का ऐसा महोत्सव अन्यत्र दुलर्भ है।''[19]

सन्दर्भ

1. कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 123
2. कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 128
3. कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 129
4. कविता के नए प्रतिमान, डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 117
5. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, वर्ष 1982, पृ. 150
6. आधुनिक हिन्दी एवं उर्दू काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, सोम प्रकाश सुधेष, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 405
7. चुका भी नहीं हूँ मैं, शमशेर बहादुर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 5
8. प्रतिनिधि कतिवाएं, शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1985, पृ. 95-6
9. प्रतिनिधि कतिवाएं, शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 95
10. प्रतिनिधि कतिवाएं, शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1985, पृ. 94
11. कवियों का कवि शमशेर, डॉ रंजना अडगरे, वेद प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 108
12. नई कविताएं एक साक्ष्य, डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 77
13. नई कविताएं एक साक्ष्य, डॉ रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 83
14. आधुनिक हिन्दी एवं उर्दू काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, सोम प्रकाश सुधेश, वेद प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 397
15. आधुनिक हिन्दी एवं उर्दू काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, सोम प्रकाश सुधेश, वेद प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 397
16. मुक्तिबोध रचनावली भाग, मुक्तिबोध शमशेर, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1985, पृ. 435
17. प्रतिनिधि कविताएं, शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन, वर्ष 1989, पृ. 3
18. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, वर्ष 1983, पृ. 138
19. नई कविताएं, एक साक्ष्य, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, वर्ष 1990, पृ. 397

–डॉ. नीलम सिंह
सहायक प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, हिन्दू महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मलयज की दृष्टि में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सौन्दर्य की भोगभूमि और कर्मभूमि

—डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार सन्तोष

आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक संघर्ष के प्रतिद्वंद्वी पर लिखते हुए मलयज ने कहा है, ''लगता है कविता में शुक्ल जी को दो चीजों से सख्त चिढ़ थी, एक तो वही अस्पष्ट, अनिर्वचनीय, अनुभूति के अनर्गल अतर्क्य रहस्यात्मक पक्ष से, दूसरे काव्य में नक्काशी, बेलबूटे और मात्र अनुरंजन की एक तरफ कलावाद तो दूसरी तरफ दरबारी प्रवृत्ति से।''[1] स्पष्टतः आचार्य शुक्ल काव्य में रीतिवाद, रहस्यवाद और कलावाद के विरोधी हैं जिसके कारण ''प्राचीन साहित्य के संदर्भ में शुक्ल जी निगुर्ण, नाथपंथी, कबीर आदि की अराजकतावादी दृष्टि से मोर्चा लेते हैं और मध्यकालीन साहित्य के संदर्भ में रीतिकालीन दरबारी रंजनवृत्ति से, तो आधुनिक साहित्य के संदर्भ में छायावाद और रहस्यवाद की खामख्याली से।''[2] आचार्य शुक्ल के इस विरोध को मलयज व्यापक फलक पर देखते हैं। मलयज के अनुसार, ''पर एक रूप जिसमें शुक्ल जी के सभी रूप समाहित हैं, या कि सभी रूप इस एक रूप से निकले हैं, वह है उनका विशिष्ट और विलक्षण के विरूद्ध सामान्य और सर्वानुभूत का पक्षधर रूप।''[3] आचार्य शुक्ल का रूप 'सामान्य जन' का रूप हैं, ''शुक्ल जी की इस लड़ाई का हीरो उनका वही सामान्य मनुष्य है। यह सामान्य मनुष्य ''धरती के संदर्भ में जो कुछ इन्द्रियातीत और अमूर्त्त है उसे वह संदिग्ध मानता है। आकाश के संदर्भ में जो कुछ ज्ञानातीत और अलौकिक है उसे वह शक की निगाह से देखता है। प्रत्यक्ष यथार्थ से अलग अध्यात्म उसके लिये एक फरेब है, जैसे दूर कहीं धरती और आकाश का मिलन जो जब नजर आता है तब धुंधलके में ही।''[5] सामान्य-जन के लिए यह 'फरेब' ''यह धुंधलका ही यह छायावाद-रहस्यवाद है जिसके खिलाफ शुक्ल जी ने अपनी 'लड़ाई लड़ी।''[6] आचार्य शुक्ल की 'लड़ाई' के महत्व पर मलयज लिखते हैं, ''शुक्ल जी के इस विरोध को शायद सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा गया है। मुझे तो इस विरोध में कोई साहित्यिक विद्वेष नहीं, बल्कि एक भरपूर कॉमनसेंस वाले रेसनलिस्ट का, जो कुछ गड़बड़झाले वाले किस्म का है, घपलेवाला है, अमूर्त्त, अगोचर, अज्ञेय अतः सामान्य व्यक्ति की भावना और समझ के परे है, अतार्किक है, उसके प्रति दृढ़ अस्वीकार दिखाई देता है।''[7] मलयज ने अपने समय के विमर्श से आचार्य शुक्ल को जोड़ते हुए कहा है, ''जब शुक्ल जी काव्य में ब्राह्य तत्व (गोचर, मूर्त, सर्वानुभूत) पर जोर दे रहे थे तब एक तरह से अपने समय में 'प्रतिबद्धता' की ही बात कर रहे थे। काव्य के स्रोत हमेशा भीतर ही नहीं बाहर भी होते हैं और उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती, ऐसा कहने में शुक्ल जी लगभग उसी तरह की बातें कर रहे थे जो आज हम कविता को कलावाद के सीमित वृत्त से बाहर निकालकर उसे एक व्यापक जन-संघर्ष, जन भावना से जोड़ने के सिलसिले में करते हैं।''[8] स्पष्टतः मलयज की चिंता में नयी कविता का संघर्ष भी शामिल है। इस क्रम में उन्होंने शुक्ल जी के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है, ''यह देखकर गर्व भरा हर्ष अवश्य होता है कि काव्य को रहस्यात्मक-अव्याख्येय, भीतर केंद्रित स्रोतों से बाहर खींच लाकर उसे बाहर के गोचर मूर्त्त यथार्थ से जोड़ने का प्रतिबद्ध कार्य शुक्ल जी ने हिन्दी खड़ी बोली के उस काल में किया जब वह अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश ही कर रही थी। यह सवाल शुक्ल जी ने उसी काल में उठाकर जैसे सचेतक का कार्य किया।''[9] क्योंकि आचार्य शुक्ल देख रहे थे कि 'रहस्यवाद' के कारण जीवन-जगत के संदर्भ में अज्ञानता और भ्रम का फैलाव हो रहा था। ''अज्ञानप्रियता का अनुरंजन—जनता में अज्ञान की रूढ़ियाँ विकसित करना, उन्हें पालना-पोसना—इसे लोकवादी शुक्ल जी, जो काव्य की हृदय की मुक्तावस्था और व्यक्ति की शेष सृष्टि के साथ लय में इतनी बड़ी मंगलमयी भूमिका देखते हैं, कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं।''[10] आचार्य शुक्ल के विश्लेषण में जाते हुए मलयज ने 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का एक तरह से पुनर्मूल्यांकन किया है, ''भला देश की नयी 'जागृति' से 'देशवासियों' की दारुण दशा की अनुभूति और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और झाँकी आदि का क्या सम्बन्ध?'' इस कथन में यह तथ्य छिपा हुआ है कि देश का यथार्थ कुछ और है रहस्यवादी-छायावादी कविता का यथार्थ और कुछ है, दोनों में एक खाई है, कविता देश के दारुण यथार्थ को नहीं प्रस्तुत कर रही है, बल्कि उससे दूर है।''[11]

मलयज घपले वाला, अमूर्त्त, अगोचर, अज्ञेय, अतार्किक की छायावादी दुनिया के संदर्भ में ही शुक्ल जी से सहमत

हैं, उससे आगे नहीं। ''छायावाद को समझने की शुक्ल जी की दृष्टि संगत होते हुए भी अपर्याप्त है।...वे हिन्दुस्तान के बदलते परिदृश्य और उसके आयात को पूरी तरह नहीं आँक सके। उन ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों को वे ठीक-ठीक नहीं भाँप पाये जो किसी साहित्यिक आन्दोलन को उभारती हैं। छायावाद साहित्य में एक सामाजिक आवश्यकता बनकर आया, एक परिवर्तन की सूचना लेकर।''[12]

शुक्ल जी के प्रति मलयज की दृष्टि आलोचनात्मक है। शुक्ल जी के 'व्यक्तिवाद' और पूँजीवाद की आलोचना की मलयज जहाँ प्रशंसा करते हैं वहीं इस आलोचना की एकांगी दृष्टि की आलोचना भी करते हैं। उन्होंने लिखा है, ''अपनी काव्य-चिन्तना में शुक्ल जी मनोवैज्ञानिक तथ्यों तक तो पहुंचते है, पर राजनीतिक और समाजशास्त्रीय तथ्यों से जैसे उन्हें परहेज है।''[13] इसको और स्पष्ट करते हुए मलयज ने लिखा है, ''शुक्ल जी ने व्यक्तिवाद का अच्छा नक्शा खींचा है, पर क्यों व्यक्तिवाद अनिवार्य हो उठा—किन ऐतिहासिक-भौतिक शक्तियों ने उसका होना अनिवार्य बना दिया—इसे शुक्ल जी ठीक-ठीक नहीं देख सके।''[14] समाजशास्त्रीय और राजनीतिक तथ्यों से परहेज के परिणामस्वरूप शुक्ल जी व्यक्तिवाद की असंगतियों तक ही रह गये। व्यक्तिवाद ने सामंतवाद आधारित चेतना को तोड़कर कितनी मनः उर्जा फैलायी—इसे वे अपनी भारतीय साहित्यशास्त्र पर टिकी समालोचनात्मक दृष्टि एवं मूल्यों के कारण सहृदयता से नहीं पहचान पाये। छायावाद के प्रति उनकी असहिष्णुता का यही कारण है।

शुक्ल जी के अंतः (क्लासिक परम्परा) और ब्राह्य (छायावाद) के द्वंद्व को मलयज ने समझा है। छायावादी कविता इस बात की सूचना थी, ''एक बँधा हुआ समाज बदलाव की देहरी पर आ पहुंचा है। शुक्ल जी इस बदलाव के लक्षणों से आँख मूंदे हुए नहीं थे, पर भावात्मक रूप से उसे पूरा समर्थन नहीं दे सके थे और जिसका समर्थन वे संस्कृत क्लासिकों और लोक-साहित्य में पाते रहे, उसके रहते वे अपने भाववादी मन को नये बदलाव और नयी अराजकता के लिये तैयार नहीं कर सकते थे।''[15] मलयज के इन विचारों में अन्तर्विरोध दिखाई देता है, 'रहस्यवाद' के संदर्भ में वे आचार्य शुक्ल को आधुनिक और भौतिक बताते हैं, वहीं छायावाद के संदर्भ में परम्परावादी और भावुक ठहराते हैं। शुक्ल जी के अन्तर्द्वन्द्व के भाववादी असमंजस को और अधिक स्पष्ट करते हुए मलयज ने लिखा है, ''शुक्ल जी ने अपने भीतर के कशमकश को खुलकर प्रकट होने नहीं दिया, उसे अपने व्यक्तित्व की दृढ़ता से दबाये रखा, पर उस भीतरी गड़गड़ाहट को वे नजर अंदाज नहीं कर सके—व्यक्तित्व की दृढ़ता के बावजूद। शायद यही बात है कि उनका काव्य सिद्धांत इतना पुख्ता नहीं है और उसमें दरारें रह गयी हैं। इन दरारों से शुक्ल जी की भावना बोलती है, उनका कवि हृदय स्वर भरता है। आदर्श और यथार्थवाद के बीच इस दरार से उनका काव्य-चिंतन एक राह भविष्य के लिये छोड़ देता है, उसे बुद्धि के साँचे में कसे रखकर सिर्फ वर्तमान के लिये एकजुट पुख्ता नहीं छोड़ता।''[17]

कुछ बिन्दुओं पर शुक्ल जी का संघर्ष मलयज का आत्मसंघर्ष हो गया है। 'कलावाद' ऐसा ही एक मोर्चा है 'कलावाद' के विरूद्ध मलयज के संघर्ष के नायक 'शुक्ल जी' ही हैं। आचार्य शुक्ल ने एक तरफ 'कलावाद' का खंडन सिद्धांत रूप में किया है तो दूसरी तरफ रीतिवादी और छायावादी काव्य की व्यावहारिक आलोचना भी की है, क्योंकि ये काव्यधारायें 'कलावाद' से प्रभावित हैं। मलयज ने इस संदर्भ में कहा है ''शुक्ल जी काव्य को हमेशा और आग्रहपूर्वक जीवन की वास्वतविक दशा, स्थिति या तथ्य से जोड़ते हैं। नक्काशी, बेलबूटे, चमत्कार वैचित्र्य या अनुरंजन मात्र से नहीं। बेशक काव्य अनुरंजन भी करता है, पर मात्र उतना ही नहीं, उसका काम इससे ज्यादा गंभीर है—यही शुक्ल जी बार-बार कहते प्रतीत होते हैं।''[18] कलावाद के इस विरोध के स्वरूप पर मलयज ने व्यापक ढंग से प्रकाश डाला है। शुक्ल जी 'काव्य को 'कला' के अंतर्गत नहीं मानते हैं। शुक्ल जी के अनुसार, 'भारतीय काव्य सिद्धांत में भी 'काव्य' और कला अलग-अलग हैं। इस संदर्भ में मलयज ने लिखा है कि सौन्दर्यशास्त्र उनके समय में पश्चिम से आयी नयी-नयी धारणा थी, ऐसा लगता है और इसी से शुक्ल जी सौन्दर्यशास्त्र को स्वीकार करना पश्चिम की काव्य-कला सम्बंधी धारणा को स्वीकार करना था।''[19] सौन्दर्यशास्त्र के इस अस्वीकार के पीछे शुक्ल जी जातीय, स्वदेशी, परम्परा-निर्मित और आम आदमी की दृष्टि है। मलयज ने कहा है, ''एक तो यह कि काव्य की शुक्ल जी की धारणा दो परम्परा से प्राप्त, देशी प्रतिभा और जातीय आवश्यकता के अनुरूप थी, प्रकृत, वस्तुनिष्ठ महज ज्ञानात्मक न होकर रसात्मक, सीमित, और विशिष्ट के बरक्स विस्तृत और सर्वानुभूत पर बल देने वाली।''[20] उनके अनुसार शुक्ल जी की मूल चिंता है—आम आदमी और उसके भावों-विचारों की सुरक्षा जिसका साधन काव्य है, शुक्ल जी के लिये यही सहज काव्यधारा थी और कोई भी बाहरी प्रभाव इसमें ऐंठन और प्रक्षेप पैदा करता है।''[21] उनके अनुसार शुक्ल जी का चिंतन एक भारतीय आत्मा' का चिंतन है—एक आम सहज भारतीय—विशिष्ट और विलक्षण के विरूद्ध—साामन्य और सहज। इस आधार के कारण शुक्ल जी की निगाह में सौंदर्यवादी एक तरफ के कलावादी हैं, क्योंकि कलावादी का जोर वस्तु पर, भाव पर—मनुष्य की सहज भाव-वृत्तियों यथा प्रेम, उत्साह आश्चर्य, करुणा, क्रोध आदि पर न होकर

कल्पना, चमत्कार पर होता है।''[22] नंददुलारे वाजपेयी और प्रसाद के विचारों में कला और सौंदर्य के बीच पृथकता नहीं है। वे क्रोचे का पक्ष लेते है। इस कारण आचार्य शुक्ल द्वारा 'कलावाद का विरोध आकस्मिक नहीं है। मलयज ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि शुक्ल जी काव्य में लीक से हटकर आयी हुई अराजकता से चाहे वह छंद विहीनता की हो, प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के व्यापार की हो, प्रबन्धात्मकता, सुसम्बद्धता और एकान्विति के स्थान पर खण्ड-खण्ड काव्यवृत्ति और असम्बद्धता के नाम पर हो-भड़कते हैं, उसी तरह जैसे एक सामान्य आदमी नयी चीज को देखकर भड़कता है।

''छायावाद की अप्रस्तुत शैली की आलोचना के पीछे शुक्ल जी की चिंता का केन्द्र है—सामान्य आदमी।''[23] शुक्ल जी के सामान्य आदमी के लिये यह अप्रस्तुत व्यापार एक अनजानी राह है, इसी से वह शंकित है। वह 'महाजनों येन गत स पंथा वाले मार्ग का-क्लासिक परम्परा का अनुसरण करना पसन्द करता हैं। उनका स्पष्ट झुकाव सामान्य आदमी की परम्परा-पोषित जीवनमूलक, विशिष्ट विरोधी दृष्टि की तरह ही है। यह दृष्टि रीति के बरक्स प्रबन्ध की दृष्टि है, विशिष्ट और वैचित्र्यपूर्ण दृष्टि के बरक्स सामान्य और प्रकृत भावभूमि की दृष्टि है, अराजकता के बरक्स एकान्विति और सुसम्बद्धता की दृष्टि।''[24] 'छायावाद' आधुनिकता की दौड़ में विजातीय और परम्परारहित न हो जाये इस कारण शुक्ल जी ने सेंसर का काम किया। मलयज ने उपरोक्त स्थापना से अजनाने में ही एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान कर दिया है। उनके अनुसार शुक्ल जी ने छायावाद की शैली के कलावादी रूप का विरोध इस कारण किया कि वह आम आदमी की परम्परा के विरुद्ध है—उनके लिये असहज है। क्या यही तो कारण नहीं है कि 'छायावादी' कवियों की कविताएं अधिकतर 'ऐकेडिमिक' और 'बैद्धिक' वर्ग तक ही सीमित रह गयी हैं।

मलयज एक तरफ से आचार्य शुक्ल की सच्चाई के साथ अपने समय की सच्चाई को भी पकड़ना चाहते हैं। ''हमारी समस्या किसी नई सच्चाई को स्वीकार या अस्वीकार की नहीं अपनी प्राप्त सच्चाई को नये सिरे से भी कि हमने अपनी परम्परा के सद्-असद् जीवित-मृत, दोनों ही पक्ष प्राप्त किये हैं और हम एक को छोड़कर सिर्फ दूसरे को अपना सकने की स्थिति में नहीं है—हमारे अस्तित्व की रचना में दोनों तत्व एक गाँठ की तरह मौजूद हैं।''[25] डायरी की यह दुविधा 'रामचन्द्र शुक्ल' तक आकर समाप्त हो जाती है। यहाँ परम्परा के सद्-असद्, जीवित-मृत चीजें अलग हो जाती हैं। यहाँ किसको अपनाना है और किसको छोड़ना है, बिलकुल स्पष्ट है। आचार्य शुक्ल ने अपने समय में 'व्यक्तिवाद' 'कलावाद' और 'रहस्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया है। मलयज इस संघर्ष मीमांसा का विस्तार करते हैं। अपने समय में भी प्रासंगिक मानते हैं। वे आचार्य शुक्ल की संघर्ष मीमांसा का विस्तार करते हैं—अपने समय की विसंगति के विरुद्ध। इस विसंगति का कारण है—पूँजीवाद और उसकी 'भोगभूमि'। मलयज ने लिखा है, ''आज का परिदृश्य उपभोग-मय हो रहा है।''[26] क्योंकि ''राजनीतिक स्तर पर उपलब्धि के वर्ष की सारी शब्दावली पुकार-पुकार कर कह रही है कि हमने चौतरफा बहुत उपलब्धि हासिल की।''[27] जिस तरह आचार्य शुक्ल के समय छायावाद और ब्रिटिश शासन 'उपलब्धि' पाने का दावा कर रही थी उसी प्रकार मलयज के समय भी जन-विरोधी मंच से 'सफलता' का नारा दिया जा रहा था। यह नारा जनविरोधी साहित्य से भी आ रहा था और अमानवीय आपातकालीन राजनीति से भी। ''सब एक स्वर से कह रहे हैं कि स्थिति बेहतर है, गहन संकट का काल टल चुका है, भविष्य उज्ज्वल और शानदार है।''[28] साहित्य भी अमानवीय राजनीतिक व्यवस्था का सहयोगी बन चुका था। ''साहित्यिक पत्रिकाओं के पृष्ठ ये बताने में लगे हैं कि साहित्य में सन्नाटा' नहीं है। एक के बाद दूसरे शहर यही सिद्ध करने में लगे है।''[29] साहित्य को 'जन' से दूर ले जाने के लिये 'कला की बारीक कतरन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म सम्वेदना की कलात्मक हरकतें उस उपभोग पक्ष को ही रेखांकित करती है।''[30] प्रयास से ''मानव-अस्तित्व के आधारों को पुनः परिभाषित करने, मानव-सम्बन्ध को युगानुरूप नया संदर्भ रचने और इस क्रम में यथार्थ का अधिकाधिक साक्षात्कार करने की आवश्यता अब जैसे एक सतही 'सब कुछ ठीक है, की काम चलाऊ नैतिकता में खा गयी है। खतरनाक प्रश्न पूछने का क्रम थम गया है, बल्कि अब उन सवालों को लेकर आराम से मसखरेबाजी करने का रवैया—उन सवालों से टकराने की कोशिश को एक असंप्रेषणीय मानव कर्म, अतः व्यर्थ कर्म मानकर उन्हें टरकाने का रवैया—आम होता जा रहा है।''[31] इस विसंगत स्थिति की पहचान के साथ ही मलयज इस विसंगति के पोषक स्थलों को भी पहचानते हैं। ''ऐसा उस सुविधाभोगी वर्ग में हो रहा है जो विश्वविद्यालय की कुर्सियों पर हैं, प्रशासनिक सेवाओं में है, साहित्य कला संस्थानों में है, हर उस जगह हैं जहाँ कला का मूल्य वसूला जा सकता है। जहाँ कला से खाने-पीने और ओढ़ने-बिछाने का काम लिया जाता है। ऐसे ही जगहों पर संतुष्टि है, सवाल से बचाव है, उपभोग पर बल है।''[32] मलयज की इस सोच के पीछे समकालीन कारण भी क्रियाशील थे। अशोक वाजपेयी ने उन्हीं दिनों कहा था, ''पहले के मुकाबले शायद अब ऐसे नागरिक अधिक हैं जिनके लिये उनका समय सिर्फ राजनैतिक गतिविधियों, राजनेताओं और आर्थिक उथल-पुथल का नहीं है बल्कि

वह ऐसा समय है जिसमें कुमार गन्धर्व गाते हैं, उस्ताद अली अकबर सरोद बजाते हैं।[33] मलयज ने इस पर टिप्पणी की है, ''इस परिप्रेक्ष्य में अशोक वाजपेयी के ये शब्द कितने अर्थवान हो उठते हैं।''[34] अशोक वाजपेयी के इस वक्तव्य के पीछे छिपे उनके पूंजीवाद और जनविरोधी रूप को मलयज ने पहचान लिया है। अशोक वायपेयी कला कर्म की जो भव्य तस्वीर पेश कर रहे हैं उसमें लगता है, कला किसी संघर्ष के अनुभव से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं बल्कि 'नाच-तमाशे की वस्तु-सी सुलभ है।''[35] कला की उपभोगवादी संस्कृति के विरुद्ध मलयज ने इस अभियान में शुक्ल जी के महत्व को समसामयिकता से जोड़ा है ''सजावट उन्हें उतने तक ही मान्य है जिस हद तक वे मुख्य काम के मकसद को उसका एक सहायक अंग बनाकर पूरा करती है।''[36] शुक्ल जी का मूल मकसद है सामान्य आदमी और यह मलयज का भी है, ''शुक्ल जी की मनीषा-चिन्ता के मूल में है मनुष्य की सामान्य स्थिति की रक्षा।''[37] मनुष्य की सामान्य स्थिति की रक्षा के लिये शुक्ल जी ने 'लोकमंगल' का प्रस्ताव किया है। 'लोकमंगल' की साधना का साधन आनंद की साधनावस्था है। शुक्ल जी अपने समय में इस लोकमंगल के प्रतिपक्ष के रूप में आनंद की सिद्धावस्था को भी बखूबी दिखाया है। मलयज ने अपने समय के संघर्ष के लिये आचार्य शुक्ल के सूत्र का सर्जनात्मक पुनर्मूल्यांकन किया है। पुनर्मूल्यांकन इस अर्थ में कि आचार्य शुक्ल की असंगतियों को मलयज ने समझा है और भविष्य के लिये मॉडल भी निर्मित किया है। 'कलावाद' के संदर्भ में मलयज ने लिखा है, ''कलानुभूति को जीवनानुभूति से अलग कर देना है। शुक्ल जी की सौन्दर्यवाद और कला शब्द के प्रति जबरदस्त चिढ़ का कारण यही है। वे दृढ़ शब्दों में कहते हैं, ''कला कला के लिये वाली बात जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।''[38] पर शुक्ल जी की अखंडित और आशावादी दृष्टि कलावादी खतरे की जटिलता को समग्र ढंग से नहीं देख सकी। मलयज ने इसी क्रम में लिखा है, ''पर यहाँ शुक्ल जी की भविष्यवाणी सत्य न हुई। कलावाद को पुनर्जीवित किया गया—उनकी नाक के नीचे छायावाद में ही और आगे चलकर प्रयोगवाद—नयी कविता में भी कलानुभूति पर अतिरिक्त जोर उसी 'कलावाद' से रस ग्रहण करता है।''[39] मलयज अपने समय की परिवर्तित प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं, ''नयी समीक्षा में कला संसार और 'काव्यलोक' की चर्चा में कविता को एकदम जीवनानुभूति से अलग विशिष्ट, स्वायत्त मान लेने का विचार उतना नहीं है जितना बाह्य तत्व के सामने अंतःतत्व को रखने का।...नयी समीक्षा की जितना बाह्य तत्व के सामने अंतःतत्व को एक-एक नये समीकरण में बाँधने में है। शुक्ल जी की समीक्षा में भी बाह्य और अंतःतत्व को बराबर वजन मिला है और उन्होंने इनका एक समीकरण भी दिया है, उनके इस समीकरण का नाम 'रसवाद' है।''[40] मलयज बदली परिस्थिरति के दबाव में इस 'रसवाद' को विकसित करना चाहते हैं क्योंकि ''शुक्ल जी की थीसिस ही यही थी कि अंतर्जगत, बाह्य जगत के अवयवों से निर्मित होता है, अब जबकि हमारा बाह्य जगत बदला है तब उसके अन्तर्जगत के साथ एक नये समवाय और समीकरण की जरूरत स्वतः सिद्ध है।''[41] इस नये समीकरण में शुक्ल जी प्रासंगिकता खत्म नहीं हो जाती है। मलयज ने इस संदर्भ में उपभोग के विरुद्ध शुक्ल जी के लोकमंगल, मंगल की साधनावस्था का महत्व समझा है। ''शुक्ल जी के प्रयत्न पक्ष में एक टकराहट है, एक गति है, एक द्वंद्व है। यह द्वंद्व और टकराहट शुभ और अशुभ के बीच है और इसमें उत्पन्न होने वाला सौन्दर्य कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य है और इस सौन्दर्य की गति स्थिर नहीं गत्यात्मक है....''[42] मलयज ने जिस तरह शास्त्रीयता के पीछे छिपे आचार्य शुक्ल के सर्जनात्मक व्यक्ति को पहचाना है, उसी तरह आचार्य शुक्ल की 'भाववादी दृष्टि के अन्तर्विरोधों को पहचानकर नया सर्जन भी किया है। मलयज ने आचार्य शुक्ल की परम्परा को रोमांटिक दृष्टि से न देखकर उसकी जीवंतता को समकालीन परिवेश में संदर्भवान बना दिया है।

संदर्भ

1. मलयज, रामचन्द्र शुक्ल, संपादक, नामवर सिंह, पृ. 75
2. वही, पृ. 67, 3. वही, पृ. 51, 4.वही, पृ. 52,
5. वही, पृ. 52, 6. वही, पृ. 52, 7. वही, पृ. 71,
8. वही, पृ. 73, 9. वही, पृ. 73, 10. वही, पृ. 89,
11. वही, पृ. 93, 12. वही, पृ. 71, 13. वही, पृ. 62,
14. वही, पृ. 63, 15. वही, पृ. 63, 16. वही, पृ. 71,
17. वही, पृ. 73 18. वही, पृ. 82, 19. वही, पृ. 83,
20. वही, पृ. 83, 21. वही, पृ. 83, 22. वही, पृ. 84,
23. वही, पृ. 90, 24. वही, पृ. 90, 25. वही, पृ. 65,
26. वही, पृ. 112, 27. वही, पृ. 112, 28. वही, पृ. 113,
29. वही, पृ. 113, 30. वही, पृ. 113, 31. वही, पृ. 113,
32. वही, पृ. 113, 33. वही, पृ. 113, 34. वही, पृ. 113,
35. वही, पृ. 114, 36. वही, पृ. 114, 37. वही, पृ. 116,
38. वही, पृ. 75, 39. वही, पृ. 75, 40. वही, पृ. 75,
41. वही, पृ. 76, 42. वही, पृ. 112

–डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष
सहायक प्रोफेसर, भारतीय भाषा केन्द्र
ज. ने. वि., नयी दिल्ली-110 067

बौद्ध ग्रन्थों के आलोक में प्राचीन भारतीय चिकित्सा परम्परा एक ऐतिहासिक अध्ययन

—डॉ. रंजना रावत

सारांश—बौद्ध चिकित्सा एक सुविधाजनक शब्द है जिसका उपयोग आमतौर पर बीमारी और उपचार से संबंधित कई विविध विचारों और प्रथाओं को संदर्भित करने के लिए किया जाता है जो बौद्ध संदर्भों में उभरे हैं या जिन्हें उस धर्म द्वारा अपनाया और चलाया गया है क्योंकि यह पूरे एशिया और उसके बाहर फैल गया है। मन और शरीर के बीच संबंधों की खोज करने, मानसिक और शारीरिक पीड़ा की प्रकृति को समझने और बीमारी की असुविधाओं पर काबू पाने में रुचि बौद्ध धर्म की उत्पत्ति से ही चली आ रही है। पूरे इतिहास में, बौद्ध धर्म चिकित्सा की विविध धाराओं के अंतर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए सबसे महत्वपूर्ण संदर्भों में से एक रहा है। बौद्ध धर्म से जुड़ी और उसके द्वारा संचालित चिकित्सा ने कई स्थानीय उपचार परंपराओं का आधार बनाया जो अभी भी पूर्व, दक्षिणपूर्व और मध्य एशिया में व्यापक रूप से प्रचलित हैं। इस तथ्य के बावजूद कि इन क्षेत्रीय रूपों में कई समानताएं हैं, तथापि बौद्ध चिकित्सा कभी भी एक सामंजस्यपूर्ण या निश्चित प्रणाली नहीं थी। बल्कि, इसे कुछ प्रमुख विशेषताओं और बहुत-सी स्थानीय विविधताओं के साथ एक गतिशील, जीवंत परंपरा के रूप में सोचा जाना चाहिए। बौद्ध चिकित्सा की स्थानीय परंपराएं अंतर-सांस्कृतिक रूप से प्रसारित और स्वदेशी समानताएं हैं। बौद्ध चिकित्सा की स्थानीय परंपराएं अंतर-सांस्कृतिक रूप से प्रसारित और स्वदेशी ज्ञान के अद्वितीय संकर संयोजन का प्रतिनिधित्व करती हैं। आधुनिक काल में, पश्चिमी उपनिवेशवाद, वैज्ञानिक विचारों और नई बायोमेडिकल प्रौद्योगिकियों के साथ बातचीत से ऐसी परंपराएं पूरी तरह से बदल गईं। हाल के दशकों में, चिकित्सा के पारंपरिक, आधुनिक और संकर रूपों को अंतराष्ट्रीय बौद्ध संगठनों द्वारा और बौद्ध-प्रेरित चिकित्सीय ध्यान प्रोटोकॉल के वैश्विक लोकप्रियकरण के माध्यम से प्रसारित किया जा रहा है। नतीजतन, बौद्ध धर्म आज भी अंतर-सांस्कृतिक चिकित्सा आदान-प्रदान के लिए एक महत्वपूर्ण उत्प्रेरक बना हुआ है और यह दुनिया भर में स्वास्थ्य देखभाल प्रथाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल रहा है।

बीज शब्द– बौद्ध शिक्षा, दवा, उपचारात्मक, ध्यान, अंतर्राष्ट्रीय, अंतर-सांस्कृतिक, प्रसार, भूमंडलीकरण, आधुनिकीकरण*मूल आलेख*—चिकित्सा की उत्पत्ति एवं प्राचीन काल में इसके विकास के प्रश्न पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि अन्य कार्यों के समान स्वास्थ्य संबंधी देखभाल को लेकर मानवीय संवेदना, क्षमता एवं कौशल का विकास एक सतत प्रक्रिया रही है। यह तब से चल रही है जब से मानव का अस्तित्व है। मानव मस्तिष्क एवं बुद्धि के विकास का सीधा संबध मनुष्य के एक सामाजिक समूह में रहने की योग्यता से है। चिकित्सा नृतत्व शास्त्रियों के अनुसार, समूह में रहने वाले सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य न कुछ मौलिक चिकित्सा कार्यों एवं शल्य क्रिया का अभ्यास आरंभिक काल से किया क्योंकि उसके लिए यह आवश्यक था। विद्वानों द्वारा, शैलचित्र में एक-दूसरे से बात करते हुए प्रदर्शित, कुछ मानव आकृतियों की व्याख्या उन लोगों के रूप में की गई है जो चोट या बीमारी से पीड़ित व्यक्ति की सहायता करते प्रतीत होते हैं। प्रारंभ में व्याधि का कारण प्राकृतिक और पारलौकिक दोनों ही माना जाता था। अतः तदनुरूप जादू-टोना, झाड़-फूँक, एवं कर्मकाण्डों के द्वारा भी चिकित्सा का कार्य किया जाता था। परंतु, उनकी विवेचना चिकित्सा के विचार, सिद्धांत एवं अभ्यास के संदर्भ में महत्वपूर्ण नहीं है। इस दिशा में आरंभिक प्रयासों के द्वारा मनुष्य इस क्षेत्र में कुशलता प्राप्त करने एवं उस ज्ञान को भावी पीढ़ी तक पहुंचाने हेतु प्रयत्नशील रहा।प्रागैतिहासिक काल में चिकित्सा विज्ञान के विषय में सूचना के मुख्य स्रोत—दन्त व अस्थि अवशेष, शल्य उपकरण, औषधीय जीवों व वनस्पतियों के जीवाश्म, शैल चित्र आदि हैं जो आरंभिक आवास स्थलों पर चिकित्सकों की उपस्थिति की संभावना की ओर संकेत करते हैं। प्रारंभिक समाज में स्वास्थ्य संबंधी देखभाल का एक उदाहरण मानवविज्ञानी दांत रहित उन मनुष्यों के जबड़ों के माध्यम से प्रस्तुत करते रहे हैं जो काटने और चबाने में असमर्थ व्यक्तियों के थे। ऐसे पराश्रित वृद्ध अथवा रोगी व्यक्तियों को परिवार अथवा समुदाय के अन्य लोगों द्वारा अनुकूल सुपाच्य भोजन तैयार करके दिया जाता था। परिवार में पारस्परिक निर्भरता एवं सामुदायिक जिम्मेदारियों ने प्रारंभिक कबाइली समुदायों को यह सीखने का अवसर दिया कि विपरीत परिस्थितियों में असमर्थ एवं दुर्बल पारिवारिक सदस्यों की रक्षा, बच्चों, वृद्धों एवं रोगियों

की देखभाल उनके भोजन का प्रबंध परिवार या समुदाय का कर्तव्य है। इसकी पुष्टि करते हुए सर विलियम ऑस्लर कहते हैं कि चिकित्सा का उद्भव आदिम मनुष्यों में पारस्परिक सहानुभूति एवं दुःखी, असहाय एवं व्याधिग्रस्त लोगों की सहायता करने की इच्छा से हुआ होगा। प्रारंभिक पाली बौद्ध साहित्य में त्रिपिटकों की गणना की जाती है जो मुख्यतः धार्मिक उद्देश्य से लिखे गए हैं अतः औषधि एवं चिकित्सा उनका केन्द्रीय विषय नहीं है। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में प्राप्त सूचनाएं प्रायः शारीरिक स्वच्छता, शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य, कारण सिद्धांत, रोग के लक्षणों, निदान, एवं चिकित्सा पद्धति आदि विषयों पर उपलब्ध हैं। यद्यपि संस्कृत के समान भारतीय पाली भाषा में चिकित्सा विज्ञान विषय पर किसी पृथक ग्रंथ की रचना नहीं हुई परंतु पाली साहित्य में इससे संबंधित संदर्भ बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि बौद्ध साहित्य अनुशासित संघ समुदाय द्वारा लिखा गया व्यवस्थित श्रमण साहित्य है अतः पाली ग्रंथों में इसके संदर्भ में प्राप्त सूचनाएं चिकित्सा प्रकिया के सूक्ष्म निरीक्षण का परिणाम हैं।

प्राणिमात्र के दुखों के प्रति अति संवेदनशील, क्षमा, मैत्री और करुणा का संदेश देने वाले बुद्ध अत्यन्त व्यवहारिक भी थे। उनकी इसी प्रवृत्ति ने उन्हें एक वैज्ञानिक की भांति निरंतर प्रयोग करने एवं विवेक के द्वारा निर्देशित होकर विभिन्न समस्याओं के व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। दुःख की शाश्वत समस्या का समाधान उन्होंने एक वैज्ञानिक की तरह किया। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्वपूर्ण सिद्धांत दिया और उसे धम्म का पर्याय कहा। इस सिद्धांत के अनुसार कार्य की सत्ता बिना कारण के संभव नहीं है। यदि प्रत्येक कार्य के पीछे कारण होता है तो प्राणिमात्र के दुख के पीछे भी कारण होना चाहिए। तार्किक आधार पर सामाजिक अंधविश्वासों पर करारी चोट करते हुये बुद्ध ने मानवीय अनुभव के अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति विकसित की जिसमें निरीक्षण, प्रयोग, परीक्षण एवं तदुपरांत सिद्धांत की स्थापना के वैज्ञानिक नियम का पालन किया गया। अपने समय में प्रचलित आत्मवाद का अनेक प्रकार से खण्डन करने वाले बुद्ध ने मानव सहित समस्त जीवों को पंचस्कन्धों का संघात माना एवं भौतिक पदार्थों, चित्त और चैत्तासिक धर्मों में अनित्यता के लक्षण को देखा। उनकी इस नवीन विचारधारा ने भौतिक शरीर उसके द्वारा किये जाने वाले कर्म को समस्त मानवीय जीवन के सुख-दुख का मूल कारण बताया। मनुष्य की भौतिक काया को इतना महत्व इससे पूर्व किसी धार्मिक विश्वास में नहीं दिया गया था। इस विशिष्ट दृष्टि ने बौद्ध धर्म में चिकित्सा विज्ञान के महत्व को सुनिश्चत किया। चिकित्सा के प्रति बौद्धों के विशेष आकर्षण के कारण परवर्ती चिकित्सकों ने उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। वागभट्ट अपने ग्रंथ अष्टांगहृदय का आरंभ 'बुद्धाय तस्मैं नमः' कहते हुए करते हैं। शल्य क्रिया के संवर्द्धन का कार्य करने वाले चरक, सुश्रुत, वागभट्ट एवं अन्य चिकित्सक बौद्ध धर्म से प्रभावित थे।

बुद्ध के विवेकशील एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण के कारण बौद्ध सिद्धांतों एवं भिक्षु जीवन के अभ्यासों में स्वच्छता एवं स्वास्थ्य पर समुचित बल दिया गया। शारीरिक स्वास्थ्य से संबंधित अनुशासन को संघीय व्यवस्था में स्थान देने के कारण धम्मानुयायियों ने भिक्षुओं एवं जनसामान्य के कल्याणार्थ चिकित्सा विज्ञान में स्वाभाविक रूप से रुचि ली। दसब्राह्मण जातक में दस प्रकार के ब्राह्मणों की एक सूची प्राप्त होती है जिनमें वैद्य की भी गणना की गई है। भिक्षु जीवन के चार निश्रयों में भोजन, चीवर, आवास के साथ गोमूत्र की औषधि को सम्मिलित किया गया जो संघीय व्यवस्था में चिकित्सा के महत्व को दर्शाता है। इसके महत्व को स्थापित करते हुए बुद्ध ने कहा कि जो मेरी सेवा करना चाहता है वह रोगी भिक्षु की सेवा करे। चिकित्सा विज्ञान के प्रति बौद्ध धर्म का लगाव इस सीमा तक है कि निर्वाण की तुलना औषधि से की गयी है।

बौद्ध साहित्य के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि स्वास्थ्य की रक्षा के लिए संघीय नियमों को आवश्यकतानुरूप लचीला बनाया गया। महावग्ग में भिक्षुओं को रोग निवारक औषधि प्राप्त न होने पर वर्षावास छोड़ने की अनुमति दी गयी है। संसार से विरक्त भिक्षुओं को यह निर्देश भी दिया गया है कि उन्हें किसी अन्य भिक्षु, भिक्षुणी, शिष्यमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी, माता एवं पिता के रुग्ण होने पर बिना बुलाये भी सप्ताहपर्यन्त जाना चाहिये। बौद्ध साहित्य में अनेक उद्धरणों एवं महावग्ग के भेसज्जक्खन्धक में रुग्ण भिक्षुओं के स्वास्थ्य को प्राथमिकता देते हुए संघीय नियमों पर पुनर्विचार करने के संदर्भ उपलब्ध हैं। बौद्ध विहारों में रोगी भिक्षुओं के उपचार की परंपरा स्वयं बुद्ध द्वारा उनके जीवनकाल में आरंभ की गई थी। उनका चिकित्सा संबंधी ज्ञान आश्चर्यजनक था। गंभीर दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या के लिए उन्होंने प्रायः वैद्य एवं शल्य क्रिया से संबंधित उपमाओं का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में बुद्ध को अनेक चमत्कारिक उपचारों का श्रेय दिया गया है जिनकी झलक पुरातात्विक प्रमाणों से भी प्राप्त होती है। श्रावस्ती में जेतवन विहार के उत्तर-पूर्व में एक स्तूप के अवशेष मिलते हैं जहाँ बुद्ध ने एक रोगी भिक्षु के उपचार के लिये उसके हाथ पैर धोये थे। प्रसेनजित के आदेशों पर 500 डाकुओं को अंधा कर दिया गया था। बुद्ध द्वारा इन सभी की नेत्र दृष्टि पुनः ठीक किये जाने का विवरण भी प्राप्त होता है। बुद्ध के आदेश पर उनके शिष्य आनंद ने एक ऐसे रुग्ण भिक्षु की सेवा की जिसकी अन्य भिक्षुओं ने उपेक्षा की थी। बुद्ध की भांति बौद्ध भिक्खुओं ने भी साथी भिक्षुओं एवं विहार में आने वाले सामान्य यात्रियों को आवश्यकता होने पर सहानुभूति पूर्वक चिकित्सा

सुविधा देने की इस परंपरा को अपने धार्मिक कर्तव्य के रूप में ग्रहण किया। बौद्ध ग्रन्थों में ज्वर, तीर लगने से हुए घाव, गंभीर फोड़े, नेत्रों की चिकित्सा, उदर रोग व विष आदि की चिकित्सा, सिर दर्द, पांडु रोग जैसे अनेक रोगों के संदर्भ प्राप्त हैं।

बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त संदर्भों से ज्ञात होता है कि वैद्य तत्कालीन समाज के अत्यधिक सम्मानित सदस्य थे। कुशल एवं अनुभवी चिकित्सक के पास असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति बड़े विश्वास के साथ रोग के निदान के लिये जाते थे। चिकित्सा विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वैद्य सर्वप्रथम किसी योग्य गुरु की खोज करके उसके पास जाता था। तदुपरान्त उसे वेतन या अपनी सेवायें देकर सम्पूर्ण विद्या सीखने के बाद ही स्वतंत्र रूप से किसी रोगी की चिकित्सा अपने हाथ में लेता था। कुशल वैद्य वैद्यक शास्त्र के प्राचीन आचार्यों का अध्ययन करते थे। सूत्रमथा मन्त्र पदों को ठीक-ठीक समझते थे। उनका सारा संकोच समाप्त हो जाता था। वे रोग की सूक्ष्म पहचान कर लेते थे, उनकी चिकित्सा कभी व्यर्थ नहीं जाती थी। मानव शरीर विज्ञान का उनका ज्ञान बहुत विस्तृत था। मिलिन्दपन्ह में अट्ठानवे प्रकार के रोगों का संदर्भ प्राप्त होता है, जिनसे सामान्य व्यक्ति, अर्हत एवं बुद्ध कोई भी मुक्त नहीं था। चिकित्सा आरम्भ करने से पहले चिकित्सक रोगी की आयु देख लेता था। चिकित्सा रोग के लक्षणों को मिलाकर औषधि तैयार करनी पड़ती थी। चिकित्सा में उपवास एवं भोजन के संयम, लक्षणों के आधार पर की जाती थी। कुछ गंभीर रोगों की चिकित्सा के लिये कई जड़ी-बूटियों उचित आहार-विहार एवं निद्रा को विशेष महत्व दिया गया और यह भी कहा गया कि अनुकूल भोजन, औषधि एवं परिचारक के मिलने पर ही रोगी स्वस्थ हो सकता है। विभिन्न संदर्भों से स्पष्ट होता है कि चिकित्सक उपचार की पद्धति, औषधियों की प्रकृति, उनकी सीमाओं एवं चिकित्सा में सहायक अन्य तत्वों से भली-भाँति परिचित थे ।

औषधि में वह सभी वस्तुएं शामिल थीं जिनका उपयोग रोगी भिक्षु की पीड़ा कम करने के लिए किया जा सकता था। भैषज प्रारंभ से ही औषधि के रूप में भिक्षुओं को प्रयोग करने की अनुमति दी गई थी। भैषज्य-स्कंधक में उल्लेख है कि भिक्षुओं को पाँच भैषज्यों की आवश्यकतानुसार उपयोग करने की अनुमति दी गई थी जो औषधि के साथ आहार का भी काम करते थे। यह भैषज्य थे—घी, मक्खन, तेल, मधु एवं खांड। संघ एवं विनय नियमों के विकास के साथ उपासकों के संपर्क से भैषज विज्ञान में अनेक प्रकार के आहार एवं पाक परंपराएं शामिल हुईं। भिक्षु एवं भिक्षुणी स्वयं औषधि निर्माण एवं क्रय नहीं कर सकते थे। अतः समर्पित उपासकों द्वारा उन्हें औषधि दान किया जाता था। विशाखा मिगारमाता द्वारा भिक्षुओं के हित के लिए बुद्ध से माँगे गए आठ वरों में चार- रोगी को भोजन देना, रोगी परिचारक को भोजन देना, रोगी को औषधि देना, सदा सवेरे यवागू (खिचड़ी) देना—शारीरिक स्वास्थ्य और चिकित्सा से संबंधित थे। महावग्ग में सुप्पिया (सुप्रिया) नामक उपासिका का संदर्भ प्राप्त होता है जो प्रतिदिन विहार में जाकर भिक्षुओं से पूछती थी कि कौन रोगी है? किसको क्या चाहिये? उनकी आवश्यकता ज्ञात होने पर वह उनके लिये औषधि, पथ्य व अन्य वस्तुओं की व्यवस्था करती थी। एक बार रोगी भिक्षु की आवश्यकता पूरी करने के लिए उसने अपने शरीर से मांस का दान किया था। बुद्ध ने उसके प्रयत्नों की सराहना करते हुये सुप्पिया को भिक्षु रोगियों की परिचर्या करने वाली उपासिकाओं में श्रेष्ठ घोषित किया। व्याधिग्रस्त भिक्षु को औषधि व भोजन का दान एवं उसकी चिकित्सा करने वाले को भोजन दान देने का संदर्भ उपासकों की भिक्षुओं के स्वास्थ्य में रुचि, उनके पारस्परिक संबंध को रेखांकित करने के साथ भिक्षुओं के चिकित्सा संबंधी ज्ञान एवं सेवा भाव की पुष्टि करता है।

भारत के प्रारंभिक चिकित्सा केन्द्रों में तक्षशिला का विशिष्ट स्थान है। चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये वहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में तक्षशिला पारंपरिक कलाओं एवं विज्ञान के साथ चिकित्सा अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था। प्रसिद्ध बौद्ध चिकित्सक एवं बाल रोग चिकित्सा के विशेषज्ञ जीव को राजकुमार अभय द्वारा तक्षशिला शिक्षा केन्द्र में चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के लिये भेजा गया था, जहाँ उन्होंने ऋषि अत्रेय से शिक्षा प्राप्त की एवं उसमें निपुण हो गये। चिकित्सा शिक्षा की अवधि सात वर्ष वर्णित की गई है जिसकी समाप्ति पर विद्यार्थी को प्रयोगात्मक परीक्षा देनी होती थी। कामजातक के कथानक के अनुसार तक्षशिला से शिक्षा ग्रहण करने वाले, चिकित्सा विज्ञान की सभी शाखाओं में निपुण बोधिसत्व ने बनारस के राजा का उपचार किया था। तक्षशिला उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि कुषाणकाल का यह महत्वपूर्ण बौद्ध स्थल बौद्ध संघ एवं चिकित्सा शिक्षा के गहरे पारस्परिक संबंध को दर्शाने वाला उत्कृष्ट प्रतीक स्थल था। यहाँ से शल्य क्रिया से संबंधित उपकरण उत्खनन में उपलब्ध हैं जो चिकित्सा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान करने वाले चिकित्सकों की कहानी बताते हैं। तक्षशिला से प्राप्त शल्य उपकरण इसका प्रमाण हैं कि वहाँ चिकित्सकों ने शिक्षा एवं रोगियों के उपचार के साथ आवश्यकता होने पर उनकी शल्य क्रिया भी की थी। इसके साथ ही यह उपकरण धातुविज्ञान एवं इस प्रकार के चिकित्सकीय उपकरणों के निर्माण में तक्षशिला के कारीगरों के कौशल के भी प्रमाण हैं। नागार्जुनकोंडा में आरोग्यविहार के समीपस्थ कक्ष के अवशेषों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि वहाँ बौद्ध संघों में चिकित्सा की सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक शिक्षा

की व्यवस्था थी। ईसा की आरंभिक शताब्दियों में वहाँ भी चिकित्सा शिक्षा पाठ्यक्रम में शामिल रही होगी।

सातवीं शताब्दी के मध्य में भैषज विज्ञान की गणना ज्ञान की उस विधा के रूप में की गई जिसे शास्त्रीय चिकित्सा ग्रंथों एवं बौद्ध शिक्षण संस्थानों में अध्ययन की पाँच विद्याओं में से एक के रूप में सम्मिलित किया गया था। चौदहवीं शताब्दी में तिब्बती बौद्ध विहारों में पाँच विज्ञान उनके शिक्षा पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग थे। भैषज निर्देशों के लिए मुख्यतः वाग्भट्ट के अष्टांगहृदय को आधार बनाया गया। इसका संस्कृत से तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। जब बौद्ध धर्म का प्रसार एशिया के दूसरे भागों में हुआ तो विहारों में चिकित्सा संस्थानों की व्यवस्था एवं अभ्यास की परंपरा धर्म के अभिन्न अंग के रूप में वहाँ पहुंची। पारंपरिक आयुर्वेदिक चिकित्सा अपनी व्यवस्था, संरक्षण एवं प्रसार के लिए बौद्ध भिक्षुओं, विहारों व संघ व्यवस्था की ऋणी है।

बौद्ध ग्रंथों एवं पुरातात्विक साक्ष्यों की विवेचना से स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक बौद्ध भिक्षुओं ने संघीय व्यवस्था में चिकित्सा का व्यवहारिक प्रशिक्षण साथी भिक्षुओं की देखभाल के उद्देश्य से लिया था परंतु कालांतर में बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों में उन्हें भैषज के सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक ज्ञान के लिए प्रोत्साहित किया गया। चिकित्सा विज्ञान को महाविहारों के पाठ्यक्रम की पाँच विद्याओं में समाविष्ट किया गया। यहाँ तक कि चिकित्सा को मुक्ति के उपायों में से एक मानते हुए एक ऐसे विषय के रूप में देखा गया जिसका ज्ञान भिक्षु अथवा उपासक बोधिसत्व को प्राप्त करना आवश्यक था। बौद्ध साहित्य के अनेक संदर्भों से ज्ञात होता है कि बोधिसत्व मार्ग के अनुयायी जादुई मंत्रों के उच्चारण के साथ कर्मकाण्डों के संपादन एवं आयुर्वेद द्वारा संचरित प्रयोगसिद्ध तार्किक पद्धति द्वारा मानसिक एवं भौतिक पीड़ा का उपचार कर सकते थे। महायान के संस्कृत चिकित्सा साहित्य ने प्राच्य भारतीय चिकित्सा ज्ञान को संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन किया है। उन्होंने चिकित्सा विज्ञान के साथ धारणी मंत्रों, उच्चारण, जादू एवं जड़ी-बूटियों द्वारा भी उपचार का कार्य किया। चमत्कारों की अवधारणा भैषज्य बुद्ध एवं बोधिसत्व स्वरूप में उपचार से महायान की धारणी अवधारणा में परिवर्तित हुई और कहा गया कि बुद्ध व बोधिसत्व के नाम के उच्चारण मात्र से व्यक्ति को पीड़ा से मुक्ति मिल जाती है।

बौद्ध धर्म ने चिकित्सा विज्ञान को अपने धार्मिक सिद्धांतों एवं अभ्यासों में समाहित करके चिकित्सा के क्षेत्र को विस्तार दिया। औषधि विज्ञान और धर्म का यह सम्मिलन आधुनिक युग तक बौद्ध धर्म की धार्मिक परंपरा का मुख्य अंग रहा है एवं वर्तमान एशियाई बौद्ध धर्म के अध्ययन का यह एक अनिवार्य पक्ष है। भारतीय एवं एशियाई देशों की चिकित्सा परंपराओं के तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में अधिक गंभीर प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. नकवी, नसीम एच., ए स्टडी ऑफ बुद्धिस्ट मेडिसिन एण्ड सर्जरी इन गांधार, दिल्ली, 2011
2. लुइस विलियम्स, जे.डी., बिलीविंग एण्ड सीइंग : सिम्बॉलिक मीनिंग इन सदर्न सेन रॉक पेंटिंग्स, लंदन, 1981
3. इरविन, ए शार्ट स्टोरी ऑफ मेडिसिन, जॉन हापकिन्स यूनीवर्सिटी प्रेस, वाल्तीमोर, 1984
4. न्यूबर्गर, एम., हिस्ट्री ऑफ मेडिसिन, प्लेफेयर ई. (अनु.) वाल्यूम 1, लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1910
5. किरकप जे, द इवोल्यूशन ऑफ सर्जिकल इन्स्ट्रूमेन्ट्सः एन इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री फ्रॉम एनिएन्ट टाइम्स टू द ट्वन्टिअथ सेन्चुरी, नोवाल्टो, केलीफोर्निया, 2005
6. मुखोपाध्याय, गिरिन्द्रनाथ, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन, वाल्यूम 1, नई दिल्ली, 2007,
7. एनसाइक्लोपीडिया मेडिका, वाल्यूम 7, मुखोपाध्याय, गिरिन्द्रनाथ,
8. जेस्क, केनेथ जी, एसेटिसिज्म एण्ड हीलिंग इन एनिएन्ट इण्डिया मेडिसिन इन द बुद्धिस्ट मोनास्ट्री, वाल्यूम 2, दिल्ली, 1991
9. चट्टोपाध्याय, देबीप्रसाद, साइन्स एंड सोसाइटी इन एनिएन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1977
10. रीज डेविडस, दि किन्ड्रेड सेइन्गस, वाल्यूम 2, दिल्ली, 2005
11. तालिम, मीना बुद्धिस्ट स्टडीज, वाल्यूम 2, दिल्ली, 2015
12. कावेल, ई.बी., द जातका, 2011, जातक सं. 495, 2001, दिल्ली
13. रीज डेविडस, द क्वेशचन्स ऑफ किंग मिलिन्द, सेकरेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, वाल्यूम
14. मललासेकर, जी.पी., डिकशनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स, वाल्यूम 1, नई दिल्ली 2002
15. आर्क्योलॉजिकल रिपोर्ट, वाल्यूम 1, 1862-65
16. बाशम, ए. एल., द वन्डर दैट वाज इण्डिया, न्यूयार्क, 1954
17. अंगुत्तरनिकायपालि, 3.3.2, वाल्यूम 3, संपा. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी, 2009
18. दानी, ए.एच., द हिस्टोरिक सिटी ऑफ तक्षशिला, टोकियो, द सेन्टर फॉर ईस्ट एशियन कल्चरल स्टडीज, 1986
19. बरुआ, डी. के. विहाराज इन एन्शिएन्ट इण्डिया : ए सर्वे ऑफ बुद्धिस्ट मोनास्ट्रीज, इंण्डियन पब्लिकेशन्स मानोग्राफ सीरीज नं. 10, कलकत्ता, 1969
20. सांकृत्यायन, राहुल, पालि साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली, 1993
21. कठोच, यशवन्त सिंह, मध्य हिमालय खण्ड-1, संस्कृति के पदचिह्न, भारती प्रकाशन, टिहरी गढ़वाल, 2013

–डॉ. रंजना रावत

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून (सम्बद्ध : हे.न.ब. गढ़वाल (केन्द्रीय) विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल)

संस्कृति-पुरुष : डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु

—डॉ. हेमंत कुमार हिमांशु

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को याद करते हुए उनके द्वैत व्यक्तित्व पर नरेश मेहता ने लिखा है—"सामान्यतः मनुष्य मात्र में संकल्प-विकल्प के नायक हेमलेट का कोई-न-कोई प्रकार होता ही है। ठीक भी है, क्योंकि अद्वैत की भूमि या मानसिकता में सृजन सम्भव नहीं। द्वैत का तात्पर्य ही है प्रक्रिया और यह प्रक्रिया सृष्टि का कारण है। सृजन के लिए अनिवार्य इस द्वैत के कारण ही कोई भी कवि न तो पूर्णतः संत होता है और न ही विलासी, जबकि वह दोनों ही होता है। निश्चित ही भक्त कवि भी अपवाद नहीं रहे होंगे। यह अलग बात है कि कौन कवि किस भूमि या क्षितिज पर खड़े होकर क्या देख रहा है। राग या वैराग्य, भक्ति या विलास आदि में केवल भूमियों, दृष्टियों का ही अन्तर है, न कि तात्विकता का। इसीलिए द्वैत की यह संकर्षण प्रक्रिया कवि मात्र में सनातन उपस्थित रहती है।"[1] सुधांशु जी के जीवन और स्वत्व में भी यह हेमलेट तत्त्व बहुत स्पष्ट था। वे पहले साहित्यकार और भाषानुरागी के रूप में जाने गए, फिर राजनीतिज्ञ के रूप में, जबकि वे एक साथ ही साहित्यकार भी थे और राजनीतिज्ञ भी। सुधांशु जी प्रयागराज थे। प्रयाग त्रिवेणी संगम है— गंगा, यमुना और सरस्वती का। सुधांशु जी भी समाज सेवा, साहित्य और राजनीति के त्रिवेणी संगम थे। वैसे तो, साहित्य और राजनीति समाज-सेवा के ही पूरक हैं, क्योंकि सभी कर्म सामाजिक चेतना की भित्ति पर ही अवलम्बित हैं, फिर भी साहित्य और राजनीति का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उन्हें पृथक रूप से भी देखा जा सकता है। यहाँ बहस इस बात के लिए नहीं है कि ये गुण पृथक हैं अथवा सम्पृक्त, बहस इस बात के लिए है कि सुधांशु में ये गुण किन स्तरों तक थे और उनका तत्कालीन संदर्भ में क्या महत्त्व है?

सुधांशु जी अपने स्कूली जीवन और फिर बनारस के विश्वविद्यालयी जीवन में ही राजनीति से विचार के स्तर पर जुड़ने लगे थे। किन्तु जब 1937 में वर्धा में महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय शिक्षा योजना के लिए सम्मेलन हुआ था और उसमें एक सम्मानित सदस्य के रूप में वे आमंत्रित किए गए थे, राजनीति से गहरे जुड़े। फिर, 1939 से 40 तक पूर्णिया जिला बोर्ड के कांग्रेसी प्रतिनिधि के रूप में अध्यक्ष रहे। 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने के कारण जेल गए। जेल से छूटने के कुछ महीने बाद 1942 के अगस्त आन्दोलन में पुनः जेल गए। पूर्णिया जेल से भागलपुर सेंट्रल जेल ले जाये जाते हुए रास्ते में उन्हें मारकर गंगा में फेंक देने की भी साजिश की गई थी, किन्तु अधिकारी इसमें सफल नहीं हो सके। लाठियों की मार से पूरा शरीर सूज गया था और संभवतः इन्हीं कारणों से आँख का एक ऐसा भयानक रोग इन्हें हो गया, जो प्रतिवर्ष दो-तीन महीनों के लिए उभर जाता था। सुधांशु जी के एक सहयोगी श्री रामनिहोरा सिंह जेल की एक घटना का बयान करते हुए कहते हैं—"मैं, सुधांशु जी, भादुरी जी, अनाथकान्त बसु, अनूपलाल मंडल, दरोगा प्रसाद चौधरी आदि जेल में राजनीतिक बन्दी के रूप में कैद थे। जब सबेरा हुआ, हम सभी बन्दी सोकर उठे। सुधांशु जी भी तड़के ही उठकर बैठे थे। पर अन्य दिनों की भांति आज जेल के किवाड़ नहीं खुले। किसी को कुछ समझ में नहीं आया था कि आज क्या होने वाला है। बन्दियों को पेशाब-पैखाना करने में कठिनाई हो रही थी। हमलोगों ने अपने सभापति (सुधांशु जी) को सूचना दी कि जेल के दरवाजे नहीं खोले जा रहे हैं, वार्ड में गंदगी बढ़ रही है। इस हालत में हमलोग क्या करें? उन्होंने आदेश दिया—'जेल के दरवाजे तोड़ दो।' आदेश पाते ही हमलोगों ने अपना काम पूरा किया। कई वार्ड के दरवाजे तोड़ दिए गए। थोड़ी देर बाद ही पगली घंटी बजी। और फिर प्रारंभ हुआ पुलिस का तांडव। सबसे ज्यादा मार सुधांशु जी को लगी। हमलोग मार से चीखने-चिल्लाने लगे। लेकिन सुधांशु जी शान्त रहे और अपने सहयोगियों का हौसला बढ़ाते रहे।"[2] पीड़ा की यह सहन-शक्ति ही आदमी को महत् कार्य के लिए प्रेरित करती है और प्रेरित करती है—सघन जिजीविषा के लिए।

सन् 1952 के आरंभ में प्रथम सार्वजनिक चुनाव होने वाला था। काँग्रेस को अपना चुनाव घोषणा-पत्र तैयार करना था। इस सम्बन्ध में सुधांशु जी ने अपने एक संस्मरण में लिखा है—"राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन अखिल भारतीय कांग्रेस के सभापति थे। मैं भी उनकी कार्य समिति का एक सदस्य था। बंगलौर में कार्य समिति की बैठक बुलायी गई थी। टंडन जी ने चुनाव घोषणा-पत्र का प्रारूप तैयार करने का भार जवाहरलाल को दिया था। उन्होंने एक प्रारूप तैयार कर समिति के सामने विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किया। विचार यह हुआ कि कार्य समिति के जिन सदस्यों को अपना

कुछ सुझाव देना हो, वे आज ही अपना विचार लिखकर जवाहरलाल को दे दें और फिर कल आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन के साथ प्रारूप पर विचार किया जाय। मेरे मन में एक कल्पना जगी। हमारा साहित्य, संस्कृति, संगीत-कला, विज्ञान आज उपेक्षित सा है, क्यों न चुनाव घोषणा-पत्र में उनकी चर्चा कर बनने वाली सरकार पर कुछ दायित्व डाला जाए। मैंने इस विचार से प्रेरित होकर अपना सुझाव लिखकर पंडित जवाहरलाल जी को दिया। दूसरे दिन जब प्रारूप परिवर्द्धित रूप में विचारार्थ उपस्थित किया गया तब देखा-- साहित्य, कला, संगीत, नाट्य, विज्ञान सब कुछ था और एक नया विषय था-- नृत्य, जिसका उल्लेख करना मैं भूल गया था। भूल गया था, यह कहना ही सत्य है, क्योंकि संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों को समाहित करते हुए ऐसा मालूम पड़ता है कि नृत्य के पृथक् तथा स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करना ही चाहिए। जब चुनाव जीत कर कांग्रेस सत्ता में आई, तो किसी प्रसंग में जवाहरलाल से मिलने पर मैंने चुनाव घोषणा-पत्र की याद उन्हें दिलाई और कहा कि अब सरकार को साहित्य, संगीत, कला आदि के प्रोत्साहन के लिए कुछ करना चाहिए। उन्होंने बड़ी प्रसन्न मुद्रा में कहा- जी हाँ, मुझे खयाल है। मैं जरूर करूँगा, उसके कुछ दिनों के बाद ही साहित्य अकादमी, ललित कला अकादमी, नृत्यनाट्य संगीत अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट आदि कई अखिल भारतीय संस्थान खोले गए।"[3] मतलब यह कि सुधांशु जी राजनीति में भी सांस्कृतिक उत्थान के लिए हमेशा तत्पर रहे। हिन्दी के उन्नायक सुधांशु, निस्सन्देह कल्पनाशील व्यक्ति थे और वे अपने शक्तिसामर्थ्य का उपयोग समाज के रचनात्मक कार्यों विशेषतः साहित्यिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक कार्यों, में किया करते थे। वे बिहार- राष्ट्रभाषा परिषद्, कला-भवन (पूर्णिया), पूर्णिया कॉलेज आदि जैसी अनेक संस्थाओं के कल्पक, उद्भावक या संस्थापक थे। सक्रिय राजनीति में व्यस्त रहने और सत्ता के समीप पहुँच जाने पर भी सदैव हिन्दी भाषा, साहित्य और संस्कृति के उन्नयन की चिंता में लगे रहे।

सुधांशु जी की निष्पक्षता, न्यायप्रियता, और आत्मा के प्रति प्रतिबद्धता कैसी थी, इसे इस प्रसंग से समझा जा सकता है। जब वे दो वर्षों तक बिहार कांग्रेस के अध्यक्ष थे, इसी अवधि में एक बार बिहार के एक मंत्री ने राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से सुधांशु जी की कुछ उल्टी-सीधी शिकायत कर दी थी, इस पर राजेन्द्र बाबू बहुत क्रुद्ध हो गए थे और कहा था—"आपलोग बिहार में एक आदमी को भी तटस्थ रहकर अपने विवेक से काम करने दीजिए।"

राष्ट्रभाषा के सजग प्रहरी सुधांशु जी हिन्दी आन्दोलन के तेजस्वी और दृढ़ नेता होकर भी अनुदार नहीं थे और वे हिन्दी की स्थानीयता—निरपेक्ष प्रकृति को रेखांकित करना चाहते थे। वे यह जानते थे कि हिन्दी राजकाज की अनिवार्य भाषा और राष्ट्रभाषा हो या नहीं, इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार मुख्यतः अहिन्दी भाषा-भाषियों को ही है। यों, वे इतना अवश्य कहते थे कि हिन्दी भाषी क्षेत्र के सम्पूर्ण राजकाज का माध्यम हिन्दी को अविलम्ब हो जाना चाहिए। उनकी अटल धारणा थी कि समाजवादी देश में जनता और शासन की भाषा अलग नहीं, एक होनी चाहिए, तभी अपना सांस्कृतिक तेज लेकर भारत एक मौलिक राष्ट्र बन सकेगा। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि "प्रशासन की भाषा का सीधा अर्थ होना चाहिए जनता से वोट माँगने की मुख्य भाषा। हमारे देश की यह एक विचित्र विडम्बना है कि यहाँ वोट माँगने की भाषा कुछ और शासन करने की भाषा कुछ और है।" अर्थात् जिस भाषा को लोग समझे, वही लोकतंत्र की भाषा है। इस संदर्भ में सुधांशु जी ने यह भी कहा था कि उपनिवेशवाद के नित्य अभिशाप स्वरूप शासकों की भाषा ही गुलामों की भाषा मानी जाती है। इस दृष्टि से अंग्रेजी भारत में भी गुलामों की भाषा रही है, जो केवल हिन्दी के रक्त को नहीं, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं के रक्त को पीकर समृद्धिशाली बनी हुई है। अतः सुधांशु जी स्वाधीनता के तुरन्त बाद राष्ट्रपिता बापू द्वारा दिये गए इस वक्तव्य को बार-बार दुहराते थे कि अंग्रेजी भाषा को भी हमें भारत से उसी प्रकार निकाल फेंकना है, जिस प्रकार हमने भारत से अंग्रेजों के राजनीतिक शासन को सफलतापूर्वक उखाड़ फेंका है। सुधांशु जी के हिन्दी प्रेम की चर्चा करते हुए स्वर्गीय अनूपलाल मंडल ('मीमांसा' जैसे उपन्यास के रचनाकार, जिस पर 'बहूरानी' जैसी सफल फिल्म बन चुकी है।) कहते हैं कि "सुधांशु जी जब बिहार एसेम्बली के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए, तब उन्होंने बिहार के राज्यपाल को बजट पर अंग्रेजी में लिखा भाषण पढ़ने न देकर मुख्यमंत्री कृष्णबल्लभ सहाय से कहा- आप इसका हिन्दी अनुवाद करवाकर लाइए। आज मैं सबको अवकाश देता हूँ। यह था सुधांशु का हिन्दी के प्रति अनुराग और यह अनुराग आगे चलकर इतना तीव्र हो उठा कि पटना की दुकानों के नामपट्ट अंग्रेजी में लिखे अंशों पर उन्होंने अलकतरा अपने हाथों पोता। फलतः दुकानदारों को उनका अनुरोध मानना ही पड़ता।"[4] 'सम्पर्क भाषा हिन्दी' नाम से उन्होंने एक ग्रंथ की रचना की थी, जिसकी भाषा जगत् में पर्याप्त चर्चा है। भारत की राष्ट्रीय मर्यादा की संस्थापना में भाषागत वैशिष्ट्य के प्रश्न को लेकर राष्ट्रभाषा हिन्दी के व्यापक प्रसार द्वारा सुधांशु जी ने अनेकत्व में एकत्व विधान का जैसा अनिर्वचनीय प्रयास किया था, इसका योग्य मूल्यांकन इतिहास ही करेगा।

हिन्दी पत्रकारिता में सुधांशु जी का योगदान स्तुत्य है। अपने स्कूली जीवन में ही भागलपुर से प्रकाशित होने

वाले पत्र 'कुमार' का संपादन किया। काशी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'अशोक' नामक मासिक पत्र के भी वे संपादक रहे। 1939 ई. में पूर्णिया से प्रकाशित साप्ताहिक 'राष्ट्रसंदेश' के वे संस्थापक संपादक थे। 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के मुखपत्र 'साहित्य' का संपादन भी सुधांशु जी ने किया था। किन्तु संपादक के रूप में उनकी कीर्ति का अवलम्ब बना विविध-विषय-विभूषित मासिक पत्र-'अवंतिका'। अवंतिका का प्रकाशन नवम्बर 1952 से प्रारम्भ हुआ और दिसम्बर 1956 ई. तक अबाध चलता रहा। इसमें साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी विषयों पर लेख होते थे; वैसे साहित्यिक स्वर ही मुख्य था। 'प्रताप', 'आज', 'सैनिक', 'कर्मवीर', 'माधुरी', 'सुधा', 'सरस्वती', 'चाँद', 'हंस', 'अभ्युदय', 'स्वदेश', 'मतवाला', 'मर्यादा' जैसी पत्रिका जो स्वाधीनता संग्राम के दौरान साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध जनता को निर्णायक संघर्ष के लिए खड़ा करने में पूरी निष्ठा के साथ लगी थी, उन्हीं पत्रिकाओं की परवर्ती कड़ी अवंतिका थी। इस पत्र के सम्पादकीय अग्रलेख उनकी जाग्रत मनीषा और उर्जस्वी विद्वता के प्रमाण हैं।

हिन्दी साहित्य के लिए यह दुर्योग ही रहा कि सुधांशु जी अपना गम्भीर चिन्तन पूर्ण रूप से लेखन में नहीं उतार सके। इसका प्रमुख कारण यह रहा कि उनके प्रौढ़काल का अधिक समय बिहार की राजनीति में चला गया। उनके कम लिखने का दूसरा कारण यह था कि वे जो कुछ भी लिखते थे, गंभीर चिंतन के बाद ही लिखते थे। उन्होंने नवरसों पर आधारित 'रसरंग' और 'गुलाब की कलियाँ' कहानी संग्रह तथा एक गद्य काव्य 'वियोग' अपनी प्रथम पत्नी के देहावसान से व्यथित होकर लिखा। सन् 1931-32 में ही उन्होंने अनुसंधान सम्बन्धी कई लेख लिखे, जिनमें 'द्रौपदी का बहुपतित्व' और 'सीता का शील संदर्भ' बहुत प्रसिद्ध हुए। ये दोनों ही निबंध उन्हीं दिनों 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए। सुधांशु जी ने सन् 1926 से 1929 तक आल्हखंड पर भी बहुत अच्छा शोध-कार्य किया था। आल्हखंड पर उनके आठ-दस लेख 'सुधा' और 'माधुरी' में छपे। वे आल्हखंड का मूल रूप भी संपादित कर रहे थे, किन्तु कई कारणों से यह काम पूरा नहीं हो सका। जब सुधांशु जी एम. ए. के छात्र थे, उन दिनों अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोचे की चर्चा हिन्दी में खूब होने लगी थी। सुधांशु जी क्रोचे के सिद्धान्तों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने क्रोचे को अपनी थीसिस का विषय ही बना डाला। उसी थीसिस का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रकाशित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को कोरा कलावाद कहते हुए उसे भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान कह दिया था। सुधांशु जी ने अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत भाव-सत्ता का स्पष्ट प्रमाण देते हुए वक्रोक्तिवाद से उसका प्रामाणिक अंतर प्रतिपादित किया। इस भ्रम के निराकरण के अतिरिक्त इस ग्रंथ में अभिव्यंजनावाद की शब्दावली की ऐतिहासिक रूपरेखा भी दी तथा काव्य में अलंकारों के औचित्य, प्रभाव, प्रतीक और उपमान, अमूर्त और मूर्तविधान आदि अभिव्यंजना की विशेष प्रवृत्तियों का अध्ययन भी उपस्थित किया।

'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' नामक ग्रंथ सन् 1941 ई. में हजारीबाग के सेन्ट्रल जेल में लिखा गया था। इस ग्रंथ में काव्य-सृष्टि की प्रक्रिया का सम्बन्ध मनोविज्ञान के साथ इतने अधिक पांडित्य के साथ दिखलाया गया है कि कभी-कभी हमें इस ग्रंथ को साहित्य की अपेक्षा मनोविज्ञान मान लेने की इच्छा होती है। फिर भी काव्यालोचन की नवीनतम परिपाटी मनोविज्ञान से कितनी दूर है। प्रसिद्ध समालोचक देवीशंकर अवस्थी ने सुधांशु जी के समीक्षा संबंधी योगदान को रेखांकित करते हुए लिखा है— "छायावाद की छाया तले पलने वाले इस समीक्षक पर रोमांटिक काव्यशास्त्र का प्रभाव यथेष्ट है तथा उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल की शास्त्रीयता की कड़ियों को ढीला करने का प्रयास किया है।"[5] अगस्त क्रांति के सिलसिले में वे जब गिरफ्तार हुए, तब सेन्ट्रल जेल, भागलपुर में रखे गए और वहीं रसतत्त्व की वैज्ञानिक समीक्षा करते हुए 'काव्ययोग' नामक सात सौ पृष्ठों की पुस्तक लिखी, जो दुर्भाग्यवश अबतक अप्रकाशित है। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' के तेरहवें भाग का संपादन भी किया। डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' के शब्द उधार लेकर कहें तो "साहित्य के वे प्रबल स्तंभ थे और राजनीति की उज्ज्वल आशा।"

संदर्भ

1. 'हाशिये पर रखा मौन', वागर्थ, अप्रैल 1997
2. पूर्णिया जेल में सुधांशु जी के साथ, 'सुधांशुः स्मृति ग्रंथ', सं. डा. महेश नारायण
3. व्यक्तित्व की झाँकियाँ, प्र.-27-28
4. डा. सुधांशु : एक संस्मरण, 'सुधांशुः स्मृति ग्रंथ'
5. हिन्दी साहित्य- कोश, भाग-2, पृ. 545

–डॉ. हेमंत कुमार हिमांशु
सहायक प्रवक्ता
शहीद भगत सिंह कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी सिनेमा और समाज

—डॉ. अलोक रंजन पाण्डेय

सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार विजेता एवं आयरिश नाटककार जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने सिनेमा और समाज के परस्पर अन्तःप्रभाव को 1880 के दशक में ही पूर्वानुमानित करते हुए कहा था—"सिनेमा राष्ट्र के मस्तिष्क का सृजन करने जा रहा है। सिनेमा ही भविष्य में राष्ट्रीय अन्तश्चेतना, आदर्श एवं आचरण की कसौटी होने वाला है।" सिनेमा किसी भी राष्ट्र की चेतना में उपस्थित वह आदर्श एवं मानदंड है, जो समाज को एक बुनियादी नैतिक आधार देता है। समाज एवं सिनेमा परस्पर संयुक्त रूप से राष्ट्र को मौलिक विचार एवं कला की नैतिकता की आधारशिला प्रदान करते हैं।

कला वास्तविकता में मनुष्यता की प्रतिछाया है। मनुष्यता के चिर बिंदु पर मानव आत्मा का पवित्र प्रस्फुटन कला का सृजन करती है। कला मनुष्य की मनुष्यता का विस्तार है। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने सृजन सौंदर्य को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता आया है। सिनेमा, उसके सृजन का एक सुन्दर भाग है। सिनेमा, कला की अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों की अपेक्षा इसलिए अधिक स्वीकार्य एवं चर्चित है, क्योंकि इसमें अभिव्यक्ति के विस्तार के व्यापक आयाम हैं, एवं साथ ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की विस्तृत परिधि की आश्वस्ति है।

किसी भी कला एवं साहित्य की सार्थकता उसकी जन स्वीकार्यता में ही है। सिनेमा इसलिए भी अधिक प्रभावशाली माध्यम है क्योंकि सिनेमा की पहुंच समाज के उन वर्गों तक भी है, जहाँ तक अन्य कलाएँ व्यापक रूप में नहीं पहुंच पा रही हैं। सिनेमा, कला का एक ऐसा मंच है जहाँ समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों से लेकर, समाज के निम्न वर्ग की भी व्यापक उपस्थिति है। सिनेमा, समाज और साहित्य एक दूसरे से परस्पर अन्तःप्रभावित होने के साथ ही समानांतर परस्पर पूरक भी हैं। सिनेमा समाज में परिवर्तन की प्रस्तावना प्रस्तुत करता है, साथ ही एक उत्प्रेरक के रूप में समाज एवं संस्कृति को परिवर्तित भी करता है, और इन्हीं परिवर्तन के तत्वों से परिवर्तित सामाजिक सांस्कृतिक संरचना सिनेमा की विषयवस्तु बन जाती है। सिनेमा समाज के विभिन्न वर्गों को अपने माध्यम से परदे पर दिखाता है, वहीं समाज इन्हें देखकर उन सभी परंपराओं, परिवर्तनों एवं संस्कृतियों आदि का अनुकरण करता है।

सिनेमा का कोई भी रूप हो, वह समाज से किसी न किसी रूप में जुड़ा रहता है। "साहित्य की तरह सिनेमा भी अपनी प्राणशक्ति समाज से प्राप्त करता है, इसलिए सिनेमा पर विचार करते हुए समाज के साथ उसके संबंधों पर विचार करना आवश्यक है। सिनेमा चाहे मनोरंजन के लिए हो या व्यवसाय के लिए या फिल्म कला की उत्कर्ष की अभिव्यक्ति के लिए, उसमें अपने दौर का समाज किसी न किसी रूप में व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकता। यह अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष और अतिरंजित रूप में भी हो सकती है और अप्रत्यक्ष और रचनात्मक रूप में भी।"[1] सिनेमा, जिसे मोशन पिक्चर या फिल्म के रूप में जाना जाता है, आज मनोरंजन का सबसे बड़ा साधन है। आज सिनेमा हम भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। बिना रंग वाले सिनेमा से लेकर कलरफुल सिनेमा तक; मूक फिल्मों से डॉल्बी साउंड तक, रीलों से एकल शोरील तक; जीरो ग्राफिक्स से लेकर एनिमेशन व वीएफएक्स तक भारतीय सिनेमा का सफर काफी अनूठा रहा है। सिनेमा, सेल्युलाइड पर लिखे जाने वाले साहित्य की आधुनिक विधा माना जाता है जिसमें साहित्य, चित्र, नृत्य और संगीत जैसी सभी विधाएँ आकर समाहित हो जाती हैं।

सिनेमा कहानी भी है, गीत भी है, संगीत भी है, नृत्य भी है, फोटोग्राफी भी है, तकनीक का कलात्मक रूप भी। फिल्मकार सत्यजित रे के शब्दों में, "फिल्म छवि है, फिल्म शब्द है, फिल्म गीत है, फिल्म नाटक है, फिल्म कहानी है, फिल्म संगीत है, फिल्म में मुश्किल से एक मिनट का टुकड़ा भी इन बातों का एक साक्ष्य दिखा सकता है।"[2]

भारत में सिनेमा का विकास, भारतीय कला के विस्तार की एक अनुपम निधि है। राजा हरिश्चंद्र, मुगले-आजम, मदर इंडिया, शोले और लगान से होते हुए आर.आर.आर. तक भारतीय सिनेमा ने सफलता के नए मानक गढ़े हैं। 'राजा हरिश्चन्द्र' के साथ भारतीय सिनेमा के जगमग रंगमहल की प्रथम ईंट रखने वाले सिनेमा के पितामह, प्रथम शो-मैन, दादा साहेब फाल्के को "भारतीय सिनेमा का जनक" माना जाता है। उनकी पहल ने हमारे देश में कई फिल्म निर्माताओं के उदय को प्रेरित किया। वहीं, ध्वनि के साथ पहली मोशन पिक्चर यानी अर्देशिर ईरानी द्वारा निर्देशित 'आलमआरा' जो 14 मार्च, 1931 को रिलीज हुई थी। फिल्म ने अपने गानों और बेहतरीन संवादों के जरिए खूब वाह-वाही लूटी।

हिन्दी सिनेमा के इन शुरुआती दशकों में भारतीय समाज स्वतंत्रता संग्राम के अंतरद्वन्द्व के दौर से गुजर रहा था, ऐसे समय में हिन्दी सिनेमा भारतीय समाज के स्वतंत्रता के मूल्यों को समाहित कर एक नये युग की प्रस्तावना लिख रहा था।

हिंदी सिनेमा के 100 सालों का सार यह है कि ज्यादातर फिल्मों में कहानी एक नायक से शुरू होती है, जो नायिका के पीछे भागता है,उसे मोहित करने के कई स्वांग रचता है, जोखिम उठाता है और जैसे ही नायक -नायिका मिलते हैं, कहानी खत्म होती है। सच कहें तो हिंदी सिनेमा यानी बॉलीवुड में निर्देशक ने अपनी फिल्मों में रोमांटिसिज्म, सोशल इश्यूज, नेशनलिज्म को अपनाया जरूर है, लेकिन नुमाइन्दगी का अंदाज सभी का अलग-अलग है। अंदाज-ए-बयां ही इनका आधार है इनके फिल्मों की बुनियाद है। और लीक से हटकर जो फिल्म बनाता है वह दुनिया से अलग नहीं सोचता है बल्कि किसी एक सूक्ष्म पहलू को विस्तार से समझता है, कई दफा देखता है, नई दिशा देता है यही निर्देशक की सफलता का सूत्र है।"[3]

1944 से 1960 के दशक तक की अवधि को फिल्म इतिहासकारों द्वारा भारतीय सिनेमा का 'स्वर्ण युग' माना जाता है। इस दौर में मनोरंजन प्रधान फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ। अब सिनेमा में सामाजिक संदर्भ, ऐतिहासिक वास्तविकता और तात्कालिकता की भावना प्रमुख हो गई। उस समय शहरी जीवन पर कई अच्छी फिल्में बनीं, जिसमें मदर इंडिया, मुगले आजम, गुरु दत्त की प्यासा (1957) और फूल (1959) और राज कपूर की आवारा और श्री 420 (1955) शामिल हैं। इन फिल्मों ने मुख्य रूप से भारत में कामकाजी वर्ग के शहरी जीवन से संबंधित सामाजिक विषयों को व्यक्त किया। यही वह समय था जब समानांतर सिनेमा अस्तित्व में आया और सत्यजीत रे से शुरू हुई इस परंपरा को ऋत्विक घटक और मृणाल सेन जैसे निर्माताओं ने आगे बढ़ाया। यह भारतीय रंगमंच और बंगाली साहित्य का प्रभाव था जिसने समानांतर सिनेमा को जन्म दिया और इसके प्रभाव को देश के कई हिस्सों में भी प्रोत्साहित किया गया और इस समयावधि में सिनेमा ने लगभग सभी स्तरों पर सफलता प्राप्त की। प्रेमचंद के विभिन्न उपन्यासों के आधार पर भी इस युग में अनेक फ़िल्में बनीं, जिन्होंने समाज को एक नयी दिशा देने का काम किया। आजादी के बाद समाज में व्याप्त मोहभंग की स्थिति, अकाल जैसी सामाजिक आर्थिक आपदा से जन्मी विद्रोही और शासन से असहमति की चेतना ने समाज और सिनेमा दोनों को संयुक्त रूप से प्रभावित किया। इस नेहरू युग में अनेक फिल्में अधिक प्रचलित हुईं। मुगले आजम इस नेहरू युग की श्रेष्ठ फिल्म रही।

फिल्म आलोचक जवरीमल पारख, बहुत ही पारखी नजर से नेहरू युग की विसंगतियों से जोड़कर देखते हुए लिखते हैं—मुगल-ए-आजम की मुख्य कथा सलीम और अनारकली की प्रेम कथा है। लेकिन इसमें समानांतर एक कथा और चलती है, जो संगतराश के बारे में है, यह संगतराश फिल्मकार का एक काल्पनिक चरित्र है, जो उसे मध्य युग में यथार्थवादी भित्ति चित्र बनाता है इन चित्रों के माध्यम से वह बादशाह के जुल्मों को उकेरता है—"इस तरह की यथार्थवादी कला और इस तरह का जन विरोध मध्य युग में मुमकिन ही नहीं था। यह आजादी की लड़ाई और नेहरू के प्रभाव का परिणाम था। फिल्मकार के. आसिफ ने संगतराश के जरिए इस फिल्म में कलाकार के प्रतिरोध के अधिकार का सवाल भी उठाया है। मुग़ल-ए-आजम में इसी आधुनिक यथार्थ को अकबर के युग पर आरोपित कर दिया है। इन्हीं सब कारण से फिल्म को नेहरू युग का राष्ट्रीय युग का रूपक कहा जा सकता है।"[4]

सत्तर और अस्सी के दशक में "मसाला" फिल्मों का निर्माण करने की प्रवृत्ति बढ़ी। इस दौर में डरावनी, रहस्यमयी, कॉमेडी, एक्शन, थ्रिलर और रोमांटिक शैली की एक से बढ़कर एक फिल्में देखने को मिलती हैं। मसाला फिल्मों में वह सब कुछ था जो दर्शकों को बांधे रख सकता था। इस दौर में आयी शोले, दीवार, अमर अकबर एन्थोनी, आनंद जैसी फिल्मों ने दर्शकों का खूब मनोरंजन किया। शोले फिल्म को भारतीय सिनेमा की कल्ट क्लासिक फिल्मों में शुमार किया जाता है जिसने लोकप्रियता के सारे मानदंड तोड़ दिए थे। ध्वनि प्रौद्योगिकी, नृत्यकला और तकनीकी में उन्नति ने भारतीय सिनेमा को एक वैश्विक मंच पर लाने का मार्ग प्रशस्त किया, जैसा कि हम आज देखते हैं कि सामाजिक आर्थिक स्थिरता, एवं तकनीकी के नवल विकास ने सिनेमा और हिन्दी समाज को एक नया आकाश दिया।

हिंदी फिल्में अपने शुरुआती दौर में धार्मिक फिल्मों के माध्यम से जनजागरण का काम करती रहीं। "मूक फिल्मों का समय भारतीय जीवन को कई तरह से आंदोलित करने का समय था। पहले धार्मिक पौराणिक पात्रों को लेकर फिल्मों का निर्माण हुआ। यह जनता को फिल्मों के जादू से जोड़ने का एक नायाब तरीका था। क्योंकि उस समय फिल्म को ओछा माध्यम माना जाता था। ऐसा माना जाता था कि सिनेमा सभ्य समाज का हिस्सा नहीं है। धार्मिक फिल्मों के माध्यम से भारतीय जनमानस में अपनी पैठ बनाने के बाद मूक सिनेमा में ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं पर भी फिल्मों का निर्माण हुआ। पौराणिक फिल्मों ने भारतीय जीवन की मानसिक चेतना को जहाँ एक संबल दिया, वहीं ऐतिहासिक पात्र पर बनी फिल्मों ने लोगों को राष्ट्रीयता से जोड़े रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका

का निर्वाह किया।"[5] नब्बे के दशक में कॉर्पोरेट जगत धीरे-धीरे निर्माता के रूप में फिल्म उद्योग में प्रवेश कर रहा था। उदारीकरण (1991) सिनेमा में भी काफी तरह के बदलाव लेकर आया। पूँजी फिल्म निर्माण में अब बाधा नहीं थी तो अब बड़े बजट की फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ और कलरफुल फिल्मों की बहार सी आ गई। निर्माताओं ने अपनी फिल्मों को बड़े स्तर पर शूट करना शुरू किया, साल 1995 में आयी दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे इसका एक उदाहरण भर है। यह दौर रोमांटिक म्यूजिकल फिल्मों का माना जा सकता है। आज भी उन फिल्मों के संवाद और गाने लोगों की जुबान पर हैं। उदारीकरण के इस दौर में हिन्दी सिनेमा की विषयवस्तु का आमूल चूल परिवर्तन दिखाई पड़ता है, अब समाज एक नये कलेवर में ढल रहा था। बाजारीकरण के इस युग में सिनेमा की विषयवस्तु मात्र बाहरी चमक-धमक, और उच्च एवं उच्च मध्यवर्गीय कथानक तक सीमित रह गयी।

"फिल्मों की लोकप्रियता फिल्म की अंतर्वस्तु और कलात्मक अंतर्वस्तु, पर नहीं बल्कि ऐसे बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिसका फिल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्षः कोई संबंध नहीं होता। मसलन, अभिनेताओं की 'मर्द' छवि अभिनेत्रियों के 'यौन सौन्दर्य', हिंसा के उत्तेजक दृश्य, नृत्य और संगीत का उन्मादपूर्ण इस्तेमाल आदि लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व बन गए हैं, ताकि इनके द्वारा मनोरंजन की एक खास तरह की संकल्पना को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।"[6]

साल 2000 से अब तक भारतीय सिनेमा ने काफी प्रगति कर ली है। बीस के दशक के शुरू में हर साल करीब 27 फिल्में बनती थीं। आज यह संख्या 2000 फिल्मों तक पहुँच गयी है। आज का सिनेमा 'ब्लॉकबस्टर' और 'बॉक्स ऑफिस कलेक्शन' के इर्द-गिर्द घूमता है। उसकी सौ करोड़ों की छलांगें देखकर आँखें चौंधिया जाती हैं। तकनीकीगत कुशलता ने फिल्मों को लार्जर देन लाइफ वाला बना दिया है। बाहुबली, रॉवन, रोबोट जैसी फिल्मों में यह देखा जा सकता है। पूंजीगत निवेश और सरकारी सहायता ने इसमें काफी मदद की है। वहीं, ओटीटी और यूट्यूब जैसे प्लेटफॉर्म्स ने लोगों के चयन का दायरा बढ़ा दिया है। धार्मिक और पौराणिक कथाओं से शुरू हुआ भारतीय सिनेमा का यह सफर बाजारवादी सिनेमा तक पहुंचते-पहुंचते कई करवटें ले चुका है। "सन 2000 आते- आते हमारा फिल्म माध्यम थोड़ा और उदार हो गया। जिस तरह हमारे समाज में तेजी से शहरीकरण हो रहा है, उसी रफ्तार से फिल्मों से ग्राम समुदाय विलुप्त होता चला गया। चौपाल, तालाब और पीपल के छांव के बाजार भाव कम हो गए। फलस्वरूप 'दिल चाहता है' के महानगरीय युवाओं की जीवनशैली हमें प्रभावित करने लगी और इसे ही हम आज का सर्वोत्तम फलसफा स्वीकार करने लगे।"[7]

हिंदी सिनेमा के क्षेत्रीय और भाषाई विकास के सन्दर्भ को देखें तो यह सच है कि बॉलीवुड की फिल्मों की लोकप्रियता काफी अधिक है। पर बीते कुछ सालों में क्षेत्रीय सिनेमा की फिल्मों को दर्शकों ने खूब पसंद किया है। अब क्षेत्रीय सिनेमा अपने दायरे से निकलकर पैन इंडिया फिल्मों की तरफ मुड़ गया है। बाहुबली, पुष्पा, आरआरआर, केजीएफ और कांतारा ने सफलता के नए कीर्तिमान गढ़े हैं। इन फिल्मों को भारत के बाहर भी खूब पसंद किया गया। कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलयालम और मराठी सिनेमा इंडस्ट्री में एक से बढ़कर एक फिल्में बन रहीं हैं आज तकनीक के चलते देशीय और क्षेत्रीय सीमाएं धुंधली पड़ गई हैं। इसे सही मायने में भारतीय सिनेमा का स्वर्णिम दौर कह सकते हैं। सिनेमा समाज का प्रतिनिधि नहीं बल्कि प्रतिबिंब है। जैसे-जैसे समाज बदलता है, सिनेमा भी बदलता है। पहले हमारे हीरो टीचर, पुलिस वाले या फिर क्रांतिकारी हुआ करते थे। वह समाज के उन तबकों से होते थे जो समाज में स्वच्छ छवि रखते थे, या विशेष होते थे। साहूकार, जमींदार और अन्य ताकतवर लोग विलेन के तौर पर होते थे, जो सत्ता की ताकत का इस्तेमाल खुद के लिए करते थे। लेकिन समय ने करवट ली। जंजीर में अमिताभ बच्चन कॉमनमैन को लेकर आए। थोड़े समय तक काला पत्थर, सुहाग, मुकद्दर का सिकंदर में इसी तरह का हीरो नजर आया। विलेन भी उसी के मुताबिक आना लाजमी था।"[8]

विश्व सिनेमा जितना व्यापक है, उतनी ही व्यापकता और भव्यता भारतीय सिनेमा में भी देखी जा सकती है। दुनिया में आज साल भर में 2000 फिल्में बनानी वाली कोई इंडस्ट्री नहीं है। वैश्वीकरण के इस दौर में सिनेमा की पहुंच उस व्यक्ति तक भी है जो न तो उस देश को और वहाँ की भाषा को अच्छे से जानता है। अपने शानदार कंटेंट के कारण अंधाधुन, दंगल, बजरंगी भाईजान, थ्री इडियट्स और हिंदी मीडियम जैसी फिल्मों को चीन, अमेरिका और संयुक्त अरब अमीरात में खूब पसंद किया गया। उदारीकरण के बाद देश में एक नए मध्य वर्ग का उदय हुआ है जो अच्छे कंटेट के लिए पैसे खर्च करने को तैयार है और उसकी इस जरूरत को ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने काफी हद तक पूरा भी किया है। आधुनिक भारत के निर्माण और जनमानस के मन को रचने-बनाने में सिनेमा की महत्त्वपूर्ण और सक्रिय भूमिका रही है। फिल्म समीक्षक सुभाष सेतिया के शब्दों में, "भारतीय सिनेमा देश के सामान्य जन-जीवन से इतना गहरा गुंथा हुआ है कि इसके बिना समाज गतिशील और जीवंत हो ही नहीं सकता। इस समय फिल्म में जिस तरह के रचनात्मक मोड़ दिखायी

दे रहे हैं, उनसे आशा बंधती है कि भारतीय सिनेमा न केवल देश के जनमानस में अपनी जड़ों को और गहरा बनायेगा, बल्कि विश्व मंच पर भारत की छवि को दैदीप्यमान करने में भी अपना योगदान बढ़ायेगा।"[9]

हिन्दी समाज अब भावुकता और एजेंडा के दौर से बाहर आने की कोशिश कर रहा है। वह सिर्फ भावुकता ही नहीं तलाश रहा है बल्कि नयापन और भारतीयपन की तलाश में भी है। अतः उस समाज को खींचने के लिए भारतीयपन के साथ नए विषयों की आवश्यकता है। ऐसे में हिंदी सिनेमा का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। हिंदी सिनेमा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए फिल्म समीक्षक जवरीमल पारख लिखते हैं, "हिंदी सिनेमा आरंभ से ही संविधान की मूल आत्मा की अभिव्यक्ति का सबसे लोकप्रिय और सशक्त माध्यम रहा है। फिल्मों को मनोरंजन के लोकप्रिय माध्यम के रूप में ही देखा जाता रहा है। लोकतांत्रिक गणतंत्र के रूप में देश को बनाए और बचाए रखने में आमतौर पर भारतीय सिनेमा और खासतौर पर हिंदी सिनेमा के योगदान का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है।"[10]

हिंदी सिनेमा शुरू से लेकर अभी तक विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उठाता रहा है। बदले हुए समय के साथ फिल्में भी बदलीं और उनमें निहित संदेश भी परिवर्तित होता रहता है। हिंदी सिनेमा ने समकालीन संदर्भों को सम्पूर्णता में समेटते हुए परिवर्तित युग के अनुरूप समाज को गढ़ने की भूमिका का निर्वाह किया है। हिंदी सिनेमा को आधुनिक बोधसंपन्न, सर्वसमावेशी एवं नैतिक होने का आग्रह रखती है। सिनेमा की नैतिकता, व्यवहार, एवं सांस्कृतिक मूल्यों की चेतना को बनाये रखना समाज और सिनेमा दोनों का उत्तरदायित्व है।

सन्दर्भ

1. जवरीमल पारख, आजादी के 75 साल और हिंदी सिनेमा, हंस, अगस्त 2022, पृ. 112
2. सत्यजित रे, वसुधा, प्रह्लाद अग्रवाल (अतिथि संपादक), अंक 81
3. योगेश वैष्णव, आउटलुक, अगस्त, 2017
4. जवरीमल पारख, लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, पृ. 39
5. विजय कुमार, हिंदी सिनेमा : आदि से अनंत, प्रह्लाद अग्रवाल (संपादक), साहित्य भंडार
6. जवरीमल्ल पारख, भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा, रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सं) पृ. 67
7. संजीव श्रीवास्तव, हिन्दी सिनेमा का इतिहास, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, पृ 43
8. आशुतोष राणा, इंडिया टुडे, 29 सितंबर, 2014
9. सुभाष सेतिया, जीवन में गहरे पैठा है सिनेमा, आजकल, अक्टूबर 2012
10. जवरीमल पारख, आजादी के 75 साल और हिंदी सिनेमा, हंस, अगस्त 2022, पृ. 112

–डॉ. अलोक रंजन पाण्डेय
एसोसिएट प्रोफेसर
रामानुजन महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

किसान की भोर

—डॉ. रीता नामदेव

शोधसार—बुंदेलखंड के अमर गायक देसराज पटेरिया और भान लेखक द्वारा लिखे प्रस्तुत लोकगीत में ग्रामीण किसान परिवार की भोर यानी सुबह, चिड़ियों का चहकना, मुर्गे का बोलना, किवाड़ों यानी दरवाजों के खुलने की खटखट, गायों का रमाहना, भैंसों का डिड़कना, प्रभात फेरी के निकलने आदि क्रिया कलापों का चित्रण आँखों के सामने आता रहता है तो वहीं नायक द्वारा पत्नी के उठने और सहयोग की मनोहार करने की झाँकी देखने को मिलती है। पत्नी का सहयोग न मिलने पर किसान परिवार में होने वाली परेशानियाँ और संकटों की आशंका भी देखने को मिलती है।

भूमिका—साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य को जीवित रूप में देखना हो तो लोकसाहित्य में देखना चाहिये। प्रस्तुत बुंदेलखंडी लोकगीत में किसान दांपत्य में पत्नी के सहयोग की आवश्यकता, पत्नी का सहयोग न मिलने पर परिवार के दैनिक कार्यो से लेकर फसल तक प्रभावित होती है, बच्चों से लेकर पशुओं के बच्चों तक का जीवन प्रभावित होता है। पूरे परिवार का प्रभावित अधूरापन किसान की भोर में ही देखने को मिल जाता है।

मूल आलेख— किसान परिवार का नायक अपनी पत्नी को जगाते हुए कहता है, गोरे रंग वाली मेरी सुंदर प्रिया अब उठ जाओ! प्रातःकाल की सूचना देती हुई चिड़ियाँ चहचाहने लगी हैं। चिड़ियाँ अपने घोंसलों से निकल कर चहचहाते हुए अपने दाना चुगने और अपने चूजों के लिये भोजन लाने के लिये अपने घोंसलों से बाहर निकल आए हैं। चिड़ियां चहचहा कर अपने दैनिक कार्यों और अपने चूजों को प्यार करने दाना चुगाने की सूचना दे रही हैं उसी प्रकार हमारी गईयां अपने बछड़ों से मिलने के लिये व्याकुल हो रही हैं। तुम भी अब उठ जाओ ताकि तुम्हारे सहयोग से दैनिक कार्य आरंभ हों—*"उठो गोरी! बोल गईअँ भोर की चिरअइँयां/हीस रही ठांडीं, लविंयन का गईयां।"*

पशु-पक्षी सभी सुबह जल्दी उठते हैं मगर मनुष्य की प्रकृति अलग है। जब घड़ी और फोन के अलार्म नहीं होते थे, तब मनुष्य पक्षियों की चहचहाट सुन कर उठता था और अपने दैनिक कार्य शुरू करता था। आज भी ग्रामीण अंचलों में यह दृश्य देखने को मिल जाएगा। सुबह होने पर दुधारू-पशु अपने बछेरुओं को दूध पिलाने और चाट कर अपने बच्चों को प्यार करने के लिये व्याकुल हो उठते हैं। गायों की इस व्याकुलता का चित्रण संदर्भित पंक्तियों में देखने को मिलता है। 'बोल गईअँ भोर की चिरईयाँ', और 'हींस रही ठांड़ी लिवंयन का गईयाँ' वाक्यों में प्रभातकालीन बेला और पति द्वारा पत्नी को उठाने का दाम्पत्य सौंदर्य की झांकी दृष्टिगोचर होती है। चिड़ियों की चहचहाने और गायों की व्याकुलता की बात सुन कर भी नायिका नहीं जगती तब नायक उसे बताता है। मुर्गे की आवाज सुन कर लोग दरवाजे खोल रहे हैं। दरवाजों के खटकने की आवाजें आ रही हैं। रात भर की सुनसान गलियों में लोग चलने लगे हैं। लड़के लड़कियां धूप लेना चाहते हैं। अब तुम भी उठ जाओ। आगे है, *"कुकरा की टेर सुनी, खटकिं किमरियाँ/चलन लगिं रात भर की सूनीं डगरियां/लेन चाउत लरका और बिटियां उरिंया/"*

नायक फिर से सुबह होने के संकेत बता कर नायिका को जगाता है। मुर्गा बोलने, दरवाजे खटकने और गलियों में लोगों के चलने की आवाज आने की सूचना देता है। नायिका के उठने से पहले छोटे बच्चे जग गए हैं और धूप में जाना चाहते हैं, मगर अभी नायिका नहीं उठी है। बच्चे अकसर सुबह जल्दी उठ जाते हैं, ऐसे में बच्चों को फुसला कर बिस्तर में ही अपने साथ लिटाए रखने की माँ कोशिश करती है, किन्तु यदि घर का कोई सदस्य पहले से जगा हो तो माँ निश्चिंत रहती है इसी लिये बच्चों के जगने पर भी नायिका नहीं उठती। नायक को दैनिक गृह-कार्य करने हैं, बच्चे धूप में जाना चाहते हैं इसिलिए नायक पुनः नायिका को उठाते हुए बच्चों के धूप में जाने की इच्छा की बात करता है, ताकि नायिका उठ जाए और बच्चों की देखभाल करे और नायक बच्चों की ओर से निश्चिंत हो कर दैनिक गृहकार्य कर सके। लेन चाउत लरका और बिटियाँ उरयाँ वाक्य बताते हैं कि इस दम्पत्ती के लड़का और बिटिया दोनों संतान हैं। दोनों की आयु अभी छोटी है। सर्दी का मौसम है। मुर्गे का बोलना, लोगों का दरवाजे खोलना और गलियों में चलना लड़के-लड़कियों का धूप में जाने की इच्छा सुन कर भी नायिका नहीं उठती तब नायक फिर से दुधारु पशुओं की बेचैनी के विषय में बता कर उठने के लिये कहता है। भैंसियां डिड़क रही हैं, बछेरु रमाह रहे हैं और खुंटे से बंधे-बंधे पड़ेरु डिड़क रहे हैं। अब तुम उठ जाओ और दुधारु पशुओं के थनों में लगे हुए कपड़े के अवरोध को खोल दो जिससे

गाय के बछड़े और भैंस के पड़े अपनी माताओं के स्तनों से लग कर दूध पी सकें—*''भैंसियां डिड़क रिं रमा रै बछेरु/बंधो-बंधो डड़कत है थान पै पड़ेरु/चलो गोरी ढील देओ वाकि चिरियां/''*

दूध निकालने से पहले दुधारु पशुओं के थनों में लगी चिरअइँया हटा देते हैं। दिन हो या रात यदि लवअइया साथ हो तो थनों में चिरअइँया लगा दी जाती हैं जिससे लवअइया सारा दूध न पी लें। चिरअइँया लगाना और निकालना दोनों ही कार्य करना किसान परिवार की विशेष तकनीक है जिसे बहुत सावधानी से करना पड़ता है। पता नहीं नायिका थकी हुई है या बीमार है, नाराज है, रात में सो नहीं सकी है या नायक से अधिक लाड करने पर उतर आई है जो उठ कर दैनिक कार्य नहीं कर रही। नायिका को मालूम हो जाए कि उसके न उठने से घर के पूरे जानवर परेशान हैं दुधारु पशु और दूध पीने वाले बछेरु-पड़ेरु सभी इसी लिये नायक उनकी अधीरता के विषय में बताता है। नायक के कथन में पशुओं के साथ-साथ स्वयं उसकी बेचैनी भी शामिल है क्योंकि दुधारु पशुओं के थनों से चिरअइँया हटाना, दूध निकालना, बछेरुओं और पड़ेरुओं को दूध पिलाना और उनको संभालना, पशुओं के थनों की सफाई करना तथा पशुओं को चारा-सानी आदि डालना एक साथ सभी काम अकेले कर पाना नायक के लिये मुश्किल हो रहा है। अतः घरेलु पशुओं की स्थिति बता कर नायक पत्नी से उठने का अनुरोध करता है।

दुधारु पशुओं और लवअइयों की परेशानी सुनकर भी नायिका नहीं उठती। इन काम का समय बीत जाता है। लगता है नायक ने अकेले ही या किसी का साथ लेकर आवश्यक कार्य निपटा लिये हैं। नायिका फिर भी नहीं उठती, तब नायक झुंझला कर कहता है, 'कब से सोती जा रही हो, अब उठ कर बोनी करवा लो, ऐसे ही जो सोती रहोगी तो बोनी नहीं हो पाएगी। सुबह के तारे भी बादल में छुप गए हैं और तुम सो रही हो।' बोआई के लिये देर हो गई तो खेती नहीं हो सकेगी तब साल भर क्या खाएंगे!—''कबसे सुस्वा रअँई अब करवा लो बोनी/ऐसि जो सोहो तो न हो पाहै बोनी/बादर मैं मुंद गई वे निकरिं तरिया/'' बोनी शब्द की दो बार आवृत्ति होती है, पहली बार नायिका से उठ कर बौनी यानी अनाज की बोई कराने चलने का आग्रह है और दूसरी बार किसानी चौपट होने की चिंता। बारबार उठाने पर भी नायिका उठ नहीं रही, इसीलिये झुंझलाहट स्वाभाविक रूप में आ गई है। सुबह के तारे छुपने की बात कहकर नायक बोनी के लिये देरी का संकेत देता है। नायिका पर बोआई न हो पाने, फसल के न होने पर किसान परिवार पर संकट के अनुमान का भी कोई असर नहीं होता! वह नहीं उठती है तब नायक कहता है, 'सीताराम के नाम का प्रभात गुणगायन भी शुरू हो गया है।' यह समय सोने का नहीं जगने का है। अभी भी समय है। चेत लो अब और देर मत करो। तुरंत उठ जाओ ताकि खेतों में चल कर बोआई शुरू कर सकें, देर तो हो ही गई है और क्या अनहोनी करना चाहती हो! क्या तुम किसानी चौपट कराओगी! अब और देर करने के लिये समय नहीं है। भगवान का नाम सुन कर भी नहीं उठोगी तो फिर भगवान भी सहायता नहीं करेंगे। समय पर न चेतने वाला यानी समय पर न उठने वाला सोते रहने वाला विपत्तियों को बुलाता है। कितनी देर करोगी, देरी से होने वाले और कितने नुकसान कराने वाली हो! तुम अब तुरंत उठो और खेतों में मेरे साथ चल कर बोआई कराओ। वह कहता है,*''सोबे की न जा, है जगबे की बेरा/सीताराम वारन को लग गअओ रमटेरा/चेत लेओ अब और का हौ करअईयाँ/''*

बोआई न हो पाना किसान के लिये गंभीर संकट है। किसान इस अंतरे में बोआई शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा, परंतु किसान की चिंता इस पूरे अंतरे में दिखाई देती है। 'चेत लेओ और का हौ करअइंया' शब्द विशेष रूप से बोआई का समय बीते जाने की चिंता और पत्नी का असहयोग के कारण नुकसान की खीज भी शामिल है। ऐसा लगता है, नायिका सो नहीं रही, वह शायद नायक की किसी बात से रूठ गई है, अब नायक को अपने असहयोग से उसे सता रही है। जब कभी पति अपने किसी कारणवश गुस्से में आकर पत्नी को ताना देते हैं, 'तुम करती ही क्या हो। हाँ-हाँ तुम्हीं तो हो जो धरती साधे हो या और कोई ऐसा ताना जो पत्नी के मेहनत और त्याग की उपेक्षा करता, तब वह इस तरह का सताने व परेशान करने वाला कार्य करती है। शायद नायिका ऐसे ही किसी बात से रूष्ट है और सोने का अभिनय कर नायक को सता रही है। ऐसा लगता है कि अपने असहयोग से पत्नी पति को झुकने और माफी मांग कर यह स्वीकार करने के लिये विवश करना चाहती है कि किसानी में उसकी भी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह पति स्वीकार कर ले इसीलिये पत्नी पर पति, बच्चे, पशु और पशुओं के बछेरु-पड़ेरु किसी की भी परेशानी को देख कर नहीं उठती। यह भी हो सकता है कि वह बीमार हो लेकिन पति दूर से आवाज देकर उठा रहा है, पत्नी जोर से बोल नहीं पाती इसीलिये पति के पास न आने के कारण, पति को पत्नी की परेशानी मालूम नहीं है। यदि उपरोक्त उल्लिखित कारण नहीं हैं तो किसान की पत्नी शायद आराम और सुख-सुविधाओं में रहने वाले घर से आई है। किसानी के काम में उसकी रुचि और अभ्यास दोनों ही नहीं है। कई बार बेमेल परिवारों में विवाह होने से भी ऐसी परेशानियां आती हैं। यह भी हो सकता है कि नायिका उठना चाहती है किन्तु क्षण-दो-क्षण में उठने का सोच कर बारबार सो जाती है। यदि थकान हो या किसी

कारण नींद पूरी न हुई हो या फिर नींद आने वाली औषधि आदि किसी पदार्थ का सेवन किया हो तो नींद पर वश नहीं चलता। बारबार नींद आ जाती है।

निकर्ष–विश्लेषित लोकगीत का सौंदर्य ग्रामीण जीवन, किसान परिवार के दैनिक कार्य और पत्नी के सहयोग की भूमिका पर सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है। पूरे गीत में नायिका सोती रहती है फिर भी उसके बिना गृह कार्यों का अधूरापन लगातार परिवार में नायिका के महत्व पर प्रकाश डालता रहता है।

शब्दार्थ

भोर–सुबह, चिरअइँयां–चिड़ियां, हीस–व्याकुल, ठांडी–खड़ी हैं, लवअइयन–गाय के बछेरु, गइँया–गायें

कुकरा–मुर्गा, टेर–आवाज, किवावियां–दरवाजे डगरियां–गलियां, उरअइँयां–धूप

डिड़कना–भैंस की आवाज, रमहाना–गाय की आवाज, बछेरु–गाय के बच्चे, पड़ेरु–भैंस के बच्चे, थान–खूंटे से बंधे रहने वाली जगह, ढील दएओ–हटा दो, चिरअइँया–दुधारु थनों में लगाई गई कपड़े लकड़ी की तीली और गीली मिट्टी से लगाया गया अवरोध।

कब से सुसवा रअंई–कब से यानी दिन निकलने के बाद भी बहुत देर से सोती जा रही हो, सुसवाना–सोने के लिये गुस्से में खीझ कर बोला जाने वाला शब्द है, बोनी–अनाज के दानों की खेत में बोआ ई करना, भोर की तरअइँयां–सुबह के तारे, बादर–बादल आसमान। मुंद–छुप गई या ढक गई, निकरी–निकली हूं, जगबे की बेरा–उठने का समय, रमटेरा–राम नाम की पुकार, चेत लेओ–सावधान हो जाओ, करअइँया–अनुचित करना, विपत्ती लाने वाला कार्य।

–डॉ. रीता नामदेव
सह अध्यापक, हिन्दी विभाग
भगिनी निवेदिता कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110043

राजनीतिक पार्टियों का आम जनता के मतदान व्यवहार पर प्रभाव

—डॉ. मुकेश कुमार
—लाल सिंह

शोध सारांश— राजनीतिक पार्टियों का आमजनता के मतदान व्यवहार पर अनेक प्रकार का प्रभाव होता है। यह प्रभाव सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी। राजनीतिक पार्टियों के शीर्ष लीडरों और प्रमुख प्रचारकों के संबोधन, रैलियों और प्रचार-प्रसार के माध्यम से लोगों में राजनीतिक भागीदारी का उत्साह बढ़ाया जाता है जो निश्चित रूप मतदान व्यवहार को प्रभावित करता है। आम जनता पर पार्टियों के प्रभाव को पार्टी की विचारधारा, पार्टी के मूल्यों और सिद्धांतों, पार्टी का शीर्ष नेतृत्व में कदवार नेता, पारंपरिक रूप से पार्टी विशेष के लिए झुकाव व सभी पार्टियों में समानता जैस प्रमुख कारकों के आधार पर मापा जा सकता है जो जनमत के निर्माण में अपनी भूमिका अदा करते है, इसका पता लगाने के लिए गणनात्मक प्रविधि के अंतर्गत आवृत्ति तालिका के माध्यम से निष्कर्षों तक पहुंचा जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि आधे से अधिक लोग राजनीतिक पार्टियों को उसकी कार्य पद्धति के आधार पर समर्थन करते नजर आते हैं।

प्रमुख शब्द—राजनीतिक दल, विचार धारा, मूल्य और सिद्धांत, लोकप्रियता।

आम जनता अक्सर किसी न किसी विशेष राजनीतिक पार्टी से जुड़ी रहती है और यह जुड़ाव पार्टी की विचारधारा तथा उसकी नीतियों, मूल्यों और सिद्धांतों के कारण होता है। अलग-अलग राजनीतिक दल विभिन्न माध्यमों से लोगों को मतदान के लिए प्रेरित करते हुये जनमत का निर्माण करते हैं। राजनीतिक पार्टियां अपने द्वारा किये गये कार्यों और नीतियों को आमजनता तक जनसंचार माध्यमों के माध्यम से पहुंचाती हैं। आजकल सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर हुयी चर्चायें और व्यक्तिगत रूप से समूचे मतदाताओं को प्रभावित कर सकती है। यहां पर लोग अक्सर राजनीतिक विषयों पर अपने-अपने विचार व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार मतदान व्यवहार प्रत्येक देश की राजनीति में अहम भूमिका का निर्वहन करता है। मतदाताओं का मतदान व्यवहार किसी देश की राजनीतिक दिशा तय करता है। यह मतदान व्यवहार भिन्न-भिन्न घटकों पर निर्भर करता है जोकि समय और परिस्थितियों के अनुसार अपना स्वरूप बदलता रहता है। मतदान व्यवहार को लेकर विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। भारत में सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार की अवधारणा को अपनाया गया है। इसका अर्थ है कि भारतीय परिदृश्य में नागरिकों को मतदान करने के लिए न्यूनतम आयु 21 वर्ष निर्धारित की गयी है, लेकिन 61वें संविधान संशोधन अधिनियम में मतदान करने की न्यूनमत आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी है। राजनीतिक पार्टियों का आमजनता के मतदान व्यवहार पर प्रभाव होता है जिसके कारक अलग-अलग हो सकते हैं जिनमें से प्रमुख हैं राजनीतिक पार्टियों की विचारधारा। पार्टियों की विचारधारा और नीतियों का आमजन के मतदान पर सीधा प्रभाव होता है। जब लोग मतदान करते हैं, वे उन पार्टियों को चुनते हैं जो उनकी सोच, मूल्य और आशाओं को बेहतर समझती हैं।

राजनीतिक दल— मतदान, राजनीतिक दलों को उनके शक्ति स्तर का माप लगाने में मदद करता है और उन्हें यह समझने में मदद करता है कि उनकी राजनीतिक परियोजनाओं को कितना समर्थन है। लोगों का मतदान, एक निर्विवाद और सामाजिक प्रक्रिया है जिससे समाज में राजनीतिक प्रणाली को मजबूती मिलती है और जनता की आवश्यकताओं और मांगों को ध्यान में रखते हुए नीतियाँ तय होती हैं। राजनीतिक पार्टियों के मूल्यों और सिद्धांतों का भी मतदान व्यवहार पर प्रभाव होता है क्योंकि मूल्यों और सिद्धांतों भिन्न-भिन्न तरीकों से समाज को दृष्टिकोण और दिशा प्रदान करते हैं। मतदान करने वाले व्यक्तियों के लिए मूल्य और सिद्धांत उनके विचारों को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक पार्टियों की विचार धारा को पार्टी की विचार शीलता जिसके अंतर्गत पार्टी कैसे समस्याओं का समाधान करती है और समाज को कैसे सुधारती है, सामाजिक न्याय के अंतर्गत न्याय को किस सकार सुनिश्चित किया जा सकता है, आर्थिक नीतियां में मतदान करने वालों को यह बताना होता है कि कैसे उनके आर्थिक हितों और विकास के सुनिश्चित किया जा सकता है, राष्ट्रवाद मतदान करने वालों को राष्ट्रभक्ति पर जोर देता है और सामाजिक मुद्दों में जातिगत, लैंगिग समानता आदि सामाजिक परिवर्तिन के लिए दिशा का निर्धारण करते हैं। इसलिए मतदान करने

वाले व्यक्तियों को मूल्यों और सिद्धांतों के आधार पर अपना विचार बनाने में मदद मिलती है और समाज में सकारात्मक परिवर्तिन के प्रति सहजता बढ़ती है। राजनीतिक पार्टियों की लोकप्रियता का मतदान पर प्रभाव कई मायनों में होता है और यह विभिन्न कारणों से प्रभावित हो सकता है। अगर पार्टियों का नेतृत्व जनप्रिय, सच्चा और उम्मीदावारों में विश्वास होता तो मतदान करने की प्रवृत्ति बढ़ सकती है तथा पार्टियों के राजनीतिक एजेंडें भी पार्टी की लोकप्रियता बढ़ने में मदद करते हैं। जनता उसी पार्टी को पसंद करते है जो उनकी समस्याओं को हल करने के लिए ठोस योजनायें प्रस्तुत करती है। सामाजिक और आर्थिक विकास को प्राथमिकता देती है और जनसंख्या के सभी वर्गों के हित में काम करती है। इन सबसे इतर राजनीतिक पार्टियों की समाकारात्मक योजनायें और समाजसेवा कार्यक्रम भी जनता को एक पार्टी में कर सकता है। मीडिया भी राजनीतिक पार्टियों को लोकप्रिय बनाने में अहम भूमिका निभाती है। जनता आमतौर पर मीडिया के माध्यम से ही पार्टियों के कार्यक्षेत्र के बारे में जानकारी प्राप्त करती है और पार्टी की लोकप्रियता को मतदान के लिए महत्वपूर्ण मानती है।

मतदान व्यवहार का सामान्य अर्थ मतदाताओं की उस मनः स्थिति से होता है जिससे प्रभावित होकर कोई मतदाता मतदान करता है। यानी मतदान व्यवहार इस बात को इंगित करता है कि लोगों ने क्या सोचकर मतदान किया है। मतदाताओं का मतदान व्यवहार सार्वजनिक चुनावों के परिणाम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मतदान व्यवहार एक राजनीतिक प्रक्रिया के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। ओइनम कुलाबिधु के अनुसार –''मतदान व्यवहार मतदाताओं का ऐसा व्यवहार होता है, जो उनकी पसंद, वरीयताओं, विकल्पों, विचारधाराओं, चिंताओं, समझौतों इत्यादि को स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित करता है। ये कारक समाज व राष्ट्र के विभिन्न मुद्दों से संबंधित होते हैं।'' दूसरे शब्दों में, मतदान व्यवहार एक ऐसा अध्ययन क्षेत्र है जिसके तहत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सार्वजनिक चुनाव में लोग किस सकार मतदान करते हैं। यानि मतदान के समय व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह के द्वारा मतदान के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाने वाला मनोभाव मतदान व्यवहार कहलाता है।

मतदान व्यवहार की अवधारणा बहुत समृद्ध है जो लोगों के बीच मतदान प्रक्रिया के दौरान उनके व्यवहार को विश्लेषित करती है। यह उन आचार-विचार, तत्परता और सामाजिक परिर्वतनों का मुद्दा हो सकता है जो लोग चुनावी प्रक्रिया में शामिल होते हैं। इसमें उन विभिन्न कारकों की जाँच होती है जो चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं–जैसे राजनीति प्रतिष्ठा, सामाजिक मानक और सामाजिक संरचना आदि। भारतीय लोकतंत्र में जनता को सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार दिया गया है तथा आम जनता मताधिकार का किस सकार इस्तेमाल करती है यह महत्वपूर्ण वैज्ञानिक पहलू है। भारतयी परिदृश्य में चुनाव के माध्यम से राजनीतिक पार्टियों की प्रतिबद्धता और निष्ठा बोध के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया जाता है कि आम जनता की अपने लोकतंत्र के प्रति कितनी आस्था और रुचि तथा वह कितना जागरुक है आदि बातों को मतदान व्यवहार कहा जा सकता है। भारतीय परिदृश्य में मतदान व्यवहार के अध्ययन की उत्पत्ति भारत में मतदान व्यवहार के अध्ययन की उत्पत्ति समृद्धि और प्रगति के साथ संबंधित है, जिसे समय-समय पर अनुसंधानकर्ताओं ने गहरायी से अध्ययन किया है। यह अध्ययन राजनीतिक प्रक्रिया, सामाजिक बदलाव और मतदान प्रणाली की समझ में मदद करने के लिए महत्वपूर्ण है। वैसे तो चुनावी अध्ययनों के विषय को सेफोलॉजी कहा जाता है किंतु इसका मुख्य ध्येय चुनावी दौर में मतदाताओं के व्यवहार का विश्लेषण करना है। मतदाता किसे वोट देता है? किसी पार्टी को वोट देता है? आर्थिक एवं सामाजिक कारक क्या है? पार्टीयों का शीर्ष नेतृत्व कैसा है? आदि प्रश्न जिन पर मतदान निर्धारक कारकों के बारे में अध्ययन किया जाता है।

जय गुप्ता अपने शोध अध्याय 'राजनीतिक दल–अर्थ, प्रगति और ऐतिहासिक संदर्भ' में कहते हैं कि ''राजनीतिक दलों की विकास यात्रा और उनकी विचारशीलता में कैसे बदलाव हुआ है। आजकल के दलों की प्रगति और उनकी भूमिका बहुत बदल गई है जिसमें अपतंत्र का उदय एक महत्वपूर्ण पहलू है जिसमें उन्होंने स्यवं को विभाजनकारी माने जाने वाले वर्तमान में प्रतिनिधि लोकतंत्र के रक्षक के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया है। वर्तमान में दलीय प्रणालियों की भूमिका और प्रगति बहुत बदल गये हैं। सभी दलों में अपतंत्र का उदय हो गया है जो संपूर्ण शक्तियों का इस्तेमाल करता है, जिसे मिशेल्स 'अल्पतंत्र के लौह नियम' की संज्ञा देते हैं।'' विपिन चंद्र अपनी पुस्तक 'आजादी के बाद का भारत (2009)' में बताया है कि ''आजादी के बाद के भारत के सामाजाकि, आर्थिक और राजनीतिक विकास के बारे में विस्तृत जानकारी दी है। इसमें समकालीन भारत की समस्याओं के रोचक विश्लेषण के साथ आजादी के बाद की अनेक समस्याओं से जूझते भारत के सामाजिक और आर्थिक विकास का संपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है।

मिथलेश कुमारी (2017) अपने शोध पत्र 'भारत में चुनाव एवं मतदान व्यवहार' में कहा है कि ''भारत में निर्वाचन प्रणाली और मतदान व्यवहार के हर क्षेत्र में परिवर्तन के चिन्ह देखे जा सकते हैं। साथ ही चुनावों को

सशक्त करना देश को सशक्त करना होगा, क्योंकि निष्पक्ष चुनावों से ही लोकतंत्र सशक्त होता है। अतः चुनाव सधार व मतदान व्यवहार में सुधार की धारा में लगातार प्रयास आवश्यक हैं। डॉ. प्रेमसिंह रावलोत और सुश्री कुसुम लता पुरोहित (2021) अपने शोध पत्र 'ग्रामीण राजनीति में मतदान व्यवहार' में बताया है कि ''मतदाताओं की जागरुकता और उनकी राजनीतिक समझ महत्वपूर्ण हैं। यह एक सुदृढ़ राजनीतिक प्रणाली के लिए आवश्यक है जो सामाजिक समरसता, सामाजिक न्याय और सुशासन की बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम हो।'' मतदान व्यवहार में आधारभूत बात मतदाताओं की जागरुकता है कि वे राजनीति की कितनी समझ रखते हैं तथा राजनीति में कितनी रुचि लेते हैं और राजनीतिक सहभागिता के लिए कहाँ तक आगे बढ़ सकते हैं। यह सब अत्यंत महत्वपूर्ण है। ललन कुमार मंडल (2023) अपने शोध आलेख 'भारत में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों विश्लेषणात्मक अध्ययन' में कहा है कि चुनाव लोकतांत्रिक देशों में नागरिकों को अपने नेता और सरकार चुनने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। भारत में 1951-52 से चुनावों का प्रणालीतंत्र शुरू हुआ और इससे पहले भारतीय नागरिकों को अपने नेता चुनने का अधिकार नहीं था। यह एक महत्वपूर्ण कदम था जिसने देश को सशक्त और सामाजिक न्याय की दिशा में बढ़ने का अवसर दिया। चुनाव लोकतांत्रिक देश की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। 1951-52 से भारत में राष्ट्रीय स्तर एवं क्षेत्रीय स्तर पर चुनाव हुए थे। जाति, धर्म, भाषा और लिंग आदि कारक मतदान व्यवहार के प्रमुख निर्धारक होते हैं। ये कारक अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं जब लोगों की आर्थिक जरूरतों से जुड़ जाते हैं।

समस्या प्राक्कथन और उक्त साहित्यावलोकन से स्पष्ट होता है कि मतदान व्यवहार पर कई तरह के अध्ययन किये गये हैं जिसमें प्रमुख रूप से आम चुनाव में मतदान व्यवहार, ग्रामीण चुनाव में मतदान व्यवहार, मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक आदि शामिल हैं। इसलिए शोधकर्ता ने राजनीतिक पार्टियों का आम जनता के मतदान व्यवहार पर प्रभााव को अपने शोध कार्य के रूप में चुना है तथा यह जानने का प्रयास किया है कि क्या राजनीतिक पार्टियाँ आम जनता के मतदान व्यवहार को प्रभावित कर सकती हैं?

किसी भी शोध अध्ययन में शोध प्रविधि शोध को वैज्ञानिक आधार प्रदान करती है। इस अध्ययन में शोधकर्ता ने शोध प्रश्नावली के माध्यम से सूचनाओं को एकत्रित करने के उपरांत विश्लेषण कर निष्कर्षों तक पहुंचने का प्रयास किया है। साथ ही विश्वसनीयता लाने के लिए प्राथमिक एवं द्वितीय स्रोतों का उपयोग किया है जो इस अध्ययन को मूल्य निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ बनाते हैं। प्रश्नावली के माध्यम से राजनीतिक पार्टियों के बारे में 5 प्रश्नों के माध्यम से सूचनाओं को एकत्रित कर विश्लेषण किया गया है तथा वांछित निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। डेटा विश्लेषण शोधकर्ता ने शोध उद्देश्यानुसार गणनात्मक तकनीकी का उपयोग करके सांख्यिकी विश्लेषण किया है जिसके अंतर्गत डेटा की आवृत्ति तालिका का पैराग्राफ फार्मेट में लिखा गया है। इसमें नमूने के आधारभूत सिद्धांतों के अनुसार डेटा का विश्लेषण किया गया है। डेटा विश्लेषण में आवृत्ति तालिका एक सरल एवं प्रभावी तरीका है जिससे विभिन्न आवृत्तियों की संख्या या गुणसूची को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे आप डेटा के पैटर्न और विशेषताओं को समझ सकते हैं।

प्रश्न 1. क्या आप सभी राजनीतिक पार्टियों को एक समान मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कुल 423 उत्तरदाताओं ने दिया जिसमें से 27.3 प्रतिशत लोगों ने 'हाँ' और 56 प्रतिशत लोगों ने 'नहीं' और 5.4 प्रतिशत ने 'कह नहीं सकते' और 11.3 प्रतिशत लोगों ने 'कुछ हद तक' अपनी राय व्यक्त की है। अतः विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि कुल उत्तरदाताओं में से लगभग दो तिहाई लोग सभी राजनीतिक पार्टियों को एक समान नहीं मानते हैं और लगभग एक तिहाई लोगों का ही मानना है कि सभी राजनीतिक पार्टियाँ समान होती हैं। प्रश्न 2. क्या आप पार्टी विशेष की विचारधारा को मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कुल 423 उत्तरदाताओं ने दिया जिसमें से 43 प्रतिशत लोगों ने 'हाँ' और 37.8 प्रतिशत लोगों ने 'नहीं' और 5 प्रतिशत ने 'कह नहीं सकते' और 14.2 प्रतिशत लोगों ने 'कुछ हद तक' में अपनी राय व्यक्त की है। अतः विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि एक डेढ़ तिहाई से ज्यादा लोग पार्टी की विचारधारा को मानते हैं और लगभग एक तिहाई लोग पार्टी की विचारधारा को नहीं मानते हैं तथा अन्य का मत स्पष्ट नहीं है। प्रश्न 3. क्या आप पारंपरिक (पीढ़ी दर पीढ़ी) रूप से पार्टी विशेष की ओर झुकाव रखते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कुल 423 उत्तरदाताओं ने दिया है जिसमें से 27.9 प्रतिशत लोगों ने 'हाँ' और 54.4 प्रतिशत लोगों ने 'नहीं' और 6.6 प्रतिशत ने 'कह नहीं सकते' और 11.1 प्रतिशत लोगों ने 'कुछ हद तक' में अपनी राय व्यक्त की है। अतः कहा जा सकता है कि लगभग एक तिहाई लोग पारंपरिक रूप से पार्टी विशेष की ओर झुकाव रखते हैं, जबकि दो तिहाई के आसपास लोगों ने पारंपरिक रूप से पार्टी विशेष की ओर झुकाव नहीं रखा है। प्रश्न 4. क्या पार्टी विशेष के मूल्यों और सिद्धांतों के कारण उसे फॉलो करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर कुल 423 उत्तरदाताओं ने दिया जिसमें से 50.4 प्रतिशत लोगों ने 'हाँ' और 32.9 प्रतिशत लोगों ने 'नहीं' और 4.7 प्रतिशत ने 'कह नहीं सकते' और 12.1

प्रतिशत लोगों ने 'कुछ हद तक' में अपनी राय व्यक्त की है। अतः कहा जा सकता है कि आधे लोगों को कहना है कि वे मूल्यों और सिद्धांतों के कारण पार्टी को फॉलों करते हैं जबकि एक तिहाई का कहना है कि वे पार्टी के मूल्यों और सिद्धांतो के कारण उसे फॉलो नहीं करते हैं। प्रश्न 5. क्या आप पार्टी विशेष के कुछ विशिष्ट कद्दावर नेताओं की उपस्थिति को ध्यान में रखते हुए उसे फॉलो करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर 423 उत्तरदाताओं ने दिया जिसमें से 41.1 प्रतिशत लोगों ने 'हाँ' और 40.9 प्रतिशत लोगों ने 'नहीं' और 8.5 प्रतिशत ने 'कह नहीं सकते' और 9.5 प्रतिशत लोगों ने कुछ हद तक में अपनी राय व्यक्त की है। अतः कहा जा सकता है कि एक तिहाई से अधिक लोगों ने विशिष्ट कद्दावर नेताओं के कारण राजनीतिक पार्टी को फॉलो करते हैं, जबकि एक तिहाई के कुछ ज्यादा लोग ऐसा नहीं करते हैं।

संदर्भ

1. ललन कुमार मंडल, भारत में मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ क्रिएटिव रिसर्च थाट, वैल्यू-11, इश्यू-3 मार्च 2023, पृ. 23-29
2. मिथलेश कुमारी, भारत में चुनाव एवं मतदान व्यवहार, श्रृंखला एक, शोधपरक वैचारिक पत्रिका, वैल्यू-5, इश्यू-4 दिसंबर 2017, पृ. 124-127
3. संजय कुमार, (2013), भारत में मतदान व्यवहारः अध्ययन का इतिहास और उभरती चुनौतियां, प्रतिमान, 1, PP-321-345
4. डॉ. प्रेमसिंह रावलोत और सुश्री कुसुम लता पुरोहित, राजनीति में मतदान व्यवहार का स्वरूप, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ हिंदी रिसर्च, वैल्यू-7, इश्यू-4, 2021, पृ. 35-7
5. भालचंद्र गोस्वामी, भारत में चुनाव सुधार : दशा और दिशा, प्वाइंटर पब्लिशर्स हाउस, नई दिल्ली, 1997, पृ. 8
6. एस. के. चौबे, (1985), इलैक्टोरल पोलिटिक्स इन नॉर्थ ईस्ट इंडिया, ओरियंट लोंगमैन, हैदराबाद
7. चौधरी, डी. एस., और कार. जी. के, इलेक्शंस एंड इलेकट्रॉल बिहेवियर इन इंडिया, कांति पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1992, पृ. 18
8. प्रभा ठाकुर, चुनाव घोषणा-पत्र : सिद्धांत एवं स्थिति, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2006, पृ. 50
9. राजीव रंजन, चुनाव : चुनाव, लोकसभा और राजनीति, ज्ञानगंगा, दिल्ली 2000, पृ. 45
10. https://bit-ly/3NJOure(01/01/2024) शशी शर्मा, भारत में आम चुनाव और मतदान व्यवहार,
11. https://egyankosh-ac-in/bitstream/123456789/67354/1/Unit-4-pdf (01/01/2024)
12. http://bit-ly/48DBLys (01/01/2024) जय गुप्ता, राजनीतिक दल—अर्थ, प्रगति और ऐतिहासिक संदर्भ, पृ. 29

—डॉ. मुकेश कुमार, शोध निर्देशक
—लाल सिंह, शोधार्थी
पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग,
लवली प्रोफेशनल युनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब,
पिन कोड-144411

भारतीय संविधान और मानवाधिकार
एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

—अरुण कुमार
—डॉ. जितेन्द्र कुमार

मानव के मूलभूत अधिकारों की संकल्पना सदियों से विद्यमान रही है। मानवाधिकार मनुष्य के सम्पूर्ण सम्मान का प्रदर्शन है और इसका कोई विकल्प नहीं है। मानवाधिकार अपने शाब्दिक स्वरूप में मानव व अधिकार से मिलकर बना है जिसमें मानव इस सृष्टि का सर्वोत्तम जीव है जो अन्य जीवों की तुलना में विवेक-बुद्धि से ओत-प्रोत है। इसमें विवेक मनुष्यों को अच्छे एवं बुरे की पहचान कराता है जबकि बुद्धि के माध्यम से प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं का उपयोग करता है। वास्तव में मानव ही एक मात्र ऐसा प्राणी जिसे सामाजिक प्राणी माना जाता है, जिसे निरन्तर समाज की आवश्यकता रहती है क्योंकि समाज के अन्तर्गत ही वह अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करता है। प्रत्येक व्यक्ति में अनेक प्रतिभायें, क्षमतायें एवं सम्भावनायें होती है और इनके विकास के लिए उसे अनुकूल परिस्थितियों एवं उचित अवसरों की आवश्यकता होती है। इन अवसरों एवं परिस्थितियों की पूर्ति के लिए वह राज्य या समाज से माँग करता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक दशाओं की माँग ही अधिकारों को जन्म देती है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध राजनीति शास्त्र टी.एच. ग्रीन का कथन है, ''मानव चेतना विकास चाहती। चेतना के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है और स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक है। ''व्यक्तियों के लिए अधिकारों की उपयोगिता पर विचार व्यक्त करते हुए प्रो. हेराल्ड जे. लास्की ने कहा है, ''अधिकारों के बिना मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं हैं।'' अतः कहा जा सकता है कि अधिकार वे सुविधायें एवं परिस्थितियाँ है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे प्रदान की जाती है। अधिकार किसी एक व्यक्ति के विकास के लिए न होकर सभी मनुष्यों को प्रदान किये जाते है। सभी मनुष्य अपने अधिकारों का प्रयोग बिना किसी के अधिकारों में हस्तक्षेप के करे; इसीलिए सभी मनुष्यों को कुछ कर्तव्य भी सुनिश्चित किये जाते हैं। वास्तव में अधिकार व्यक्तियों को प्रकृति प्रदत्त होते है जो उन्हें उनके जन्म के साथ ही प्राप्त हो जाते है। जॉन लॉक का मानना है कि 'राज्य के अस्तित्व से पूर्व भी मनुष्य के पास जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति के अधिकार थे।' हॉब्स ने अधिकारों की प्रासंगिकता को सिद्ध करते हुए कहा कि 'जब व्यक्ति के पास राज्य द्वारा प्रदत्त कोई भी अधिकार नहीं था तब भी उसको जीने का अधिकार प्राप्त था जिसका व्यक्ति कभी भी परित्याग नहीं कर सकता था।'

इस प्रकार सृष्टि के विकास के साथ ही मनुष्यों के अधिकारों का भी सृजन हो जाता है। अनेक विद्वानों ने अधिकारों की अवधारणा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विद्वानों द्वारा विश्लेषित यही प्राकृतिक अधिकार कालान्तर में मानवाधिकारों के रूप में परिभाषित किये गये। वे सभी अधिकार जो व्यक्ति की गरिमा, स्वतन्त्रता व समानता को पोषित करने तथा उनके नैतिक, सामाजिक, भौतिक एवं अध्यात्मिक कल्याण के लिए आवश्यक होते है, मानवाधिकार कहलाते हैं। मानवाधिकार शब्द भले ही आधुनिक लगता हो किन्तु इसकी अवधारणा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मानवीय सभ्यता। इस अवधारणा का विकास सत्ता के निरंकुश उपयोग पर अंकुश लगाना है। मानवाधिकारों की प्राप्ति के लिये किये गये संघर्ष का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आदि काल से लेकर वर्तमान समय तक मानव द्वारा अपने निजी हितों एवं स्वार्थों की पूर्ति के लिए दूसरे के अधिकारों का हनन निरन्तर किया गया तथा शक्तिशाली व्यक्तियों ने हमेशा ही कमजोर वर्ग का शोषण किया व उनके साथ पशुतर व्यवहार किया। प्रारम्भिक समय में शासक की इच्छा को ही कानून माना जाता था, ऐसी परिस्थिति में व्यक्तियों के अधिकारों पर निरन्तर हस्तक्षेप होता था। लेकिन शोषित वर्ग भी निरन्तर अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए विद्रोह करता था तथा शोषिकों के प्रति होने वाले आन्दोलनों का नेतृत्व करता था।

लोकतान्त्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष की प्रक्रिया मुख्य रूप से 13वीं सदी में यूरोपीय देशों से प्रारम्भ हुई। सन् 1215 का इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध आज्ञा पत्र, जिसे 'मैग्नाकार्टा' कहा जाता है, ने मानवाधिकार की पृष्ठ भूमि तैयार करने

में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, क्योंकि इस आज्ञापत्र ने ब्रिट्रेन निरंकुश शासकों पर अंकुश लगाया। 1689 में ब्रिटेन में हुई क्रान्ति ने मानवाधिकार की अवधारणा को विस्तार दिया। इस क्रान्ति में 'बिल ऑफ राइट्स' के माध्यम से व्यक्ति की उन मौलिक स्वतन्त्रताओं को मान्यता दी गयी जिनका अब तक हनन किया जाता रहा था। इसके बाद 1776 में अमरीकी स्वतन्त्रता घोषणा पत्र तथा 1789 की फ्रांस की नागरिक अधिकारों सम्बन्धी क्रान्ति जिसका नारा 'स्वतन्त्रता, समानता व बंधुत्व' था ने मानवाधिकारों की पृष्ठभूमि को व्यापक स्तर पर विस्तारित किया। 11 फरवरी, 1946 को संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद 68 के अन्तर्गत मानवाधिकार संरक्षण के लिए प्रारूप तैयार करने हेतु एलोनोर रूजवेल्ट की अध्यक्षता में एक मानवाधिकार आयोग का गठन किया गया। इस आयोग ने जून 1948 में मानवाधिकार की एक विश्वव्यापी घोषणा का प्रारूप तैयार किया जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा 10 दिसम्बर 1948 को स्वीकृत एवं घोषित किया गया। इस घोषणा पत्र में 30 अनुच्छेद हैं जिसमें नागरिक व राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को भी शामिल किया गया है।

मानवाधिकार और भारतीय संविधान– मानवाधिकार सम्बन्धी अत्यन्त दयनीय एवं बर्बर घटनाएं वैश्विक परिदृश्य के साथ-साथ भारतीय परिदृश्य में भी देखने को मिलती हैं। भारतीय इतिहास में हुए अनेक युद्ध एवं कत्लेआम मानवाधिकारों के संघर्ष का एक हिस्सा थे जो 1857 की क्रान्ति के साथ शुरू हुआ। मानवाधिकार संरक्षण सम्बन्धी संघर्ष की पराकाष्ठा 1919 में देखने को मिली, जब अपने अधिकारों की माँग करने वाले हजारों भारतीयों को ब्रिटिश सरकार द्वारा 'रोलेट एक्ट' लागू किया गया जो भारतीय नागरिकों को उनके प्राकृतिक अधिकारों से पूर्णतया वंचित करता था। इस कानून के साथ अत्याचार और संघर्ष की सीमा में तीव्र एवं उग्र वृद्धि हुई जिसका परिणाम भारतीय स्वतन्त्रता के रूप में दिखायी दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अनेक अवसरों पर मूलभूत अधिकारों एवं स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर दावा किया गया। बाल गंगाधर तिलक का कहना था कि 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूंगा।' सन् 1928 में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता वाली नेहरू कमेटी ने 19 मौलिक अधिकारों का घोषणा पत्र स्वीकार किया। इसके साथ ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1931 में हुए करांची अधिवेशन में मौलिक अधिकारों के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की गयी। ब्रिट्रिश सरकार के नेतृत्व वाले कैबिनेट स्वाभिमान प्लान ने भी भारतीय संविधान में प्रत्याभूत मौलिक अधिकारों की आवश्यकता को स्वीकार किया। चूंकि, हमारे संविधान निर्माता स्वतन्त्रता के लिए हुए संघर्ष में निरन्तर सहभागी रहे थे। अतः उनके समक्ष भारतीय नागरिकों के अधिकारों के लिए एक स्पष्ट लक्ष्य था। उनका मानना था कि स्वतन्त्र भारत में सभी नागरिकों को वे सभी अधिकार उपलब्ध कराये जाएं जिनकी प्राप्ति के लिए उन्होंने निरन्तर संघर्ष किया है तथा जिनसे उन्हें दूर रखा गया है। इसी संकल्पना को संज्ञान में रखते हुए पण्डित जवाहर लाल नेहरू के द्वारा 22 जनवरी, 1947 को जो उद्देश्य प्रस्ताव संविधान सभा में पारित कराया गया उसमें भारत के भविष्य लक्ष्यी शासन व्यवस्था के लिए एक ऐसे संविधान के निर्माण का संकल्प किया गया जो समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा अवसर और कानून की समानता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, उपासना को सुनिश्चित व प्रत्याभूत करेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से पूर्व ही भारतीय संविधान निर्माताओं ने मानवाधिकारों के संकल्प को भारतीय संविधान में समाहित करने का निश्चय कर चुके थे। कहने का आशय यह है कि भारतीय संविधान निर्माता मानवाधिकारों के प्रति पूर्ण सजग थे तथा देश के संविधान में इन्हें सम्मिलित करने हेतु दृढ़ संकल्पित थे। 26 नवम्बर, 1947 को पारित तथा 26 जनवरी, 1950 को लागू संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों एवं संयुक्त राष्ट्र द्वारा घोषित मानवाधिकारों के घोषणा पत्र में समाहित मानवाधिकारों में पर्याप्त साम्यता देखने को मिलती है। मानवाधिकार के घोषणा पत्र के अनुच्छेद 7 को ''कानून के समक्ष सभी समान है और बिना किसी भेदभाव के कानून की सुरक्षा पाने के अधिकारी हैं।''

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में अंशतः भाषायी परिवर्तन के साथ समाहित किया है। इसमें कहा गया कि राज्य किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता अथवा विधियों के समान संरक्षण से वंचित नही करेगा। मानवाधिकारों के अनुच्छेद 2 नस्ल, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक अथवा अन्य विचार, राष्ट्रीय व सामाजिक मूल, सम्पत्ति, जन्म या अन्य किसी स्थिति के आधार पर किसी भेदभाव के बिना प्रत्येक मनुष्य इस घोषणा में वर्णित सभी अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का अधिकारी है।' भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15(1) में समाहित किया गया है– राज्य केवल धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, स्थान अथवा इनमें से किसी भी आधार पर किसी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं करेगा। सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 21(2) को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 16(1) में देखा जा सकता है। राज्य के अन्तर्गत किसी पद पर नियुक्ति से जुड़े सभी विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी। इसी

तरह घोषणा पत्र के अनुच्छेद 19 ''प्रत्येक को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार है'' को संविधान के अनुच्छेद 19(1) सम्मिलित की गई स्वतन्त्रताओं में देखा जा सकता है जो सभी नागरिकों को भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार देता है।

जीवन व शरीर की सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में वर्णित है। अनुच्छेद 23(1) मानव के बेगार, व्यापार तथा बलात श्रम का निषेध करता है। इस प्रकार का कार्य कानून के अनुसार दण्डनीय है। अनुच्छेद 39 (क) कहता है कि ''राज्यों को पुरुषों एवं महिलाओं दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन देना होगा।'' अनुच्छेद 38 में वर्णित किया गया है कि ''राज्य लोगों के कल्याण को वृद्धि करने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेगा। संविधान के अनुच्छेद 46 में व्यवस्था की गयी है कि 'राज्य सभी 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा देने की सुविधा का प्रयास करेगा जो घोषणा पत्र के अनुच्छेद 14 से साम्यता रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संविधान ने सार्वभौमिक घोषणा प्रपत्र में व्यक्त सभी मानवाधिकारों को अपने में समाहित किया है और यह व्यवस्था हमारे संविधान के भाग तीन में वर्णित मौलिक अधिकारों तथा भाग 4 में विश्लेषित राज्य के नीति निदेशक तत्वों में विद्यमान है।

मानवाधिकारों के प्रति संविधान की प्रतिबद्धता को संज्ञान में रखते हुए भारत सरकार द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन के मामलों के दृष्टिगत 28 सितम्बर, 1993 को राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग तथा राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया। इन आयोगों के अनुरूप राज्य सरकारों को भी अधिकार प्राप्त है कि वह अपने-अपने राज्यों में राज्य मानवाधिकार आयोग का गठन कर सकती है। इसके साथ ही जिला स्तर पर भी एक सत्र न्यायालय को मानवाधिकार अदालत घोषित किया जा सकता है। मानवाधिकारों की रक्षा एवं क्रियान्वयन के लिए सूचना का अधिकार भी एक अन्य महत्वपूर्ण साधन है और विश्व के जनतान्त्रिक देशों में इस अधिकार को एक अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। भारत में सूचना की पारदर्शिता सुनिश्चित करने, भ्रष्टाचार रोकने तथा नौकरशाही की जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए ''सूचना का अधिकार अधिनियम 2005'' लागू किया गया। निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि मानवाधिकारों के प्रति भारत की निष्ठा संविधान के विविध प्रावधानों में स्पष्ट देखी जा सकती है। संविधान के प्रावधानों द्वारा सामाजिक समानता की स्थापना और विभिन्न पिछड़े वर्गों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयत्न मानवाधिकारों का ही प्रयास है।

सन्दर्भ

1. मंगलानी, रूपा (2018), भारतीय शासन एवं राजनीति; राजस्थान ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. 38
2. यादव, चन्द्रशेखर (2016), मानवाधिकार : मानवीय संवेदना का द्योतक, कुरूक्षेत्र पत्रिका, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालय, नई दिल्ली, पृ. 56
3. गाबा, ओ. पी. (2019), राजनीति विज्ञान की रूपरेखा, मयूर पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 32
4. पचौरी, सुधीश (2020), मानवाधिकारों का बदलता परिदृश्य, राष्ट्रीय सहारा, लखऊ संस्करण, लखनऊ, पृ. 6
5. चतुर्वेदी, सतीश (2020), मानवाधिकार और संयुक्त राष्ट्र संघ, पोइन्टर पब्लिशर्स जयपुर, पृ. 98
6. फाड़िया, बी. एल. (2018), अन्तराष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, पृ. 74
7. दुबे, संजय (2017), मानवाधिकार भारतीय संविधान और इनका क्रियान्वयन, नई दिशायें पत्रिका, नई दिल्ली, पृ. 39
8. बसु, डी. डी. (2019), भारत का संविधान—एक परिचय, लेक्सिस-नेक्सिस प्रकाशन, नागपुर, पृ. 68
9. चतुर्वेदी, अरुण (2017), भारत में मानव अधिकार, पंचशील प्रकाशन जयपुर, पृ. 30
10. गुप्ता, सतीश (2014), 'भारतीय संविधान एवं मानवाधिकार, सरिता पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 56

—अरुण कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर,
राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय,
झाँसी, उत्तर प्रदेश

—डॉ. जितेन्द्र कुमार
असि. प्रोफेसर,
समाजशास्त्र विभाग, जे. एस. हिन्दू पी. जी. कॉलेज,
अमरोहा, उ. प्र.

प्रवासी हिंदी नाटक मॉरीशस के विशेष संदर्भ में

—डॉ. मुनिल कुमार वर्मा

मॉरीशस में हिंदी नाटक और रंगमंच की परंपरा के सूत्र उनकी धार्मिकता में निहित हैं। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में रामलीला, रासलीला, इंदरसभा आदि नाटकों का प्रदर्शन धार्मिक उत्सवों में किया जाता था। भारत में जिस प्रकार से पारसी थियेटर के नाटकों की धूम मची थी, ठीक उसी प्रकार मॉरीशस में भी व्यावसायिक नाट्य कंपनियों के नाटकों का बोलबाला था। ये कंपनियाँ 'लैला मजनू', 'अली बाबा चालीस चोर' जैसे नाटकों का प्रदर्शन कर जनता का मनोरंजन करती थी। इस तरह के नाटकों में एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि इनमें स्त्री पात्र सम्मिलित नहीं होते थे तथा पुरुष ही स्त्री पात्रों का अभिनय करते थे। मॉरीशस में सिनेमा हॉल के स्थापित होने पर उसमें हिंदी फिल्में दिखाई जाने लगी जिसके फलस्वरुप नाटकों का प्रदर्शन कम हो गया। भारत की दो-तीन नाट्य मंडलियों ने तीन से पाँच अंक वाले बड़े नाटकों को प्रस्तुत किया। उस समय पोर्ट-लुई म्युनिसिपल थियेटर और रोजील के प्लाजा थियेटर में ही नाटकों का प्रदर्शन हुआ। यूथ हाउस की स्थापना के बाद प्रतिवर्ष मॉरीशस में युवा नाटक प्रतियोगिता आयोजित की जा रही है। स्थानीय रेडियो स्टेशन से हिंदी रुपकों के प्रसारण ने नाटक के विकास में योगदान दिया। फलतः रेडियो नाटक तैयार और प्रस्तुत किये जाने लगे। हिंदी लेखक संघ, हिंदी परिषद, आर्य सभा, हिंदी प्रचारिणी सभा आदि संस्थाओं ने हिंदी नाट्य लेखन और मंचन को अपने-अपने ढ़ंग से प्रोत्साहन दिया। मॉरीशस के हिंदी नाटककारों में ठाकुरदत्त पांडेय, सूर्यदेव सिबरत, अभिमन्यु अनत, जगदीश सुकन, हीरालाल लीलाधर, डॉ.बी. जागासिंह, धननारायण जीऊत, महेश रामजियावन, ज्ञानेश्वर रघुवीर, लालदेव बिकारी, भारती प्रसन्न, सौभद्र, धनराज शंभु आदि का नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

डॉ. बी. जागासिंह के नाटक 'धनी की अंतिम इच्छा' अपरोध बोध से ग्रसित व्यक्ति से संबंधित है। पूरा नाटक उसके अपराध बोध को उजागर करता है और नाटककार ने इसके लिए फ्लैशबैक टेक्नीक का इस्तेमाल किया है। नाटक का मुख्य पात्र 'धनी' कैंसर से पीड़ित है और उसे हमेशा लगता है कि वह अतीत में अपने किये पापों का फल भुगत रहा है। वह कहता है ''हरेक आदमी को अपने कुकर्मों का फल भोगना पड़ता है। मैंने जो भी किया उसका फल मैं अकेले ही भोगूँगा न।(पलंग पर पेट पकड़ कर छटपटाते हुए) माँ-माँ अब दर्द असह्य हो गया है। (कुछ रुक कर) मैं माँ-बाप की अकेली संतान था, कुल का दीपक, उनके बुढ़ापे की लाठी उन्हीं का श्राप भुगत रहा हूं।''[1] अपने बीबी बच्चों के परवरिश के लिए उसने अपने माँ-बाप का परित्याग कर दिया था। वह अपने माँ-बाप की अकेली संतान था, उनके कुल का दीपक, उनके बुढ़ापे की लाठी। उसे लगता है कि वह उन्हीं का श्राप भुगत रहा है। दूसरी बात यह है कि वह अपने बच्चों की अच्छी परवरिश के लिए अपने माँ-बाप का परित्याग किया था, वे ही बच्चे और उसकी पत्नी उसके मरने का इंतजार कर रहे हैं। उसके पुत्र को लगता है कि उसके पिता की बीमारी उसके बच्चे को न हो जाए। वह घर छोड़कर किराये के मकान में जाना चाहते हैं लेकिन घर को अपने नाम कराने के लोभ के कारण अपने पिता के मरने का इंतजार कर रहे हैं।

नाटक के मुख्य पात्र धनी को लगता है कि जिनके सुनहरे भविष्य के लिए उसने अपने माँ-बाप के श्राप झेले, वही बहू-बेटे कैंसर से पहले ही उसे मार रहे हैं। पारिवारिक संबंधों में लोभ, स्वार्थपरता और कर्तव्यहीनता की जो भावना पनप रही है उसे नाटककार ने बहुत बारीकी से पिता-पुत्र के संबंधों को आधार बनाकर रेखांकित करने का प्रयास किया है। नाटक के मुख्य पात्र 'धनी' के अपराध-बोध का दूसरा कारण उसके द्वारा की गई साहित्यिक चोरी है। इसका उद्घाटन नाटक के अंत में तब होता है जब 'रचयिता परिषद' संस्था उसके द्वारा हिंदू धर्म पर लिखे गये शोधपूर्ण कार्य के कारण उसे सम्मानित करना चाहती है। वह अपने अधीन कार्य कर रहे अधिकारी के अप्रकाशित शोध प्रबंध को पढ़ने के लिए मांग कर, उसकी फोटो कॉपी कराकर पुस्तक अपने नाम से छपवा ली थी। उसे महसूस होता है कि व्यक्ति अपने अंतिम समय में अपने साथ लेकर कुछ भी नहीं जाता। नाटक के अंत में वह कहता है भी है ''मैं क्या लेकर ऊपर जाऊँ? झूठी प्रसिद्धि, पाप और कुकर्मों की गठरी। डॉक्टर की दवाएँ बेकार हो गई हैं, बेटे-बहू के लिए बोझ हूँ फिर क्यों पापों की गठरी का बोझा लेकर मरूँ?''[2]

धननारायण जीऊत का नाटक 'बन्दी' मॉरीशस की आजादी के 150 वीं वर्षगाँठ पर लिखा गया नाटक है। नाटककार का मुख्य उद्देश्य मॉरीशस की आजादी के लिए वहाँ के आम जन के संघर्ष को दिखाना है। नाटककार बताना चाहता है कि उन्हें यह आजादी भीख में नहीं मिली है बल्कि इसके लिए उनके पूर्वजों ने संघर्ष किये हैं, रक्त बहाए हैं। यह नाटक उन्हीं पूर्वजों के संघर्षों और बलिदानों को उद्घाटित करने का प्रयास है। शेखर एक क्रांतिकारी है जो देश की आजादी के लिए प्रयासरत है। अपने क्रांतिकारी कार्यों के कारण उसे फाँसी की सजा हो जाती है। उसका दोष सिर्फ इतना था कि वे भर पेट रोटी माँगते थे, मजूरी में बढ़ोतरी चाहते थे। सभी मजदूरों पर लाठियाँ बरसाई गईं और उनमें से आवाज उठाने वाले को फाँसी की सजा मिली। नाटककार इस नाटक के माध्यम से यह बताना चाहता है कि इस आजादी की लड़ाई में सभी धर्म के लोगों का साथ है। कादिर मियाँ, लालमन चाचा और रोलॉ भाई ऐसे ही पात्र हैं। नाटककार इस नाटक के माध्यम से सांप्रदायिक सद्भाव को बनाये रखने पर भी बल देता है। नाटक के पात्र 'रोलॉ' की लाश देखकर क्रांतिकारी शिवा कहता है, ''रोलॉ! इसमें तुम्हारा भी बाइबल है, जो हमेशा तुम पढ़ते थे। मैंने इसे अपनी रामायण, गीता और कुरान के साथ ही रखा था। अब तो पता नहीं कब मैं पकड़ा जाऊँगा। मैं तुम लोगों को ये देने आ गया तो तुमने अपनी जिम्मेवारी से मुख मोड़ लिया मेरे भाई।''[3] यह नाटक उन गिरमिटिया मजदूरों की ओर भी इशारा करता है जो तर्कबंदी के आधार पर भारत के विभिन्न स्थानों से आए थे। इस देश को बनाने में इन भारतवासियों योगदान है। तभी तो नाटक का पात्र किसन कहता है—''दादा, जिस दिन से मेरे बाप और माँ बिहार के छपरा गाँव को छोड़ यहाँ आए, उसी दिन से हम बिक गये गोरों के हाथ। पिताजी हमेशा कहते थे इस देश में हम सबका हक है, हम सब हकदार हैं। उसे पाने के लिए हमें अंतिम साँस तक लड़ना है।''(4) किसन का यह वक्तव्य देश के संसाधनों पर सभी के हक की बात करता है। यह नाटक मुख्य रुप से उन पूर्वजों के योगदान पर आधारित है जिन्होंने इस देश को स्वर्ग बनाया। इस नाटक का मूल स्वर इसके पार्श्व संवादों में सन्निहित है जिसमें यह कहा गया है कि ''यही उन बंदियों की जलती कहानी है, जिन्हें आज हम भूल गये हैं। पुरखों ने अपनी माँ और बहनों तथा अपनी संस्कृति के लिए हँसते-हँसते अपनी जान गँवा दी। मातृभाषा की रक्षा करते-करते वे अनन्त के राही हुए। पर हमारे बीच आज भी उनके लाये हुए ग्रंथ वेद, महाभारत, रामचरितमानस, भगवत् गीता, कुरान आदि हमें उनकी याद दिला रही है। जिन लोगों ने अपने खून बहाकर हमारी संस्कृति एवं भाषा की लाज रखी, क्या हम उन देवसम वीरों को भूल जाऐं।''[5]

ज्ञानेश्वर रघुवीर के नाटक 'तथास्तु' ईश्वर के प्रति आस्था और अनास्था के प्रश्न को लेकर लिखा गया है। आस्था एक प्रकार से किसी विचारधारा या सत्ता में ऐसा विश्वास है, जिसके कारण हमेशा अच्छे फल की आशा बनी रहती है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान तक ऐसा कभी नहीं हुआ है कि मनुष्य आस्थाविहीन रहा हो। सभी धार्मिक गतिविधियों के केंद्र में आस्था ही है। दुनिया के सारे धर्म आस्था पर ही टिके हुए हैं। नाटककार इस नाटक के माध्यम से बताना चाहता है कि बहुत सारे व्यक्ति स्वयं को कृष्ण भक्त, शिव भक्त, राम भक्त समझते हैं परन्तु वे हृदय से ईश्वर की सत्ता के परम सत्य को स्वीकारते नहीं हैं। इसलिए ऐसे लोगों को ईश्वर के परम धाम अर्थात् बैकुंठ की प्राप्ति नहीं होती। नाटककार कथावाचक और मोची जैसे पात्रों के माध्यम से यह बताना चाहता है कि अगर ईश्वर के प्रति गहरी और अगाध आस्था हो तभी व्यक्ति इस जीवन रुपी भवसागर को पार कर बैकुंठ प्राप्त कर सकता है। अगर ईश्वर के कार्यों के प्रति तर्क की भावना रखी जाय तो इस जीवन रुपी भवसागर को पार करना बहुत मुश्किल है। नाटक के पात्र नारद द्वारा कथावाचक को यह कहने पर कि बैकुंठ में श्री हरि एक हाथी को एक सूई के छेद द्वारा इस पार से उस पार निकाल रहे थे, उसे परिहास समझ कर तर्क के तराजू में तौलकर देखता है। कथावाचक को श्रीहरि का यह कार्य असंभव लगता है जबकि मोची श्री हरि के इस कार्य को पवित्र लीला समझता है। मोची को श्रीहरि पर अगाध आस्था है। तभी तो वह कहता है- ''जब हरि की माया से एक छोटा बीज एक बड़ा वृक्ष बन सकता है तब इसमें संदेह या अविश्वास करने की बात ही क्या है कि श्री लक्ष्मीपति एक हाथी को एक सूई के छेद में प्रवेश करवा सकते हैं।''[6] आस्था का दूसरा नाम ही विश्वास और प्रेम है। यह अंधविश्वास का नहीं बल्कि आत्मविश्वास का प्रश्न है। कहा भी गया है कि 'आस्तिक बुद्धि इति श्रद्धा' अर्थात् आस्तिकता अस्तित्व में आस्था का ही नाम है। नाटककार इस नाटक के माध्यम से यही संदेश देना चाहता है कि ''यदि भगवान एक बीज को पेड़ का रुप दे सकते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उन्हीं परम पिता परमेश्वर की अपार शक्ति से ही सारे उपग्रह अंतरिक्ष में स्थित हैं। वैज्ञानिक सोच सकते हैं कि ये उपग्रह, चाँद, सूर्य, पृथ्वी, आदि अपने आप प्रकृति की किसी शक्ति से अंतरिक्ष में स्थित हैं, परंतु प्रकृति के पीछे एक परमात्मा अवश्य है। उसी सर्वशक्तिमान भगवान के हाथों प्रकृति कठपुतली की तरह है।''[7]

धनराज शंभु के नाटक 'हम भी मानव हैं' कामगार मजदूरों के हितों की रक्षा की बात करता है। मजदूर फैक्ट्रियों में दिन-रात अपना पसीना बहाते हैं, शारीरिक

श्रम करते हैं लेकिन फिर भी उन्हें दो वक्त का भोजन ढंग से नसीब नहीं हो पाता। उनके बच्चे शिक्षा से वंचित रहते हैं। लेकिन फैक्ट्री मालिक मजदूरों का शोषण करते हैं और उन्हें उनका वाजिब हक नहीं देते। मजदूर अपनी मांगों के लिए आवाज उठाते हैं लेकिन उनकी आवाज को दबा दिया जाता है। मजदूर और मालिक के बीच बिचौलिए के होने से यह संकट और भी गहरा हो जाता है। इस नाटक में दिनेश, विमला, सत्यदेव सभी मजदूरों के प्रतिनिधि बनकर सामने आते हैं लेकिन मैनेजर धनेश इसकी समस्या का समाधान न करके इनके संकट को और गहरा कर देता है। नाटक का पात्र दिनेश कहता है- ''कब तक हम ऐसे दुख झेलते रहेंगे। कब तक हमारा शोषण होता रहेगा। कब तक हम औरों को अमीर बनाने के लिए स्वयं मरते रहेंगे। कब तक औरों की तिजोरी भरकर अपने तन का रक्त सुखाते रहेंगे।''[8] औद्योगिक पूंजीवाद ने समाज की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। पूंजीवाद के इस रुप ने गरीब और अमीर वर्ग के बीच की दूरी को पहले से कहीं ज्यादा बढाने का कार्य किया। इस पूंजीवादी संस्कृति में मानव को मानव न समझकर उसे बस एक मशीन समझ लिया जाता है। नाटक के अंत में जब मजदूर और मैनेजर धनेश के बीच हिंसा होने लगती है तभी फैक्ट्री के मालिक का प्रवेश होता है और मालिक जगदीश के सद्विचार से नाटक का सुखद अंत होता है। मालिक जगदीश मानव-मूल्य और मानव अधिकार का हिमायती है तभी तो वह कहता है कि ''ये मजदूर नहीं, ये हमारी किस्मत है, हमारी प्रगति है, हमारा मान, शान, संपत्ति है, यदि इनका आदर न कर पाए तो फिर किस काम का मालिक।''[9] नाटक का मूल संदेश यही है कि आमजन, जो मजदूर है, कामगार है, उसे भी इंसान की तरह ही समझा जाए। उसे भी बराबरी का अधिकार मिले ताकि वह अपने मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। तभी तो इस नाटक के प्रारंभ में ही नाटककार अपने उद्देश्यों को गीतों के माध्यम से स्पष्ट कर देता है—*''इन्सान हैं हम हमें पहचान लो/माँगे हमारी पूरी कर लो/ इन्सान हैं हम हमें पहचान लो/ईमानदारी से हम काम करते/लापरवाही से हम काम न करते/इन्सान हैं हम हमें पहचान लो/संसार है आनी और जानी/भगवान से चलती नहीं कोई मनमानी/इंसान हैं हम हमें पहचान लो।''*[10]

सौभद्र के नाटक 'महामारी' मॉरीशस की आजादी में स्त्रियों के योगदान और उनके द्वारा भोगी गई यातनाओं को रेखांकित करती है। नाटककार ने गीतों के माध्यम से गिरमिटिया मजदूरों की दारुप दशा का चित्रण किया है —*''आज सूरजवा फिर उगल/आज अंकूरवा फिर फूटी/खेतवा फिर लहलहाया/चेहरवा फिर मूरझाय/आज सूरजवा फिर उगल/आज लयकवन फिर रोई।''*[11]

शहर में जब महामारी फैलती है और नाटक के स्त्री पात्र मिल्ली के इलाज का जब समुचित प्रबंध नहीं हो पाता तो रैना गोरे मालिक के सामने समर्पण कर देती है। इस नाटक में गिरमिटिया मजदूरों के दारूण स्थिति का चित्रण नाटक के पात्र गिरिजा द्वारा किया गया है। वह कहता है—''यह हम लोग कहाँ आ गये चंदन? भारत की अपनी धरती पर हम जो कुछ भी थे ऐसी हालत को नहीं पहुँचे थे। रुखा-सूखा खाकर, फटे-पुराने पहनकर भी हमें कभी भी ऐसा आभास नहीं हुआ कि हम आदमी नहीं थे। यहाँ तो मालिकों के कुत्तों-बिल्लियों, गधे-घोड़ों की स्थिति हमसे बेहतर है। यह सारा कुछ हमारी ही करनी का फल है चंदन। अपनी जन्मभूमि को त्यागने का फल भुगत रहे हैं हम सभी। क्या नर्क इससे भी बदतर हो सकता है क्या?''[12]

भारती प्रसन्न के नाटक 'एकलव्य का अँगूठा' में एकलव्य का गुरू द्रोण के प्रति और अपनी मातृ भूमि प्रेम के प्रतिनिष्ठा दिखाई गई है। एकलव्य धनुर्विद्या में पारंगत हो चुका है और वह कोणक ऋषि के आश्रम में उनसे मिलने आया है। कोणक ऋषि की सीमाओं पर विदेशी शक्तियों ने आक्रमण कर दिया है। कोणक ऋषि इस बात से प्रसन्न हैं कि एकलव्य के आने से वे विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला भली भाँति कर सकते हैं। दूसरी तरफ द्रोणाचार्य ने एकलव्य से उसका दाहिना अंगूठा गुरु दक्षिणा के रुप में माँग लिया है। एकलव्य द्वंद्व की स्थिति में है। द्वंद्व इसलिए कि एक तरफ वह गुरु द्रोणाचार्य के गुरु दक्षिणा के प्रति समर्पित है तो दूसरी तरफ मातृ भूमि के प्रति प्रेम का समर्पण भाव भी उसमें मौजूद है। आत्मालाप की स्थिति में वह स्वयं से कहता भी है कि ''द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा देना और अपनी मात भूमि के काम आना, मुझे दोनों स्थितियाँ प्रिय हैं। किन्तु दोनों स्थितियों का मैं एक साथ निर्वाह नहीं कर पाऊँगा। तो फिर मुझे क्या चयन करना होगा?''[13] अंततः एकलव्य गुरु द्रोण की गुरु दक्षिणा के प्रति समर्पण भाव भी दिखाता है और अपने मातृ भूमि प्रेम के कारण दायें अंगूठे को बाँध कर युद्ध के लिये निकल पड़ता है।

अस्तानंद सादासिंह के नाटक 'ढहता हुआ मकान' में यह दिखाया गया है कि दुनिया में हो रहे दंगे-फसाद, हत्या, बलात्कार, नरसंहार आदि का अंत श्मशान में होता है। नाटककार ने व्यंग्य के माध्यम से यह बताया है कि प्रेत बस्तियों में प्रेतों की संख्या बढ़ जाने से वहाँ अशांति फैल गई है। यह नाटक हास्य-व्यंग्य के ताने-बाने से रचा गया है। 'वसंत-बहार' सोमदत्त वखोरी का संवाद प्रधान नाटक है। इसमें नाटक के पात्र राजकुमार और राजकुमारी के माध्यम से स्त्री-पुरुष संबंधों के विविध आयामों को रेखांकित किया गया है। ज्ञानेश्वर रघुवीर के एक अन्य

नाटक 'मसीहा हर बार मरेगा' में इस बात को रेखांकित किया गया है कि मनुष्य की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। पादरी, पुरोहित और मुफ्ती प्यासे व्यक्ति को पानी नहीं पिलाते क्योंकि उन्हें उनका धर्म नहीं पता। नाटक का पात्र आगन्तुक उन्हें बताता है कि 'धर्म का पुजारी वही है जो दुखियों के काम में आता है, उसके सुख में सुखी होता है।' धर्म केवल उपासना नहीं बल्कि वह मानव सेवा है।

नाटक दर्शक से सीधा संवाद स्थापित करने वाली विधा है। इस लिहाज से नाटक और रंगमंच का परस्पर आश्रित संबंध है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि केवल पुस्तक में लिखी हुई बातें ही संपूर्ण नाटक नहीं है, वे अपने आपकी पूर्णता के लिए रंगमंच की अपेक्षा रखती हैं।' रंगमंच एक समूह संकल्पना है। उसमें मंच के साथ निर्देशक, नृत्य निर्देशक, अभिनेता, संगीतकार सभी जुड़े होते हैं। नाटक की सफलता-असफलता में सबकी भागीदारी होती है। रंगमंचीय दृश्य से देखें तो ये सभी नाटक अभिनेयता से संपन्न हैं। नाटकों के प्रदर्शन के लिए नाटककार रंग-निर्देशन भी दिये हैं। 'दादी की शादी' नाटक का रंग निर्देशन ध्यातव्य है—''एक समृद्ध परिवार के घर की बैठक, थोड़े परन्तु सजे हुए कीमती सामान। दीवार पर मूल्यवान सजे चित्र। बीच में गोलमेज, सोफे, फूलदान में फूल, दीवार में दाई और बाईं ओर दरवाजे। पात्र इर्द-गिर्द दोनों ओर से मंच पर आ जा सकते हैं। वृद्धा और अतिथि सोफे पर बैठे हैं। दादी अपने पति की ओर देखती है।''[14]

इन नाटकों की भाषा आम बोल-चाल की सरल भाषा है। इसकी भाषा पर भोजपुरी का प्रभाव दिखता है। नाटक में गीतों की योजना भी की गई है। कहीं-कहीं 'रामचरितमानस' की पंक्तियाँ पार्श्वगान के रुप में सामने आती है तो कहीं गीता के लोकों को कथावाचक के माध्यम से गाया गया है। 'बन्दी' और 'तथास्तु' नाटक इसके उदाहरण हैं। इन गीतों के माध्यम से नाटक की कथावस्तु आगे बढ़ती है। कहीं-कहीं इन गीतों में नाटकों के मूल सार/संदेश भी समाहित हैं। नाटक के संवादों में एकालाप या स्वगत कथन का भी प्रयोग किया गया है। स्थितियों में परिवर्तन के साथ ही पात्रों की प्रतिक्रियाएँ बदलती हैं और उन्हीं के साथ उनके कथन और भाषा में परिवर्तन आते हैं। इन प्रवासी नाटकों में हिंदी नाटकों की तरह अंकों की योजना का नितांत अभाव दिखता है।

संदर्भ

1. संचयन एवं सम्पादन, केदार कुमार मंडल, प्रवासी हिंदी नाटक, ईशा ज्ञानदीप, शालीमार बाग, नई दिल्ली-110 088, पृ. 12
2. वही, पृ. 21
3. वही, पृ. 34
4. वही, पृ. 36
5. वही, पृ. 37
6. वही, पृ. 151
7. वही, पृ. 152
8. वही, पृ. 220
9. वही, पृ. 232
10. वही, पृ. 219-20
11. वही, पृ. 198
12. वही, पृ. 213
13. वही, पृ. 185
14. वही, पृ. 64

–डॉ. मुनिल कुमार वर्मा
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
महंथ केशव संस्कृत कॉलेज
दरियापुर, फतुहा, पटना, बिहार
पिन कोड- 803201

राजस्थान के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री

—डॉ. जयसिंह मीणा

राजस्थानी समाज में स्त्री की सामाजिक भूमिका और कार्य स्थितियां अत्यंत जटिल है। राजस्थान के पश्चिमी भाग में स्त्रियां एक मटकी पानी की तलाश में घंटो भटकती रहती हैं। राजस्थान के समाज में छोटी-छोटी बालिकाओं का कम उम्र में ही बाल-विवाह परिजनों द्वारा कर दिया जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था में सामन्त प्रणाली अपना प्रमुख स्थान रखती है। ''कर्नल टॉड ने इस सामंती समाज की तुलना मध्ययुगीन यूरोपीय सामन्त पद्धति से की थी। कर्नल टॉड के अनुसार राजस्थानी सामन्ती समाज एक प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था का रूप है जिसमें नेता के रूप मे एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वंशज या अन्य भांति के वंशज उसके साथी और सहयोगी बने रहते हैं। बहु-विवाह इस समाज की एक महान विशेषता थी। इस समय का स्त्री समाज सती प्रथा से दूषित था। बलात्कार से अबोध स्त्रियों को सती होने के लिए बाध्य किया जाता था।[1] लेकिन आज भी राजस्थान की स्त्रियां सर पर मैला ढोने को मजबूर हैं तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए भूखी रहकर अकाल राहत कार्यों पर काम करने जाती हैं।

राजस्थान में देश के अन्य राज्यों की अपेक्षा रजवाड़ों और जागीरदारों का जबरदस्त दबदबा रहा। राजस्थान के समाज में सामन्तवाद ने गहरी जड़ें जमा रखी थी। यहां पर परम्पराओं और झूठी शान को बनाए रखने के लिए अक्सर युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों तथा अंधविश्वासों एवं झूठी इज्जत के दायरे में सबसे ज्यादा शोषण हुआ स्त्री का। राजस्थान के समाज में स्त्रियों की छवि निरक्षर, पिछड़ी, रूढ़िवादी और घूंघट लेने वाली पारम्परिक स्त्री की रही है। राजस्थान की स्त्रियों के जीवन में घूंघट एक बड़ा मसला रहा है। घूंघट केवल मुंह ढ़कने मात्र की बात न होकर महिलाओं को 'परतन्त्र' बनाने की साजिश का एक हिस्सा है। राजस्थान के समाज में स्त्रियां घूंघट में कैद रही हैं। वे बोल भी नहीं सकती थी और अपनी भावनओं को प्रकट करके स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रतिष्ठित नहीं कर पाती थी। ऐसे सामन्तवादी और पुरूष सत्तात्मक माहौल के होते हुए भी राजस्थान की स्त्रियों के बीच जागरूकता एवं संघर्ष की भावना का जन्म हुआ।

राजस्थान में स्त्रियों के संघर्ष की सूत्रधार के रूप में मीरा का नाम उल्लेखनीय है। पन्द्रहवी-सोलहवीं शताब्दी के राजपूत राज्यों के रनिवासों में न केवल पर्दा प्रथा प्रचलित थी बल्कि कई अन्य प्रकार के बन्धन और वर्जनाओं के कारण रानियों का जीवन जकड़ा हुआ था। वर्जनाओं के इस ताने बाने जाल के कारण रानियों के लिए स्वेच्छा और स्वतंत्रता से जीवनयापन करना सम्भव नहीं था। फिर भी राज परिवार की तमाम झूठी मर्यादाओं, और प्रतिबंधनों को तोड़ मीरा ने 'पग में घुंघरू बांध' लिए थे। मीरा ने धर्म की सत्ता में पुरूष की प्रधानता पर भी प्रश्नचिह्न लगाए थे। मीरा के विषय में सुमन राजे की उक्ति सारगर्भित है - ''मीरा जैसा विद्रोही व्यक्तित्व कबीर के अतिरिक्त दूसरा नहीं हुआ। इसीलिए उसके समय ने उसे विष का प्याला दिया और हमारे समय ने फुटकर खाता।[2] मीरा ने अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति और हिम्मत से राजस्थान के पितृसत्तात्मक राजशाही-सामन्तशाही माहौल में अपने लिए एक सम्माननीय जगह बना ली थी। घूंघट को उतार पर्दे की घुटन से वह बाहर आई थी और अपने पैरों में घुंघरू बांध लिए थे। घुंघरू प्रतीक थे मीरा की आजादी के। पति की मृत्यु के बाद विपरीत परिस्थितियों में उसने घुट-घुटकर जीना पसन्द नहीं किया और न ही अपने जीवन को पति की मौत के साथ खत्म किया। समाज के द्वारा बनाए गए स्त्री-पुरूष के भेदभाव को उसने कभी स्वीकारा नहीं। मीरा के इस तेजस्वी व्यक्तित्व को राजस्थान का घोर परम्परावादी समाज भी नकार नहीं सका। लेकिन आज भी कोई यह नहीं चाहता कि उसके घर में मीरा जन्में।

''राजस्थान के राजपरिवारों में वृद्ध राजाओं के छोटी कन्याओं से विवाह का चलन बढ़ रहा था, जिससे कम उम्र में ही रानियां विधवा हो जाती थी। जयपुर में महाराज माधोसिंह तृतीय ने 12 साल की बालिका से विवाह किया। एक साल बाद महाराज का निधन हो गया। अतः 13 साल की उम्र में ही महारानी विधवा हो गई। राज परिवारों में पर्दा प्रथा के चलते उनकी सार्वजनिक अभिव्यक्ति पर रोक लग गई थी। ऊंच और नीच के चलते औरतें पुरूषों और बुजुर्गों के सामने आपस में भी बातचीत नहीं कर पाती थीं। इस कारण पुरूषों पर उनकी निर्भरता बहुत बढ़ गई थी और उनकी

सामाजिक प्रतिष्ठा काफी सीमित हो गई थी।'[3]

शासक वर्ग में झूठी शान के चलते कन्यावध भी हो रहे थे। जैसलमेर, बाड़मेर के राजपूतों और भरतपुर के जाटों में यह रिवाज प्रचलित था। इन समाजों में कन्या का जन्म ही अपशकुन माना जाता था। कन्याओं की शादी में दिए जाने वाले भारी दहेज के कारण भी इस रिवाज को बढ़ावा मिल रहा था। राजपूतों में लड़की की शादी में भारी खर्च हो रहा था और इस कारण वे कर्जदार हो रहे थे। अपनी जातिगत उच्चता में फंसकर भाटी, चौहान, चन्द्रावतों के कुछ छोटे राज परिवार भी अपनी बेटियों के हाथ बड़े शासकों और उनके नजदीकी रिश्तेदारों को ही देते थे। अपनी बेटियों के लिए अपनी जातिगत प्रतिष्ठा के अनुरूप योग्य वर खोजना उनके लिए मुश्किल होता जा रहा था। इस बोझ से मुक्ति का एक रास्ता उन्हें कन्यावध के रूप में नजर आता था। विवाह अक्सर राजनीतिक समझौते के रूप में हो जाते थे। कन्याओं की सहमति लेना जरूरी नहीं समझा जाता था। कई बार राजनीतिक तनावों को बचाने की खातिर राजपूत औरतों को अपना जीवन कुर्बान करके आत्महत्या का वरण करना पड़ता था। ऐसे भी उदाहरण हैं जब राजपरिवारों में अपनी बेटियों का विवाह दुश्मनों से कर दिया जाता था। कुछ एक उदाहरण शादी के मण्डप में ही वर को मार देने के भी हैं। इस क्रूरता से उनकी अपनी बेटी का जीवन बर्बाद हो जाता था इस बात की इन परिवारों को परवाह नहीं थी। राजाओं की अनेक रानियां आपस में सत्ता को या राजा से अधिक नजदीकी पाने को संघर्षरत रहती थीं। राजा अपने हरम में पत्नियों की संख्या बढ़ाते जाते थे। इस कारण रानियों को अपने पति का साथ उपलब्ध नहीं हो पाता था। वे भावनात्मक और यौन इच्छा के दमन सम्बन्धी परेशानियों का सामना करती रहती थी। राजपरिवारों की जनाना ड्योढ़ी बहुत बड़ी रहती, जिसमें अनेक रानियां कैदियों की तरह जीवन बिताती थीं।

राज परिवारों में विधवा दहन की घटनाएं सम्मान की प्रतीक थीं। प्रचलित मान्यता यह थी कि विधवा दहन करके स्त्री अपने पूर्वजों को पवित्र करती हैं और पति को पापों से मुक्त कर देती हैं। समाज में प्रचलित विधवा दहन के महिमा मण्डन और उसके साथ जुड़े सम्मान के चलते विधवा दहन स्त्रियों के लिए सम्मान का विषय बन गया था। रिवाज ही इतने दबाव बनाते थे कि एक बार मन बन जाए तो बच निकलने का कोई रास्ता ही न था। वह भागना भी चाहे तो पुरूष परिजन उसे चिता में धकेल देते थे। उसकी चीखें नगाड़ों की आवाजों में दब जाती थीं। सती का यह रिवाज केवल राजपरिवारों तक ही सीमित नहीं था। अलवर की नारायणी सती और रस बाबरा की साधु सती क्रमशः ढोली और साधु जाति की थी। राजपूतों में सती होने का रिवाज बहु-विवाह प्रथा से और आर्थिक व राजनीतिक कारणों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था। इसका सीधा सम्बन्ध सम्पति के उत्तराधिकार से था। विधवा औरतों को राजस्थान में पति की सम्पति में से कुछ भी भाग पाने का हक नहीं था। उत्तराधिकार के अधिकार पुरूषों से पुरूषों को ही जाते थे। दीन-हीन भिखारी बनकर जीने से बेहतर मानकर कई स्त्रियां अपने जीवन का अन्त (सती होना) अधिक पसन्द करती थी।

वास्तविक अर्थों में राजस्थान में स्त्री-चेतना की भावभूमि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बनने लगी थी। सदियों से पिछड़ेपन की शिकार महिलाओं में एक घुटन का अहसास तो हो रहा था। यह अलग बात है कि महलों, हवेलियों तथा गांव के झोपड़ों में पर्दा-प्रथा के चलते तथा कतिपय अन्य परम्परागत कारणों से इस घुटन को कोई अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी। एक तरफ जहां अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बढ़ते प्रभाव तथा रियासतों की जन विरोधी नीतियों के चलते स्त्रियों की स्थिति में निरन्तर गिरावट आ रही थी, वहीं समाज में एक ऐसा तबका भी उबरकर सामने आ रहा था जो न सिर्फ स्त्रियों की दृष्टि से अपितु देश और समाज की दृष्टि से भी यह जरूरी समझ रहा था कि स्त्रियों का सशक्तीकरण हो। सम्भवतः इसी तबके के प्रयासों और सोच का परिणाम था कि उन्नीसवीं सदी में सती प्रथा, कन्या-वध, कन्या-विक्रय, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह तथा स्त्री-शिक्षा मसलों पर सुधार आन्दोलन हुए और इन आन्दोलनों के फलस्वरूप कई तरह के कानून भी बने। ''स्वामी दयानन्द सरस्वती ने समाज में स्त्री की स्थिति पर विशेष ध्यान दिया तथा स्त्रियों की गिरी हुई स्थिति को समाज के पतन का मुख्य कारण बताते हुए विवाह एवं मृत्यु अवसरों पर कम खर्च करने के सुझाव दिए। उन्होंने स्त्री को पुरूषों के साथ समानता एवं समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान दिए जाने का भी समर्थन किया।''[4] लेकिन इन तमाम प्रयासों के बावजूद विधवा विवाह हेतु 1856 में पारित विधवा पुनर्विवाह कानून का राजस्थान में कोई असर नहीं हो पाया। इधर ज्यों-ज्यों महिलाओं में जागृति आ रही थी, अंग्रेजों तथा सामन्तों का दमनचक्र भी बढ़ता जा रहा था। बीसवीं सदी की शुरूआत से लेकर आजादी मिलने के दौर तक कई घटनाएं घटी जो एक तरफ स्त्रियों में बढ़ती चेतना का सुखद अहसास कराती हैं वहीं दूसरी ओर सत्तासीनों के दमनचक्र की क्रूरता को भी दर्शाती हैं। अंग्रेजों ने राजस्थान में औरतों के अधिकारों को न केवल छीना वरन् उनके प्रभाव को कम करने के लिए अनेक साजिशें भी रचीं।

आजादी के पश्चात राजस्थान की स्त्रियों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। स्त्रियों को महत्वपूर्ण सार्वजनिक पदों पर जगह नहीं दी गई। सामाजिक सुधार कार्यक्रम की गति धीमी होते-होते थमती-सी नजर आई

और कुछ समय बाद विकास का यह पहिया उल्टी दिशा में घूमता-सा नजर आया। प्रतिक्रियावादी पितृसत्तात्मक ताकतें राजसत्ता पर भी हावी होती नजर आई। नतीजा, विकास के तमाम प्रयासों के बावजूद औरतों की स्थिति बद से बदतर होती गई। अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक के माहौल में अनेक महिला समूहों, संगठनों और संस्थानों का जन्म हुआ। दहेज एवं घरेलू हिंसा के मामलों को जोर-शोर से उठाया गया। पीड़ित महिलाओं के अस्थायी पुनर्वास का मुद्दा भी प्राथमिक बना। राजस्थान में 4 सितम्बर 1987 को सीकर जिले के दिवराला गांव में 18 वर्ष की रूपकंवर को मृत पति की देह के साथ जिन्दा जला दिया गया। क्या किसी स्त्री की जिन्दगी की सबसे बड़ी उपलब्धि यही हो सकती है कि वह अपने पति के शव के साथ उसी चिता में जलकर मर जाए। आज भी कई घटनाएं ऐसे घटित होती रहती है लेकिन उजागर नहीं हो पाती। इस घटना के पश्चात् ही राजस्थान मे वर्ष 1992 में सामूहिक बलात्कार की वह क्रूरतम घटना हुई जिसने पूरे राजस्थान को हिलाकर रख दिया। भंवरी का कसूर सिर्फ इतना था कि उसने बाल विवाह की शिकायत की थी। इसी कारण उसे सबक सिखाने के लिए उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया गया। यह घटना महिला विकास की समर्थक प्रगतिवादी शक्तियों के मुंह पर पितृसत्ता का करारा तमाचा थी।

नब्बे के दशक में जयपुर शहर और फिर राजस्थान में साम्प्रदायिक दंगे भड़के जिनका नकारात्मक असर स्त्रियों के जीवन पर पड़ा। युवक और युवतियों ने शहरी और ग्रामीण परिवेश में विवाह जैसे अहम मुद्दों पर स्व-निर्णय के अधिकार का इस्तेमाल किया जिसके चलते उनके अपने परिजनों द्वारा तो उनका उत्पीड़न हुआ ही, राजस्थान सरकार के कुछ अधिकारियों ने भी अक्सर परम्परावादी ताकतों का साथ निभाया।

आज भी आदिवासी क्षेत्रों समेत राजस्थान के अधिकांश गांवों के लोगों का जीवन पितृसत्तात्मक तथा सामन्तवादी नैतिकता से बंधा और निर्देशित होता है। ग्रामीण स्त्रियों के लिए इसका आशय है सामाजिक व्यवस्था में अपने पति तथा उसके सम्बन्धियों के अधीन होना। यह अधीनता कई रूपों में झलकती है, जैसे स्त्रियों के आने-जाने पर प्रतिबंध, नियत तरीके के कपड़े-लत्ते, गहने पहनने का आग्रह, खानपान पर नियंत्रण, निर्णय प्रक्रिया में उसे भागीदार न बनाना। कृषकों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों में स्त्रियों के श्रम का महत्व स्वीकारा जाता है। इन वर्गों की स्त्रियां दिनभर खेत में खटती हैं, घर-परिवार के साथ खेतों-पशुओं की जिम्मेदारी भी उठाती है। बचे रहने के संघर्ष में निरन्तर जुटती हैं। इन सबके बावजूद यहां भी स्त्रियों को न तो सम्पत्ति पर अधिकार होता है, न ही अपने श्रम या प्रजनन पर। ''एक तरफ निरन्तर अकाल के चलते और गैर बराबरी की पारिवारिक परम्पराओं के चलते स्त्रियां गम्भीर कुपोषण और खून की कमी का शिकार हो रही हैं। दूसरी तरफ उन पर तिहरे काम का बोझ है। बच्चे पैदा करना व उन्हें पालना, घर की जिम्मेदारी सम्भालना और नौकरी या रोजगार सम्भालना। यह सब उन्हें ही करना पड़ता है। एक ओर वैश्वीकरण के चलते स्त्रियों से उनके रोजगार के अवसर छिन रहे हैं तो दूसरी ओर गांवों में परम्परागत रोजगार भी खत्म हो रहे हैं।''[5] राजस्थान के समाज में आज भी अनेक युवतियों को अपने बारे में फैसले करने का हक नहीं है। युवतियाँ और स्त्रियाँ अपने परिजनों के हाथों की कठपुतली बनकर रह गई हैं। परिजन जब चाहे जहां चाहे, उनकी शादी करें, पति के पास भेजें या कहीं और नाते दे दें, स्त्री को बोलने का हक ही नहीं है।

सन्दर्भ

1. शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, संशोधित संस्करण 1984 शिवलाल अंग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा-3, पृ. 1
2. वागर्थ, संपादक प्रभाकर क्षोत्रिय, अंक 24, मार्च 1997, पृ.46
3. जैतली ममता एवं श्रीप्रकाश शर्मा, आधी आबादी का संघर्ष, पहला संस्करण 2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 38
4. जैन, डॉ. पुखराज, भारतीय राजनीतिक विचारक, पुनर्मुद्रण 2006, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ. 136
5. जैतली, ममता, श्रीप्रकाश शर्मा, आधी आबादी का संघर्ष, पहला संस्करण 2006, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 79

–डॉ. जयसिंह मीना

फ्लैट नं. 139, श्री केशवकुंज अपार्टमेंट
सैक्टर-17, पॉकेट डी, द्वारका
नई दिल्ली-110075

भारतीय समाज की नवजागृति में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के अभूतपूर्व योगदान का अध्ययन

—लता शर्मा
—डॉ. अनीता सिंह

शोध सारांश—भारत का समाज प्राचीनकाल से धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जागृति का केन्द्र रहा है। मध्यकाल में मुस्लिम आक्राताओं ने भारतीय समाज में भयंकर तबाही फैलाई और समाजिक ढांचे को बर्बाद कर दिया, जिससे समाज में जड़ता आना शुरू हो गयी, यद्यपि मध्यकाल में कई समाज सुधार हुए जिन्होंने समाज में जागृति फैलाई परंतु फिर भी समाज में ऊंच-नीच, वैदिक ज्ञान का अभाव व स्त्रियों की दशा खराब हो गयी। अंग्रेजी शिक्षा के नाम पर ये लोग भारत में ईसाईयत को बढ़ा रहे थे। समाज की इतनी दुर्दशा देखकर स्वामी दयानन्द जी का हृदय विचलित हो गया, तब उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और अपने शैक्षिक विचारों से वैदिक शिक्षा की महत्वता पर बल दिया। इसके साथ ही व्याप्त आड़म्बरों व पाखण्डों के खिलाफ शंखनाद किया जिसका वर्णन प्रस्तुत शोध पत्र किया है।

कुंजी शब्द—महिला, आर्य समाज, डी.ए.वी. स्कूल, शुद्धि आंदोलन, राष्ट्रीय आंदोलन, स्वराज दल, हिंदू महासभा क्रांतिकारी आंदोलन।

स्वामी दयानन्द के समय समाज में घोर निराश, पाखण्ड व कुरीतियां भरी थी। लोग मुस्लिम आक्रांताओं व अंग्रेजी अत्याचार से त्रस्त हो चुके थे, तब स्वामीजी ने अपने विचारों से समाज में नई ऊर्जा का संचार किया गया। अपने इस महान कार्य को और सबल बनाने के लिए स्वामीजी ने आर्य समाज की स्थापना की थी। यहां ध्यान रखन वाले बात यह है कि अन्य देशों में समाज सुधार के लिए नये धार्मिक सुधार व कानून बनाये गये जिससे पता चलता है कि अन्य स्थानों पर लोग स्थानीय धर्म की जड़ता से परेशान थे और उससे मुक्ति चाहते थे, परन्तु भारत में मुख्यतः हिन्दु समाज में जड़ता धर्म के ज्ञान से अभाव से हुई थी। मुस्लिमों आक्रमण से मंदिरों का नाश हुआ जो मुख्यतः गुरूकुल से सम्बन्धित थे। इसके साथ ही अंग्रेजी शिक्षा ने तो समस्या को भयंकर रूप प्रदान किया। इसी कारण महर्षि दयानन्द जी ने समाज में सुधार के लिए वेदों का सहारा लिया और खोए हुए आत्मसम्मान को जगाने, पाखण्ड व कुरीतियों को दूर करने के लिए कई प्रयास किये जो प्रायः इस प्रकार हैं—

1. महिलाओं की स्थिति में सुधार—भारतीय समाज में मुस्लिमों के प्रवेश से स्त्रियों की स्थिति खराब हो गयी। उस समय उनकी शिक्षा व सामाजिक योगदान में बहुत कमी आयी और महिलाओं को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा क्योंकि मुस्लिम आक्रांताओं के सैनिक हिन्दुओं की मासूम कन्याओं को उठा ले जाते और उनके पिता व भाईयों की हत्या कर देते थे। जौहर, सती प्रथा, बालविवाह नवजात कन्या की हत्या व विधवा का पुर्नविवाह न करना जैसे क्रुर कार्य प्रचलन में आये। महर्षि दयानन्द जी ने भारत में भ्रमण करते हुए अपने वैदिक ज्ञान का प्रचार करने लगे। उन्होंने कहा था कि ''भारत की उन्नति तभी हो सकती है जब प्रत्येक घर की मां बेटी व बहन अपने पुराने स्वरूप को प्राप्त लेगी। भारत में स्त्री की पहचान देवियों के रूप (लक्ष्मी, सरस्वती व दुर्गा)में की जाती है''[1] इसलिए उनको शिक्षित करना आवश्यक है। आर्य समाज ने स्वामीजी के विचारों को उनके देहावास के बाद आगे बढ़ाने का कार्य करते हुए कई महिला गुरूकुल, बालिका विद्यालय व डी. ए. वी. महिला विद्यालयों की स्थापना की। इन विद्यालयों की विशेषता इनका वैदिक शिक्षा देने के साथ आधुनिक शिक्षा अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी दिया जाने लगा। इसके साथ ही ''लाहौर, मथुरा व हरिद्वार में विधवाश्रम खोले गये जहां उनके रहने व पुनर्विवाह का प्रबन्ध होता था। इस 11 वर्ष की अवधि में इस सभा ने 6334 विधवा विवाह किये। दिल्ली, पंजाब व पश्चिमी प्रान्त में 1820 में ऐसी शादियां हुई सिंध बलुचिस्तान में 38, भारतीय राज्यों में 258, उत्तर प्रदेश में 373, बंगाल, बिहार, उडीसा व असम में 116 मद्रास में 18, बम्बई में 7 विधवा विवाह किये। इसके अलावा अंतर्जातीय विधवा विवाह हुए जिनकी संख्या 301 थी।''[2]

2. छुआछुत निवारण व कमजोर वर्ग की शिक्षा—स्वामी जी के समय हिन्दु समाज छुआछुत जैसी गंदी प्रथा के प्रभाव

में आ गया जोकि अत्यन्त ही घृणित कार्य है। वैदिक ज्ञान के अभाव में एक वर्ग दूसरे वर्ग के स्पर्श से स्वयं को मैला मानकर जल से खुद को पवित्र करने लगे। स्वघोषित सवर्ण वर्ग के कुछ शौक्षिक विकलांग व्यक्तियों के कुकृत्यों की वजह से मिशनरियों ने प्रताड़ित वर्ग के लोगों का अपने जाल में फंसाना शुरू कर दिया। महार्षि दयानन्द ने इस हानि को अनुभव करके कहा कि ''कुछ मूर्ख व्यक्तियों की वजह से हिन्दू समाज में विकृति हो गयी है।''[3] इसलिए उन्होंने पाखंडी पंडितों से शास्त्रर्थ किया। काशी, मथुरा, जयपुर, जोधपुर आदि स्थानों पर इस कार्य से कई लोग दयानन्द जी के दुश्मन बन गये। स्वामी जी के अनुसार ''मानव वर्ण का निर्धारण मानव के कर्मानुसार होता है। विचार से सत्य, त्यागी, धर्माधारित कर्म वेदांत ज्ञान आदि एक शूद्र वर्ण के व्यक्ति को अन्य वर्ण में प्रविष्ट कर सकता है तथा असत्य, अज्ञान, गलत कर्मो के कारण अन्य वर्ण वाला शूद्र वर्ण में आ सकता है। इस सभी वैमनस्यता को दूर करने के लिए समाज में मन, कर्म व वचन की शुद्धता लानी होगी, जिसको शिक्षा रूपी साबुन ही साफ कर सकता है। अतः प्रत्येक वर्ण को वैदिक शिक्षा दी जानी जरूरी है बिना किसी भेदभाव के।''[4]

3. भेदभाव रहित शिक्षा संस्थानों की स्थापना– समाज के उत्थान व जनमानस में स्वलम्ब, समानता तथा स्वराज्य की प्राप्ति के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों पर आधारित विद्यालयों की स्थापना का कार्य किया गया। आर्य समाज संस्था द्वारा भारत की प्राचीन शिक्षा, दर्शन, साहित्य आदि के अध्ययन के लिए गुरुकुलों की स्थापना की और आधुनिक शिक्षा के लिए दयानन्द एंग्लों वैदिक विद्यालय खोले। आर्य समाजियों ने इन्द्रप्रस्थ, वृन्दावन, वैद्यनाथधाम, होशंगाबाद, चित्तौर, सिकंदराबाद, ज्वालापुर, देहरादून, गुजरानवाला, डेरावुद्ध, रावलपिन्डी, नरसिंहपुर आदि गुरूकुलों की स्थापना की।[5] इन गुरुकुलों में छात्रों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। पाठ-पठन के मुख्य विषय भारतीय दर्शन, संस्कृत, वेद व योग साधना थे। महिला व पुरूषों के गुरूकुल अलग-अलग थे। इसी प्रकार भारत के विभिन्न नगरों में डी.ए.वी. स्कूल तथा कॉलेज खोले गए। अमृतसर, जालंधर, अम्बाला, चण्डीगढ़, अवोहर, दिल्ली और शोलापुर में डी.ए.वी. कॉलेज खुले। जालंधर में एक पृथक हंसराज महिला महाविद्यालय बना, यमुनानगर में महिलाओं के लिए डी.ए.वी. कॉलेज खोला गया। दिल्ली में हंसराज कॉलेज तथा गिरधारी लाल डी.ए.वी. कॉलेज खोला। जालंधर में दयानन्द आयुर्वेदिक कॉलेज तथा अम्बाला में सोहनलाल ट्रेनिंग कॉलेज बना। हिसार में दयानन्द कॉलेज ऑफ डिविनिटी शोलापुर में दयानन्द कॉलेज ऑफ एजुकेशन शोलापुर में दयानन्द कॉलेज ऑफ कॉमर्स, अमृतसर में नारियों के लिए डी.ए.वी. कॉलेज तथा मेहरचंद टेकनिकल विद्यालयय खुले।[6] इन दोनों संस्थाओं द्वारा आर्य समाज ने अज्ञानता दूर करने तथा राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार करने में काफी सहयोग किया। दयानन्द जी की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आम जनों को शिक्षित करना है क्योंकि शिक्षा समाज के प्रत्येक वर्ग के अधिकार क्षेत्र में आती है ये कुलीन वर्ग की पारिवारिक सम्पति नही है।''[7] इन दोनों शिक्षा संस्थाओं द्वारा आर्यसमाज ने अज्ञानता दूर करने तथा राष्ट्रीय समानता व एकता की शिक्षा का प्रसार करने में बहुत सहयोग किया।

4. शुद्धि आन्दोलन की शुरूआत– उस समय मुस्लिमों की क्रूरता व हिन्दुओं के लोभ के कारण कई हिन्दुओं ने इस्लाम अपनाया। इसके साथ अंग्रेजों ने भी अत्याचार करके हिन्दुओं को ईसाई बनाया था। इसके साथ ही हिन्दुओं के ज्ञान अभाव के कारण इन धर्मपरिवर्तित व्यक्तियों का सामाजिक बहिष्कार किया व जात-पात जैसा कोढ़ से ग्रसित हो गये। इन सभी समस्याओं का समाधान करने के लिए स्वामीजी ने वैदिक ज्ञान का प्रसार किया और अत्याचारों से ग्रसित हिन्दुओं को पुनः सनातन धर्म में वापस लाये। इसके लिए ''कई सारे बुद्धि कार्यक्रम चलवायें दिल्ली, लाहौर, जोधपुर, पंजाब, इलाहाबाद, आगरा आदि स्थानों पर दयानन्द जी के शिष्य श्रद्धानन्द जी, पं0 लेखराम मुंशी, इन्द्रामणि, लाला रामकिशन तथा रौशन लाल आदि ने पुरे जोश और समर्पण के साथ ये कार्य किया।''[8] हिन्दुओं के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्दजी के अनुसार ''शुद्धि का अर्थ है कि जो लोग समाज में वंचित रह गये है अधिकारों से उनको समाज की मुख्यधारा में लाना तथा उनको शिक्षित करके सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार दिलाना है।''[9] उस समय बुद्धि का काम बड़े जोरो से चल रहा था। देशभर में खलबली मच गयी थी लेकिन हिन्दु मुस्लिमों की काल्पनिक एकता में जीने वाले लोगों को इस कार्य से तकलीफ होने लगी उनका तर्क था कि इससे स्वराज की प्राप्ति में मुश्किल होगी परन्तु इस बात के प्रति उत्तर में आर्य समाज ने कहा ''मुस्लिम हिन्दु एकता के लिए हिन्दुओं का अस्तित्व होना जरूरी है। मुस्लिम, मौलवी, हिन्दुओं का धर्मान्तरण करने पर लगे हुए है तो कैसे रहेगी एकता।''[10] इसलिए शुद्धि आन्दोलन हिन्दुओं के लिए बहुत जरूरी है।

5.राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी –महर्षि दयानन्द सरस्वती का चिन्तन केवल धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था बल्कि भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीय चेतना विकसित करना भी था। अपने विचारों में देश के प्रति प्रेम के कारण दयानन्द जी ने ब्रह्म समाज एवं प्रार्थना समाज की आलोचना की है, उनके अनुसार, ''इन लोगों में देश के प्रति लगाव न्यूनतम स्तर का है, इन्होनें ईसायत को अपनाया है। खान-पान विवाहादि के नियम बदल

लिए है। अपने देश की प्रंशसा व पूर्वजों का आदर करना तो दूर रहा अपितु उनकी निन्दा करते है।''[11]समाज में इनके बढ़ते प्रभाव की वजह से महर्षि जी ने आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज ने समाज में स्वतंत्रता की भावना की जागृति के लिए बहुत सारे कार्य किये। कुछ आर्यसमाजियों ने राजनीतिक दलों में सम्मिलित हुए व कुछ शिक्षा संस्थानों में नए आजादी के सिपाहियों की पौध तैयार करनी शुरू कर दी। जोकि इस प्रकार से है–

स्वराज दल व हिन्दू महासभा–इसकी स्थापना आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपतराय ने असहयोग आंदोलन की अनिच्छा होते हुए भी पंजाब के लोगों के समर्थन के कारण महात्मा गांधी के इस कार्यक्रम में भाग लेना पड़ा'' इस आन्दोलन के दौरान उन्होंने जेल यात्रा भी की तथा जेल से छूटने के बाद उन्होंने पण्डित मोतीलाल नेहरू के साथ मिलकर स्वराज दल का गठन किया।''[12]

आर्य समाज के ही प्रसिद्ध के ही प्रसिद्ध नेता भाई परमानन्द ही हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रहे। इनके ही विचारों के अनुसार '' भारत एक हिन्दु राष्ट्र है तथा हिन्दू राष्ट्रवाद ही भारतीय राष्ट्रवाद है।[13] ये हिन्दू संगठन के पक्षधर थे तथा इन्होंने असहयोग आंदोनल को खिलाफत आंदोलन की समस्या से जुड़ने का विरोध किया था। स्वामी दयानन्द जी की विचारधारा से प्रभावित होकर आर्य समाज ने देश में स्वतंत्रता की अद्भूत क्रान्ति ला दी। शहीद भगत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, मदनलाल ढ़ीगरा व ऊधम सिंह आदि अनेक क्रांतिकारी पं.श्यामजी कृष्ण वर्मा ''इण्डिया हाऊस'' के संस्थापक बीर सावरकर, रास बिहारी बोस ''आजाद हिन्द फौज'' के सदस्य व ठाकुर रोशन लाल सिंह एवं राजेन्द्र लाहिडी ''काकोरी काण्ड'' के वीर योद्धा व पं. श्यामा प्रसाद मुखर्जी आदि अनगिनत वीर सिपाही स्वतंत्रता संग्राम में बिना किसी भय के खुशी-खुशी देश के लिए नोक्षावर हो गये।

आर्य समाजी शिक्षण संस्थाओं का योगदान–आर्य समाजियों ने समस्त भारत में शिक्षा का प्रसार किया। इसके द्वारा भारतीय समाज में आत्मसम्मान व एकता की भावना का प्रसार करना, जिससे भारतीय भ्रष्ट, दुराचारी व घमण्डी अंग्रेजो को भारत से मार कर भगायें। इसी क्रम में गुरुकुल व डी.ए.वी. कॉलेज का प्रमुख योगदान दिया।

(अ) गुरूकुल–इसकी स्थापना प्रथम आधार 1900 ई.में स्वामी श्रद्धानन्द ने रखा कांगडी (उत्तराखण्ड) में। इसकी शिक्षा का मुख्य विषय वैदिक शिक्षा देना, भारतीयों का सभ्यता से पुनः कमलन कराना व इसका प्रचार करना और विदेशी गुलामी की मानसिकता का नाश करना गुरुकुल मूलतः आबादी से दूर होने के कारण ''काकोरी काण्ड के बाद क्रांतिकारी गुरुकुल में छिपे थे। इसी कारण समय-समय पर इन गुरुकुलों में अंग्रेजी सरकार निरीक्षण को आते थे, जब गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह शुरू किया और गोखले जी ने आर्थिक सहायता मांगी थी, ''तब गुरूकुल के विद्यार्थीयों ने दुध व मक्खन न लेकर रूपये जमा करके सत्याग्रह कोष में जमा किये, उसी समय गुरूकुल की हरिद्वार शाखा ने गंगाजी पर ''धुग्धबंदी'' बांध के निर्माण में सत्याग्रह के सहयोग के लिए भेजा था'' इसी तरह कई गुरुकुल के छात्र भी थे, जो स्वतंत्रता संग्राम में शामिल थे जैसे-दीनानाथ पं. स्वामी सत्यदेव गोकुल चन्द नागर व बलवंत सिंह पंडित आदि।

(ब) दयानन्द एंगलो वैदिक कॉलेज–इसकी स्थापना का मुख्य श्रेय लाला लाजपत राय व लाल हंसराज को प्राप्त है। 1886 में इस लाहौर (पाकिस्तान) में शुरू किया। इस कॉलेज का मुख्य विषय वैदिक शिक्षा के साथ पश्चिमी शिक्षा का ज्ञान देना, इसके साथ ही इस कॉलेज का एक और उद्देश्य था कि अंग्रेजी भाषा में शिक्षित करके वर्तमान शासन व्यवस्था में दाखिल होना और सरकार के विरूद्ध लोगों को जागृत करना। इसी क्रम में डी0ए0वी0 कॉलेज (लाहौर) आंग्ल विरोधी लोगों का घर बन गया था। 1907 में डी.ए.वी. छात्र सरदार अजीत सिंह ''भारत माता सोसाइटी'' के सदस्य बन गये, इसी विद्यालय की पत्रिका ''द आर्य गजेटेड'' में स्वतंत्रता प्राप्ति को सामाजिक उत्थान से सम्बन्धित कार्य कहा गया जो वैदिक समाज की नींव रखेगा और मानवीय मुल्यों की खोई हुई गरिमा की पुनः स्थापना करेगा।''[14] इन्ही बातों को ध्यान में रखते हुए डी. ए.वी. के कई छात्र भारतीय स्वतंत्रता के लिए वचनबद्ध थे, जैसे-गेंदा लाला दीक्षित, हरीराम केशवदेव, जगतराम, लालचन्न्द फलक, देवी चंद व दौलतराम आदि छात्रों ने अंग्रेजों की नींदे उड़ा दी।

पाखण्ड के खिलाफ हुंकार–दयानन्द जी ने वेदों के वेदों द्वारा अज्ञान, अविद्या, अवैदिक से फैले पाखण्ड का नाश करने की प्रतिज्ञा ली। अंधविश्वास भारत में अनेक प्रकार से प्रचलित रहे है, जैसे-भूत-प्रेतों का मानना, ग्रहों का चक्र, जन्मपत्री, फलित ज्योतिष तंत्र-मंत्र, देवी प्रकोप आदि पाखण्डों पर जनता का असीम विश्वास था। स्वामी जी इस तरह के बातों को नहीं मानते थे और इसके विरूद्ध ''पाखण्ड-खण्डिनी पताका''फहराया और वैदिक ज्ञान रहित पाखण्डी लोगों को शास्त्रर्थ की चुनौती दी और कहा मनुष्य अपने कर्मो से अपने भाग्य का निर्माण करता है ना कि टोने-टोटके व ज्योतिष से। दयानन्द जी ने यह भी कहा है कि ''यदि मनुष्य को अपने शरीर को दीर्घायु, मस्तिष्क की तीव्र व आत्मा को शुद्ध रखना है तो उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक वैदिक ज्ञान पर चले और पाखण्ड को जीवन से निकालकर कर्मो पर ध्यान दें।''[15]

उपसंहार–इस प्रकार से दयानन्द जी ने सामाजिक कुप्रथाओं पर आघात किया और ये बताया कि जब तक

लोग अशिक्षित रहेंगे तब तक देश व लोगों की दुर्गति होती रहेगी। इसलिए दयानन्दजी ने अपने शैक्षिक विचारों का पदार्पण किया और सामाजिक चेतना की जागृति के लिए आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज ने कई प्रकार के सामाजिक आंदोलन चलाये व धार्मिक अज्ञानता को दूर किया और सफलता भी प्राप्त की।

संदर्भ

1. पाल सिंह, विजेन्द्र, भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्य समाज आंदोलन, आर्य समाज पब्लिकेशन नई दिल्ली, 2015, पृ. 94
2. चांदकरण, शारदा शुद्धिचन्द्रोदय, वैदिक यंत्रलय प्रकाशन, अजमेर, 1926, पृ. 218-220
3. अथैया माथुर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, खण्ड-1, प्रभात पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 306
4. वही, पृ. संख्या 308
5. उपाध्याय, गंगा प्रसाद, The Origin Scope and Mission of the Arya Samaj, Law Genral Press Allahabad 1940, पृ. संख्या 147
6. वही, पृ. 107
7. सरस्वती, महर्षि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, भाग-4, डी.पी. वी. पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 79
8. सिंह, डॉ विजेन्द्रपाल, भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्य समाज आंदोलन, आर्य समाज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 72
9. वही, पृ. 98
10. चांदकरण, शारदा शुद्धिचन्द्रोदय, वैदिक यंत्रलय प्रकाान, अजमेर 1926, पृ. 152
11. वही, पृ. 187
12. लेखराम पंडित, दयानन्द जी का जीवन चरित्र, आर्य साहित्य पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2020, पृ.468
13. विद्यालंकार, सत्यकेतु, आर्य समाज का इतिहास भाग-3 श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, 2017, पृ. संख्या 256
14. वही, पृ. 270
15. वही, भाग-2, पृ. 465

–लता शर्मा
शोधछात्रा (इतिहास विभाग)
कुमारी मायावती गवर्नमेंट गर्ल्स पी. जी. कॉलेज,
बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

–डॉ. अनीता सिंह
प्रोफेसर (इतिहास विभाग)
कुमारी मायावती गवर्नमेंट गर्ल्स पी.जी. कॉलेज,
बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

नई कहानी के दौर में पारिवारिक संबंधों का यथार्थ

—डॉ. सिन्धु जी नायर

भूमिका— पारिवारिक पृष्ठभूमि के आधार पर ही व्यक्ति अपने धर्म, जाति, विवाह और व्यावसायिक भविष्य और सामाजिक व्यवहार का निर्धारित करता है। ग्रामीण परिवेश की अपेक्षा शहरी परिवेश में परिवार टूट रहे हैं। ग्राम में संयुक्त परिवार ही अधिक मिलते है लेकिन शहर में संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। पति-पत्नी और बच्चों से भरा आधुनिक छोटा परिवार है। ताज्जुब की बात यह है कि समय के साथ माता-पिता और संतान के बीच के रिश्तों, संबंधों में भी परिवर्तन आया है।

बीज शब्द—पारिवारिक पृष्ठभूमि, परिवार, संयुक्त परिवार, माता-पिता आदि।

मूल्य-रहित व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं, समृद्धि के लिए सारे पारिवारिक संबंधों को तोड़ता चला जाता है। वह व्यक्ति पुराने संबंधों के स्थान पर नये प्रकार के मूल्यहीन संबंधों की स्थापना करता है। इन में से मोहन राकेश, कमलेश्वर ,राजेन्द्र यादव,उषा प्रियंवदा, भीष्म साहनी आदि की कहानियों को ले सकते हैं। माँ और बेटे के संबंध की टूटन की कहानी है भीष्म साहनी की ''चीफ की दावत''[1]। बेटा अपने चीफ को खुश करके तरक्की पाना चाहता है। वह चीफ को खाने पर बुलाता है। वह घर की सफाई करता है। घर के हर एक फालतू सामान छिपाने में शामलाल सफल हो जाता है। अब समस्या यह है कि माँ को कहाँ छिपाया जायें? सामान को तो आसानी से अलमारियों के पीछे, पलंगों के नीचे छिपाया जाता है। वह इस समस्या को लेकर चिन्तित है कि वह इस जीती-जागती समस्या को कैसे सुलझाये ? बूढ़ी माँ की वजह से दावत की सारी रौनक के बिगड़ने की आशंका होती हैं। बूढी माँ को जागते रहने और बरामदे और ड्राइंगरूम से छिपते फिरने का आदेश बेटा देता है। बेटा माँ को बन्द रखता है लेकिन जब वह अफसर के सामने आ ही जाती है तब बेटा भीतर ही भीतर क्रुद्ध होता है। अफसर को माँ के गुणों पर बहुत प्रसन्न होते देखकर बेटा भी माँ की तारीफ करने लगता है। अब उसे माँ अफसर को खुश करने के लिए बहुत अर्थपूर्ण साधन प्रतीत होने लगती है। बूढी माँ बेटे की तरक्की के लिए साहब से हाथ मिलाती है और कमजोर आँखों के बावजूद फूलकारी बनाने का वादा करती है। इस कहानी में लेखक ने माँ की निरीहता का दर्शन कराया है।

राजेन्द्र यादव की कहानी ''बिरादरी बाहर'' में पारसबाबू की लड़की मालती ने नीची जाति से विवाह कर लिया है। उसका बेटा संजय ही उन्हें मालती के लव मैरेज की खबर देता है। संजय का मत है कि लड़का तो बहुत ही अच्छा है और मालती ने स्वयं ही उसे पसंद किया है और आजकल के जमाने में कौन जाति को पूछता है। पारसबाबू यह सोचकर घबरा जाते हैं कि बाजार से गुजरते हुए लोग उसकी मजाक उड़ायेंगे। वह अपने ही परिवार के सदस्यों से मालती और दामाद के साथ के सारे संबंधों को तोड़ने को कहता है। इस शादी को रोकना वे चाहते है किन्तु दिल का दौरा पड़ने से वे मालती को लव मैरेज करने से रोक नहीं पाते है। दूसरे शहर में मालती का विवाह, ''सिविल मेरिज नियम के अनुसार संपन्न होता है। सारे बेटे और बहू माँ के ऑपरेशन के समय उपस्थित रहते हैं। भाइयों ने मालती के विवाह का समर्थन करते हुए इस दौरान घर आना बन्द कर दिया है। उन सब ने शर्त लगाया कि जब तक मालती और उसका पति घर नहीं आयेगा तब तक वे लोग भी इस घर से कोई वास्ता नहीं रखेंगे। पारसबाबू मन ही मन दामाद को चाहते है, इसी कारणवश वे सोचते है कि दामाद को ठीक से खिलाया पिलाया जा रहा भी है या नहीं । वर्ना वह इस घर के बारे में क्या सोचेगा? वे सोचते हैं कि ''... कम-से-कम यही देख लेते कि मालती ने आखिर उस आदमी में क्या पाया ?''[2] इस विवाह का विरोध करने पर स्वयं वे इस घर से बिरादरी बाहर हो जाते हैं । यह घर अब उन्हें अजनबी लगने लगता है। कोई भी उन्हें नहीं पूछता है। पारसबाबू की यह सबसे बड़ी भूल है कि वे समय की गति को नहीं पहचान पाये हैं। समय को न समझ पाने के कारण समय ने उन्हें निर्ममता से रौंद दिया है।

राजेन्द्र यादव की कहानी ''जहाँ लक्ष्मी कैद है'' में ऐसे परिवार का वर्णन है जिसमें पिता बेटी पर अत्याचार करता है। इस कहानी में लेखक ने एक ऐसे पिता की कल्पना की है जिसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि लड़की की शादी करवाते ही उसकी सारी संपत्ति और ऐश्वर्य समाप्त हो जायेगा। बड़े भइया रोचूराम ने एक पनचक्की खाली है। प्रारंभिक दशा में उनका कारोबार डाँवाडोल ही है । परन्तु उनके घर जब गौरी का जन्म होता है, इसके साथ ही

उनकी हालत सुधरी और संबल भी जाती है। समय के साथ रोचूराम लाला बन जाता है। बड़े भइया रोचूराम का देखा-देखी कर रूपाराम भी लड़की की जन्म कामना लिये ओझा-पीर के पास जाते हैं। लक्ष्मी के जन्म के साथ ही रूपाराम की तकदीर भी बदल जाती है। रूपाराम के मन में यह बात बैठ जाती है कि लड़की देवी है, लक्ष्मी है, लड़की के जन्म के साथ ही लक्ष्मी का, ऐश्वर्य का आगमन होने लगा है। रोचूराम गौरी की शादी कर देता है। गौरी के घर से जाते ही रोचुराम का नसीब ही बदल जाता है । वह एक बहुत बडा मुकदमा हार जाता है और साथ ही उसकी पनचक्की में आग लग जाती है। इस हादसे के कारण ही रूपाराम ने लक्ष्मी को कैद कर दिया है। उसकी पढ़ाई बन्द करवा दी जाती है । घर पर दी जानेवाली पढ़ाई को इस बात को लेकर अनुचित माना जाता है क्योंकि मास्टर लोग लड़कियों को बहकाकर ले जाते हैं। वह हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नजर रखता है। इस दौरान लक्ष्मी को मिरगी ये दौरे पड़ते हैं। जब ये दौरे पड़ते हैं तो वह चीखती-चिल्लाती और पागलों जैसी होकर सारे कपड़े उतारकर फेंक देती है। वह बिलकुल नंगी हो जाती है और जाँघे पीट-पीटकर बाप से कहती है कि ''ले, तू ने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग..... ।''[3] इस कहानी में कहानीकार ने यह बताया है कि निजी स्वार्थ के लिए पिता अपनी ही बेटी को कैदी बनाकर कैसे अपनी सम्पत्ति को बनाये रखने का प्रयास करता है। वह अपनी ही बेटी की जिन्दगी को बरबाद करता है। लाला रूपाराम पर व्यंग्य करते हुए मुंशी और चौकीदार कहते हैं कि एक पिता होने के नाते वह अपनी बेटी के साथ वह नहीं कर सकता है जिसके लिए बेटी पागल हुए जा रही है। लेखक ने यहाँ धन के प्रति लालच और शरीर की अपनी जैविक अनिवार्यता के द्वन्द्व को भी दर्शाया हैं।

दो भाई के समाप्त होते संबंधों के तनाव और अन्तराल में छटपटाती माँ की विडम्बना मोहन राकेश की कहानी ''आर्द्रा'' में चित्रित हैं । बड़ा भाई संपन्न है और उसके पास जीने के सभी साधन उपलब्ध है। उसके पास मकान, नौकर-चाकर आदि सब कुछ है। छोटा भाई, बड़े भाई से अलग है। वह बेकार है। वह महीने में बड़ी ही कठिनाई से ट्यूशन करके साठ-सत्तर रुपये कमाता है। बूढ़ी माँ बचन अपने बेरोजगार, लापरवाह बेटे के साथ रहती है। वह रोटी बना देने के लिए ही बिन्नी के पास रहती है। बिन्नी माँ के प्रति अपना प्रेम कभी भी शब्दों में व्यक्त नहीं करता है। बड़े बेटे लाली के बीमार होने की खबर सुनकर बचन उसके पास जाना चाहती है। वह बड़े बेटे के पास जाकर अजनबी और मेहमान-सा अनुभव करती है। उसके लिए वहाँ सबकुछ अजनबी-सा लगता है। वह सोचती है कि ' दिन भर उसके करने के लिए वहाँ कोई काम नहीं होता था। खाना बनाने के लिए एक नौकर था, और ऊपर का काम करने के लिए दूसरा। उनके काम की देखभाल के लिए कुसुम थी। जब भी बचन कोई काम करने के लिए कहती तो कुसुम नौकर का जिक्र कर देती- नौकर के रहते अपने हाथ से काम करने की क्या जरूरत है?''[4] लाली कहता है कि अगर बिन्नी बी.ए. कर लेता तो कुछ बन जाता लेकिन साहब को दुनिया भर की आवारागर्दी से फुरसत कहाँ है कि वह भले की सोचें। कहानी के अंत में बचन अपने बेरोजगार बेटे के पास लौट जाती है क्योंकि उसका इस घर में होना, न होना कुछ अर्थ नहीं रखता। दूसरी तरफ उसका छोटा बेटा है जिसके जीवन में कोई क्रम नहीं है। वह कहती है कि बिन्नी उसकी नजर के सामने रहेगा तब तो पता चलेगा कि वह क्या करता ? बचन समझ गई है कि उसके छोटे बेटे को ही उसकी ज्यादा जरूरत है। वह उसी के जीवन क्रम को फिर से स्वीकार करती है। इस कहानी में लेखक ने दो भाइयों के बीच समाप्त होते संबंध को दर्शाया है।

माँ और बेटी के संबंध में आये बदलाव का वर्णन कमलेश्वर की कहानी ''तलाश''[5] में है। इस कहानी में सुशिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी विधवा और उसकी युवा बेटी के जीवन का चित्रण किया गया है। ममी विधवा है और उनके पति की मृत्यु आठ वर्ष पूर्व हुई थी। अब वह आत्मनिर्भर है। वह कॉलेज में प्रोफेसर है। बेटी सुमी टेलीफोन ऑफिस में काम करती है। ममी को बीस वर्षीय सुमी के सम्मुख प्रेम की तलाश करती हुई विशेष झिझक होती है है। लेकिन बेटी अपनी में भरसक प्रयत्न करती है। कि ममी को लगे की सुमी इन सब बातों से अनजान है। सुमी ममी और मिस्टर चन्द्रा के बीच जो संबंध है उसको मानते हुए भी वह उन दोनों को अधिक से अधिक सुविधा देने के लिए होस्टल जाने का निश्चय करती है। ममी सुभी है चन्द्रा के साथ उसके संबंध को छिपाना चाहती है, उसकी वजह से दोनों के बीच एक औपचारिकता आ जाती है। दोनों के बीच एक दूरी आ जाती है। सुमी ममी से चन्द्रा के बारे में पूछना चाहती है लेकिन पूछ नहीं पाती है क्योंकि वह सोचती है कि इसका हक सिर्फ पापा को ही है। सुमी ज्यों-ज्यों अपनी ममी से कटती जाती है त्यों-त्यों वह पापा की स्मृतियों से जुड़ती जाती है। वह पापा हर एक सामान को अपने कमरे में सहेजती है। लेकिन अंत में ममी की, सुख की ''तलाश'' तलाश बनकर रह जाती है। ममी और चन्द्रा की दोस्ती बिखर जाती है।

भाई-बहन के संबंध में आये बदलाव का वर्णन उषा प्रियंवदा की कहानी ''जिन्दगी और गुलाब के फूल''[6] में मिलता हैं। पिता की मृत्यु के बाद बेटा परिवार का देखभाल करता है। भाई सुबोध की नौकरी छूटने के बाद

वृन्दा घर का सारा काम देखने लगती है। कमाने वाली बहन का भाई के प्रति सारा पूर्व स्नेह-संबंध टूट जाता है। बेकार भाई को परिवार का अवांछित बोझ समझकर बहन उसकी उपेक्षा करती है। भाई की जरूरतों की उपेक्षा की जाने लगी और उसकी सारी चीजें नौकरी पेशा बहन के कमरे में पहुँचने लगती है। सुबोध की प्रेमिका शोभा ने नौकरी छूटने पर थोड़ी बहुत भावुकता होने पर भी किसी और व्यक्ति से शादी कर ली है। भाई की नौकरी छूटने के पूर्व बहन दौड़-दौड़ कर उसका सारा काम कर दिया करती है परन्तु आज स्थिति बदल गई है। अब आर्थिक बागडोर हाथ में आने पर घर का सब काम उसकी इच्छा के मुताबिक होने लगता है। पुत्र को प्यार करने वाली माँ भी बेटी का पलड़ा भारी देखकर चुपचाप बेटी के निर्णय में शरीक हो जाती है। माँ ने स्वयं को परिस्थिति के अनुसार बदल लिया है। सभी व्यक्ति वृन्दा के सुविधानुसार चलते हैं। बेकार सुबोध को लगता है कि उसका जीवन पूर्णतः विफल है । इस कहानी में लेखिका यह बताती है कि नारी के आर्थिक स्वावलंबन ने पुरुष के निरंकुश शासन को डाँवाडोल कर दिया है। कैसी विचित्र सी बात है कि न माँ का प्यार-प्यार रहा, न ही बहन-भाई का प्यार-प्यार रहा है। सभी की नींव में पैसा है, कमाई है। इस कहानी में उषा प्रियंवदा ने यह सूचित किया है कि जब नारी अर्थोत्पादन में सक्रिय भाग ले रही है और यदि संयोग से भाई बेकार हो जाता है तो भाई के प्रति नारी की संबंधहीनता बड़ी ही गहरी हो जाती है।

पारिवारिक संबंध में आये बिखराव उषा प्रियंवदा की कहानी ''वापसी'' में प्रस्तुत करती है। इस कहानी में पैंतीस साल की नौकरी के बाद रिटायर होकर गजाधर बाबू बड़े ही उत्साह के साथ परिवार के साथ रहने के लिए जाता है। नौकरी के वर्षों में अधिकांश समय गजाधर बाबू को अकेले ही रहना पड़ा है। वह अकेले के क्षणों को भविष्य के संबंध में सपने संजोता रहा है कि कब वह रिटायर हो जायें और कब वह अपने परिवार के बीच स्वयं को पायें? वह यही सोचता रहा कि रिटायर होकर वह अपने घर परिवार के साथ खुशी से अपना वक्त गुजारने वाला है। बाहर के लोगों को गजाधर बाबू की जिन्दगी सफल दीखती है। उसका शहर में एक मकान है, बड़े बेटे और बेटी की शादी हो चुकी है। दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे हैं। बच्चों के भविष्य को ही नजर में रखकर गजाधर बाबू अपने परिवार से दूर रहकर मेहनत करता रहा है। घर लौटने की बात मन में आते ही गजाधर बाबू को अपनी पत्नी याद आती है। इतने वर्षो बाद उसे परिवार के सदस्यों से स्नेह और आदर मिलनेवाला है, इस बात को सोचते असीम प्रसन्नता होती है। इस बात की कल्पना मात्र से ही वह फूला नहीं समा पा रहा है। लेकिन घर पहुँचते ही गजाधर बाबू को स्थिति कल्पना के विपरीत होने का एहसास होता है। यह चाहकर भी घर के सदस्यों के साथ घुल-मिल नहीं पाता है। उसके कमरे में प्रवेश करते ही सब चुप हो जाते हैं। पत्नी के व्यवहार में भी पहले जैसा स्नेह नहीं है। वह घर का काम करते करते थक चुकी है । उसके मुँह से गृहस्थी को लेकर शिकायतें ही निकलती हैं ''सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इस गृहस्थी का धन्धा पीटते-पीटते उमर बीत गई। कोई जरा हाथ भी नहीं बंटाता।''[7]

गजाधर बाबू बड़े ही अधिकार के साथ बहू-बेटी को काम में हाथ बँटाने को कहता है। इसी के साथ घर में उसकी मौजूदगी उन्हें खलने लगी। धीरे-धीरे गजाधर बाबू को यह एहसास होने लगता है कि उसका स्थान उस घर में एक मेहमान की सी है जिसके लिए अस्थायी प्रबंध किया गया है। पहले उसकी चारपाई बैठक में डाली जाती है। इस बीच अमर और बहू अलग मकान लेने की बात करते हैं। गजाधर के आने तक अमर घर का मालिक बना बैठा है और बहू को भी कोई रोकने-टोकने वाला नहीं है। लेकिन गजाधर बाबू की उपस्थिति में अब बहु की मन-मर्जी नहीं चलती है। घर में आनेवाले मेहमानों को बिठाने के लिए जगह नहीं है, इस बहाने गजाधर बाबू की चारपाई पत्नी की कोठरी में डाल दी जाती है। गजाधर बाबू बड़े ही दुःख के साथ इस घटना को भी स्वीकार कर लेता हैं। घर में पैसे की कमी को दूर करने के लिए जब गजाधर बाबू ने नौकर को निकाल दिया है और घर के काम को घरवालों को ही करने को कहता है तब सभी विद्रोह कर देते हैं। वे कहते है कि - ''अम्माँ, तुम बाबूजी से कहती क्यों नहीं। बैठे बिठाए कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझ कि में साइकिल पर गेहूँ रख आटा पिसाने जाऊँगा तो मुझसे यह नहीं होगा''।[8] बसन्ती भी काम करने से इंकार कर देती है। अमर बिगड़ता है कि बूढा आदमी है तो चुपचाप पड़े रहें। दूसरे ही दिन गजाधर बाबू ने सेठ रामजीमल के चीनी मिल में नौकरी करने की बात कही और पत्नी को साथ चलने को कहता है। पत्नी के मना करने पर वह स्वयं ही लौट जाता है। उसके जाते ही पत्नी कहती है कि ''अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। इसमें चलने तक को जगह नहीं है।''[9] गजाधर बाबू की वापसी पर सब चैन की साँस लेते हैं। गजाधर बाबू ने अपने परिवार के लिए जो त्याग, परिश्रम आदि किया है। उसके बदले में वह अपने परिवारवालों से प्रेम और आदर पाना चाहता है। लेकिन उसे परिवार के सदस्यों से मात्र उपेक्षा ही मिलती है। उस कहानी में लेखिका ने संबंधों में आये बिखराव को दर्शाया है।

''तीन दिन पहले की रात'' में कमलेश्वर ने एक ऐसे

परिवार के माता-पिता का वर्णन किया है जो बेटी मीना की सुरक्षा के लिए एक पति चाहते है। इसके लिए समय-समय पर तीन युवक रिझाये जाते हैं। पहला दिवाकर इसलिए नहीं चुना जाता है क्योंकि वह लेखक बनना चाहता है और उसके पास उच्च जीवन स्तर भी नहीं है। पहले जब दिवाकर का घर में आना-जाना रहता है तब ममी हर बात में दिवाकर का ही मिसाल देती रही है। जब नौकरी के संबंध में दिवाकर बहस करता है तब डैडी का मन उस पर से उठ जाता है। वे कहते है कि बिना सिक्योरिटी के जीने से कोई मतलब नहीं है। इसके बाद जितेन का आना-जाना शुरू है। ममी बात-बात पर जितेन की तारीफ करती है। बाद में घर दिवाकर की आलोचनाएँ होनी प्रारंभ होती है। ममी कहती है कि ''दिवाकर जान-बूझकर अपनी जिन्दगी खराब कर रहा है। उसका यह ऊटपटाँग सोचना और लिखना-लिखाना किस काम आयेंगे। कल ठोकरें खायेगा, तब दिमाग रास्ते पर आ जायेगा।''[10] दिवाकर का घर आना-जाना बन्द हो जाता है और जितेन का बढ़ता चला जाता है। जितने के घरेलू झगड़ों को लेकर उसे भी अपनी बेटी के लिए उचित नहीं समझा जाता है। इसके बाद मीना की जिन्दगी में अमर आता है। वह मुरादाबाद से डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ड की ट्रेनिंग समाप्त करके आया है। उसके आते ही घर में उसकी तारीफों के पुल बांधे जाने आरंभ होते हैं। मीना को भी वह अच्छा लगने लगता है। इसका कारण यह है कि—''उसका पौरूष मुझे इसलिए और भी आकर्षित करता था कि मेरे सामने वह छोटा हो जाता था। इस अनुभव में विचित्र-सा सुख मिलता। अधिकार का अनुभव होता। मैं केवल एक मोम का आदमी चाहती थी, जिसे मैं अपना कह सकूँ, जिसे अपनी तरह बना सके, उसका निर्माण कर सकूँ, जिससे मेरी सार्थकता सिद्ध हो जाये।''[11] अमर से मीना की शादी भी हो जाती है। लेकिन सुहाग रात को ही वह अमर की असलियत से वाकिफ होती है। यह सुहाग रात को ही पत्नी को बहादुरी के प्रमाण बन्दूक, पिस्तोल, कारतूस आदि दिखाते हैं। मीना का मोहभंग हो जाता है। मीना को कमरे में घुटन होने लगती है इसलिए वह उठकर खिड़की खोल देती है। इसमें विवाहिता नारी के मोहभंग का सार्थक अंकन हुआ है।

निष्कर्षतः भारतीय मनीषियों ने परिवार को बड़े व्यापक धरातल पर प्रस्तुत किया है। इन्होंने परिवार से केवल पति-पत्नी तथा उनकी संतान तक ही अर्थ ग्रहण नहीं किया बल्कि समस्त प्राणी-मात्र एवं छोटे-छोटे जीवधारियों को भी परिवार के सदस्य के रुप में स्वीकार कर वसुधैव कुटुंबकम की भावना को चरितार्थ किया है। परिवार का समग्र अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्र एवं समाज की दृष्टि से परिवार का अनन्य साधारण महत्व होता है।

संदर्भ

1. भीष्म साहनी, चीफ की दावत, एक दुनियाँ : समानांतर, पृ. 223, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
2. राजेन्द्र यादव, बिरादरी बाहर, कथा यात्रा, पृ. 139, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
3. राजेन्द्र यादव, जहाँ लक्ष्मी कैद है, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 30
4. मोहन राकेश, आद्रा कथा यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ. 106
5. कमलेश्वर, तलाश, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1995, पृ. 118
6. उषा प्रियम्वदा, जिन्दगी और गुलाब के फूल, मेरी प्रिय कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975, पृ. 125
7. उषा प्रियंवदा, वापसी, कथा सप्तमी, जयश्री प्रकाशन, 1993, पृ. 52
8. वही, पृ. 57
9. वही, पृ. 58
10. कमलेश्वर, तीन दिन पहले की रात, कस्बे का आदमी, शब्दाकार, 1995, पृ.16-17
11. वही, पृ. 25-26

–डॉ. सिन्धु जी नायर

असोसिएट प्रोफेसर, महाराजास कॉलेज (सरकारी स्वायत्त), एरणाकुलम, केरल

हिंदी सिनेमा पर बाजारवाद का प्रभाव

—डॉ. नमिता जैसल

आज समूचा विश्व परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन संसार का नियम है। अगर समय-समय पर बदलाव न हो तो पूरा विश्व गतिमान न होकर स्थिर हो जाएगा। परिवर्तित होते समय के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, रहन-सहन, साहित्यिक मान्यताएं एवं वैचारिक स्तर पर जितने भी बदलाव हो रहे है उसमें बाजारवाद की महती भूमिका है और बाजारवाद भूमंडलीकरण की देन है जिसने सम्पूर्ण देश को अपने कब्जे कर रखा है। बाजारवाद ने न सिर्फ हमारी जीवन शैली, सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को गहरे तक प्रभावित किया है बल्कि बाजारवाद ने निजी स्वार्थ को भी जन्म दिया है जिससे व्यक्ति अपने संबंधों तार-तार करते हुए धनोपार्जन की अंधी दौड़ में शामिल हो गया है। बाजारवाद के प्रभाव से हिंदी सिनेमा भी अछूता नहीं रह गया है। फिल्में समाज का दर्पण होती हैं जो मनोरंजन के साथ-साथ हमारे जीवन का अविभाज्य अंग है। 17 वीं सदी में आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण ने पूंजी के प्रभाव को प्रभावित करते हुए बाजारवाद को बढ़ावा दिया है। बाजारवाद के प्रभाव से भूमंडलीकरण का जन्म आर्थिक लाभ और विश्व बाजार की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ। भूमंडलीकरण का प्रभाव देश के समाज के सभी क्षेत्रों पर व्यापक पैमाने पर पड़ा है। भूमंडलीकरण के कारण ही पूरे देश की संस्कृति रहन-सहन खान-पान एक जगह से दूसरे जगह पर आसानी से पहुंच रही है। भूमंडलीकरण की वजह से बाजार का जन्म हुआ जो कि अति विशिष्ट है। पहले जरूरत की चीजें बाजार से खरीदते थे लेकिन अब बाजार के हिसाब से जरूरत की चीजें खरीदी जा रही है या दूसरे शब्दों में यह कहें कि बाजार के हिसाब से अपनी जरूरतों को उत्पन्न कर रहे हैं। बाजार और बाजारवाद का जन्म आज नहीं हुआ है बल्कि बाजार बात की परिघटनाएं अनंत काल से विद्यमान हैं और उसके स्वरूप में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। उत्पादन सृजन करता है तो उपभोग सृजित वस्तुओं का अस्तित्व समाप्त कर देती है। आज बाजार ने हमारे अस्तित्व को पूरी तरीके से हिलाकर रख दिया है जिसकी चपेट में सिर्फ महानगर ही नहीं बल्कि गांव कस्बा सब आ गए हैं। पहले बाजार आवश्यकता पड़ने पर जाते थे लेकिन आज बाजारवादी दौर में आप बाजार जाते नहीं है बल्कि बाजार की चीजें हमारा पीछा करती हैं। राजेंद्र यादव ने हंस' के अक्टूबर 2000 के परिचचर्चा विषय बाजार और संस्कृति पर विषय प्रतिपादन करते हुए कहा है, ''बाजार सिर्फ खरीदने वह बेचने की जगह न होकर संस्कृति, साम्राज्य, राष्ट्र बनाने तोड़ने की विचारधारा और व्यवस्था भी है जो व्यक्ति को मात्र उपभोक्ता में बदलकर रख देता है।"[1]

बाजार से हिंदी सिनेमा अधिकाधिक प्रभावित हुई है। वर्तमान समय में कम समय में अच्छी लागत वाली फिल्में बनने लगी हैं जिसका सामाजिक सरोकार से कोई लेना देना नहीं है। आज वही फिल्म सफल कही जाती है जो करोड़ी क्लब में शामिल हो और फिल्मकार 'क्विक मनी' को केंद्र में रखकर फिल्म निर्माण कर रहा है। अगर सिनेमा के शुरूआती दौर की बात करें तो सिनेमा का जन्म संयोगवश हुआ था जिसका श्रेय ल्यूमिरे बंधुओं को जाता है जिन्होंने चलचित्र के माध्यम से दर्शकों का मनोरंजन किया। दर्शकों ने उस चलचित्र सिनेमा को विस्मय और चमत्कार के रूप में देखा। चलचित्र का यह उद्योग सिर्फ मनोरंजन न होकर व्यवसाय के रूप में परिवर्तित होने लगा। इस तरह सिनेमा के माध्यम से मनोरंजन और व्यवसाय का जन्म होता है। ल्यूमिरे बंधुओं से प्रभावित होकर मुम्बई के सुप्रसिद्ध छाया चित्रकार हरिचन्द्र सखाराम भारवेडकर जी लघु फिल्म का निर्माण करने में जुट गए। उन्होंने मुम्बई के हंगिग गार्डन में कुश्ती का आयोजन कर लघु फिल्म का निर्माण किया। दूसरी फिल्म बंदरों को ट्रेनिंग करवाते समय बनायी। दोनों फिल्म का प्रर्दशन एक साथ 1899 ई. में किया। फिल्म में चलचित्र के साथ-साथ कथा कहानी का होना भी महत्वपूर्ण था। कहानी स्वरूपवाली पहली फिल्म बनाने का श्रेय दादासाहेब फाल्के को दिया जाता है, जिन्होंने 1913 ई. 'राजा हरिचंद्र' फिल्म का निर्माण किया था। सिनेमा को जीवंत बनाने के लिए 1930 ई. तक ध्वनि तकनीक विकसित हो गयी थी। पहली सवाक फिल्म आर्देशिर ईरानी के निर्देशन में 'आलमआरा' 1931 ई. बनी। 'आलमआरा' फिल्म बनने के बाद सभी क्षेत्रों में सिनेमा बनाने की सक्रियता दिखाई देने लगी। आर्देशिर ईरानी के निर्देशन में 158 सवाक फिल्में बनीं। आंरम्भिक दौर में धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को केन्द्र में रखकर फिल्म बनायी गयी। धार्मिक विषय पर आधारित 'पुंडलिक', 'राजा हरिश्चन्द्र', 'कीचक वध', 'सैरंधी', 'कालिया मर्दन' 'शकुन्तला' आदि फिल्में उस

समय बनायी गयी। ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर 'सिकन्दर ए आजम, 'बैजू बावरा' 'झाँसी की रानी', 'पृथ्वी' 'बल्लभ' 'पुकार' जैसी फिल्मों के माध्यम से जनमानस में आजादी की लड़ाई के प्रति जागृत करने का प्रयास किया।

सिनेमा पश्चिम की देन है। पश्चिम का प्रभाव भी भरपूर दिखाई देता है। सिनेमा का विकास मनोरंजन के साथ-साथ व्यवसाय को भी केन्द्र में रखकर हुआ है। पुराने फिल्मकार व्यवसायिकता के साथ सामाजिक मुद्दों को अनदेखा नहीं करते थे। 'सावकारी पाश', 'अछूत कन्या', 'दुनिया न माने', 'पड़ोसी', 'आवारा', 'श्री420', 'मदर इण्डिया' 'साहब बीबी गुलाम', 'बूटपॉलिश', 'चौदहवीं का चाँद' जैसी फिल्में व्यवासायिक रूप से भी सफल थीं और सामाजिक संदेश में भी। समाज में घटित होने वाली घटनाओं से हम सभी प्रभावित होते हैं। समाज और सिनेमा एक-दूसरे के पूरक हैं। समाज में जब भी बदलाव होता है तो उसका प्रभाव सिनेमा पर भी पड़ता है। 90 के दशक में आर्थिक उदारीकरण एवम् ग्लोबलाईजेशन ने पूंजी के प्रवाह हो बढ़ाया जिससे हिन्दी सिनेमा भी अछूता न रहा जिसके कारण सामाजिक सरोकार और मानवीय संवेदना से युक्त फिल्में की जगह व्यवसाय और मनोरंजन ने ले लिया। सिनेमा पर बाजार के प्रभाव लेकर जवरीमल्ल पारख की टिप्पणी सटीक लगती है, ''यह बहुत स्वाभाविक है कि फिल्म निर्माण के लिए पूंजी लगाने वाला निर्माता और उसका प्रदर्शन वाला वितरक यह जरूर चाहता है कि फिल्म ऐसी बने जिसे अधिक से अधिक दर्शक देखना पसंद करें। यही वह बिंदु है जहाँ सिनेमा पर बाजार का दबाव उसके निर्माण और प्रदर्शन का निर्धारक तत्व बन जाता है।''[2]

विश्व बाजारवाद की संकल्पना ने हिन्दी सिनेमा की विषय वस्तु में परिवर्तन किए। राजश्री बैनर की सूरज बड़जात्या के निर्देशन में सन् 1994 ई. में 'हम आपके हैं कौन' फिल्म बनी। यह फिल्म सिर्फ भारत में ही नहीं सुपरहिट रही बल्कि विदेशों में भी इसका जादू चला है। जिसमें हिन्दू रीति-रिवाज और शादी-विवाह को बहुत ही ग्लैमराइज करके दिखाया गया है जो भारत में मध्यवर्ग और विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों का भी ध्यान आकृष्ट करता है। प्रहलाद अग्रवाल के शब्दों में, ''आज हम जिस बदलाव को देख रहें है उसका सूत्रधार अनन्य नैतिक परम्परावादी ताराचंद बड़जात्या का पौत्र सूरज बड़जात्या है। उसने सबसे पहले 1994 में हिन्दी सिनेमा को डिजाइनर लुक दिया। गरज यह है कि सूरज ने देसी जीवन में अमरीकन धड़कन फिट कर दी। सीधी-सादी देहाती 'नदिया के पार' पर ऐसी एन आर आई पॉलिश की जिसने बाजार लूट लिया।''[3] इसके साथ ही 'दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएंगे', 'कभी खुशी कभी गम', 'हम दिल दे चुके सनम', 'ताल', 'यादें', 'परदेस', 'मोहब्बतें', 'आ अब लौट चलें', 'कभी अलविदा न कहना', 'एक रिश्ता', एवं 'माइ नेम इज खान' आदि फिल्मों में बाजार के प्रभाव को देख सकते हैं जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय दर्शकों को केन्द्र में रखकर विदेशी पृष्ठभूमि पर कथावस्तु का निर्माण किया जाने लगा। शुरू में सिनेमा का प्रदर्शन सिंगल स्क्रीन पर होता था लेकिन जैसे-जैसे सिनेमा में बाजार का प्रवेश हुआ या यह कह लें आर्थिक उदारीकरण ने नवधनाढ्य वर्ग को जन्म दिया जो मनोरंजन के नाम पर पैसा खर्च करने के लिए तैयार थे। सिनेमा का प्रदर्शन सिंगल स्क्रीन 16 एम. एम पर बंद होने लगे और मल्टीप्लेक्स का दौर शुरू हुआ।

मल्टीप्लेक्स का दौर शुरू हो जाने से हिन्दी सिनेमा के परम्परागत एवम् सामान्य दर्शक (किसान, ग्रामीण एवम् मजदूर वर्ग) के लिए टिकट खरीदना मुश्किल हो गया सिनेमा को विषय वस्तु/कथावस्तु से गांव, किसान मजदूर की समस्या भी गायब होने लगी। अब फिल्मों में गांव का स्थान शहर/महानगर एवम् विदेशी लोकेशन्स ने ले लिया था। विदेशों में शूटिंग का प्रचलन बढ़ने लगा। फिल्मों से सामान्य जन (किसान, मजदूर) सामाजिक मुद्दे गौण हो गए। फिल्मकार का मुनाफा कमाना एकमात्र लक्ष्य हो गया क्योंकि फिल्मकार और फिल्मों पर बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति हावी होने लगी ''सिने-कला का विकास बाजार अर्थव्यवस्था के अनुकूल ही हुआ है। पूंजीवादी शासक वर्ग भी इसी अर्थव्यवस्था की देन है। यह पूंजीपति वर्ग का नुमाइन्दा है; अतः फिल्में सरकारी संस्थाओं की हों या निजी निर्माताओं की, पूंजी के हित से ही संचालित होती हैं। विशाल पूंजी की आवश्यकता और बाजार के जोखिम से फिल्म निर्माता को एक बनिया बना दिया है, जो हमेशा बॉक्स ऑफिस की चिन्ता से ग्रस्त रहता है। निर्देशक और कलाकार जिनमें से टकराकर शीघ्र ही व्यवसायी, दलाल या मजदूर बन जाते हैं। इनका अपने उत्पाद से पूरी तरह विच्छेद हो जाता है। कलाकार अब दावा नहीं कर सकता कि उसके द्वारा निर्मित फिल्म वैसी ही है, जैसी उसने पूर्व में कल्पना की थी।''[4]

बाजार ने सिनेमा को हर पहलू पर प्रभावित किया है। बाजारवाद प्रभाव के कारण ही हिन्दी सिनेमा में नायक की अवधारणा में भी परिवर्तन हुआ है। यदि हम अस्सी के दशक या उससे पहले के सिनेमा की बात करें तो उस समय शोषणकारी व्यवस्था एवम् समस्याओं तथा उनकी बुराईयों को केन्द्र में रखा जाता था। उस समय लगभग अधिकांशतः फिल्म ग्रामीण परिवेशों पर आधारित होती थी जिसका नायक किसान, मजदूर या समाज सुधारक होता था जो आम व्यक्ति की तरह शोषणकारी व्यवस्था की विरूद्ध आवाज उठाता था उसके पास किसी भी प्रकार का

सुपर पावर नहीं होता था, जिसे देख अविश्वनीय प्रतीत नहीं होता था। इन नायकों का वास्तविक जीवन से गहरा जुड़ाव होता था। अगर हम आज के फिल्मों को देखें तो पायेंगे नायक सामान्य जन-जीवन की समस्या से गायब हैं, जिसका वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं है। वह सर्वशक्तिमान बनकर उपस्थित होता है उसके समक्ष कितनी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो उसे पार कर जाता है वह बड़े से बड़े दुश्मन को घुटने टेका देता है जिसकी कभी हार नहीं होती है। वह क्लाइमेक्स में विजेता बनकर आता है। ऐसे नायक पूरी तरह से काल्पनिक व चकाचौंध पूर्ण होते हैं जो आम व्यक्ति की क्षमताओं से बिल्कुल भी मेल नहीं खाते हैं और न ही आम जनमानस का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज के फिल्म निर्माताओं का सामाजिक सरोकार से मतलब नहीं है उन्हें सिर्फ आर्थिक लाभ से मतलब है। वह सिर्फ अधिक आय को केन्द्र में रखकर फिल्म का निर्माण करता है।

आज उपभोक्ता सर्वोपरि है और उपभोक्तावादी संस्कृति ने फिल्मों में 'आइटम सांग्स' जैसी नई विधा को जन्म दिया है जो हर सिनेमा की अनिवार्यता बन गयी है। जैसे–'चिकनी चमेली', शीला की जवानी, मुन्नी बदनाम हुई, चिपका ले फेविकोल से, 'मटकाऊ कमरिया धीरे-धीरे', आदि आइटम सांग्स की भरमार है। आज के फिल्मों से देसीपन गायब होता जा रहा है। पुरानी फिल्मों के संगीत अधिक कर्णप्रिय और मन को शांति देने वाले होते थे। जवरीमल्ल पारख के शब्दों में, ''बाजार की ताकतें इस बात का प्रचार करती हैं कि सिनेमा एक लोकप्रिय माध्यम है, जिसका मुख्य कार्य मनोरंजन प्रदान करना है। उसकी सार्थकता उसके लोकप्रिय होने और मनोरंजन प्रदान करने में ही है। लेकिन फिल्मों की लोकप्रियता फिल्म की अंतर्वस्तु और उसकी कलात्मकता अभिव्यक्ति पर नहीं, बल्कि बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिनका फिल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्षतः कोई सम्बंध नहीं होता। मसलन, अभिनेताओं की मर्द छवि अभिनेत्रियों के यौन सौन्दर्य, हिंसा के उत्तेजक, दृश्य नृत्य और संगीत का अन्यायपूर्ण इस्तेमाल इत्यादि लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व बन गये हैं, ताकि इनके द्वारा मनोरंजन की खास तरह की संकल्पना को स्थायित्व प्रदान कि जा सके।''[5] सिनेमा ने सौ वर्ष से अधिक का समय पूर्ण कर लिया है अगर सिनेमा के इतिहास को देखें तो इधर कुछ बीस-तीस वर्षो में पैसा कमाने की होड़ सी लग गयी है 'सौ' करोड़ी क्लब में शामिल होना, बॉक्स आफिस पर हिट होना, नम्बर वन की सूची में शामिल होना। इन सबके बावजूद कुछ निर्देशकों ने सिनेमा के परिदृश्य और विषय में बदलाव कर हिन्दी सिनेमा को समृद्ध किया। जैसे–बायोपिक फिल्मों में 'पान सिंह तोमर', 'मैरी काम', 'भाग मिल्खा भाग', 'नीरजा','डर्टी पिक्चर', 'बाजीराव मस्तानी', 'एम. एस. धोनीः द अनटोल्ड स्टोरी', 'राजी', 'संजू', 'तान्हाजी-द अनसंग वारियर', 'मांझी द मांउटन मैन' आदि। आम जन की समस्याओं के केन्द्र में रखकर 'लगान','लज्जा','खोसला का घोसला','गैंग्स ऑफ वासेपुर','पीपली लाइव','दम लगा के हईसा','ड्रीम गर्ल','अलीगढ़','नील बटे सन्नाटा','जाली एल.एल.बी','बाला','बरेली की बर्फी' आदि फिल्में सामाजिक सरोकार से जुड़कर आम व्यक्ति के जीवन में विविध रंग और रूपों को प्रस्तुत करती हैं। बाजारवाद के प्रभाव के कारण आज के सिनेमा में फिल्मों का रीमेक बनाने का प्रचलन बहुत तेजी से बढ़ा है। फिल्मी रीमेक को एक तरह से नयी फिल्मी विधा ही कह सकते हैं जिसके माध्यम से कई सारी भाषाओं की फिल्मों का हिन्दी मे रीमेक बनाया गया है। 'देवदास', 'परिणीता', 'उमरावजान', 'गजनी', 'बाडीगार्ड', 'वांटेड', 'राउडी राठौर', 'सिंघम', 'बाहुबली' आदि दर्शकों मे समक्ष मील का पत्थर साबित हुई।

आज हिन्दी सिनेमा ने सौ वर्ष से अधिक का समय पूर्ण कर लिया है। आरम्भ में धार्मिक और पौराणिक कथाओं पर आधारित हिन्दी सिनेमा बाजारवादी सिनेमा तक आते-आते विषयों में बहुत परिवर्तन हुए। बाजारवाद के इस दौर में निर्माता, निर्देशक का सारा ध्यान मुनाफे कमाने में लगा रहता है जिससे कारण फिल्म के प्रचार-प्रसार पर काफी ध्यान दिया जाता है कि उनकी फिल्म येन-केन प्रकारेण करोड़ी क्लब में शामिल हो जाए। बाजार ने हर वस्तु को उत्पाद में बदल दिया है जिसका प्रभाव सिनेमा पर भलीभांति पड़ा है। बाजारवाद के कारण ही अन्य भाषाओं क्षेत्रों की सिनेमा आसानी से दर्शक वर्ग को आसानी से मिल जाते है। बाजार के वजह से सिनेमा में नवीन प्रयोग भी होने लगे हैं। वैश्विक स्तर पर हिन्दी सिनेमा ने अपनी अलग पहचान बनाने में सफल हुई है।

संदर्भ

1. हंस, राजेंद्र यादव, अक्टूबर 2005 पृ. 105
2. रमेश उपाध्याय और संज्ञा उपाध्याय, भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा, 2012, पृ. 61
3. प्रह्लाद अग्रवाल, बाजार के बाजीगर, पृ. 12
4. राजाराम, निबंध : समाज और सिनेमा इतिहास बोध, सिनेमा अंक-19, जनवरी-जून पृ. 95
5. रमेश उपाध्याय और संज्ञा उपाध्याय, भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा, शब्द संधान प्रकाशन, 2012, पृ. 61

–डॉ. नमिता जैसल

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग,

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय,

लखनऊ

इक्कीसवीं सदी की दलित कहानियों में दलित चेतना का बदलता स्वरूप

—नेहा कुमारी

शोध सार—साहित्य किसी जाति, धर्म या वर्ग का साहित्य नहीं है बल्कि यह सम्पूर्ण मानवता की बात करने वाला साहित्य है। साहित्य कामूल केंद्र मानव रहा है। इसी कारण मानव के दुःख, दर्द, वेदना एवं समस्याओं से साहित्य का गहरा संबंन्ध जुड़ है। दलित साहित्य पूरी तरह शोषित-पीड़ित व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति दर्शाता है। इक्कसवीं सदी आते-आते दलित वर्ग में एक नई चेतना जागृत हो चुकी है। दलित वर्ग के लोग अब शिक्षा ग्रहण कर चुके है और अपने आस-पास के परिवेश से भली-भाँति परिचित हो गये हैं उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति सामने आये जिन्होंने अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति सजगता दर्शायी। जो निम्न वर्ग के दर्द को भुगत चुके थे या भोग रहे हैं, उन्होंने अपनी पीड़ा को पूरे यथार्थ के साथ सम्पूर्ण समाज के सामने प्रस्तुत करने का साहस जुटाया और अपने सम्मान की रक्षा करना प्रथम कर्तव्य समझा। दलित कहानी कारों ने इसी नई चेतना को अपने कहानियों में अभिव्यक्त किया है।

बीज शब्द— शोषण-वंचन, दलन-दमन, दलित चेतना, शहरीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण, बाजारवाद।

मुख्य आलेख— उन्नति का यह शाश्वत नियम रहा है कि वह क्रमवार ही आगे बढ़ती है, कभी भी प्रथम सीढ़ी से उठकर अंतिम सीढ़ी पर अचानक ही नहीं पहुँच जाती। मध्यान्तर में दो विरोधी पक्षों के मध्य एक सामान्य स्थिति का विकास होता है जो पुनः किसी प्रतिरोधी व्यवस्था से टकराती है और नवीन परिमार्जन हेतु स्वयं को तैयार करती है। उन्नति के नियम सा ही दलित चेतना के विकास का मार्ग रहा है। अपनी प्रारंभिक स्थिति के बाद से लगातार विभिन्न संघर्षों से टकराते हुए वर्तमान स्थिति में पहुँचा है,और यहाँ पहुँचकर भी यह यात्रा रुक नहीं जाती, बल्कि निरंतर अपनी प्रगति के बीज खोजती रहती है। हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के विकास का प्रारंभ अश्वघोष, बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ, कबीर, रैदास, हीराडोम आदि किसी से भी माना जाए, किन्तु इस बात को इंकार नहीं किया जा सकता कि दलित चेतना का स्वरूप एक सा नहीं रहा है। चूंकि साहित्य समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। अतः समाज की प्रत्येक अच्छाई-बुराई अपनी अच्छाइयों-बुराइयों, उपलब्धियों सीमाओं के साथ उपस्थित रहती हैं। सभ्यता विकास के सर्वाधिक सहायक तथा लोक प्रिय विधा कहानी रही है। और यह अधिक समय, व्यय तथा साधनों की माँग नहीं करती है। इसलिए किसी भी चेतना की अभिव्यक्ति की प्रिय विधा बन जाती है तथा समाज को सर्वाधिक प्रभावित भी करती है। हिन्दी दलित कहानियों की विकास-यात्रा भी लगातार जारी है।

हिन्दी दलित कहानियों में प्रारम्भिक कहानियाँ दया और सहानुभूति का वर्णन करती हुई अपने शोषण, वंचन, दलन, दमन आदि की समाप्ति के लिए ब्राह्मणवादी मानसिकता की शिकार जनता के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी निवेदन करती नजर आती थीं तथा उसी सत्ता के रहमोकरम पर आश्रित थीं जिनसे अपने जीवन के लिए कुछ सुविधाओं की माँग कर रही थीं। इनमें कहीं भी सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक व्यवस्था की बनी-बनाई परंपरा के प्रति लेशमात्र भी विद्रोह का उग्रवादी स्वर नहीं था। यह शांतिपूर्ण तरीके से माँगी गई भिक्षावृत्ति थी जिसे सामान्यतः ब्राह्मण उच्छिष्ट समझ यदा-कदा फेंक दिया करते थे। चेतना के प्रारम्भिक विकास के चरण में इस प्रकार की क्रियाओं ने दलितों को सदियों-सहसाब्दियों के शोषण-जकड़बंदी से उपजी संवेदनहीनता के प्रति जागरूक अवश्य किया तथा वे अपने गरिमापूर्ण जीवन के लिए दया, परोपकार से हटकर अपने अधिकार, अपना हक माँगने को प्रेरित हो सके। इन्हीं क्रियाओं की परिणतिस्वरूप इक्कीसवीं सदी की कहानियों का जन्म हुआ जो अपने मूल रूप की कहानियों से परिवर्तित-संशोधित रूप में सामने आती हैं इक्कीसवीं सदी वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और बाजारवाद के प्रभाव का युग रहा है जिसमें सामाजिक संबंधों से अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक सम्बन्ध हो गए हैं। अब सामाजिक मर्यादाएँ आर्थिक हितों के कारण टूटती जा रही हैं। अब मायने यह नहीं रखता कि सामाजिक मर्यादाएँ कैसी हैं। ऐसे में सामाजिक मर्यादाओं के शोषण का शिकार रहे दलित इनका उल्लंघन क्यों न करें आज का पुरानी पीढ़ी का व्यक्ति-समूह भले ही सामाजिक मर्यादाओं के नाम पर कुछ न बोले या उन्हें स्वीकार करें किंतु शिक्षित-जागरूक दलित वर्ग अपने शोषण रूपी

खोखली-ढोंगी मर्यादाओं को तोड़ रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी के केन्द्रीय पात्र हरीश द्वारा सामाजिक परम्परा 'सलाम' को तोड़ने का उदाहरण ऐसा ही है। हरीश ने तीखे शब्दों में कहा—''आप चाहे जो समझें.... मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह 'सलाम'की रस्म बन्द होनी चाहिए।''[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'कूड़ाघर'में दलित वर्ग में अपनी जाति के प्रति स्वाभिमान का भाव व्यंजित करती है और किसी के द्वारा किसी भी प्रकार के अनुचित आरोपों का विरोध करती है। कहानी का पात्र अजब सिंह अपनी पत्नी से कहता है-''इनसे जितना डरकर बात करेंगे ये हमें दबाने की कोशिश करेंगे। तुम इनकी फितरत नहीं जानती। जात-पाँत के सवाल पर ये सब इकठ्ठे हो जायेंगे, आपस में चाहे जितना एक-दूसरे के खिलाफ लड़ें।''[2]

सामाजिक मर्यादाओं के बंधन ढीले होने का एक बेहतर परिणाम यह हुआ कि समाज में जाति-धर्म से ऊपर इंसानियत आने लगी और मनुष्य मानवता के नाते एक दूसरे से सम्बन्धों में बँधने लगे। फलतः अंतर्जातीय प्रेम और विवाह के सम्बध समाज में दृष्टव्य होने लगे। ब्राह्मणवादी पवित्रता का ढोंग करने वाले भी तथा कथित निम्न वर्ग में तथा निम्न वर्ग के व्यक्ति भी उच्चवर्ग में दाम्पत्य बंधन करने लगे। 'सुशीला टाकभौरे' की कहानी 'धूप से भी बड़ा'की ब्राह्मण वर्गीयरमा को हरिजन जाति के डॉक्टर सुनील से शादी करने के बाद खुशी इस बात की है—''केवल सुनील ही नहीं पूरे परिवार ने उसे सम्मान के साथ स्वीकार किया। उसे इतना प्यार दिया। तब बड़ा कौन है? जो अमिट प्रेम का मूल्य जानते हैं, जो शरीर से अधिक व्यक्ति की भावना को महत्त्व देते हैं, जो अपने कर्तव्यों को भली-भाँति जानते हैं, जो गलतियों को नहीं, अच्छाइयों को देखते हैं, जो दुःख-सुख में सच्चा साथ निभाते हैं।''[3] किन्तु अन्तर्जातीय विवाह की यह खुशी सदैव और सभी रिश्तों में नहीं पाई जाती है कई परिवार अन्तर्जातीय बहु को अपने घर-परिवार में सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं के अनुसार अनुकूलित नहीं कर पाते हैं और सामान्यतः परिवारके वरिष्ठ सदस्य इस नए सदस्य को घृणा की निगाह से देखने लगते हैं। इस बात की संभावना भी बनी रहती है कि विवाह करने वाला पुरुष भी सिद्धांतों में ही प्रगतिशील हो किन्तु व्यवहार में उसमें भी धर्म-जाति की मान्यताएँ बैठी हों। फलतः अपनी पत्नी के साथ सहजन हो पा रहा हो। और यह समानता दलित वर्ग की बहू होने के कारण ही होता है। किन्तु दलित चेतना के लिए आशा की किरण यह है कि आज की स्त्री इस प्रकार की अपनी गलती को स्वीकार कर पा रही है और पुनः तलाक लेकर अपने वर्गीय समाज में आने की हिम्मत कर पा रही है। जिसमें उनके वर्ग के, परिवार के सदस्यों की भी सहायता तथा मनोबल मिलता है। दलित नारी दो टूक जबाब देती हैं— ''मैं इस घर से जा रही हूं, ये घर मेरे लिए नर्क है, मैं नर्क में नहीं रहना चाहती। तुम भी सुन लो। यदि तुम मुझे अपनी बीवी समझते हो तो मेरे साथ रहना होगा।''[4] लेकिन यह नारी की सहनशीलता और उच्छृंखलता नहीं है क्योंकि सलोनी कहती है—''यश को मैं छोड़ना नहीं चाहती। बल्कि उसके परिवार का जाति का अहंकार टूटना चाहिए।''[5]

जाति-धर्म की कट्टरता का अड्डा गाँव होते हैं। चूँकि यहाँ लोगों का आपसी संपर्क तथा पहचान इतनी अधिक होती है कि सामान्यतः इनके जातीय मुद्दे प्रत्येक कार्य में आ ही जाते हैं। शहरीकरण और बाजारवाद के इक्कीसवीं सदी के युग ने दलितों के अन्दर सदियों के इस शोषण की समाप्ति हेतु गाँव छोड़ने तक की चेतना जागृत की है। शहर जाकर वे अपनी पहचान के साथ अपने तरीके से शोषण से बचकर अपनी आजीविका चलाते हुए अपने परिवार के दायित्वों का निर्वहन कर सकेंगे तथा उनकी बहू-बेटियाँ गांवों के जमीदारों के बेटों की गिद्ध-दृष्टि से बचेंगी। भावी पीढ़ी अच्छी तरीके से पढ़-लिखकर जागरूक हो सकेगी। 'श्यौराज सिंह' 'बेचौन' की कहानी 'रावण'इसी मंतव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। कहानी के चमार जाति का पात्र मूलसिंह का हमेशा के लिए गाँव को छोड़ने के इरादे के साथ अपने पिता से कहता है—''बाबा तुमउ चलो, यहाँ नफरत और छूत-छात के अलावा कौन सी हमारी जागीर बची है। गाम में हम अपने हाड़-मांस धुन के पेट भरते है। सो जहाँ रहेंगे वहीं भर लेंगे।''[6]

शिक्षा आधुनिक जीवन की गरिमा की और गुणवत्ता की अनिवार्यता है। शिक्षा के अभाव में किसी भी प्रकार से कोई भी हमारा निरंतर शोषण करते हुए बेवकूफ बना सकता है। साथ ही आजीविका के साधनों हेतु भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा ही है। आज के आर्थिकी आधारित युग में शिक्षा का अभाव प्रत्येक जानकारी से दूर रख सकता है। शिक्षा मान-सम्मान तथा प्रतिष्ठा के साथ ही ज्ञान प्राप्ति का साधन है। आज की इक्कीसवीं सदी में समाज में शिक्षा का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। ऐसे में दलित वर्ग इससे अछूता नहीं रहा है और न ही हिंदी की दलित कहानियाँ शिक्षा की चेतना को अभिव्यक्त करने से पीछे रही हैं। आज दलित वर्ग ब्राह्मणों की दलितों को अशिक्षित रखकर शोषण करने की नीति को समझ चुका है और अपनी शिक्षा के प्रति जागृत हुआ है। आज यह वर्ग प्रत्येक विरलतम स्थिति में शिक्षा प्राप्ति हेतु अग्रसर है। सुशीला टाकभौरे की कहानी 'सिलिया'में सिलिया का समर्पण तथा संघर्ष कहानी में शंकर के समर्पण द्वारा इसे देखा जा सकता है-''शंकर के घर में बिजली की लाइन नहीं है। रात में घासलेट तेल की चिमनी और लालटेन जलाते हैं। वह

रात में जमीन पर बैठकर लालटेन की धीमी रोशनी में एकाग्रचित होकर देर तक पढ़ाई करने लगा। शंकर को पढ़ाई करते देखकर उसके माँ-बप्पा बहुत खुश होते। बप्पा बड़ी उम्मीदों के साथ कहते—''हमारा बेटा खूब पढ़ाई कर रहा है। वह जरूर साहब बनेगा। वह जरूर बाबू ही नौकरी करेगा।''[7] शिक्षा सभी प्रकार के विकास का आधार है। दलित वर्ग यह समझ चुका है। आर्थिक अभाव किसी नवीन पीढ़ी के लिए शिक्षा प्राप्ति के मार्ग की बाधा न बने,इसलिए प्राचीन पीढ़ी जिसने उस प्रकार के दंश झेले हैं वह किसी संस्था के द्वारा सहायता करने हेतु तत्पर है। ''नई राह की खोज कहानी का रामचंद अपने बेटे लालचंद को पढ़ा-लिखा कर अच्छी नौकरी पर लगाना चाहता है, पर उसकी ये चाहत पूरी नहीं होती। क्योंकि वह अनपढ़ है, इसीलिए अपने बेटे की पढ़ाई में मदद नहीं कर पाता। इन सब असफलता के बावजूद, रामचंद्र अपने साथ जो हुआ, वह समाज के किसी और रामचंद या लाजचंद के साथ न हो- इसी भावना से 'जागरूक'नामक की संस्था खोलता है और इस संस्था के जरिए समाज को सही राह दिखाने के लिए प्रतिबद्ध है।''[8]

राजनीति वर्तमान समय में मूलतःशासन-प्रशासन के संचालन की संस्था बन गई है। वस्तुतः राजनीति से ही आज के समय की नीतियों, कानूनों, नियमों, विनियमों का निर्माण होता हैय जो समाज के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मताधिकार पर आधारित इस राजनीति में धर्म-अधर्म से ऊपर मनुष्य के मत का मूल्य है। फलतः जनता को निर्वाचन के समय लोक लुभावने वायदों से तुष्टीकरण करने का प्रयास किया जाता है किन्तु चुनाव में जीतने के बाद ये सभी नेता अगले निर्वाचन तक के लिए अपने वायदों को भूल जाते हैं। पहले तो ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले प्रतिनिधियों का बोलबाला राजनीति में था इसलिए दलितों के हित में काम नहीं किए जाते थे। किन्तु दलितों में जागृत चेतना ने जब अपने वर्ग के प्रतिनिधि को भेजा तो वह भी सत्ता पद के नशे में उसी का शिकार हो गया और अपने दायित्वों को भूल गया। आज की दलित चेतना जाति-वर्ग के मुद्दों के मध्य अपने वर्ग के प्रतिनिधियों को भी प्रश्नों के कठघरे में खड़ा करती है। 'श्यौराज सिंह 'बेचैन'की कहानी 'भरोसे की बहन'इसी मानसिकता को व्यक्त करती है। यह कहानी एक गरीब कार्यकर्ता रामभरोसे की मायावती में आस्था और मोहभंग की कहानी है। रामभरोसे की पत्नी रामकली उसे यथार्थ-स्थिति का बोध कराते हुए कहती है—''साठ साल तें ये ही डिरामा चलि रयौ है। कै अब की न्याय मिलेगौ के अबकी बराबरी मिलेगौ, सब पढ़ंगे-सब बढ़ेंगे सब सफेद झूठ।अब जे अनौखी भेन जी आयी हैं? जो सीधे सिहांसन देवे की बात करें हैं का वे जानती है के हमारे घर में लज्जा के धोवन कूँ साबुन नांय है।''[9] इस हलपूर्ण राजनीति का पर्दाफाश हो जाने के बाद आज दलित चेतना समझ चुकी है कि स्थिति में सुधार तब तक संभव नहीं जब तक कि राजनीति में प्रवेश करके अपने लिए कानून न बनाए जायें। आज अपने वर्गीय हितों को ध्यान में रखकर राजनीति में सक्रिय हिस्सेदारी ले रहे है और अपने शोषण के कारकों का बदला भी तथा भेदभावपूर्ण असमानता जनक व्यवहारों को समाप्त करने के लिए कानून निर्माण का प्रभाव भी। डॉ. पूरन सिंह की कहानी 'राजीनिति' की पात्र सुजाता अपने शोषण के विरुद्ध वक्तव्य देती है—''ईंट से ईंट बजा दूंगी मैं। ये ब्राह्मण सदियों से भोली-भाली मानवता को अपने खूनी पंजों में जकड़कर रखा है। विश्वास दिलाती हूं उन पंजों को जड़ से उखाड़ दूंगी। मैं बाबासाहब बेटी, मैं बहिन जी लाड़ली....देवकीनंदन तेरी मां ने सच में तुझे दूध पिलाया है तो मेरी टक्कर को झेल। मैंने अपनी मां का दूध नहीं पिया। मैंने अपने पिता का रक्त पिया है। तेरी चीथड़े न उड़ा दिए तो मैं गंगादीन की बेटी नहीं। मैं वादा करती हूं तेरे साम्राज्य को नेस्तोनाबूद कर दूँगी।''[10]

ऐसा भी नहीं है कि आधुनिक समाज में शोषण की जटिलता उसी प्रकार की बनी है और दलित पूर्व की भांति प्रताड़ित ही रहे हैं। वस्तुतः दलितों को चेतना के उभार से कुछ बाह्मण वर्ग के प्रगतिशील शिक्षित जागरूक युवकों ने शोषण, वंचना, अपमान के खिलाफ तथा अधिकारों की प्राप्ति हेतु एक ही लड़ाई में दलितों का साथ दे रहे हैं। वे अपनी ब्राह्मणीय व्यवस्था से टकरा रहे हैं, किन्तु फिर भी मनुष्यता को ही अधिक महत्व देते हैं। आधुनिक दलित कहानियाँ ब्राह्मण वर्ग में इस प्रकार की नई चेतना के उभार को उजागर करती है। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की कहानी 'सलाम' काकमल उपाध्याय, 'रजत रानी' 'मीनू' की कहानी 'मिट्ठू की विरासत'में दलित वर्गीय चेतना का समर्थन करने वाले प्रतिनिधि पात्र हैं। वे उनके अधिकारों हेतु लड़ाई भी करते हैं। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की कहानी 'सपना' का ब्राह्मण पात्र ऋषि दलित पात्र गौतम से पुजारियों की भ्रष्टता को व्यक्त करता हुआ कहता है- ''नहीं गौतम, यह तेरी या मेरी लड़ाई नहीं है....आज यह जगह छोड़कर तुम चले भी गए तो फिर इस लड़ाई को जारी रखना मुश्किल होगा। और फिर तुम क्यों जाओगे ! जाएंगे वे जो निकम्मे और जाहिल हैं। यह मंदिर इनका कैसे हो गया....आओ मेरे साथ।''[11]

यह सब कुछ उतना आसान नहीं था, जितना प्रतीत होता है। फलतः दलित वर्ग की प्रारम्भ की अनुनय विनय की चेतना से जब अपना हक अपने अधिकार नहीं मिले तथा कानून में समानता का आधार मिला तो दलित वर्ग में एक नई चेतना जागृत हुई। यह चेतना पूर्व की तरह

शान्त और भिक्षा वृत्ति की चेतना न थी, बल्कि उग्र स्वभाव रखने वाली विद्रोही स्वभाव की चेतना थी जिसमें लड़कर अपने अधिकार प्राप्त करने तथा नुकसान पहुँचाने वाली व्यवस्था को धता बताने और प्राचीन अप्रासंगिक मान्यताओं को अस्वीकार करने की चेष्टा विद्यमान थी। अब इस वर्ग को किसी के रहमोकरम पर जी कर दासता का जीवन व्यतीत करना स्वीकार नहीं था। स्वाभिमान पैदा होने पर दलित वर्ग में आई इस विद्रोही चेतना को रचनाकारों ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। सुशीला टाकभौरे की कहानी जन्मदिन, सिलिया, ओमप्रकाश वाल्मीकि की कूड़ाघर आदि इसी विद्रोही मानसिकता को व्यक्त करने वाली कहानियां हैं। जन्मदिन कहानी का पात्र 'मुन्ना' आत्मविश्वास से भरा हुआ इसी प्रकार के विद्रोह को प्रकट करते हुए सफाई करने वाले सभी लोगों को जागरूक करता है– ''सब मिलकर हड़ताल कर दो। आज से कोई भी कच्ची संडास साफ नहीं करेगा। सिर पर मैला कोई नहीं उठायेगा। कच्ची नाली साफ नहीं करेंगे। जब हम काम पर नहीं जाएंगे तब लोग अपना इंतजाम खुद कर लेंगे।"[12]

दलिता चेतना का यह स्वरूप ऐसा नहीं है कि व्यक्तिगत है। इस चेतना में प्रत्येक वह व्यक्ति शामिल होता है जो दलित वर्ग का है। दलित वर्ग अब तक यह समझ चुका है कि अलग-अलग रहने से अधिकारों की प्राप्ति संभव नहीं है तथा ऐसा न होने की स्थिति में शोषण की विपत्ति का देश चलता रहेगा। साथ ही उनमें यह बात भी अच्छी तरह बैठ गई है कि यदि ब्राह्मणों की दलित विरोधी बातें सुनते रहेंगे तो उनकी मानसिकता में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है। अतः दलित वर्ग की चेतना यह स्वीकार कर चुकी है कि चाहे अपना व्यक्तिगत नुकसान भले ही हो जाए किन्तु इस प्रकार की मानसिकता का तात्कालिक जवाब जरूरी है। तभी ब्राह्मणी मानसिकता में परिवर्तित होगा और समानता के दर्जे की बात को मन में बैठा सकेंगे। 'जयप्रकाश कर्दम' की कहानी 'जहर' में तांगेवाले विशम्बर के द्वारा पण्डित को बीच रास्ते में उतार देना इसी प्रकार की मनोदशा का परिचायक है। दलित नेता की रैली में दलितों की भीड़ पर ब्राह्मण द्वारा दलितों के खिलाफ जहर उगलने के फलस्वरूप तांगे वाले द्वारा व्यक्त आक्रोश यूँ है–''दो रुपए का नुकसान मुझे होगा ना? मैं सौ रुपए का नुकसान भी बर्दाश्त कर लूंगा, पर तेरे जैसी अपमानजनक बातें बर्दाश्त नहीं करूंगा। चल उतर जल्दी से। बातों में लगा के टैम खराब मत कर मेरा। नहीं तै यूं संटर देख रहा है मेरे हाथ में इससे सूंड़ दूंगा तुझै।''[13]

दलित चेतना पर सामान्यतः आरोप लगाया जाता है कि यह चेतना सिर्फ शोषण को अभिव्यक्त करती है या अन्य कोई भी समस्या, किरदार आदि साहित्य में नहीं लाती। इसमें दलित समाज के अन्य पात्र जैसे वृद्ध,बच्चे, महिलाएँ आदि की समस्याओं का कोई अंकन नहीं है जिससे यह साहित्य स्वयं में एकरस होता जा रहा है तो वहीं सामाजिक दृष्टि से संकुचित। किन्तु विषय वैविध्य की यह बात दलित चेतना पर पूर्णरूपेण सही साबित नहीं होती है। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की कहानी 'रिहाई' बच्चों की समस्या पर, 'सुशीला टाकभौरे' की कहानी 'सिलिया' स्त्री समस्या पर आदि अनेक ऐसे उदाहरण हैं।

संदर्भ

1. सलाम, सलाम (कहानी संग्रह), ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 17
2. कूड़ाघर, घुसपैठिये (कहानी संग्रह), ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ. 58
3. धूप से भी बड़ा, संघर्ष (कहानी संग्रह), सुशीला टाकभौरे, ज्योतिलोक प्रकाशन,दिल्ली, 2006, पृ. 103
4. फासला, विपिन बिहारी, इक्कीसवीं सदी की चर्चित दलित कहानियाँ, संपादक, राजेश कुमार बौद्ध, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2022, पृ. 85
5. वही
6. रावण, भरोसे की बहन (कहानी संग्रह), श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 74
7. संघर्ष, संघर्ष (कहानी संग्रह), सुशीला टाकभौरे , ज्योतिलोक प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ. 25
8. सृजनलोक, सुशीला टाकभौरे, विशेषांक, अंक 25-26 अप्रैल 2022- सितंबर 2022, पृ. 109
9. भरोसे की बहन, श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ. 168
10. राजनीति, पूरन सिंह, इक्कीसवीं सदी की चर्चित दलित कहानियां, संपादक, राजेश कुमार बौद्ध, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2004, पृ. 63
11. सपना, सलाम (कहानी संग्रह), ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. 30
12. जन्मदिन, संघर्ष (कहानी संग्रह), सुशीला टाकभौरे, ज्योतिलोक प्रकाशन, दिल्ली,2006, पृ. 44
13. जहर, तलाश (कहानी संग्रह), अमन प्रकाशन, कानपुर, 2022, पृ. 102

–नेहा कुमारी

शोध छात्रा

हिन्दी विभाग, डी. ए. वी. कालेज, कानपुर,

(संबद्ध–छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर)

पाश्चात्य साहित्य में स्त्री चेतना 'ओथेलो' के विशेष सन्दर्भ में

—श्रीमती प्रियंका

शोध सारांश—स्त्री साक्तिकरण का संघर्ष पूरे मानव समाज का संघर्ष है। पूरी दुनिया बदलेगी तभी आधी दुनिया बेहतर होगी। संसार को जैविक रूप से आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी जिस स्त्री पर टिकी है उसी को हमारा समाज दो यम दर्जे की नागरिकता प्रदान करता है। यदि महिलाएं हिंसा व बर्बरता के खिलाफ आन्दोलन हेतु सड़कों पर उतरती है तो वह केवल महिलाओं की सुरक्षा व सुविधा की मांग नहीं करती बल्कि समाज व देश के लिए एक बेहतर कल को सम्भव बनाने की लड़ाई लड़ रही होती है। इसलिए ऐसी जुझारु एवं संघर्षशील महिलाओं का अभिषेक करना चाहिए जो तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद बाजारवाद, उपभोगतावाद और हिंसा के पागलपन के खिलाफ समाजमें जागरूकता उत्पन्न करने को ही गअपने जीवन का लक्ष्य लेती है। पश्चिमी समाजों में यूरोपीय ज्ञानोदय (इनलाइटमेंट) के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में नवाचार की प्रवृत्ति दिखायी देती है। ज्ञानोदय ने विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक आन्दोलन को भी जन्म दिया। इन आन्दोलनों में यूरोपीय नारीवाद की चर्चा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह नारीवाद यौनिकता के दो रूपों में फंसा हुआ है, पहला रूप पितृसत्तात्मक समाज का है जो हिंसा पर बहुत अधिक टिका हुआ है और दूसरा रूप चाहत और सुख से जुड़ा हुआ है। नारीवाद के इस दूसरे रूप को पहचानना कठिन है। क्योंकि यह रूप प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ता। इसे देखने के लिए अनुभव की भट्टी से गुजरना पड़ता है। अंग्रेजी साहित्य के सिरमौर शेक्सपियर के नाटकों में नारीवाद के दोनों रूपों को देखा जा सकता है। शेक्सपियर का प्रसिद्ध नाटक ओथेलों में पितृसत्तात्मक समाज की हिंसा व बर्बरता को तो अंकित किया ही गया साथ ही नारीवाद के दूसरे सूक्ष्म रूप की भी पड़ताल की जा सकती है । नाटक की नायिका डेसडेमोना पित सत्तात्मक समाज की हिंसा का शिकार तो होती है साथ में उसकी सेविका इमिलिया को भी ऐसी स्थितियों से गुजरना पड़ता है ।

कुंजी शब्द : ज्ञानोदय, दुखांत नाटक, अभिव्यंजन्वाद, नारीवाद, पितृसत्तात्मक समाज आदि।

पश्चिमी देशों में नारीवाद का उदय, जिसे स्त्री चेतना भी कहा जाता है, ज्ञानोदय के उपरान्त माना जाता है। ज्ञानोदय (इनलाइटमेंट) ने साहित्य वसमाज, राजनीतिए धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में नए विचारों को प्रसूत किया। इससे नारीवाद अछूता नहीं रहा। सन् 1890 के आस-पास कुछ जागरूक पुरुषों व स्त्रियों में समानता के अधिकार को लेकर आन्दोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन का उद्देदश्य था कि समाज में स्त्रियों को भी पुरुषों के बराबर प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार मिलना चाहिए। आन्दोलन के नेतृत्व कर्ताओं में सिगमंड फ्रायड, मैरी वोलस्टोनक्राप्ट एवं केट मिलेट प्रमुख है।आन्दोलनकर्ताओं ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को मानव शोषण का प्राथमिक स्वरूप माना। सिमोन द बेवॉयर ने अपनी पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' में स्त्री के सैद्धांतिक शोषण एवं विविध पक्षों पर प्रकाश डाला। जॉन स्टुवर्ट मिल, जेर्मेन ग्रीर, बेटी फ्रायडन आदि नारीवादी लेखक-लेखिकाओं ने सामाजिक प्रगति के लिए स्त्री चेतना पर विशेष बल दिया। इन महान भावों के संघर्षो एवं प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि आज स्त्री अपने जीवन के विविध पक्षों पर खुलकर बोल सकती है और अधिकारों की मांग के लिए संघर्ष कर उसे हासिल कर सकती है। पुरुषवादी विचारधारा के परिचम तले पश्चिमी स्त्रियां सदियों से उपेक्षित रही है। पाश्चात्य साहित्य के परिपेक्ष में शेक्सपियर के दुःखांत नाटक 'ओथेलों' में स्त्री पात्र डेसडेमोना ने अपनी स्वामिभक्ति, अर्धा गिनी, होने के परिणाम स्वरूप नायक ओथेलो के द्वारा तकिए से गला घोंटने के कारण मृत्यु को प्राप्त होती है। दूसरी ओरइमीलिया को अपने ही पति के षड़यन्त्र व सत्य को सबके समक्ष उजागर करने के परिणाम स्वारूप पति द्वारा मार्मिक रूप से पेट में तलवार भोक कर दर्दनाक मृत्यु का सामना करना पड़ा। वहीं बियांका के शोषण को वैश्या की संज्ञा से अलंकृत किया गया। साहित्य की कई विधाओं व नाटको के माध्यम से नारी अभिव्यक्ति, मान सम्मान, चेतना प्रवाह, संवेदनओं, भावनाओं को ठेस पहुचाते हुए अनेकों ग्रन्थ उनके दमन के इतिहास से चिर परिचित कराते है। स्त्री चेतना ने अपने संघर्ष की दास्तान 18 वीं सदी में पश्चिम से की। नारीवाद के उदय में सिगमंड फ्रायड के विचार एवं केट मिलेट द्वारा लिखित पुस्तक ''सेक्सुअल पॉलटिक्स'' में पितृसत्तात्मक व्यवस्था को स्त्री शोषण की व्यवस्था बताया गया है। द्वितीय लहर के नारीवाद ने पुरुष समाज में लिंग के आधार पर प्रताड़ना, परम्परा और पुरुष सत्ता के अन्दर खलबली मचा दी। यह हलचल पितृसत्तात्मक समाज में कई नारीवादी

लेखिकाओं के कारण पैदा हुई थी।

पाश्चात्य साहित्य जगत के गौरव नाटकों की विधा में विलियम शेक्सपियर का नाम सर्वपरि लिया जाता है। शेक्सपियर के प्रसिद्ध दुःखातं नाटक ''ओथेलो'' जिसका पूरा शीर्षक ''द ट्रेजरी ऑफ ओथेलो', द मूर ऑफ वेनिस'' में स्त्री की दयनीय स्थिति का वर्णन किया गया है। महान पुरूष लेखक द्वारा शोषित नारी की एक झलक की प्रस्तुत समाज में मनोरंजन के सन्दर्भ में दृष्टित की गयी है। 'ओथेलो' दुःखांत नाटक की रचना 1603-1604 और प्रकाशित 1622में महरानी इलिजाबेथ के शासन काल में ही हुई जब एक स्त्री का शासन था, परन्तु वही दूसरी ओर स्त्रियों का शोषण सामाजिक स्तर पर व्याप्त था। स्त्रियों को अपनी अभिव्यक्ति, संवेदनाओं, भावनाओं एवं स्वतंत्रता के साथ रहने के अधिकारों से वंछित रखा गया। ''ओथेलो'' त्रासदी की सुन्दर नायिका डेसडेमोना जो की नायक ओथेलो पेशे से जनरल ऑफ वेनिस की पत्नी है। दोनो ने प्रेम विवाह किया था। विदेशी खतरे की आशंका के कारण डयूक की आज्ञा के अनुसार ओथेलोए डेसडेमोना व डेसडेमोना की नौकरानी इमीलिया, तथा इमीलिया का पति कहानी का खलनायक इयागो आदि साइप्रस पहुंचते है। सेनापति ओथेलो एक मूर है वह एक सुन्दर युवक कैसियो को लेफिटनेंट बनाते है। इयागोजिसे सेना में पदोन्नति नहीं प्राप्त होती है वहकैसियो को दिये गये पद एवंरोडेरिगों (व्यापारीएंव इयागो का मित्र) का विवाह डेसडेमोना से न होने के कारण ओथेलो से ईष्या एवं द्वेषवंश षड़यन्त्र की रचना करता है।

दूसरी ओर, इयागो षड़यंत्र के लिए ओथेलो के खिलाफ डेसडेमोना तथा अपनी पत्नी को मोहरो की तरह इस्तेमाल करता है। ईष्या गोईयावाश नाटक में षड़यन्त्र करता है उस ईष्या का जिक्र विलियम शेक्सपियर ने अंकःतीन व दृश्यःतीन में इयागो के द्वारा बताया है-Igo said : " O! beware, my lord, of jealousy; it is the green-eyedmonster which doth mock the meat it feeds on.[1]अर्थात ईष्या से सावधान रहे क्यूंकि ये वे हरे आंखों वाला दैत्य है जो उसी शरीर का तिरस्कार करता है और धोखा देता है जिस पर वो पलता है। स्त्रियां सदियों से पुरूषों के हाथ की कठपुतली रही है। इस बात का लाभ उठाते हुए इयागो षड़यंत्र को अंजाम देने हेतु स्त्री पत्रों का चयन नाटक में करता है। ओथेलो ने डेसडेमोना को प्रेम का प्रथम भेंट स्वरुप अपनी मां का रूमाल दिया था जिस पर स्ट्राबेरी फलों के चित्र अंकित थे। इयागो उस रुमाल को इमीलिया द्वारा डेसडेमोना के पास से गायब कर वाकर उसे कैसियो के कमरे तक पहुँचाकर ओथेलो की नजरों में दोनों के बीच अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर लेता हैं। कैसियो ने सेना में लेफ्टिनेंट पद को खो दिया है इसलिए अपने खोए हुए पद को सेना में पुनः पाने की कोशिश व सिफारिश के चलते डेसडेमोना से बार बार मिलता है। दोनों की परस्पर मुलाकात व बातचीत से ओथेला अत्यधिक हताहत महसूस करने लगता हैं। इयागो इस बात का फायदा उठाते हुए ओथेलो को यह विश्वास दिलाता है कि डेसडेमोना तथा कैसियो के बीच प्रेम-प्रसंगचल रहा है। बियांकाए कैसियो की रखैल है तथा षड़यंत्र के तहद डेसडेमोना का गायब 'रूमाल' बियांका के हाथों में ओथेलो द्वारा देख लिया जाता है। 'रूमाल' उस के पास होने के परिणामस्वारूप डेसडेमोन और कैसियो के औपचारिक सम्बन्धों को लेकर ओथेलो शक करता है। यह शक बाद में विश्वास में बदल जाता है। ओथेलो पहले से सोई हुई डेसडेमोना के पास पहुंचता है। वह उसे चुमता है, उसे जगाता है, और उस पर कैसियो के साथ सम्बन्ध होने तथा प्रेमोपहार 'रूमाल' का डेसडेमोना के पास उपलब्धन होने के कारण उस पर विश्वासघात करने का आरोप लगाता है। ओथेलों हृदयाघात से पीड़ित अपनी पुरुषवादी विचारधार की मानसिकता में डेसडेमोनापर लगे आरोपों को अपने अन्तर्द्वन्द द्वारा महसूस किये गए प्रतिमानों के रूप को स्वीकार करते हुए अपना आपा खो बैठता है। डेसडेमोना के प्यार को नजरअंदाज करता है। डेसडेमोना को अभिव्यक्ति व्यक्त करने का मौका दिए बिना ओथेलो अपनी पत्नी का तकिए से मुंह दबा कर गला घोंट देता है। शेक्सपियर इस मार्मिक दृश्य को अपने पांचवे अंक में इस प्रकार दर्शाते हैं– डेसडेमोना– 'एक बार प्रार्थना तो कर लूं।' ओथेलो– 'अब बहुत देर हो गई।' (गला घोंटता है) इमीलिया–(नेपथ्य से) 'स्वामी! प्रभू! स्वामी! मेरे प्रभू!' ओथेलो–'कौन बुला रहा है? क्या अभी नहीं मरी? मैं जो इतना निर्दय हूं फिर भी इतना दयालु हूँ... मैं तुझे वेदना में तड़पने नही दूंगा। ले ले! (फिर गला घोंटता है)'[2] इमीलिया अपनी स्वामिनी को मृत्यु शैया पर पड़ा देख कर चीखते हुए ओथेलोएवं ग्रेशियानों, लोडोविको, मोनटानों, कैसियों सब के समक्ष इयागो के षड़यंत्र को उजागर करती है।अपनी मालिकिन के प्रति वफादारी साबित करने के परिणाम स्वरुप इमीलिया को इयागो द्वारा मृत्यु प्राप्त होती है। डेसडेमोना एवं इमीलिया के मृत्यु के सत्य को जानकरतथा डेसडेमोना को खोकर ओथेलो पश्चाताप की अग्नि में जल उठता है एवं स्वयं मृत्यु का आलिंगन कर लेता है।

प्रसिद्ध त्रासदी में स्त्री पात्र मात्र शतरंज की मोहरे है,जिन्हें पुरूष ने अपने अनुसार प्रयोग किया है। नाटक में स्त्रियों के मनोभावो व चरित्र चित्रण का प्रस्तुतीकरण इस बात का बोध कराता है कि इलिजाबेथन काल में पुरुष की मानसिकता उनकी परम्परागत रूढ़िवादी सोच की परिपक्वता के कारण बलि चढ़ी डेसडेमोना जैसी स्त्री पात्र प्रत्येक दशक में दिखाई पड़ती है। स्त्रियों को कर्तव्यो का

निर्वहन करने, पतिव्रता पत्नी धर्म का पालन एवं सच्चाई का साथ देने के पश्चात अपने प्राणों तक को सदियों से न्योछावर करना पड़ा है। ''ओथेलो'' त्रासदी ने दशकों की हजारो तालियां बटोरी परन्तु डेसडेमोना की मार्मिक दशा समाज की स्त्रीयों के लिए उदाहरण बन कर रह गयी। सोलाहवीं सदी के दौरान नाटको की इस प्रकार आभिव्यक्त समाज में व्याप्त नारी की दशा को दर्शाती है जैसा की वर्णित किया गया है—''नाटक उस समय के विविध हितों को पकड़ने और व्यक्त करने का आदर्श साधन बन गया था।''[3] साहित्य के माध्यम से स्त्रियों की दशा का आकलन देखा जा सकता है। पुरुष प्रधान समाज में पुरुष स्त्रियों को प्राथमिकता देते नहीं थे तथा शक्तिशाली होने के कारण वर्चस्व का दंभ भरने की वजह से वह स्वयं को भगवान, न्यायकर्ता, पालनहारी आदि भूमिका से बाहर निकलना भी नहीं चाहते थे। इन्हीं तथ्यहीन विचारों के कारण स्त्रियों पर शासन करना ही नियति मानते थे। महिलाओं की अधीनता का मुख्य कारण उनकी पुरुषों पर आर्थिक, सामाजिक निर्भरता थी। स्त्रियों को समाज में उनके कार्य के बदले परिश्रमिक नहीं दिया जाता था। जैविकीय हीनता के कारण ही स्त्रियों को समाज में बराबरी का दर्जा भी नहीं प्रदान किया गया। सीमेन द बोडवार ने 1949 में. द सेकंड सेक्स पुस्तक का कथन सर्वाधिक चर्चा में रहा, उन्होंने कहा के स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है.।[4]स्त्रियां अपने नैसर्गिक गुणों को स्वीकार करने की बजाए वे पुरुष प्रेम व मातृत्व के प्रेम में फसकर पुरुष वर्चस्व का शिकार बनती रही है। यही ओथेलों में भी साफ-साफ देखा जा सकता है।

अंग्रेजी साहित्य की महान रचना ''ओथेलो'' की मुख्य नायिका डेसडेमोना जिसने स्त्री जीवन की उन गहराइयों का वर्णन अपने चरित्र के माध्यम से दर्शाया, जो सदैव स्मृति पटल पर छाप छोड़ जाती है। ओथेलो बहुत ही शक्तिशाली एवं बुद्धिमान व्यक्ति था, लेकिन वह अपनी प्रिय पत्नी पर इयागो के द्वारा पैदा किए गये संदेह के कारण उसके चरित्र पर विश्वास नहीं कर पाता। जब कि डेसडेमोना ने उसके लिए अपने पिता के विरुद्ध जा कर विवाह किया था। ओथेलो डेसडेमोना को वैश्या, कुलटा, दुश्चरित्र विश्वास घातिनी स्त्री, जैसे शब्दों से बुलाता है इसके पश्चात् भी डेसडेमोना की वफादारी अपने पति के प्रति कम नही होती है। उसके आत्म संदेह व गलतफहमी के बावजूद भी ओथेलो को ही प्यार करने का संकल्प लेती है। पांचवें अंक के दूसरे भाग में दोनों की बात-चीत का दृश्य जिसमें ओथेलो वार्तालाप करते हुए डेसडेमोना से कहता है—ओथेलो—'अपने पापों का स्मरण कर लो। डेसडेमोना—'वे और कुछ नहीं, आप को प्रेम करना आवश्यक एक है। ओथेलो—'हाँ और उसी के लिए तुम्हें मरना होगा।' डेसडेमोना—'किन्तु तुम्हें प्रेम करने से मुझे मरना होगा! क्या यह अस्वाभाविक नही? हाय !'[5] डेसडेमोना चरित्रवान, दृढ़-संकल्प व सुंदर गुणो वाली महिला है। ओथेलो के प्रेम में उसका विरोध भी नहीं करती है। नस्लीय अंतर के पश्चात् भी ओथेलो से विवाह करती है और मृत्यु तक ओथेलो से ही प्यार करने के प्रण के कारण उसे तिरस्कार ही प्राप्त होता है। शेक्सपियर के पात्रों एवं दुखांत की लोकप्रिय कहानी से प्रभावित होकर भारतीय मंच बालीवुड ने ''ओथेलो'' त्रासदी का आधुनिक सिने रूपांतरण पर आधारित फिल्म ''ओंकारा'' वर्ष 2006 में प्रस्तुत की। फिल्म ''ओंकारा'' के निर्माण पर किताब का विमोचन भी हुआ। कायरो अंतर्राष्ट्रीय फिल्म उत्सव में उत्कृष्ठ कलात्मक संवादों से शोभित किया गया तथा तीन पुरस्कार प्राप्त कर एशियन फेस्टिवल के प्रथम फिल्म के साथ तीन राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार से विजय का परचम लहराया।

शेक्सपियर के ''ओथेलो'' में अभिव्यंजनावाद का उदाहरण हमें देखने को मिलता है। इटली के विचारक बेनेदितो क्रोचे के सिद्धान्त ''अभिव्यंजनावाद'' साहित्य में आत्मा को स्थापित करने पर बल देता है। मानव प्रभावों की अभिव्यक्ति का उदाहरण ''ओथेलो'' की स्त्री पात्र डेसडेमोना में है। डेसडेमोना, ओथेलो के यथार्थ में चरित्र व्यवहार का बोध मन में सहजानुभूति के रूप में उभारती है, परन्तु ओथेलो के द्वारा डेसडेमोना के प्रति असंवेदना जो कि अमूर्त सी प्रतीत होती है, जिससे डेसडेमोना समझने में असफल होती है। उसकी संवेदना ओथेलो के द्वारा किये जा रहे दुर्व्यवहार व कथन जैसे पर पुरुष गामिनी स्त्री आदि बाते मानसिक पटल पर अपमान व खतरे के स्तर का संकेत देती है। परन्तु अत्याधिक प्रेमवश डेसडेमोना अपने पतन को नहीं देख पाती और अन्त तक वह अपनी पवित्रता की दुहाई देती रहती है। नाटक में नायक द्वारा उस की बातों पर अमल नहीं किया जाता। निर्मला जैन एवं कुसुम बॉठिया ने अपनी पुस्तक में वर्णित अभिव्यंजना पर विचार व्यक्त करते हुए कहा—''क्रोचे केमत में यह सहजानुभूति ही 'अभिव्यंजना';(Expression) है। यह शब्द, रंग, रेखा,आकार या ध्वनि के माध्यम से बाह्य जगत में व्यक्त नही होती वरन् मानस के स्तर पर होने वाली सहजानुभूति से अभिन्न है। सहजानुभूति ज्ञान ही अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है और मानस के अन्दर भी सहजानुभूति प्रभावों की अभिव्यंजना ही कला है। कला की स्थिति भी क्रोचे बाह्य जगत के रूप, रंग, आकारों में नहीं, वरन् कलाकार के मानस में मानते है।''[6] अभिनव कला के निपुण शेक्सपियर ने पात्र का संजीव चित्रण इस प्रकार किया है कि ओथेलो पर इयागो का दुष्प्रभाव दर्शकों द्वारा भी अधिकांश दृश्य ओथेला की भाँति कल्पना में महसूस

कर देखा गया। जिसे ओथेलो ने वास्तविकता में परिवर्तित कर अपनी प्रिय स्त्री पर तनिक भी भरोसा नहीं किया। निरर्थक आरोपों ने डेसडेमोना के जीवन को समाप्त कर दिया। डेसडेमोना की पवित्रता को अपवित्रता का सकारात्मक रूप देकर ओथेलोने अपनी नकारात्मक संवेदनाओं को उस पर मढ़ कर आरोपी के रूप व आकर में परिवर्तित कर डाला जिसका यथार्थ में कोई भी स्थान नहीं होता है।

पाश्चात्य साहित्य में स्त्री चेतना की शुरूआत अठ्ठारवी सदी में संघर्ष के साथ हुई जिसने आगे चलकर आन्दोलन का प्रबल रूप लिया। इस आन्दोलन में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका जॉन स्टूवर्ट मिल की पुस्तक दी सब्जेक्शन ऑफ वूमेन; 1869, फ्रेडरिक एंड रिच की पुस्तक 'द ओरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड द स्टेट; 1884, ओलिवर स्क्रिनर्स ''वोमन एण्ड लेबर'' ; 1911, वर्जिनिया वोल्फ की ''ए रूम ऑफ वन्स ओन'' ;1929, सिमोन द बेवॉयर की पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स; 1949 तथा टॉली मोई सेक्सुआल टेक्सुआल पोलिटिक्स ; 1985 ए वूमेन पुस्तकों ने साहित्य के इतिहास को ही बदल दिया। स्त्रियों के जीवन से जुड़े मुद्दे उजागर हुए और इस क्रांति के बाद पुरुष वादी साम्राज्य के पक्ष समाज के समक्ष विश्व पटल पर फीके से पड़ने लगे। क्योंकि स्त्रियां कभी संस्कार के नाम पर रीति-रिवाज, धर्म, मान-सम्मान, लिंग-भेद, भावनात्मक बंधनों के कारण छली गयी। वह अब स्वतंत्र महसूस कर अपने फैसले स्वयं लेने लगी। अमेरिकी लेखिका एलन शोवाल्टर की नारीवाद सोच और सांस्कृतिक सामाजिक मुद्दों के नारीवादी सिद्धान्त में विकास का वर्णन विश्वस्तर पर नारियों के उत्थान हेतु उनकी दशा-दिशा एवं जीवन के लिए सफलता के मार्ग को प्रशस्त करने का कार्य किया हैं। एलन शोवाल्टर अपनी पुस्तक ''टुवर्ड्स ए फेमिनिस्ट पोएटिक्स''; 1979, में लिखती हैं—''साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में एलन शोवाल्टरनेतीन चरणों वाले नारीवादी सिद्धान्त व विकास का वर्णन किया है। पहले वह ''नारीवादी आलोचना'' कहती है, जिसमें नारीवादी पाठक साहियित्क घटनाओं के पीछे की विचार धाराओं की जांच करती है। दूसरे को शोवाल्टर ''गाइनोक्रिटिसिज्म'' कहती है, जिसमें ''महिला पाठात्मक अर्थ की निर्माता है।''आखिरी चरण को वे ''लिंग सिद्धान्त'' कहती है, जिसमें ''वैचारिक शिलालेख और यौन,लिंग प्रणाली के साहित्यिक प्रभाव का पता लगाया जाता है''।[6] पश्चिमी नारीवाद का नेतृत्व अपने शुरूआती चरण से महिलाओं द्वारा संचालित किया गया। मैरी वुल्सटन क्राफ्ट की पुस्तक ''विंडिकेशन ऑफ वीमेन'' से पश्चिमी नारीवाद की शुरूआत के साथ अनेक देशों में स्त्रियों के कदम घर की चहार दीवारी के बहार पड़े। स्त्रियों ने अपने अधिकारों की मांग करते हुए समाज में अपनी स्थिति को बेहतर बनाया।

डेसडेमोना प्रबल इच्छा शक्ति वाली नायिकाथी लेकिन सामाजिक स्थिति व नारीवादी विचार धारा से परे होने के कारण ही उसको मृत्यु का सामना करना पड़ा। डेसडेमोना के जैसे कितने सजीव पात्र समाज में मृत्यु का कोप भाजन बन चुकी होगी। इमीलिया जिसने सिर्फ अपने पति के आदेशों का पालन किया लेकिन तनिक भी पति के समक्ष प्रश्न कर सकी कि डेसडेमोना के 'रूमाल' का इयागो को क्यों या कैसी आवश्यकता है तथा उस 'रूमाल'का प्रयोग किस प्रकार करेगा?परम्परानुसार स्त्रियाँ पुरुषों से प्रश्नोत्तर करने की अधिकारी नहीं होती थी। स्त्रियों के पात्र भी पुरूषों के द्वारा ही रंगमंच पर अभिनय किये जाते थे। कथाकार नाटकों में भी स्त्रियों को प्रश्नोत्तर पूछने की इजाजत न दे सके जिसके परिणाम स्वरूप इमीलिया, इयागो के धूर्त इरादे से अनजान अपने ही पति के हाथों से छली गयी। बियांकाजो वैश्या है, लेकिन एक स्त्री है तथा कैसियो को पसंद करती है। लेकिन कैसियो उससे विवाह नहीं करना चाहता है सिर्फ बियांका को अपने काम से इस्तेमाल करता रहा। डेसडेमोना का 'रूमाल' जो कैसियों को इत्तेफाक से मिलता है। वह बियांका से 'रूमाल' की कढ़ाई की नकल कराने में मदद चाहता है लेकिन बियांका रुमाल की कढाई करवाने के लिए एक अन्य महिला पर निर्भर होती है। बियांका अपने कार्य में असफल साबित होती है क्योंकि वह महिला यह कहकर 'रूमाल' वापस कर देती है कि वह 'रूमाल' एक प्रेमोपहार की निशानी के तौर पर उसके द्वारा ही बनाया गया था, इसलिए वह उसकी नकल नहीं बनाएगी। असफल बियांका को कैसियो ठुकरा देता है। इस प्रकार कैसियो के कारण बियांका स्त्री पात्र भी पुरुष के विचारों द्वारा ठगी गई दुःख व निराशा का सामना समाज के समक्ष करती है। डेसडेमोना, इमीलिया और बियांका दुःखांत नाटक में तीन नारी पात्र तीनों पुरूषों के द्वारा किसी न किसी प्रकार से प्रताड़ित हुई शेक्सपियर अपने नाटक ''जूलीयस सीजर'' की पंक्तियों के माध्यम से अंकः चार, दृश्यः तीन यह बताते है कि- "There is a tide in the affair of men, which, taken at the flood leads on to fortune.[8]अर्थात् मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुंचा देती है और निष्फलता के खंदक में गिरा देती है। नाटक में इयागाको बंदी बना लिया जाता है वहीं ओथोलो मृत्यु को प्राप्त करता है।

''जूडिथ शेक्सपियर'' वर्जिनिया वोल्फ द्वारा लिखा गया चर्चित लेख में लिखिका ने यह कल्पना की है,यदि शेक्सपियर की बहन जिसका नाम जूडिथ शेक्सपियर रहा होता और जिसे अपने भाई की तरह ही कुशल बुद्वि होने के कारण पढ़ने का अवसर दिया जाता तो वह भी

शेक्सपियर की ही तरह एक महान लेखिका व कलाकार बन गयी होती। परन्तु उसे उसके पिता ने पढ़ने लिखने के लिए मारा पीटा तथा विवाह करने हेतु जबरन प्रेरित किया। जिसके परिणाम स्वरूप वह घर से भाग गयी। जूडिथ पुरुष समाज में अपने आपको आत्मनिर्भर नहीं बना सकी। अंततः पुरुष द्वारा शोषित होने के वजह से जूडिथ खुदखुशी कर लेती है। यह लेख शेक्सपियिरन काल जिसे अंग्रेजी साहित्य का स्वार्णिम काल कहा जाता है की दशा-दिशा की झलक से अवगत कराता है। शेक्सपियर के नाटक ''ओथेलो'' एवं ''जुलियस सीजर''दोनों नाटकों में स्त्रियां पुरुषों के चंगुल में प्रारम्भ से अंत तक फंसी रहती है। डेसडेमोना की कहानी की भांति जूलियट भी पिता के घर से भाग कर रोमिओ से विवाह कर लेती है और यह सोचती है कि वह पिता,पुरुष से आजाद हो गयी वही पुरुष,पति के हाथों का खिलौना बन जाती है। शेक्सपियर के अन्य नाटकों में भी महिला पत्रों के संघर्ष की कहानी का वर्णन किया गयाया उनका मजाक बनाकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया गया। चाहे रोजा लैंड हो ''एज यू लाइक इर्ट'' की या वैला ''ट्वेल्थ नाइट'' की नायिका आदि सभी युवा महिलाओं की अबला प्रस्तुतीकरण स्त्रियों की स्थिति का परिचय समाज से कराती है।''ओथेलो''में महिला पात्र पुरूष के जीवन को सफलता का आधार मान संग चली थी परन्तु जीवन ही खो देती है। मंच पर नारियों के पात्र भी पुरुषों द्वारा ही अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते रहे है, स्त्रियाँ स्वयं मंच का हिस्सा नहीं होती थी। नारी पुरूषों के लिए मात्र उपभोग का साधन समझे जाने के कारण सोलहवीं शताब्दी से लेकर इक्कीसवीं सदी तक स्त्रियों की दशा में परिवर्तन के मानकों पर अभी भी बराबर का दर्जा नहीं प्राप्त कर सकी है। जहां औरतों को शारीरिक,मानसिक सामाजिक,आर्थिक, शब्दिक हिंसा का सामना पड़ता है। वहीं साहित्य के माध्यम से स्त्रियों के जीवन की परेशनियों को समाज के समझ प्रस्तुत कर निवारण कर एक सभ्य समाज की स्थापना की जा सकती है। महिला सशक्तिकरण के अभाव या स्त्री की चेतना की सुसुप्त अवस्था ''ओथेलो'' में नारी पात्र एवं उनके जीवन को असफल बना देती है। स्त्रियों में चेतना प्रत्येक समाज के लिए अति आवश्यक है ताकि समाज प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकें।

सन्दर्भ

- बारथेलीमय, अन्थोनी, जियार्ड, अनुरू. क्रिटिकल ऐसेस ऑन शेक्सपियरस ओथेलो, जी. के. हॉल एण्ड कं., 1994
- निर्मला जैन एवं कुसुम बॉठिया, पाश्चात्य साहित्य चिंतन संस्करण, 1998, पृ. 6
- प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षित, अनुवाद, हिन्द पॉकेट बुक्स, 1992, पृ. 4
- विलियम शेक्सपियर, ओथेलो, अनु. डॉ. रागेय राघव, राज्यपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 2001, पृ. 2, 5
- इंटनेट : https://www.hmoob.in/wikiShakespeares_playshttps://www.litcharts.com./ lit/a -room-of-one-s-owncharacters/judith-shakespearehttps://shakespeare.folger.edu/(1)https://hi.m.wikipedia.org (3)
- https://gadyakosh.org
- http://en.m.wikipedia.org (7)
- http://lklivingstan.tripod.com/caesar/ (8): सिमोन द बोउवार

–श्रीमती प्रियंका

असिस्टेट प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग,

इन्दिरा गाँधी राजकीय महिला महाविद्यालय,

रायबरेली, उ. प्र.

राग दरबारी : स्वातंत्र्योत्तर अवध की भदेस गाथा

—विनीत कुमार अवस्थी

शोध-सार—प्रत्येक युग में लिखा गया साहित्य उस समय के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवेश को आधार बनाकर सृजित किया जाता है। उस साहित्य में अपने समय-समाज का प्रतिबिंब स्पष्टतः परिलक्षित होता है। एक सजग साहित्यकार समाज में विद्यमान इन्हीं विसंगतियों, विडम्बनाओं, परम्पराओं, संस्कृति आदि का दृष्टा होने के कारण उन्हीं में से अपनी रचना के लिए विषय का चुनाव करके उन सभी विद्रुपताओं को सभी के समक्ष उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है। श्रीलाल शुक्ल हिन्दी कथा-साहित्य तथा व्यंग्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर माने जाते हैं। शुक्ल जी का पदार्पण प्रशासन से हिन्दी साहित्य-सृजन के क्षेत्र में हुआ था। उनके पास व्यापक अनुभव, सम्यक दृष्टि एवं समाहारी कल्पना शक्ति इन तीनों की त्रिवेणी है। वे अपने आस-पास के परिवेश और समाज से रूबरू थे तथा उसे अपनी लेखनी से रचनाओं में अंकित भी करते थे। उन्होंने अपनी कृति 'राग दरबारी' में तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति को व्यंग्यात्मक लहजे में अभिव्यक्त किया है, इसके लिए उन्होंने कई पात्रों तथा पात्रानुरूप भाषा का भी सृजन किया है। इस उपन्यास की भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस उपन्यास के चरित्र 'गंवार- चरित्र' हैं अतः उनकी भाषा में शिष्टता ना के बराबर है। भाषा को धारदार एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने स्थानीय बोली के शब्द, मुहावरों, लोकोक्तियों, कहावतों आदि का भी धड़ल्ले से प्रयोग किया है। बद्री एवं छोटे पहलवान, सनीचर आदि पात्रों की भाषा में कहीं-कहीं पर गाली एवं आंचलिक शब्दावली के भदेस शब्दों का प्रयोग भी दृष्टि गोचर होता है। अपनी पैनी दृष्टि के माध्यम से उन्होंने परिवर्तित होती सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्धों, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के विघटन, नारी जीवन की विडंबनाओं, राजनीति एवं अपराध के सम्बन्धों आदि पर शुक्ल जी अपने उपन्यास 'राग दरबारी' के माध्यम से बेबाकी से विश्लेषण किया है।

बीज-शब्द—स्वातंत्र्योत्तर, भदेस, अवध, गँजहे, शिलर-बिलिर, गँजहों के चोंचले, बांगड़ू, चंडूल, टिल्ल-टिल्लकरना।

मूल आलेख—अवध क्षेत्र उत्तर प्रदेश का एक महत्त्वपूर्ण भू-भाग है। ईसा से 600 वर्ष पहले से उत्तर भारत में 16 महाजनपदों, जिनमें काशी, कोसल, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल आदि थे। इन्हीं क्षेत्रों के सम्मिलन से वर्तमान उत्तर प्रदेश का सृजन हुआ था। कालक्रम में इसके कई अंचल चिह्नित किये गये, जैसे- अवध, कान्यकुब्ज, काशी, रुहेलखण्ड और बुन्देलखण्ड। प्राचीन अवध के अन्तर्गत—1. वत्स 2. कौशाम्बी 3. कोसल-साकेत 4. श्रावस्ती 5. कान्यकुब्ज 6. अन्तर्वेद 7. भारशिव (बैसवारा) 8. शर्की (जौनपुर) आदि का उल्लेख प्राप्य है। आज अवध का अर्थ है- लखनऊ, बाराबंकी, फैजाबाद, अम्बेडकर नगर, वस्ती, गोण्डा, बहराइच, बलरामपुर, अमेठी, श्रावस्ती, लखीमपुर खीरी, सीतापुर, कानपुर, उन्नाव, सुलतानपुर, रायबरेली, प्रतापगढ़, इलाहावाद कौशाम्बी। साथ ही जौनपुर, हरदोई, और मिर्जापुर का कुछ क्षेत्र। सम्प्रति अवध एक महामण्डल है, जहाँ अवधी मुख्य विभाषा है। भदेस का अर्थ केवल अश्लीलता ही नहीं होता है, बल्कि कुत्सित, कुरूपभद्दा, बदशक्ल, भोंड़ा, विचित्र भी होता है। भदेसपन से तात्पर्य है किसी वस्तु, व्यक्ति, समाज, संस्था, या प्रणाली की कमियों, दोषों, अन्यायों और असहिष्णुता को प्रकट करना।

यूँ तो अवध की पृष्ठभूमि को केंद्र में रखकर बहुत से लेखकों ने अपनी रचनाएँ की हैं जैसे- प्रेमचंद, भगवती चरण वर्मा, किशोरी लाल गोस्वामी, अमृतलाल नागर, मुद्रा राक्षस, राज किशोर आदि। प्रेमचंद का 'गोदान' स्वतंत्रता-पूर्व के अवध की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त किया गया है।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने अवध और शुक्ल के विषय मे लिखा हैः- ''अवध के ग्रामीण कस्बाई जीवन को जितना श्रीलाल शुक्ल ने देखा है उतना या उससे ज्यादा प्रेमचंद ने या निराला ने ही देखा होगा।''[1] 'राग-दरबारी' सृजन के पीछे स्वयं लेखक ने दो कारण बताए हैंः- पहला, ग्राम-जीवन के प्रति- जिसे वे भारतीय जीवन की प्रमुख धारा मानते थे उससे अतिशय लगाव और दूसरा, हिन्दी साहित्य में ग्रामीण जीवन के प्रति बनी या बनती हुई रूढ़ियाँ जो उन के लिये बर्दाश्त के बाहर थीं।

श्रीलाल शुक्ल ने स्वातंत्र्योत्तर अवध के कस्बेनुमा गांव 'शिवपालगंज' में प्रचलित भ्रष्टाचार, परिवारवाद, पक्षपात, चुनाव-प्रक्रिया में धांधली, प्रजातंत्र की हानि, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, नैतिक मूल्यों के पतन तथा

सामान्य व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के हनन का व्यंग्यपूर्ण, हास्यपूर्ण लहजे में सटीक रूप से वहाँ की भदेस भाषा में अंकन किया है। भाषा केवल लोगों के आपस में सम्प्रेषण और विचाराभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है, अपितु उनकी सांझी-संस्कृति की भी वाहक होती है। राग-दरबारी में भाषा के दो रूप मिलते हैं—एक रूप गंजहे लोगों की बोलचाल के संवादों में उभरता है तो दूसरा स्वयं लेखक की अपनी वक्रतापूर्ण व्यंग्यात्मक भाषा। श्री लाल शुक्ल ने यहाँ परंपरागत रूप में कथा को प्रस्तुत नहीं किया है क्योंकि उनका उद्देश्य केवल कथा कहना नहीं, बल्कि उसके माध्यम से शिवपालगंज के लोगों की सामूहिक मानसिक सोच को उद्घाटित कर समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं विडंबनाओं का चित्रण करना है।

लेखक उपन्यास का आरंभ शहर से गाँव की ओर उस राजनीतिक और विकासवादी प्रवाह का संकेत एक ट्रक के माध्यम से रचता है, कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'ट्रक' तमाम व्यंजनाओं के बावजूद प्रमुखतः उस सरकारी 'प्रशासन' का संकेतार्थ है, जिससे होकर विकास के प्रवाह को गुजरना होता है। उपन्यास का नायक 'रंगनाथ' ट्रक के माध्यम से देश की राजनीतिक व्यवस्था की ओर संकेत करते हुए कहता है ''ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिल्कुल अपने देश की हुकूमत जैसा है। उसे चाहे जितनी बार टॉप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खाँचे में आ जाती है।''[2]

रागदरबारी के विषय में वीरेंद्र यादव ने लिखा है—''श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' में एक ऐसे खल समाज की रचना करते हैं, जहाँ स्वतंत्रता, जनतंत्र, न्यायपालिका, विकास, पंचायतीराज, सहकारिता तथा अन्य जनतांत्रिक संस्थाएँ 'निहित स्वार्थी एवं अवांछनीय तत्वों के हाथ की कठपुतली भर बन कर रह जाती हैं। भारत जैसे अर्ध-सामंती और विकासशील देश में जनतंत्र को कैसे निहित स्वार्थी के लूटतंत्र में बदला जा सकता है, शिवपालगंज इसकी छोटी-मोटी प्रयोगशाला है। अपनी सम्पूर्णता में यह उपन्यास नेहरू युग की 'माइक्रो आलोचना' है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'वैद्यजी' सरीखे परजीवी वर्ग द्वारा जनतांत्रिक संस्थाएँ एवं विकास योजनाएँ किस प्रकार व्यक्ति हित साधन हेतु अपहृत कर ली गयीं, राग दरबारी इसकी मनोरंजक औपन्यासिक पैरोडी है।''[3] साथ ही इस बात को भी राग दरबारी के संदर्भ में ध्यान रखा जाना चाहिए कि जहाँ एक और स्वातंत्र्योत्तर जनतंत्र के तौर पर शिव पाल गंज केन्द्र में है वही दूसरी ओर 'राग दरबारी' के केन्द्र में वैद्य जी की बैठक, छंगामल कॉलेज, कोओपरेटिव सोसाइटी एवं ग्राम पंचायत सरीखी संस्थाएँ हैं, जिन पर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज के विकास की अवधारणा टिकी है।''[4]

उपन्यास के दूसरे ही अंक में चुस्त एवं दुरुस्त पुलिस-प्रशासन एवं थाने का जीवंत उदाहरण शिवपाल गंज के बाहर स्थित थाने के वर्णन के माध्यम से किया है। जहाँ थानेदार के समक्ष उसी गाँव का एक व्यक्ति यह निवेदन लेकर आया है कि अब उसका चालान कर दिया जाए। शुक्ल ने थाने का वर्णन करते हुए लिखा है ''मध्यकाल का कोई सिहांसन रहा होगा जो अब घिसकर आराम कुर्सी बन गया था। दारोगा जी उस पर बैठे भी थे, लेटे भी थे। यह निवेदन सुना तो सिर उठा कर बोले, 'चालान भी हो जाएगा। जल्दी क्या है?..... इतना काम है कि अपराधों की जाँच नहीं हो पाती, मुकदमों का चालान नहीं हो पाता, अदालतों में गवाही नहीं हो पाती। इतना काम है कि सारा काम ठप्प पड़ा है।''[5] उपन्यासकार ने उस व्यक्ति को शिवपालगंज के 'जुआरी संघ का मैनेजिंग डायरेक्टर' कहा है, जो शिवपालगंज में जुए का गैर-कानूनी कारोबार चलाता है। आम ग्रामीण लोगों को इससे शिकायत है, उन्हें यह भी पता है कि यह सारा काम थाने की जानकारी में और पुलिस की सहमति से हो रहा है। व्यक्ति कहता है ''हुजूर, दुश्मनों ने कहना शुरू कर दिया है। कि शिवपाल गंज में दिन-दहाड़े जुआ होता है। कप्तान के पास एक गुमनाम शिकायत गई है। वैसे भी समझौता साल में एक बार चालान करने का है। इस साल का चालान होने में देर हो रही है। इसी वक्त हो जाए तो लोगों की शिकायत भी खत्म हो जाएगी।''[6]

प्रशासनिक इकाइयों के भीतर व्याप्त भ्रष्टाचार कोई नयी बात नहीं है। प्रशासन काम भी सिर्फ तब करता है जब उसे रिश्वत दी जाती है। लेखक ने 'लंगड़' एवं नकलनवीस के प्रसंग में रेखांकित भी किया है कि रिश्वत को समाज के द्वारा एक नैतिक स्वीकृति मिल चुकी है। लोगों ने रिश्वत लेने के लिए बेटियों को ब्याहने का बहना बना लिया है, लोग कहते हुए दिखते हैं—''नकल बाबू भी घर-गिरिस्तीदार आदमी हैं। लड़कियाँ ब्याहनी हैं। इसलिए रेट बढ़ा दिया है। मान जाओ और पाँच रुपये दे दो।''[7]

व्यक्ति का नैतिक एवं चारित्रिक विकास शिक्षा एवं उसके परिवेश के माध्यम से होता है। शिवपालगंज में शिक्षा-व्यवस्था का सटीक उदाहरण है वहाँ का 'छंगामल विद्यालय इंटरमीडिएट कॉलेज' जहाँ पढ़ने वाले विद्यार्थी ''सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शांति निकेतन से भी आगे हैं, हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल का पानी क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं सैनिटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम है। हमने विलायती तालीम तक देशी परम्परा में पायी है और इसीलिए हमें देखों, हम आज भी उतने ही प्राप्त हैं। हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने पर ही उतरता है, बन्द कमरे में ऊपर चढ़ जाता है।''[8] जहां तक यहां के शिक्षकों की बात है तो

मास्टर मोतीराम एक शिक्षक के महान चरित्र और कर्तव्य से कोसों दूर अपने स्वार्थ सिद्धि में लगे रहने वाले व्यक्ति है। जिनके लिए उनकी आटा चक्की सर्वस्व है, जिसके लिए वे छात्रें को बीच कक्षा में छोड़कर अपनी आटा चक्की देखने जा सकते हैं। उपन्यासकार के शब्दों में ''वे दर्जे से भागे। लड़कों ने कहा, ''क्या हुआ मास्टर साहय? अभी घण्टा नहीं बजा है।' वे बोले, 'लगता है मशीन ठीक हो गई। देखें कैसी चलती है?''[9]

शिक्षकों में नैतिकता, आदर्श, कर्तव्य आदि गुणों का अभाव है और पढ़ने-पढ़ाने में इन्हें कोई रुचि नहीं है। हर शिक्षक छात्रें व कॉलेज के साथ मनमाना व्यवहार करता है। फिर चाहे वह नैतिक हो या अनैतिक। रूपर्ट स्नैल ने ठीक ही लक्षित किया है ''कॉलेज कोई खुशगवार जगह नहीं है। मोतीराम, जिनके जीवन में दिलचस्पी का एकमात्र विषय आटा चक्की है जिससे उनकी तनख्वाह में इजाफा होता है। और जो उनकी अनुशासनहीन कक्षा के दौरान पृष्ठभूमि में लगातार भकभकाती रहती है तथा कॉलेज के अन्य शिक्षक अक्षम हैं। एक अधिक गत्यात्मक नकारात्मक ताकत का प्रतिनिधित्व वह गुट करता है जिसके नेता खन्ना मास्टर हैं, जो इस तथ्य की आलोचना करने का साहस करते हैं कि कॉलेज के मैनेजर के रूप में वैद्य जी की स्थिति को जनतांत्रिक ढंग से चुनौती देने का अवसर नहीं दिया जाता।''[10]

उपन्यास का नायक रंगनाथ एम. ए. पास व रिसर्चर होने की बात ट्रक ड्राइवर को बताता है ताकि उसे अतिरिक्त सम्मान मिल सके परंतु 'ड्राइवर जैसे अलिफ लैला की कहानियाँ सुन रहा हो।' अर्थात् ट्रक ड्राइवर के लिए उच्च शिक्षा का कोई महत्व नहीं है। जैसे ही ड्राइवर को मालूम होता है कि ये शहरी 'शिरिमान' सी.आई.डी. नहीं विद्यार्थी हैं यानि किसी काम का नहीं, रंगनाथ ड्राइवर की नजरों में शिरिमान से सीधे 'नालायकों' की श्रेणी में आ गिरता है और उसके मन को ठेस लगती है। इसी ठेस की अभिव्यक्ति जिस वाक्य के तौर पर हुई है उसने शिक्षा व्यवस्था का एक नया ही 'समाजशास्त्रीय' पाठ संभव कर दिया, जिसका संबंध स्वातंत्र्योत्तर भारतीय शिक्षा-व्यवस्था के यथार्थ से था यथा ''वर्तमान शिक्षा-पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।''[11]

स्वातंत्र्योत्तर राजनीति का निर्माण किन स्रोतों एवं प्रक्रियाओं के द्वारा हो रहा है, किस प्रकार देश में आजादी के तुरंत बाद परिवारवाद हावी हो गया, इसका संकेत लेखक ने 'रुप्पन' बाबू के परिचय के साथ दिया है, वे लिखते हैं ''वे पैदायशी नेता थे क्योंकि उनके बाप भी नेता थे। उनके बाप का नाम वैद्य जी था।''[12] श्रीलाल शुक्ल ने चुनाव प्रक्रिया के विषय मे गयादीन के मुंह से कहलवाया है ''चुनाव के चोंचले में कुछ नहीं रखा है। नया आदमी चुनो, तो वह भी घटिया निकलता है। सब एक-जैसे हैं। इसी से मैंने कहा, जो जहाँ है, उसे वहाँ चुन लो। पड़ा रहे अपनी जगह। क्या फायदा है उखाड़-पछाड़ करने से!''[13] इस प्रक्रिया के दर्शन हमें वैद्य जी के 'छंगामल इंटर कॉलेज' के दोबारा मैनेजर चुने जाने पर होता है। बतौर रुप्पन वैद्य जी 'कॉलेज के प्रबंधक थे, हैं और रहेंगे'। सहकारी यूनियन में गबन के पश्चात वैद्य जी के पद छोड़ने पर बद्री पहलवान को बैठा दिया जाता है।

रागदरबारी का कोई भी पात्र चाहे बद्री पहलवान हो, सनीचर हो, छोटे पहलवान हो, लँगड़ हो, प्रिन्सिपल हो या चाहे वैद्यजी, सभी चरित्रें की पहचान उनकी भाषा से होती है। प्रिंसिपल जब क्रोधित होते हैं तब अवधी बोलने लगते हैं—''हमका अब प्रिंसिपली करै न सिखाव भइया, जउनु हुकुम है तउनु चुप्पे कैरी आउट करउ, समझयौ कि नाहीं?''[14] छोटे पहलवान और बद्री पहलवान की बोली में गाँव की गाली-गलौज और अश्लीलता दिखाई देती है।

भाषा में भदेसपन का दर्शन हमें कुसहर प्रसाद जो छोटे पहलवान के पिता हैं एवं वैद्य जी के संवाद से भी होता है जब वैद्य जी उन्हें कलह को शोक के मूल का प्रवचन देते हैं तब कुसहर ने दहाड़कर कहा, ''महाराज, यह ज्ञान अपने पास रखो। यहाँ खून की नदी बह गई और तुम हम पर गाँधीगीरी ठाँस रहे हो। यदि बद्री पहलवान तुम्हारी छाती पर चढ़ बैठे तो देखूँगा, इहलोक बाँचकर कैसे अपने मन को समझाते हो!''[15] वैद्य जी का अपमान होता समझ कर वहीं बैठे बद्री पहलवान भी इसका प्रति उत्तर देते है कहते हैं ''जाओ, जाओ! लगता है, छोटुआ से लड़कर लड़ास पूरी नहीं हुई है। जाकर पट्टी-वट्टी बँधवा लो। यहाँ बहुत न टिलटिलाओ!''[16] कहा जा सकता है कि श्रीलाल शुक्ल ने रागदरबारी में जिस विषयवस्तु को प्रस्तुत किया है वह सातवें दशक के अवध का यथार्थ होने के साथ ही आज की इक्कीसवीं सदी का भी यथार्थ ही है।

निष्कर्ष

शिवपालगंज के लोगों की भाषा में प्रायः उखाड़ पछाड़, लगाव रहित चुभतापन, अक्खडपन मुँह फटपन एवं बेबाकपन स्पष्ट रूप में विद्यमान है। उपन्यास में गाली-गलौज के साथ कुछ ग्राम्य जीवन की भदेस अनगढ़ भाषा का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इस कृति की भाषा के विषय में स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है कि रागदरबारी ने उन्हें छह साल तक बीमारी की हालत में था। इन गँवार, अशिष्ट पात्रों के साथ रहते हुए इनकी भाषा भी अशिष्ट हो गयी थी, जिस कारण परिवार की महिलाएं एवं अन्य सदस्य इन से कतराने लगे थे। कोई भी रचनाकार जब किसी कृति को सृजित करता है, तो सृजन-प्रक्रिया के दौरान वह इन सब चरित्रों जीता है।

यह कृति स्वतंत्रता के बाद के नेहरु युगीन स्वप्नों एवं आशाओं से मोहभंग को दर्शाती है। यह कृति केवल सातवें दशक की स्थितियों का दृश्यांकन नहीं करती, बल्कि आज के इक्कीसवीं सदी के यथार्थ रूप को दर्शाती है। इस कृति में देश की शिक्षा-व्यवस्था, शिक्षण संस्थानों की हालत, शिक्षकों की योग्यता, पुलिस-प्रशासन, उनकी कार्य-पद्धति,चुनाव-प्रक्रिया, न्याय-व्यवस्था, सरकारी अफसर, पारिवारिक-संबंध,भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, नैतिकता का ह्रास आदि का चित्रांकन विशदता से हुआ है। जब रंगनाथ शिवपाल गंज की विद्रुपताओं, विडंबनाओं से ऊबकर वहां से पलायन करने चाहता है तब रुप्पन बाबू समस्त विश्व मे शिवपालगंज के होने की बात कहता है।

संदर्भ

1. श्रीलाल शुक्ल की दुनिया, सम्पा. अखिलेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2018, पृ. 107
2. रागदरबारी, श्रीलाल शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2013, पृ. 8
3. श्रीलाल शुक्ल की दुनिया, सम्पादक अखिलेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2018, पृ. 45
4. वही
5. वही, पृ. 13
6. वही
7. रागदरबारी, श्रीलालशुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2013, पृ. 16
8. वही, पृ. 18
9. वही, पृ. 19
10. श्रीलाल शुक्ल की दुनिया, सम्पादक अखिलेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2018, पृ. 156
11. रागदरबारी, श्रीलालशुक्ल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2013, पृ. 2
12. वही, पृ. 17
13. वही, पृ. 115
14. वही, पृ. 18
15. वही, पृ. 75
16. वही

–विनीत कुमार अवस्थी

(शोध छात्र)

हिन्दी विभाग, दयानंद गर्ल्स डिग्री कॉलेज, कानपुर

(सम्बद्ध छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर)

भारतीय सिनेमा का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव

—डॉ. दीप सिंह

सारांश—मानव जीवन को पर्दे पर साकार करने की कला का नाम सिनेमा है। आज सिनेमा युवा वर्ग के दिलों की धड़कन बन चुका है। यह वह कला है जिसका प्रभाव व्यापक स्तर पर होता है। किसी कला का प्रभाव सकारात्मक भी होता हैं और नकारात्मक भी। सिनेमा के विषय में भी यह बात कही जा सकती है कि बॉर्डर,भाग मिल्खा भाग, मैरी कॉम, दामिनी,कर्मा एवं उरी जैसे प्रेरणादायक फिल्में किसी समाज की दशा एवं दिशा बदलने में सक्षम है। सकारात्मक प्रभाव की गति प्रायः धीमी होती है। जबकि नकारात्मक प्रभाव महामारी की भाँति व्यापक प्रभाव छोड़ते हैं। सिनेमा का एक पहलू निश्चित रूप से समाज के निर्देशन और निर्माण में सहायक है किंतु दूसरा पक्ष युवा वर्ग को उसके नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य, भाषा और उसकी अपनी जीवन शैली से कहीं ना कहीं काट रहा है जो एक विचारणीय प्रश्न है ।

बीज शब्द—जनमानस, नकारात्मकता, माखौल, चुटिली, चवन्नी छाप, विरासत, नजरिया,खिलवाड, झनझनाहट ।

प्रस्तावना— फिल्में समाज का आईना होती हैं। यह समाज में व्याप्त कमियों और विसंगतियों को आम जनमानस के सामने लाने एवं इसे समूल खत्म करने को प्रेरित करती हैं। फिल्मों के माध्यम से आम जनमानस को जागरूक किया जाता है लेकिन वर्तमान समय की बात करें तो फिल्मों में पश्चिमी सभ्यता का बढ़ता प्रभाव उसको असली वास्तविकता से कहीं इतर करता जा रहा है । यहाँ तक की फिल्मों में पर्दे पर छोटे-छोटे भड़काऊ कपड़े पहनकर अभिनय करना हमारे समाज के वास्तविक जीवन में भी परिलक्षित हो रहा है। अगर बात करें अभिनेताओं के हेयर स्टाइलों की तो इसका प्रभाव भी वर्तमान युवाओं पर देखा जा रहा है। फिल्म गजनी तथा तेरे नाम की हेयर स्टाइल एवं धूम में दिखाई गई बैंक डकैती इन सभी का स्पष्ट प्रमाण है कि इन्होंने समाज पर नकारात्मक प्रभाव छोड़ा है। त्योहारों पर होने वाला उटपटांग खर्च, चुनाव में होने वाली दादागिरी, छोटे-छोटे शहरों में गुंडा माफिया का राज कहीं न कहीं समाज इन फिल्मों से देख-देख कर ही सीख रहा है।

सिनेमा ऐसी कला है जो कई प्रक्रियाओं से गुजरते हुए पूरी होती है। स्वतंत्र कला नहीं होने के कारण फिल्म निर्माण में काफी समय लगता है। अलग-अलग विभागों में बंटे होने के कारण फिल्मों में एक साथ ही हमें कई तरह की कलाओं का समावेश दिखता है। सिनेमा कई कलाओं और कई विचारों को एक साथ प्रस्तुत करने में सक्षम है, इसलिए सबसे अधिक मनोरंजन की क्षमता भी उसमें ही है। सिनेमा और समाज का गहरा संबंध है सिनेमा समाज से ही प्रभावित होता है और समाज में रहने वाले लोग भी सिनेमा से प्रभावित होते हैं। भारत में सिनेमा सबके मन को छूने की क्षमता रखता है इसलिए वह हमारे अंदर दबी भावनाओं, इच्छाओं और आशाओं से मेल खाती है। सिनेमा के परदे पर जनमानस अपने आप को, अपनी जिंदगी को, अपनी खुशी और अपने गम को देखते हैं और उसमें डूब जाते हैं ।

पुरानी फिल्में सामाजिक सरोकार से पूर्ण होती थी। वहीं वर्तमान समय में बनाई जा रही फिल्में अधिक से अधिक सामाजिक विघटन को बढ़ावा दे रही है। वर्तमान में सिनेमा का प्रभाव किशोर तथा युवा तथा समाज के हर पक्ष पर अपना प्रभाव छोड़ रहा है। मनुष्य के जीवन के हर पहलू से संबंधित फिल्में आज ही नहीं बल्कि शुरू से ही बनाई जा रही हैं। इनका प्रभाव मनुष्य के जीवन के हर पहलू पर पड़ता है। भविष्य निर्माता युवाओं पर सिनेमा में दिखाए जाने वाली नकारात्मक्ता का प्रभाव समग्र रूप से भारतीय समाज की पूरी की पूरी दशा तथा दिशा बदलने में सक्षम है।

शताब्दी पूर्व से लेकर आज वर्तमान समय में भी फिल्में मनोरंजन का साधन है। यह बात कुछ और ही थी कि पुरानी फिल्मों में आशा तथा जिज्ञासा दोनों का स्थान था। अगर देखा जाए तो पता चलता है कि भारत में पहली बार सिनेमा का पदार्पण 1896 ई. में मुंबई के वाटसन होटल में ल्यूमियरे बंधुओं के चलचित्रों के प्रदर्शन से हुआ था। उस समय शायद ही किसी के दिमाग में यह सोच आई होगी कि कभी हमारा देश फिल्म उद्योग का सबसे बड़ा निर्माता बन जाएगा ।

भारत में बनी पहली फिल्म राजा हरिश्चंद्र को धुंडीराज गोविंद फाल्के ने बनाया था। शुरुआती दशक में कुल निर्माण होने वाली फिल्मों की संख्या 91 थी। जिनमें सभी में धार्मिकता का महत्वपूर्ण स्थान था। इसके पश्चात् फिल्म

जगत में सामाजिक फिल्में बनने का दौर शुरू हुआ। ऐतिहासिक फिल्में बनी भूत प्रेतों से संबंधित फिल्मों का भी निर्माण किया जाने लगा। 1947 से 1964 तक सफर सिनेमा का स्वर्ण काल कहा जाए तो गलत नहीं होगा। सत्यजीत राय के रूप में सिनेमा को अपना पहले कवि मिला था। साथ ही साथ मनुष्य को करुणा का गायक भी मिला। प्रारंभ में सिनेमा का माखौल उड़ाया जाता था परंतु आज देखा जाए तो यह भारतीय सिनेमा के ऊर्जा के केंद्र बिंदु के रूप में स्थापित हो गया है।

सिनेमा के इस बदलते संसार पर अब एक दूसरे ढंग से भी नजर डालें तो यह साफ नजर आता है कि यह फिल्में उदारीकरण के दौर में बनी नई मल्टीप्लेक्स संस्कृति की संतान हैं, जिन्हें उन दर्शकों के लिए बनाया जा रहा है जो नए किस्म की नौकरियाँ और नए मिलते पैसे के साथ मनोरंजन की ऐसी खुराक की तलाश में हैं जो उनकी छुट्टियों के बीच फिल्म देखने के अनुभव को पारिवारिक पिकनिक में बदल सके। इत्तेफाक से यह वर्ग है जिसकी सारी प्रेरणाएँ पश्चिम से आती हैं और जिसके पास अपनी कोई सांस्कृतिक विरासत और स्मृति नहीं है। स्मृति अगर है भी तो उन फिल्मों और गानों की जिन्हें मनुष्य पुरानी वर्जनाओं के बीच देखने की हिम्मत नहीं कर पाता था, इसलिए यह अनायास नहीं है कि इन दिनों जो फिल्में बन रही है उनमें हास्य प्रधान चुटिली फिल्मों की तादाद बहुत बड़ी है। सुरुचि संस्कृति को लेकर चुकी कोई बहस या आग्रह इस समाज में बचा नहीं है, इसलिए हर फिल्म में एक आइटम डांस है। जिसमें कहीं मुन्नी बदनाम हो रही है तो कहीं शीला जवान हो रही है। दरअसल इन फिल्मों को देखते हुए ही ख्याल आता है की सिंगल स्क्रीन के चवन्नी छाप दर्शक भले किनारे कर दिए गए हो लेकिन वह चवन्नी छाप मानसिकता अभी भी बची हुई है जो चाव से इन सब का लुफ्त लेती है। इसी मानसिकता के साथ बनने वाली फिल्में वर्तमान समाज को दूषित करने का कार्य कर रही हैं ।

सिनेमा में मानव मन को सुख, दुख, क्रोध, करुणा, भय, विलास आदि की मार्मिक अनुभूति होती है तो सहसा ही वह इन अनुभूतियों से प्रेरित होकर मनोभावों को प्रकट करता है। वह जब भाव संपर्क होकर मस्त झूमने लगता है तो इस दशा में उसके भी निर्गत चलते हुए भाव सहसा प्रदर्शित हो जाते हैं। उन्हीं प्रकटित भावों का स्वरूप सिनेमा में देखने को मिलता है जिससे दर्शक भी रोमांचित हो जाते हैं। इस रूप में हम पाते हैं कि सिनेमा के माध्यम से हमारे मूल्यों का अनवरत प्रभाव संभव है। हमारी सांस्कृतिक धरोहर को जन-जन तक पहुंचाने का सक्षम साधन सिनेमा ही है। निःसंदेह सिनेमा आज भूमंडलीकरण के युग में भी अपनी अहम भूमिका अदा कर रहा है। फिल्मों के माध्यम से समाज के विभिन्न पहलुओं को प्रकाशित किया जा रहा है। अतः सिनेमा को समाज का दर्पण कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारत के सर्वप्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में ''वर्तमान युग में यदि किसी कला के माध्यम का प्रभाव सर्वाधिक है तो इसमें संदेह नही की वह फिल्में हीं है''।

वर्तमान समय का अगर निरीक्षण करें तो फिल्में मनोरंजन का माध्यम तथा व्यवसाय का जरिया बन चुकी है। वर्तमान में तो अगर यह कहे कि पॉपकॉर्न सिनेमा अर्थात टाईम पास सिनेमा का निर्माण हो रहा है जो सिर्फ मनोरंजन है इसमें कोई भविष्य के लिए संदेश नहीं है तो अतिशयोक्ति बिल्कुल नहीं होगी। वर्तमान में सिनेमा में बदलाव की दिशा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रही है। सिनेमा आम जनमानस से दूर होता जा रहा है। आज उच्च वर्गीय दर्शकों पर केंद्रित सिनेमा सभी के सामने परोसा जा रहा है। ऐसे में यहाँ आने वाली फिल्में समय गुजारने का माध्यम मात्र बनकर रह गई है। पारंपरिक सिनेमा वर्तमान दौर में न जाने कहाँ विलुप्त अथवा खत्म हो गई है ।

एक रिपोर्ट के अनुसार 18 वर्ष की आयु में जब बालक पहुंचता है तब तक वह 33000 हत्याएं और लगभग 2 लाख हिंसा दृश्य टी.वी, पर देख चुका होता है। अगर कोई बच्चा पैदा होने से लेकर 18 वर्ष की अवस्था तक लगातार ऐसी चीजों को देखता सुनता रहेगा तो वाजिब सी बात है इसे ज्यादा देखने से बच्चे के अंदर आक्रामकता बढ़ती है, हिंसा के प्रति विरोध कम होता जाता है। कुछ अलग-अलग आँकड़ों के आधार पर सामने आया हैंकि इधर पिछले दो दशकों में हत्याओं की दर लगभग दो गुनी हो गई है।

अध्ययन तथा शोध के आधार पर इसका कारण टीवी पर प्रसारित होने वाले फिल्में तथा वेब सीरियल को माना गया है। साथ ही घटित हो रही हिंसक घटनाओं के लिए भी टी.वी. को ही दोषी और जिम्मेदार माना गया है । कुछ दिनों पहले एक फिल्म जिस्म रिलीज हुई उसको देखने के बाद ही दिल्ली में एक हत्या हुई थी जिसमें कातिल इस फिल्म से अत्यधिक प्रभावित था। उसके कुछ ही दिनों बाद फिल्म देल्ही बेली के आने के बाद युवाओं में आपसी दोस्तों के बीच गालियों का जैसे एक चलन सा प्रारंभ हो गया। कई फिल्म रचनाकारों ने अथवा फिल्म निर्माताओं ने अच्छी फिल्मों के निर्माण के माध्यम से दर्शकों को मनोरंजन के साथ-साथ समाज को एक नई दिशा देने का कार्य किया है।

अच्छी फिल्मों का बनना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इससे समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने में भी समाज की मदद करती है। यह एक तिहाई लोगों में एक नई दृष्टिकोण तथा नई संवेदना पैदा करती है। एक समय वह

भी था जब भ्रष्टाचार, बाल - विवाह, घर-बार, दहेज प्रथा, छुआछूत, जाति-पाति आदि सामाजिक मुद्दों पर फिल्मों का निर्माण किया जाता था। उस समय की फिल्में समाज में जागरूकता को फैलाने का प्रमुख माध्यम थी। एक समय वह भी था जब फिल्में ऐसी बनती थी जो पूरे परिवार जनों के साथ बैठकर देखी जाती थी। परंतु आज की बात करें तो उंगलियों पर कुछ गिनी-चुनी फिल्मों को छोड़कर बाकी सब अश्लीलता एवं गंदगी के सिवाय समाज को कुछ और नही परोस रही हैं। आज की फिल्में में ना ही कोई कहानी होती है ना कोई संदेश होता है। इसलिए पूरे परिवार जनों का एक साथ बैठकर फिल्में देखने का सपना अब पूरा होता नहीं दिखाई पड़ रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में रोडरेज की घटनाओं में भी काफी वृद्धि देखने को मिल रहा है जो युवाओं के नैतिक पतन ,मानवीय मूल्यों के हनन और अतिवाद का परिचायक है । फिल्मों में दर्शकों के प्रिय कलाकार जब बात-बात पर रिवाल्वर निकालते हैं तो वहीं प्रवृत्ति युवाओं के असल जिंदगी में दिखाई देती है। उनके जीवन की संवेदनाएं समाप्त हो रही हैं। जो संस्कार उन्हें विरासत में मिले हैं वह उनके लिए बंधन बनते जा रहे हैं । वह अपने चहेते कलाकार के संवाद को बोलने में तो बड़ा गर्व महसूस करते हैं, उनके मर्म को समझने में नहीं।

भारतीय फिल्म जगत की आधारशिला रखने वाले दादा साहब फाल्के के अनुसार वर्तमान में जो हम आज इन फिल्मों का निर्माण कर रहे हैं यह दोबारा देखने को नहीं मिलेगी अर्थात फिल्मों में सामाजिक सरोकार घटता जाएगा। वर्तमान समय की बात करें तो यह देखा जाता है कि आज के युवाओं का उठना, बैठना, बात करना, खान-पान ,पहनावा यहाँ तक की विभिन्न धर्मो के प्रति उनका नजरिया भी फिल्मों को देखने के बाद ही निर्धारित होता है । सत्य बात तो यह है कि जो घटनाएँ समाज में घटित होती है वही पर्दे पर दिखाया जाता है, परंतु जितना घटता नहीं उससे ज्यादा मसाला लगाकर जनता के सामने परोसा जा रहा है।

फिल्मों को कभी-कभी समाज का छोटा दर्पण ,आईना एवं प्रतिबिंब कहा जाता है। अगर वर्तमान की बात करें तो सिनेमा समाज से ले तो कम रहा है परंतु दे ज्यादा रहा है। अब तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि सिनेमा समाज से बनता है कि सिनेमा से समाज । सिनेमा समाज से बनता है, समाज के लिए बनता है और एक ,सभ्य समाज का निर्माण करता है। आज तक के सिनेमा ने राजा हरिश्चंद्र से लेकर आलम आरा तक ने काफी लंबी दूरी तय की है। तब से लेकर अब तक भारतीय सिनेमा ने समाज में घटित सभी पहलुओं सभी घटनाओं को अपने माध्यम द्वारा लोगों तक पहुंचाया है। जहाँ पुरानी फिल्में सामाजिक सरोकारों को बढ़ावा देती थी।

आज वर्तमान समय की बात करें तो वर्तमान में बनने वाली फिल्मों में से कुछ एक को छोड़कर सारी फिल्में हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के खिलाफत करते नजर आती हैं। कभी भारतीय संस्कृति की पहचान तथा परोपकार करने वाली फिल्में वर्तमान समय में समाज के सामने हिंसात्मक,अश्लील और भड़काऊ चीजें परोस रही है। फिल्मों के आधार पर ही आज के नौजवानों के आचार - विचार तथा रहन-सहन में भी अंतर आया है । इसके लिए संभवतः वर्तमान में आने वाली फिल्में ही इसका प्रमुख कारण है। फिल्में अत्यधिक बजट की बनाई जा रही है और इतने बजट की होने के कारण लगी हुई रकम कैसे वसूल हो इसका व्यवसायिकरण किया जा रहा है।

वर्तमान समय में जागरूकता फैलाने वाली फिल्मों में अत्यधिक गिरावट दर्ज हुई है अगर इतना कहा जाए कि भारतीय सिनेमा में वर्तमान समय में भारत खोजना कठिन हो गया है तो गलत नहीं होगा। प्रारंभिक दशकों में सामाजिक सरोकार की जो फिल्मों की गहराई को वर्तमान समय में भी आने की आवश्यकता है। फिल्मों का निर्माण करते समय भारतीय संस्कृति का गहराई से अवलोकन करना चाहिए उसके पश्चात यहाँ की समृद्ध परंपरा को ध्यान रखते हुए ऐसी फिल्मों का निर्माण होना चाहिए जो समाज हित में हो।

दरअसल ध्यान से देखे तो हर एक तरह का आधुनिक मिजाज इन फिल्मों ने अर्जित किया है जो देसी कम ग्लोबल ज्यादा है इस मिजाज में कुछ अच्छी बातें भी हैं एक अच्छी बात यह है कि स्त्रियों के बन रहे स्टीरियोटाइप कई फिल्मों में टूटे हैं पहले की तरह सती सावित्री या दिखावटी आधुनिक होने की वजह से अब वे ज्यादा हाडमांस की है उनमें बराबरी का एहसास भी कहीं ज्यादा है दूसरी अच्छी बात यह है कि कई फिल्मों के नायक पुराने दौर के महानायको जैसे नहीं है वह बिल्कुल आम लोग जैसे हैं जिनमें कुछ कमजोरियां भी हैं लेकिन जो अपनी कमजोरी के पार जाने की कोशिश कर रहे हैं। तीसरी बात यह है कि इस सिनेमा ने ना जनजीवन के उन पहलुओं को छुआ है जो पहले अछूते रह जाते थे पान सिंह तोमर की कहानी इतनी विश्वसनीय ढंग से इसी दौर में कहीं जा सकती थी इसी तरह बर्फी विकी डोनर जैसे दिलचस्प फिल्में शायद पहले नहीं बन सकती थी सच तो यह है कि सलमान खान की वांटेड दबंग और बॉडी गार्ड जैसी फिल्मों के बावजूद और आमिर खान और शाहरुख खान जैसी सितारों की उपस्थिति के बाद भी मुख्य धारा के हिंदी सिनेमा का संसार पहले से बड़ा और विविध हुआ है ।वर्तमान में कलात्मक सृजनात्मकता तथा समाज में चेतना फैलाने वाली फिल्मों के ना बनने से अत्यधिक

गिरावट दर्ज हुई है। फिल्म निर्माताओं को मनोरंजन कर में सरकार से रियायत मिलनी चाहिए, अतः इस तरह की छूट सिनेमा बनाने वालों को सार्थक तथा जागरूकता पूर्ण फिल्में बनाने के लिए प्रेरित करती है। फिल्मों में असभ्य तथा अमर्यादित शब्दों का इस्तेमाल नही किया जाना चाहिए। इसको पूर्ण रूप से प्रतिबंधित किया जाए। आज के दौर में दक्षिण भारतीय फिल्मों का हिंदी रूपांतरण अर्थात रीमेक करके बॉलीवुड में फिल्में बनाई जा रही है। इसको पूर्णतः प्रतिबंधित किया जाना चाहिए।

अभी कुछ वर्षों से फिल्मों में एक नई कहानी जुड़ गई है। इनमें सबसे प्रमुख है अलग- अलग टी.वी. चैनलों पर दिखाए जाने वाले वेब सरियल। इन वेब सीरीजों को अलग-अलग भागों में प्रकाशित किया जाता है। कुछ वेबसीरीज के 10 भाग तो किसी के आठ भाग और सभी प्रत्येक भाग कम से कम 40 से 45 मिनट के आसपास का होता है। इन सब के माध्यम से भी समाज को अश्लीलता तथा हिंसा खुलेआम परोसा जा रहा है। कुछ वेब सीरीज जैसा मिर्जापुर-1 तथा मिर्जापुर- 2 के अंतर्गत इस शहर की गरिमा को गुंडागर्दी के साथ ही साथ अश्लील रूप में दिखाया गया है ,जो की बिल्कुल असत्य है । इसी तरह एक अन्य वेब सीरीज माधुरी टॉकीज भी 12 भागों प्रकाशित की गई है, इसमें भी प्यार के साथ ही साथ अत्याचार तथा हिंसा को दिखाया गया है। इसी तरह भौकाल में भी समाज को दूषित करने वाली कहानी पिरोई गई है। अश्लीलता की बात करें तो मस्तराम वेब सीरीज ने तो सारी हदें पार कर दी। अश्लीलता की इसी क्रम में गंदी बात ने तो समाज को बिल्कुल ही गंदा कर दिया। बेकाबू , वर्जिन भास्कर आदि सैकडों वेब सीरीजों ने समाज की असली छवि को धूमिल कर दिया है । वेब सीरीज का प्रसारण करने वाले चौनलों में मैक्स प्लेयर तथा एलटी बालाजी ने प्रमुख भूमिका निभाया है।

वर्तमान समय में ऐसी अश्लील वेब सीरीजों के निर्माताओं पर नकेल लगाना अति आवश्यक है ,अन्यथा कमाई करने की अंधी दौड़ में समाज की इज्जत को तार-तार करना या उसके साथ खिलवाड़ करना भविष्य के लिए शुभ संकेत नहीं है। फिल्म एवं वेब सीरीजों के प्रमाणिकता की जाँच करने हेतु जो भी समितियाँ बनाई गई है, उसको भली-भाँति भारतीय संस्कृति के साथ खिलवाड़ करने वाली ऐसी किसी भी फिल्मों या वेब सीरीजों को प्रसारण से पूर्व प्रामाणिकता प्रमाण पत्र तभी देना चाहिए जब वह पूर्णतः संस्कृति रक्षक हो या भारतीय संस्कृति की विकास एवं प्रचार प्रसार में सहायक हो ।

निष्कर्ष-आज समाज के विभिन्न वर्गों पर सिनेमा के दूरगामी प्रभावों को नकारा नहीं जा सकता। जिस प्रकार का परिवर्तन समाज में देखने को मिल रहा है और जिस तीव्र गति से यह परिवर्तन समाज में संक्रमण की तरह फैल रहा है उसे रोकना बहुत आवश्यक है। सिनेमा के गीतों की गूँज, उसके संगीत की झनझनाहट, अभिनय की कलात्मकता और नायक- नायिका की रूप और छवि हमारे मन को अवश्य ही बहुत भाँती है। किंतु इस पर प्रदर्शित होने वाले खुले अश्लील दृश्य ,क्लब कल्चर , अपराध को प्रेरित करते सीन, हथियारों की अनावश्यक धड धड़ाहट ,भाषा का भद्दापन, अलगाववादी जीवन शैली,विदेशी संस्कृति की नकल आदि कहीं ना कही समाज की मानसिकता को विकृत कर रही हैं। समाज के हर वर्ग पर इसका प्रभाव आज सकारात्मक कम तथा नकारात्मक ज्यादा दिखाई देने लगा है।

संदर्भ

- शंकर करुणा, भारतीय फिल्मों का इतिहास,रंगभूमि प्रकाशन दरियागंज दिल्ली,संस्करण-1976, पृ. 44
- भारद्वाज विनोद, सिनेमा एक समझ,मध्य प्रदेश फिल्म विकास निगम-भोपाल, संस्करण-1993, पृ. 37
- यादव विरेंन्द्र सिंह, शताब्दी की दहलीज पर भारतीय सिनेमा (संघर्ष और मुक्ति के नए क्षितिज)ओमेगा प्रकाशन नई दिल्ली,संस्करण-2012, पृ. 68
- प्रियदर्शन,नये दौर का सिनेमा,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 10
- यादव विरेंन्द्र सिंह, शताब्दी की दहलीज पर भारतीय सिनेमा (संघर्ष और मुक्ति के नए क्षितिज),ओमेगा प्रकाशन नई दिल्ली,संस्करण-2012, पृ. 4
- डॉ. विमल, हिन्दी चित्रपट एवं भारतीय संगीत का इतिहास, संजय प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 31 सिंहा प्रसून, भारतीय सिनेमा (एक अनंत यात्र), श्री नटराज प्रकाशन दिल्ली,संस्करण-2019, पृ. 136
- रामा, हिन्दी सिनेमा में साहित्यिक विमर्श,हंस प्रकाशन दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 112
- प्रियदर्शन, नये दौर का सिनेमा,वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 124
- प्रियदर्शन, नये दौर का सिनेमा, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 10
- सुधांशु डॉ.अनिरुद्ध कुमार, हिन्दी सिनेमा एवं उसका अध्ययन, श्री नटराज प्रकाशन दिल्ली,संस्करण-2023, पृ. 208

–डॉ. दीप सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर (संगीत-गायन)
राजकीय महिला महाविद्यालय, झाँसी

रामदरश मिश्र कृत उपन्यास 'थकी हुई सुबह' : एक दृष्टि

—डॉ. शशी पालीवाल

सारांश— थकी हुई सुबह' रामदरश मिश्र का 1993 ई. में प्रकाशित उपन्यास है। 'थकी हुई सुबह' उपन्यास में नारी यथार्थ की गूंज और पति से बिछुड़ी हुई नारी के जीवन की संघर्ष यात्रा है। प्रस्तुत उपन्यास में पाठक स्थान-स्थान पर ग्रामीण जीवन के प्राकृतिक सौंदर्य और उसकी संस्कृति से साक्षात्कृत होता है, जिसका अपना ही निराला ठाठ है। वास्तव में 'थकी हुई सुबह' उस स्त्री (लक्ष्मी) के दर्द की महागाथा है, जो अंधेरे से लड़ती हुई प्रातः की तरह उठती तो है किंतु यात्रा में प्राप्त अनेक कटु और अमानवीय अनुभवों के कारण उसे प्रातः की ताजगी नहीं वरन् थकान ही प्राप्त होती है। 'थकी हुई सुबह' इसी परंपरा का उपन्यास है, जिसमें नारी-यातना के कई स्तर विश्वसनीयता के साथ खुलते हैं और नारी मुक्ति से सम्बद्ध कई सवालों को जन्म दे जाते हैं। उपन्यास का कथानक यथार्थ और कल्पना के ताने-बाने से बुना गया है। यह उपन्यास नारी 'लक्ष्मी' का अपने पति से अलग हुई जिंदगी की दुर्दम्य ग्राम्य कथा है। साहस और उत्साह से भरी उस औरत की कथा है जो अपनी अस्मिता दाँव पर रखकर झाड़-झंखाड़ भरे रास्तों से बचते हुए, छिलते हुए अपने जीवन को संभाल सकी है किंतु किसी पुरुष के साथ से उससे विलग रहकर नहीं।

प्रमुख शब्द— पारिवारिक विघटन, अमानवीय अनुभव, ग्रामीण जीवन, प्राकृतिक सौंदर्य, स्त्री संवेदनहीनता।

रामदरश मिश्र कृत उपन्यास 'थकी हुई सुबह' में सामाजिक जीवन की कई समस्याएं दृष्टिगत होती हैं। पारिवारिक विघटन भी दिखाई पड़ता है। रामधन की मृत्यु के पश्चात् उमा जी उनके एक बेटे को पढ़ने के लिए पैसे देती हैं, किन्तु दूसरे को फिजूल कामों में खर्च करने के लिए पैसे नहीं देती हैं तो वह घर में उपद्रव मचाता है और माँ से कहता है, ''इस संपत्ति में मेरा आधा हिस्सा होता है जितना भाई को दोगी उतना मैं भी लूंगा।''[1] प्रस्तुत उपन्यास में माता-पिता के प्रति संतान की कर्तव्यहीनता को भी दर्शाया गया है। स्त्री का स्त्री के प्रति दुश्मन जैसा व्यवहार भी स्त्री संवेदनहीनता का परिचायक है। 'थकी हुई सुबह' में मैना दीदी पर उसकी सास का अत्याचार इतना बढ़ जाता है कि वह न केवल बीमार हो जाती है अपितु तंग आकर ससुराल छोड़ देती है। मरते हुए मैना लक्ष्मी से कहती है, ''लक्ष्मी, एक बात मानोगी? बहना ससुराल मत जाना।''[2] मैना के इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि ससुराल में बहुओं को कितना प्रताड़ित किया जाता है। अनमेल विवाह की समस्या को भी रेखांकित किया गया है। रघुनाथ बाबा दहेज न दे पाने के कारण अपनी सत्रह साल की लड़की शोभा का ब्याह पचास साल के एक खूसट बूढ़े के साथ कर देते हैं। दूल्हे को देखकर लड़कियां दंग रह जाती हैं, ''हम लोग बहुत उत्साह में थे कि शोभा बुआ की शादी हो रही है। उनके दूल्हे को देखने की बड़ी ललक भर आयी थी। द्वार पूजा के समय हम लोग बहुत उमंग से दूल्हा देखने पहुंचे और देखकर दंग रह गए कि दूल्हे की जगह पचास साल का एक मरद बैठा हुआ है। ''सख्त तिकोने सा चेहरा, पतला सा ललाट, मिच मिची आँखें, आगे की ओर खूब फैली हुई नाक। शोभा बुआ का पति यही है। बार-बार मेरे मन में सवाल उठता। कुछ लड़कियाँ मुस्की मार-मारकर हंस रही थीं, कुछ बातें कर रही थीं लड़की को बेच दिया रघुनाथ बाबा ने।''[3]

उपन्यास में निम्न आर्थिक दशा का चित्रण भी मिलता है। उपन्यास में गरीबी के कारण ही पच्चीस साल की बहूजी का विवाह पचपन साल के वकील साहब के साथ होता है। इस अनमेल विवाह से उसके सारे सपने टूटकर बिखर जाते हैं। उसके निम्नलिखित कथन से इस बात की पुष्टि होती है, ''मेरी भी क्या जिंदगी है। गरीब माँ-बाप ने बूढ़े के साथ बांध दिया। क्या पैसा ही सब कुछ होता है? वकील साहब ने मुझे गहनों से लाद दिया; रूपया-पैसा भी खूब कमाते हैं और देते हैं, लेकिन उसके बाद? मेरे लिए उनके पास समय कहाँ है? और समय भी हो तो उस समय का क्या कर लूंगी?''[4] इस उपन्यास की नायिका लक्ष्मी है, जो गरीब घर में जन्मी है, किन्तु पढ़ने की ललक रखती है। उसकी शादी वकील साहब के बेटे बुद्धिसागर से होती है। बुद्धिसागर का अपनी हम उम्र की सौतेली माँ से अनैतिक सम्बन्ध हैं। लक्ष्मी को यह मालूम हो जाता है तो वह भाग जाती है। कई दिनों के बाद वह फिर लक्ष्मी से मिलता है किन्तु वह उसे अपनाती नहीं। इसके अतिरिक्त विधवा विवाह, बहु-विवाह, दहेज प्रथा, सामाजिक यौन-विकृतियाँ, यौन-विसंगतियाँ, नारी शिक्षा आदि की समस्याएँ भी दिखाई गई हैं।

उपन्यास की समस्त कथा की केन्द्र बिन्दु लक्ष्मी है। वही इस उपन्यास की प्रमुख पात्र और चरित्र है। लक्ष्मी,

शम्भू, रामधन, उमा, बहुजी, वकील साहब, विनोद, मैना दीदी, रघुनाथ बाबा, शोभा, सागर, मास्टर जी, कलावती, सुंदर, दूबे इत्यादि पात्र हैं। लक्ष्मी का चरित्र उपन्यास में एक सजग, चेतनशील व संघर्षशील प्राणी के रूप में उभरता है। शिक्षा के प्रति उसकी ललक से यह आसानी से समझा जा सकता है तभी तो वह कहती है, ''उसे लगता था कि औरतों को भी पढ़ना चाहिए। उसका स्वयं का मन तो पढ़ने के लिए आतुर था ही वह अक्षर ज्ञान प्राप्त कर विद्या की प्यास लिए भटकती फिरती थी।''[5] माँ-बाप से वह बार-बार कहती है कि वह पढ़ना चाहती है लेकिन वे हंसकर उसकी बात टाल देते। उसके भाई ने तो पढ़ना छोड़ दिया था। लेकिन भाई की पुस्तकों का बस्ता बनाकर अपने पास रखती थी। कभी-कभी वह भाई की कोई किताब खोलकर पढ़ती थी। अक्षरों को जोड़कर धीरे-धीरे पढ़ना उसने सीख लिया था। एक दिन एक पृष्ठ उसके सामने खुल गया। उस पर गांधी जी, दयानंद सरस्वती और कई महापुरुषों के चित्र बने थे उसका शर्षिक था—''नारी शिक्षा—उसमें लिखा था—''हमारे देश की स्त्रियों को भी जागना चाहिए। उन्हें पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर चलने की जरूरत है। लेकिन यह तभी होगा जब उनकी शिक्षा-दीक्षा हो। शिक्षित होकर ही वे वीर माता, वीर पत्नी, वीर पुत्री और देश की सेविका बन सकती हैं। शिक्षा ज्ञान देती है, वह अपने पाँव पर खड़ा होने की ताकत देती है। जब तक हमारे देश की स्त्रियां शिक्षित नहीं होतीं उनमें जागृति उत्पन्न नहीं होगी और वे दुर्दशा भोगती रहेंगी। इसीलिए स्वामी दयानंद सरस्वती, राजाराम मोहनराय और गांधी जी आदि महान नेता नारी-शिक्षा पर इतना बल दे रहे हैं।''[6] इस पाठ को बार-बार पढ़कर वह उत्साह से सराबोर हो गयी। बड़े हुलास (उत्साह) के साथ वह पिताजी के पास गयी और कहा, ''आप गांधी जी को मानते हैं न पिताजी।''

अरे बेटी, वे तो महात्मा हैं, उन्हें तो पूरा देश मानता है वे अपना सब कुछ छोड़-छाड़कर देश की आजादी की लड़ाई लड़ रहे हैं। ऐसे महापुरुष को पूरा देश मानता है, मैं तो उनकी पूजा करता हूं। तब आप उनकी बात क्यों नहीं मानते? ''कौन सी बात बेटी?'' ''देखिए इस किताब में क्या लिखा है, लिखा है कि देश की समाज की उन्नति चाहते हो तो स्त्रियों को शिक्षित करो। शिक्षा प्राप्त करके स्त्रियों की उन्नति जब तक नहीं होगी तब तक देश और समाज की उन्नति नहीं होगी।'' ''तो क्या तू पढ़ लेती है बेटी?'' ''हाँ, भइया की किताब से मैंने पढ़ना सीख लिया।''[7]

'थकी हुई सुबह' उपन्यास में लक्ष्मी नारी के प्रबलतम रूप को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। वह अपनी भाभी से कहती है, ''क्या हम स्त्रियों की जान जान नहीं होती, हमारा निर्णय-निर्णय नहीं होता? हमने अपने को इतना तुच्छ और महत्त्वहीन मान लिया है इसीलिए तो पुरुषों को हमारे साथ ज्यादती करने का साहस होता है।''[8] इस प्रकार युगों से पुरुष नारी को अपनी दासी ही समझता आया है। यही कारण है कि स्त्री के हाथों छोटी भूल भी पुरुष द्वारा क्षम्य नहीं, जबकि स्वयं पुरुष कितनी ही भूलें करता रहता है वे रोक-टोक। आधुनिक युग की नारी की भाँति लक्ष्मी इस रूढ़ मानसिकता के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह करती है कि बेटी की कमाई कोई माँ कैसे खा सकती है? वह समाज द्वारा निर्मित रूढ़ मान्यताओं को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। वह बेटा-बेटी के नाम पर होने वाले भेदभाव को सहन नहीं कर पाती। ''बेटा-बेटी का भेदभाव माँ-बाप के प्रति संतान के कर्तव्य को भी बाँट देता है। पता नहीं किसने यह नियम बना दिया कि बेटी की हर चीज माँ-बाप के लिए अछूत है। तो सुन लीजिए मैं भी कोई निर्जीव चीज नहीं हूं कि जहाँ जैसे डाल दी जाऊं पड़ी रहूंगी।''[9] आज की नारी मालिक के आचार-विचार के बारे में निर्भीकता से जवाब देती है। दुलारी बहू जी के घर बर्तन मांजने का काम करती है, एक दिन बहूजी के भाई ने उससे कह दिया, ''अब तुम कल से यहाँ पर काम करने मत आना। तब दुलारी कहती है, ''आप कौन हैं?'' बहू जी के भाई कहते हैं, ''तुम मुझे नहीं जानती? जानकार शादी करनी है क्या?'' मामा जी के ऐसे वचन सुनकर वह आग बबूला हो जाती है और रोष भरी वाणी में कहती है, ''तू दहिजरा मुझसे शादी करेगा। मेरा मर्द मेरे लिए काफी है। मर्द के रहते हुए दूसरे मर्दों पर मुंह मारना तुम्हारे घरों की रीति होगी, हमारे यहाँ की नहीं, समझे।''[10]

शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो इस उपन्यास को आम बोलचाल की शब्दावली में शब्द-विन्यास, वस्तु विन्यास, कथोपकथन को गढ़ा गया है जिससे उपन्यास पठनीय बन गया है। आधुनिक भारतीय समाज के ग्रामीण समाज को चित्रित करता यह उपन्यास प्रेमचंद की परंपरा का है। इसके संवादों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। शिव कुमार की शादी न हो तो गाँव वाले कहते हैं—''क्या है इनके घर? लड़की आकर भूखों मरेगी।''[11] लक्ष्मी अपने मायके में कहती है—''पिताजी और माँ के तन पर के कपड़े उसे दर्द से भर देते। रूखा-सूखा भोजन भी ठीक से दोनों वक्त नहीं जुट पाता था।''[12] ''अब बैल रखने की जरूरत नहीं रह गई है, ट्रैक्टर जो खड़ा है।''[13] भाषा बेहद सामान्यजन की है, काव्यात्मक है, बिम्बात्मक प्रतीकों से युक्त, मुहावरों व लोकोक्तियों से भरी हुई है। उदाहरणों से यह तथ्य प्रमाणित हो जाएगा—''रबी की फसल गाँव के चारों ओर उमड़ी हुई थी। दूर नदी बहती थी। नदी और गाँव के बीच में पड़ने वाली लम्बी तलहटी में फसलों का ज्वार उमड़ा हुआ था। पीली-पीली सरसों, नीली-नीली तीसी, सफेद-लाल

मटर फूली हुई थी।''[14] ताल एवं नदी की सुषमा का वर्णन इस प्रकार है—''ताल पर बहुत से पंछी उड़ते होते। वे ताल पर उड़ते-उड़ते नदी की ओर निकल जाते, नदी से ताल की ओर लौट आते। इनकी परछाईयां नीचे आती और तैरती रहती।''[15] ''इस ओर तो पाट समतल है लेकिन उस ओर बड़े ऊँचे-ऊँचे कगार हैं। तट की रेत में झाऊ के छोटे-छोटे पेड़ खड़े थे। पंछी उड़ रहे थे और उनके पंखों की परछाईयाँ पानी में झर रही थीं।''[16] दोनों परिच्छेदों में 'पीली-पीली सरसों' से काव्यात्मकता का बोध, 'पीली-पीली सरसों' से 'फाल्गुन' महीने में सरसों के पौधों से खिले हुए फूलों का बिम्ब उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार 'नदी, तट, रेत, पंछी' से भी इसी प्रकार का बोध होता है। काव्यात्मक शैली का उदाहरण हमें गीतों के माध्यम से भी मिलता है—''फुलवन से वन दहके हो रामा, चैत महिनवा घर, आँगन, मन महके हो रामा चैत महिनवा अगिया लगावे ले, बैरिन कोइलिया बोले कहीं रह-रहके हो रामाचैत महिनवा''[17]

निष्कर्ष— हम कह सकते हैं कि रामदरश मिश्र का उपन्यास 'थकी हुई सुबह' उपन्यास की नायिका लक्ष्मी के दर्द की महागाथा है जो अंधेरे से लड़ती हुई प्रातः की तरह उठती तो है किंतु यात्रा में प्राप्त अनेक कटु और अमानवीय अनुभवों के कारण उसे प्रातः की ताजगी नहीं वरन् थकान ही प्राप्त होती है। यह उपन्यास नारी 'लक्ष्मी' का अपने पति से अलग हुई जिंदगी की दुर्दम्य ग्राम्य कथा है। साहस और उत्साह से भरी उस औरत की कथा है जो अपनी अस्मिता दाँव पर रखकर अनेक उतार-चढ़ाव भरे रास्तों से संघर्ष करते हुए अपने जीवन को संभाल सकी है, वह भी अपनी शर्तों पर।

संदर्भ

1. थकी हुई सुबह, रामदरश मिश्र, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2015, पृ. 130
2. वही, पृ.15
3. वही, पृ.13
4. वही, पृ. 43
5. वही, पृ. 15-16
6. वही, पृ. 16
7. वही, पृ. 16
8. वही, पृ. 123
9. वही, पृ. 83
10. वही, पृ. 93
11. वही, पृ. 34
12. वही, पृ. 65
13. वही, पृ. 01
14. वही, पृ. 21
15. वही, पृ. 21
16. वही, पृ. 23
17. वही, पृ. 39

—डॉ. शशी पालीवाल

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,

जनता महाविद्यालय, अजीतमल, औरैया, उ. प्र.

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स (श्रीअन्न) की खेती की संभावनाएं–एक अध्ययन

–डॉ. हीरालाल

सारांश–प्राचीन खाद्यान्न मिलेट्स अपने पौष्टिक मूल्य और सुगंधिता के लिए विश्व भर में जाना जाता है। इसमें कई पोषक तत्व जैसे मैग्नीशियम, फाइबर, कैल्शियम, पोटैशियम, और विटामिन प्रचुर मात्र में पाये जाते है। इसका सेवन करने से सभी आयु वर्ग की महिलाओं, पुरुषों, तथा बच्चों की सेहत पर काफी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। वर्ष 2023 को अन्तर्राष्ट्रीय मिलेट्स वर्ष के रूप में दुनिया मना रही है। भारत वर्ष 2018 को राष्ट्रीय मिलेट्स वर्ष मना चुका है। भारत में उत्तर प्रदेश राज्य में प्राचीन समय से ही मोटे अनाजों की खेती की परंपरा रही है। *"बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स (श्रीअन्न) की खेती की संभावनाएं"* शोध शीर्षक अन्तर्गत वर्तमान परिदृश्य में बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स की संभावनाओं के साथ-साथ भूमि और जलवायु का मूल्यांकन, उत्पादन, किसान समर्थन और प्रशिक्षण जैसे पहलुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द– भूमि और जलवायु, उत्पादन, किसान समर्थन और प्रशिक्षण

प्रस्तावना–मोटे अनाज यानी मिलेट्स जिसे अब देश में श्रीअन्न के रूप में जाना जाता है। मिलेट्स को लेकर विश्वभर के वैज्ञानिक जलवायु संकट की वजह से संभावित अकाल जैसी हालातों में मिलेट्स की खेती को एक विकल्प के तौर पर देख रहें है। वर्तमान समय में मिलेट्स दुनिया के नक्शे से लगभग गायब-सा है। मिलेट्स अपने पोषक तत्वों की वजह से काफी प्रसिद्ध है। मिलेट्स के अन्तर्गत बाजरा, ज्वार, रागी, कंगनी, कुटकी, को दो, सावां और चेना इत्यादि अनाज आते हैं। ये अनाज मानव सेहत के लिए काफी गुणकारी है। मिलेट्स का प्रयोग लोग विभिन्न तरीके से करते हैं। कुछ लोग रोटी बनाकर, तो कुछ लोग इसके नूडल्स, बिस्कुट और डोसा के अलावा भी कई प्रकार से करते हैं। पोषक अनाजों में, अनेक किस्म के छोटे-छोटे बीजों को शामिल किया जा सकता है जिनकी बुवाई अन्न प्राप्ति के लिए की जाती है। ये बोवाई शीतोष्ण कटिबंध, उपोषण कटिबंध के शुष्क इलाकों में की जाती है। भारतीय खाद्य संरक्षा एवं मानक प्राधिकरण ने पोषक अनाज की दस किस्मों का उल्लेख किया है जिसमें प्रमुख ज्वार, बाजरा, रागी, ककुम, कोदो, सावां, कुटकी और चेना आते हैं।

भारत में मिलेट्स का उत्पादन लगभग सभी राज्यों में किया जाता है, लेकिन इसके उत्पादन के मामले में राजस्थान भारत के अन्य सभी राज्यों में सबसे आगे है। वहीं भारत के सात राज्य कुल उत्पादन का 85 प्रतिशत मिलेट्स का उत्पादन करते हैं। स्टेट बोर्ड के आंकडो के अनुसार वह सात राज्य, राजस्थान, कर्नाटक, महाराष्ट्र , उत्तर प्रदेश, हरियाणा, गुजरात और मध्यप्रदेश है। भारत की पहल पर इस साल को अन्तर्राष्ट्रीय मिलेट्स वर्ष के रूप में मना रही है। लिहाजा इसे सफल बनाने में भारत की भूमिका भी सबसे महत्वपूर्ण है। भारत को इसका अहसास है और वह यह कर भी रहा है। हाल के कुछ इवेंट्स को देखें तो काशी से लेकर वाशिंगटन तक मिलेट्स की धूम रही है। वाशिंगटन में अमेरिकी राष्ट्रपति जो बाइडन के साथ भोज में अन्य व्यंजनों के साथ मिलेट से बने व्यंजनों को भी परोसा गया। पिछले दिनों काशी और दिल्ली में आयोजित जी-20 के सम्मेलन में भी विदेशी मेहमानों और अन्य गणमान्य लोंगो के लिए मिलेट्स के व्यंजनों को तरजीह दी गई। चूंकि भारत 2018 में ही राष्ट्रीय मिलेट्स वर्ष मना चुका है। उत्तर प्रदेश में हजारों वर्षों से मोटे अनाजों की खेती की परंपरा रही है। लिहाजा प्रदेश की योगी सरकार की उसकी सफलता में महत्वपूर्ण भूमिका थी। अन्तर्राष्ट्रीय मिलेट्स वर्ष के लिए उनकी पहल पर घोषणा होने के साथ ही इसकी सफलता की रणनीति बन चुकी थी। यह क्रम लगातार जारी है। इस वर्ष अक्टूबर-नवंबर में उत्तर प्रदेश राज्य में प्रस्तावित कृषि कुंभ की थीम भी अन्तर्राष्ट्रीय मिलेट्स वर्ष पर ही केंद्रित रहने की संभावना है। यह उत्तर प्रदेश सरकार का कृषि कुंभ होगा।

शोध साहित्य का सर्वेक्षण–चौधरी ज्योति, शेलकर रोहित (2023) ने 'भारत में मिलेट्स– उत्पादन, उपभोग और खाद्य सुरक्षा' शोध शीर्षक से अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया है। इस शोधपत्र में इन्होंने विभिन्न राज्यों में उत्पादित

मिलेट्स की वस्तुस्थिति से परिचय कराया है। साथ ही देश के विभिन्न हिस्सों में इसके उपभोग पर प्रकाश डालते हुए खाद्य सुरक्षा के दृष्टिकोष को स्पष्ट किया है। देवी आशा, (2022) ने 'भारत में मिलेट्स उत्पादन और उपभोग—हम कहां खडे है और कहां जाते है', शोध शीर्षक से अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया है। इस शोध पत्र में यह जानने का प्रयास किया गया है कि आज देश में मिलेट्स के उत्पादन और उपभोग की क्या स्थिति है और भविष्य में इसकी पूर्ति के अनुरूप मांग का सृजन कर सकते हैं आदि महत्वपूर्ण पहलुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। कुमावत सुभिता, पूनम (2023) ने मिलेट्स—पोषण संबंधी असुरक्षा और जलवायु परिर्वतन के लिए एक सुनिश्चित समाधान, विषय पर अपना लेख प्रस्तुत किया। इस लेख में इन्होंने मानव के लिए पोषण की आवश्यकता को बताते हुए मिलेट्स के उपभोग के साथ-साथ जलवायु, पशु प्रबंधन आदि को स्पष्ट किया है।

शोध पत्र के उद्देश्य—यह शोध पत्र निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति को ध्यान में रखकर किया गया है—उत्तर प्रदेश राज्य के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स के उत्पादन की संभावनाओं का अध्ययन। वर्तमान समय में भारत के विभिन्न राज्यों में मिलेट्स की खेती का मूल्यांकन।

शोध प्रविधि—वर्तमान शोध पत्र की प्रकृति वर्णानात्मक है। शोध कार्य पूर्ण रूप से द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। शोध सामग्री और समंकों का संकलन संबंधित शोधपत्र, प्रकाशित लेखपत्र, संबंधित मंत्रालयों की प्रकाशित रिपार्ट, पत्र-पत्रिकाओं, समाचार पत्रों एवं विभिन्न इन्टरनेट बेबसाइट द्वारा किया गया है।

उत्तर प्रदेश राज्य के बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स के उत्पादन की संभावनाओं का अध्ययन—उत्तर प्रदेश की अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि है। राज्य की 65 फीसदी आबादी आज भी जीविकोर्पाजन हेतु कृषि पर निर्भर है और प्रदेश के आर्थिक विकास की रीढ़ की हड्डी है। वर्ष 2014.15 के आंकड़ों के अनुसार प्रदेश में लगभग 165. 98 लाख हेक्टेयर (68.7 प्रतिशत) क्षेत्र में कृषि की जाती है। कृषि गणना 2010.11 के अनुसार उत्तर प्रदेश में 233.25 लाख कृषक कृषि कार्यों में संलग्न है। कृषि क्षेत्र में आधुनिकता का उपयोग कर उत्पादकता में वृद्धि की दिशा में कृषकों की मेहनत एवं प्रयास का ही परिणाम है कि प्रदेश को खाद्य सुरक्षा में आत्मनिर्भर बनाते हुए आवश्यकता से आधिक्य की ओर पहुंचाया है। वर्ष 2015. 16 में 626.64 लाख मैट्रिक टन खाद्यान्न उत्पादन लक्ष्य के सापेक्ष 439.47 लाख मैट्रिक टन खाद्यान्न उत्पादन हुआ, जिसमें खरीफ के अन्तर्गत 159.12 लाख मैट्रिक टन खाद्यान्न उत्पादन प्राप्त हुआ तथा रबी में 280.35 मैट्रिक टन खाद्यान्न उत्पादन हुआ। इसी प्रकार तिलहनी फसलों में 13.03 लाख मैट्रिक टन के सापेक्ष 8.47 लाख मैट्रिक टन उत्पादन हुआ।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स की खेती हेतु आदर्श कारक—बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स की खेती हेतु निम्नलिखित आदर्श कारकों की विवेचना करना आवश्यक हो जाता है—

भौगोलिक स्थिति एवं विस्तार—उत्तर प्रदेश राज्य का बुन्देलखण्ड क्षेत्र देश के मध्यवर्ती भाग में 27 11' से 26 27' उत्तरी आक्षांश एवं 78 10' से 81 34' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। प्रशासनिक दृष्टि से यह क्षेत्र 7 जनपदों एवं 28 तहसीलों में विभक्त है। इसके दक्षिणी एवं पश्चिमी भाग में मध्य प्रदेश राज्य और पूर्वी भाग में प्रयागराज (इलाहाबाद) जनपद की सीमा को निर्धारित करते हैं। इसकी उत्तरी सीमा का निर्धारण यमुना नदी के द्वारा होता है। इसका भौगोलिक क्षेत्रफल 29680.22 वर्ग किलोमीटर है, जो उत्तर प्रदेश राज्य के कुल क्षेत्रफल का 10.08 प्रतिशत है। यह भारत के हृदय स्थल में स्थित होने के कारण इसका अपना विशेष महत्व है।

भौमिकीय स्वरूप—किसी भी क्षेत्र के धरातलीय स्वरूप के निर्धारण में वहाँ की भौमिकीय संरचना का महत्वपूर्ण योगदान होता है और जहाँ की मौलिक चट्टानें ही उस क्षेत्र के प्राकृतिक भूदृश्य का निर्माण करती हैं एवं यही प्राकृतिक भूदृश्य वहाँ के सामाजिक एवं आर्थिक विकास का प्रमुख आधार होता है। अतः किसी भी क्षेत्र के विकास के लिए वहाँ की भौमिकीय संरचना का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। भौमिकीय संरचना की दृष्टि बुन्देलखण्ड क्षेत्र मुख्यतः प्राचीन चट्टानों से बना है। उपर्युक्त भौमिकीय स्वरूप मिलेट्स की खेती की आदर्श स्थिति हो सकती है।

जलवायु—प्रगतिशील किसान और वैज्ञानिकों ने बुन्देलखण्ड की जलवायु मिलेट्स की खेती के अनुकूल है और इस कारण यहां मोटा अनाज अधिक पैदा किया जा सकता है। जलवायु एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक घटक है जो किसी स्थान की वनस्पति, कृषि उपजों, मिट्टी, मानव जीवन तथा धरातलीय बनावट को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इसके द्वारा कृषि के विभिन्न स्वरूप नियंत्रित होते हैं। आज भी कृषि पूर्णतः जलवायु से प्रभावित है। जलवायु के प्रभाव से ही फसलों के उत्पादन की सीमा निर्धारित होती है। यह कृषि के विभिन्न तरीकों तथा प्रभावों को नियंत्रित करती है। अनेक प्रकार के मौसम संबंधी परिवर्तन जैसे अतिवृष्टि, तूफान, कोहरा, पाला, सूखा, अधिक तापमान और न्यूनतम तापमान का प्रभाव कृषि कार्यों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। बुन्देलखण्ड का क्षेत्र मानसूनी जलवायु के अन्तर्गत आता है जिसमें धरातलीय विभिन्नता के कारण जलवायु में भी विषमता देखने को मिलती है, लेकिन अपनी स्थिति के

कारण यह क्षेत्र शीतोष्ण कटिबंधीय एवं उष्ण कटिबन्धीय दोनों प्रकार की जलवायु के लक्षणों से युक्त है।

तापमान—किसी क्षेत्र के तापमान में वहाँ की धरातलीय प्रकृति पर अत्यधिक प्रभाव पाया जाता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में तापमान उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ता है क्योंकि इस क्षेत्र का दक्षिणी एवं दक्षिणी-पश्चिम भाग कठोर चट्टानों से बना है जबकि उत्तरी भाग जलोढ़ निक्षेपों के जमाव से बना है। इस क्षेत्र का अधिकतम तापमान मई माह में 48-50 डिग्री सेन्टीग्रेड तक पहुंच जाता है वही सर्दियों में न्यूनतम तापमान 9-10 डिग्री सेन्टीग्रेड तक पहुंच जाता है।

वायुदाब और हवाएं— तापमान की गिरावट के साथ ही जनवरी महीने में वायुदाब बढ़ने लगता है। इस क्षेत्र में सर्वाधिक उच्च वायुदाब दक्षिण-पूर्व में जनवरी माह में मिलता है। मार्च माह में जैसे-जैसे तापमान में वृद्धि होने लगती है वायुदाब में गिरावट आने लगती है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में वायु का दाब मार्च माह में 983.7 मिलीबार, अप्रैल माह में 980.2 मिलीबार तथा मई एवं जून माह में 975. 4 मिलीबार रहता है। मार्च माह में शुष्क हवाएं चलती हैं जिनकी गति 5.3 किलोमीटर/घण्टा रहती है।

वर्षा—बुन्देलखण्ड क्षेत्र में वर्षा का अधिकांश भाग मानसूनी हवाओं के द्वारा ग्रीष्मकाल के बाद वर्षा ऋतु में होती है। सामान्य रूप से इस क्षेत्र में मानसून का आगमन जून माह के तीसरे सप्ताह में होता है। वर्षा ऋतु में प्राप्त वर्षा की मात्र उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ती है। इस ऋतु में सबसे अधिक वर्षा दक्षिण-पूर्वी भाग में तथा सबसे कम उत्तर-पश्चिम भाग में होती है। बुन्देलखण्ड में सबसे अधिक वर्षा अगस्त माह में होती है और सबसे कम अप्रैल माह में होती है। सामान्यतः औसत वर्षा मिलेट्स की खेती के लिए पर्याप्त समझी जाती है।

मिट्टियाँ—बुन्देलखण्ड क्षेत्र उत्तर प्रदेश राज्य का एक अत्यंत पिछड़ा क्षेत्र है। इस क्षेत्र अधिकांश मिट्टी बहुत ही अनुपजाऊ है जो मुख्यतः लाल और काली मिट्टी का मिश्रण है। कृषि विशेषज्ञ एस. पी. चौधरी ने क्षेत्र की मिट्टी का वर्गीकरण करते समय भूमि की प्रकृति के आधार पर मुख्य रूप से दो समूहों में विभाजित किया है— काली एवं लाल मिट्टी। मार भूमि और काबर भूमि को प्रथम समूह के अन्तर्गत तथा पडुवा और राकर भूमि को द्वितीय समूह के अन्तर्गत रखा गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर गोंयड, डांडी, जंगली, तराई, कछार, लाल एवं पीली मिट्टियाँ भी क्षेत्र में कहीं-कहीं पायी जाती हैं। इस प्रकार की भूमि मिलेट्स की खेती के लिए अनुकूल है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली नदियां— किसी भी क्षेत्र की नदियां उस क्षेत्र की जल-तंत्र की प्राकृतिक व्यवस्था को प्रदर्शित करती हैं। किसी क्षेत्र का प्रवाह तंत्र कुछ तत्वों जैसे उस क्षेत्र के ढाल, चट्टानों की कठोरता में असमानता, संरचनात्मक नियंत्रण आदि प्रभावित करते हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में भूमि का ढाल दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर होता है तथा सभी नदियां ढाल के अनुरूप बहती हैं। नदियों का स्वभाव अनुवर्ती और वे जालीनुमा अप्रवाह-तंत्र का निर्माण करती हैं। यहाँ प्रमुख रूप से यमुना, बेतवा, केन, धसान आदि नदियां प्रवाहित होती हैं। ये सभी नदियां विंध्यन पर्वत से निकलती और उत्तर-पूर्व को बहती हैं। इन नदियों में जो भी जल प्रवाहित होता है उससे इस क्षेत्र में मिलेट्स की खेती आसानी से की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया जा सकता है कि बुन्देलखण्ड क्षेत्र की जलवायु, मिट्टी, तापमान, भौमिकीय संरचना, नदियाँ, वर्षा और कृषि क्षेत्रफल मिलेट्स के लिए आदर्श कारक हैं। राज्य और केन्द्र सरकार द्वारा किसानों को अगर इसकी खेती के लिए प्रोत्साहन मिलता है तो इसके सार्थक परिणाम देखने को मिल सकते हैं जो इस दिशा में किसानों और राज्य के लिए एक मील का पत्थर के समान होगा।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स की खेती वाले क्षेत्र— बुन्देलखण्ड क्षेत्र में करीब चार दशक पहले किसान परम्परागत खेती के अन्तर्गत को दों, जवार, बाजरा समेत अन्य फसलों की खेती करते थे। लेकिन इस प्रकार की खेती करने से उन्हें हर साल घाटा होने पर वह धीरे-धीरे इन फसलों की खेती से दूर होते गए। हमीरपुर, महोबा, बांदा, चित्रकूट, ललितपुर, झांसी, जालौन, सागर, दतिया, ग्वालियर, टीकमगढ, इत्यादि जिले मिलेट्स की खेती के लिए अनुकूल हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड का सम्पूर्ण कृषि क्षेत्रफल मिलेट्स की खेती के लिए उपयुक्त है।

वर्तमान समय में भारत के विभिन्न राज्यों में मिलेट्स की खेती का मूल्यांकन—भारत, विश्वभर में मिलेट्स अर्थात् पोषक अनाजों का सबसे बड़ा उत्पादनकर्ता है। वर्ष 2020 के आंकडों पर अगर गौर किया जाए तो विश्व के कुल उत्पादन में भारत की हिस्सेदारी लगभग 41 प्रतिशत के आस-पास थी। भारत में सबसे अधिक पैदावार बाजरे की होती है, इसके बाद ज्वार की पैदावार की जाती है। बाजरे की सबसे अधिक पैदावार राजस्थान राज्य में की जाती है। इसके बाद क्रमश : उत्तर प्रदेश, हरियाणा, एवं गुजरात में की जाती है। पोषक अनाजों की 70 प्रतिशत पैदावार छः राज्यों से होती है—राजस्थान, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र ,तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश का नंबर आता है। 1970 के दशक से पहले, आम भारतीयों की थाली में मिलेट्स पोषक अनाजों से बने व्यंजनो का ही दबदबा रहता था। लेकिन देश में हरित क्रांति की घटना ने इस थाली का रंग बदल

दिया और धीरे-धीरे इन अनाजों की पैदावार और रकबे में मिरावट आने लगी। इस गिरावट का प्रमुख कारण समाज के द्वारा तय की गई पसंद-नापसंद रहा। गेहूँ और चावल अनाज अमीरी के पर्यायवाची बनते चले गए और मोटा अनाज गरीबी का प्रतीक। उदाहरण के लिए वर्ष 2021. 22 के आंकडे के अनुसार चावल की पैदावार 130.29 मिलियन टन व गेहूँ की पैदावार 106.84 मिलियन हुई थी जबकि बाजरे की पैदावार 9.62 मिलियन टन, और ज्वार की 4.23 मिलियन टन, रागी की 1.7 मिलियन टन और अन्य मोटे अनाजों की पैदावार 0.37 मिलियन टन हुई थी।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मिलेट्स की खेती के प्रोत्साहन हेतु सुझाव–मिलेट्स की खेती में निहित सभी जोखिमों की सुरक्षा की गारण्टी सरकार द्वारा दी जाए। मिलेट्स की खेती हेतु किसानों को प्रशिक्षित किया जाए। जागरूकता कार्यक्रमों को व्यापक स्तर पर आयोजित किए जाएं। किसानों को उन्नत किस्म के बीजों की उपलब्धता को सुनिश्चित किया जाए। किसानों को मोटे अनाज हेतु उचित न्यूनतम समर्थन मूल्य को घोषित किया जाए। बाजार में इनसे बने उत्पादों की मांग सृजन करने में सरकार को कदम उठाने चाहिए। मिलेट्स से बने उत्पादों के फायदों को जनता के बीच प्रचार-प्रसार की रणनीति पर कार्य किया जाए। उपरोक्त कदमों के क्रियान्वयन हेतु कारगर रणनीति पर अगर बल दिया जाए तो इस क्षेत्र में इसकी पैदावार का रकबा, उत्पादन एवं उपज में आशातीत परिणाम हमारे सामने आ सकतें है।

निष्कर्ष–पोषक अनाज अर्थात मिलेट्स की बुन्देलखण्ड क्षेत्र में असीम संभावनाए व्याप्त हैं। विभिन्न वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की पहल के आधार पर सरकार ने पुनः इसकी खेती को रेखांकित किया है। इसके उत्पादन की कारगर योजना बनाकर इसे प्रोत्साहित करने का कार्य सरकार के द्वारा किया जा रहा है जो एक स्वागत योग्य कदम है। लोगों की थाली में अगर पुनः पोषक अनाजों से बने व्यांजनो से परिपूर्ण होती है तो निश्चित ही इसके परिणाम सार्थक होंगे।

संदर्भ

1. Chaudhary Jyoti, Shelkar Rohit [2023] Millets in India : Production, Consumption and Impact of Food Security. Asian Journal of Agricultural Extention Economics & Sociology 41[8]- 151-162.
2. Devi Asha & et. al. [2022] Millet Poduction and Consumption in I ndia: Where Do We Stand and Where Do We Go. The National Academy of Science, India 2022.
3. Government of India [2019] Agricultural Statistics at a Glance, Directorate of Economics and Statistics, 4.Govt. of India 2019.
5. Davis KF etal [2019] Assessing the Sustainbility of Post Green Revolution Cereals in India. PNAS 116[50]: 25034-25041.
   1. https;//www.millets.res.in
   2. https;//www.drishtiias.comhttps;
   3. https;//www.amarujala.comhttps;//
   4. https;//www.jagran.com.

–डॉ. हीरालाल
असिस्टेंट प्रोफेसर, वाणिज्य
वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई राजकीय महिला
महाविद्यालय, झांसी (उ. प्र.)

भारतीय दर्शन में उपमान प्रमाण का तार्किक अनुशीलन

—डॉ. श्रीप्रकाश तिवारी

भारतीय दर्शन की ''प्रमाणमीमांसा'' का चिन्तन केन्द्र प्रमा, प्रमेय, प्रमाण है, यद्यपि इसके स्वरूप, विषय, संख्या, फल के सम्बन्ध में भरतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं, क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय की तत्व मीमांसा के फलस्वरूप ही उनकी प्रमाण मीमांसा विकसित हुई है। ''प्रमाण'' शब्द के दो अर्थ हैं—प्रमा और प्रमा का करण।[1] ''ल्यूट'' जब भव में होता है तो इसका अर्थ है—प्रमा, क्योंकि भाव प्रमेय का प्रकृत्यर्थ से भिन्न या अधिक कोई अर्थ नहीं हुआ करता। किन्तु ''ल्यूट'' जब करण अर्थ में किया जाता है तब इसका अर्थ होता है प्रमा का करण। इस प्रकार यद्यपि प्रमाण शब्द के उपर्युक्त दोनों अर्थ हैं, किन्तु इस शब्द का अधिक प्रयोग प्रमा के करण के रूप में ही होता है। ''प्रमा करणं प्रमाणम्'' ''प्रमीयतनेनेति प्रमाणम्'' आदि इसके व्युत्पत्तिपरक लक्षण इसकी पुष्टि करते हैं। अर्थात् समस्त प्रमेय पदार्थों का ज्ञान (प्रमा) प्रमाण द्वारा होता है। प्रमाण के अभव में प्रमेय अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है।[2] इसीलिए भरतीय दर्शकों में एक मत से ''मानाधीना मेय सिद्धिः'' को स्वीकृत किया जाता है, क्योंकि सांख्य दार्शनिक ईश्वर कृष्ण, बुद्ध दार्शनिक दिङ्नांग, जैन दार्शनिक उमा स्वाति आदि ने भी क्रमशः ''प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि''[3], ''प्रमाणाधीनों हि प्रमेयाधिगमः''[4], ''प्रमाणनयैरधिगमः''[5] ने भी इस बात की पुष्टि की प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है।

भारतीय दार्शनिक ग्रंथों में जब उपमान के विस्तृत विवेचन पर दृष्टि डाली जाये तब हम देखते हैं कि उन विभिन्न सम्प्रदायों में काफी मतभेद है और एक ही सम्प्रदाय के विभिन्न दार्शनिकों के विचार भी भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इसे पृथक प्रमाण स्वीकार करने वाले न्याय दर्शन, पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त सामान्यतः उपमिति के करण को उपमान प्रमाण कहते हैं। उपमिति सादृश्य ज्ञान रूप है। उपमान उप और मान शब्दों के योग से बना है। उप का तात्पर्य है सादृश्य या समान और मान का अर्थ है ज्ञान।[6] इस प्रकार उपमान का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है—सादृश्य का ज्ञान जिस साधकतम कारण से होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। उपमान प्रमाण के स्वरूप के बारे में इस सामान्य सहमति के अतिरिक्त उपमान को प्रमाण मानने वाले दर्शकों में उपमान के विशेष लक्षण को लेकर मतभेद परिलक्षित होता है।

न्याय दर्शन के अनुसार उपमान वह प्रमाण है, जिसमें सादृश्य का बोध कराने वाले वाक्य का स्मरण करके सादृश्य वस्तु का ज्ञान होता है। अर्थात् इसमें सादृश्यता के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। गौतम के अनुसार, ''प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है।''[7] चूँकि साधर्म्य की मात्रा को निश्चित करना बहुत कठिन है इसलिए गौतम कहते हैं कि ''उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं अपितु उसकी प्रसिद्धि है।''[8]

इसका विश्लेषण करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि ''ज्ञात वस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है।''यथा—जिस प्रकार की गवय होती हैं, उसी प्रकार का गवय होता है। इसमें गवय का ज्ञान कराने वाला साधन ही उपमान प्रमाण कहा जाता है। साधर्म्य अथवा साम्य से ही नाम अर नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है। उद्योतकर ने वात्स्यायन के साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य और असाधारण धर्म को भी उपमिति के लक्षण माने हैं। इसी के फलस्वरूप उत्तरवतह्न नैयायिकों ने उपमान की परिभाषा में साधर्म्य-वैधर्म्य की अपेक्षा संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध को उल्लेखित किया है। केशव मिश्र के अनुसार, ''अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञातपिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान है।''

अतिदेश वाक्य का अर्थ है—समानता आदि बताने वाला वाक्य।[9] जैसे—गवय की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाक्य है। इस प्रकार जल संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है उसे उपमिति अर्थात् उपमान का फल होता है। उपमान की प्रक्रिया के निम्नलिखित तीन सोपान हैं जिनमें से प्रथम दो को उपमान (करण) तथा अन्तिम को उपमिति (प्रमा) कहा जाता है।

1. सादृश्य—गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान
2. अतिदेश—अतिदेश वाक्य (समानता) के अर्थ का स्मरण लेकिन विश्वनाथ एवं अन्नभट्ट का मत इससे कुछ

भिन्न है। उन्होंने ''उपमिति में सादृश्य का दर्शन करण है, अतिदेश वाक्य (जैसे—गौसदश प्राणी गवय शब्द का वाच्यार्थ है) का स्मरण अवान्तर-व्यापार है और सदृश प्राणी को गवय कहना चाहिए—यह ज्ञान फल है न कि सम्मुख दीखने वाला पशु गवय है। क्योंकि ऐसा न स्वीकार करने पर गवयान्तर में शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम न्याय दर्शन में उपमान प्रमाण की सामान्य अवधारणा को रेखांकित करते हुए कह सकते हैं कि अप्रसिद्ध पदार्थ में प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान, नाम और नामी के सम्बन्ध का ज्ञान, संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान, साधर्म्य ज्ञान, वैधर्म्य ज्ञान एवं असाधारण धर्म ज्ञान तथा अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण के सन्निधान में उपमान है, यद्यपि उपमान प्रमाण का क्षेत्र फिर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं बल्कि अन्य पदार्थों तक भी फैला हुआ है।

न्याय के समान मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में भी उपमान को एक पृथक प्रमाण माना गया है, किन्तु ये दर्शन उपमान के बारे में न्याय मत को स्वीकार नहीं करते। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सादृश्य ज्ञान की कारणता को न्याय के समान मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में भी स्वीकार किया गया है, परन्तु जहाँ नैयायिक संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को '' गौसदश गवयः'' (गवय गाय के समान होती है) को फल मानते हैं वहाँ मीमांसा और अद्वैत वेदान्त गवय सदृश्य गवय (गाय गवय के समान होती है) यह ज्ञान का फल है।

मीमांसा के विभिन्न आचार्यो ने न्याय सम्मत उपमान के लक्षण को दोष पूर्ण बताते हुए अपने-अपने ढंग से उपमान का लक्षण दिया है। महर्षि जैमिनि ने उपमान के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु शबरस्वामी ने मीमांसा सूत्रों के भाष्य में लिखा है, ''उपमान सादृश्य है, जो उस वस्तु का ज्ञान कराता है, जिसका इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है।[10] कुमारिल ने ''गवय सादृश्य से विशिष्ट स्मृति गो अथवा पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य को उपमान का प्रमेय बताया है।''शालिक नाथ मिश्र ने उपमान प्रमाण का लक्षण किया है—सादृश्य दर्शन से सादृश्य विशिष्ट विषय का ज्ञान ही उपमान है।[12]

इसमें सादृश्य दर्शन उपमान प्रमाण है और सादृश्य विषय प्रमेय जिसका ज्ञान उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति है। अद्वैत वेदान्त में भी उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। उपमिति को पारिभाषित करते हुए आनन्दपूर्ण ने कहा है कि ''सन्निकृष्ट वस्तु से असन्निकृष्ट वस्तु की सादृश्य बुद्धि उपमिति है।[13] आनन्दपूर्ण ने उपमान की प्रक्रिया को पारिभाषित करते हुए कहा है कि ''उपमान के द्वारा होने वाला ज्ञान इस प्रकार होगा—गवय सादृश्य विशिष्ट गौ ज्ञान ही उपमिति है।[14] उपमान को निरूपित करते हुए वेदान्त परिभाषाकार ने लिखा है कि ''सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते हैं।''[15]

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में उपमान प्रमाण को एक पृथक एवं स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार किया गया है, जबकि चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग तथा वैशेषिक दर्शनों में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है। जिस प्रकार उपमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों में उसके लक्षण एवं स्वरूप को लेकर मतैक्य नहीं रहा ठीक इसी तरह इसे प्रमाण के रूप में अस्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में भी मतैक्य नहीं है। चार्वाक उपमान प्रमाण का अन्तर्भव अनुमान प्रमाण में करते हैं।

जैन आचार्य अकलदेव, प्रभाचन्द्र, नेदराजसूरि और यशोविजय उल्लेखित है कि विशिष्ट द्वैत के समर्थक मेघनाद सूरी ने भी उपमान को प्रत्यभिज्ञा में अन्तर्भवित किया है।[17] बौद्ध और सांख्य दर्शन में उपमान का अन्तर्भावित प्रत्यक्ष में किया गया है। वैशेषिक दर्शन ने इसे अनुमान में समाहित किया। कुछ विद्वान उपमान के अन्तर्भव शब्द प्रमाण में करते हैं। इनमें नैयायिक भसर्वज्ञ का नाम प्रमुख है।[18] किन्तु अन्य नैयायिकों ने उपमान प्रमाण का शब्द प्रमाण में अन्तर्भव किये जाने का खण्डन किया है। शब्द प्रमाण एवं उपमान में भेद है। इसी को स्पष्ट करते हुए जयन्ती ने यह कहा है कि ''सामग्री भेद और फलभेद से प्रमाण भेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री और फल अलग-अलग है।[19] वस्तुतः उपमान की विवेचना के पश्चात् तर्कतः इतना तो स्पष्ट है कि उपमान प्रमाण का अन्तर्भव प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, प्रत्यभिज्ञा आदि में नहीं किया जा सकता।

भारतीय दर्शन की प्रमाण मीमांसा में उपमान प्रमाण की स्वतंत्र मान्यता तर्कशास्त्र की सूक्ष्म दृष्टि है, जो पाश्चात्य दृष्टि से गहन है। उपमान प्रमाण का तार्किक अनुशीलता किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि ''उपमान प्रमाण द्वारा सादृश्य का ज्ञान होता है। न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त सभी में यह माना गया है कि उपमान सादृश्य ज्ञान का कारण है। लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सादृश्य क्या है? न्याय मत में सादृश्य द्रव्यादि से भिन्न कुछ नहीं। कुमारिल भट्ट ने सादृश्य को गुण माना है, जबकि प्रभकर इसे स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि उपमान में सादृश्य पाया जाता है। न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में उपमान के विशिष्ट प्रयोजन प्रतिपादित किये गये हैं, फिर भी मानव जीवन में उपमान प्रमाण की

प्रसंगिकता असंदिग्ध है। उपमान की अपनी निजी उपयोगिता है, क्योंकि अन्य प्रमाण से उसका कार्य नहीं चलाया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. भारतीय न्यायशास्त्र, डॉ. चक्रधर विजल्वान,
2. न्यायभाष्य, पृ. 2
3. सांख्यकारिका-4
4. Dignâga on Perception, Page 76
5. तत्वार्थसूत्र-1.6
6. न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज-एस.सी. चटर्जी-72
7. न्यायसूत्र-1/1/6
8. न्यायसूत्र-2/44
9. तर्कभाषा, पृ. 119
10. शाबरभष्य, पृ. 30
11. श्लोकवार्तिक, पृ. 500
12. प्रकरणपंचिका, पृ. 267
13. न्यायचन्द्रिका, पृ. 279
14. वही, पृ. 279
15. वेदान्त परिभाषा-धर्मराजाध्वरीन्द्र, पृ. 179
16. प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रभचन्द्र, पृ. 345
17. नयद्युमणि-कृष्णयामुनाचार्य, पृ. 215,
18. न्यायसार, पृ. 417
19. न्यायमंजरी, पृ. 130

डॉ. श्रीप्रकाश तिवारी
असि. प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र,
काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही

कुमाऊँ के असंगठित क्षेत्र में बाल श्रमिक

—डॉ. निर्दोषिता बिष्ट

सारांश—भारत में बाल श्रमिकों की समस्या अत्यन्त जटिल है लेकिन यह मात्र भारत की ही समस्या नहीं बल्कि एक अन्तर्राष्ट्रीय परिघटना है। भारत में गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली आबादी लगभग 29.2 प्रतिशत है। बाल श्रम के प्रमुख कारकों में निर्धनता, प्रतिकूल पारिवारिक वातावरण, माता-पिता या अभिभावकों द्वारा उपेक्षा करना, परिवार के किसी बड़े सदस्य प्रमुखतः माता-पिता में से किसी एक की मृत्यु होना, मनोविज्ञान सम्बन्धी कारण प्रमुख हैं। प्रस्तुत लेख कुमायूँ क्षेत्र में बाल श्रमिकों की समस्या को उजागर करने का एक प्रयास है। संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक वेबसाइट के अनुसार दुनिया भर में लगभग 160 मिलियन बच्चे बाल-श्रम में शामिल हैं, जो 10 में से 1 बच्चे का प्रतिनिधित्व करता है। 2000 से 2020 तक, बाल श्रम में 85.5 मिलियन की कमी आई, जो 16 प्रतिशत से घटकर 9.6 प्रतिशत हो गया। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 8.4 करोड़ बच्चे स्कूल नहीं जाते और 78 लाख बच्चे ऐसे हैं जिन्हें मजबूरन बाल मजदूरी करनी पड़ती है। एक रिपोर्ट के अनुसार 2021 में कोरोना काल में दुनियाभर में 160 मिलियन बच्चे बाल श्रम की चपेट में आए थे। भारतीय संविधान के अनुसार किसी उद्योग, कल-कारखाने या किसी कम्पनी में मानसिक या शारीरिक श्रम करने वाले 5-14 वर्ष उम्र के बच्चों को बाल श्रमिक कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार 18 वर्ष से कम उम्र के श्रम करने वाले लोग बाल श्रमिक हैं अर्थात् व्यावसायिक उद्देश्य से किए जा रहे किसी कार्य के लिए 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे को नियुक्त किया जाता है तो वह बाल श्रम कहलाता है। भारत में इसे गैर-कानूनी घोषित किया गया है।

प्रमुख शब्द— असंगठित क्षेत्र, कुमाऊँ क्षेत्र, बाल श्रमिक, व्यावसायिक उद्देश्य।

प्रस्तावना—भारत में बाल श्रमिकों की समस्या अत्यन्त जटिल है, लेकिन यह सिर्फ भारत की समस्या नहीं बल्कि एक अन्तर्राष्ट्रीय परिघटना है। यद्यपि संख्या में भारत में जितने बाल-मजदूर हैं उतने समूचे विश्व में भी नहीं हैं, फिर भी भारत में कुल बाल-मजदूर यहाँ की पूरी आबादी के मात्र लगभग 5.2 प्रतिशत हैं जबकि सोमालिया में 39.8, तुर्की में 27.3, थाईलैण्ड में 20.9, रूस में 11.5, मिश्र में 8.2, अर्जेन्टाइना में 6.6, पाकिस्तान में 13.0, लाइबेरिया में 30. 00, इथोपिया में 41.5, सूडान में 47.00 प्रतिशत हैं। एक मात्र पड़ोसी देश श्रीलंका में यह प्रतिशत भारत से कम है अर्थात् यहाँ मात्र 4.9 प्रतिशत बाल-मजदूर हैं। अफ्रीका में 7.21 करोड़, एशिया पैसेफिक में 6.21 करोड़, बांग्लादेश में 5.0 मिलियन, नेपाल में 2.0 मिलियन, नाइजीरिया में 15 मिलियन से अधिक, म्यांमार में 15 लाख से अधिक, मोजाम्बिक में 10 लाख से अधिक बाल-मजदूर कार्यरत हैं। विश्व के सर्वाधिक विकसित कहे जाने वाले देश अमेरिका में बाल-श्रमिकों की संख्या लगभग 1 करोड़ से अधिक है।[1] उत्तर प्रदेश में बाल श्रमिकों की संख्या प्रदेश में रहने वाली जनसंख्या का 20 प्रतिशत है जबकि उत्तराखण्ड में 28098 बच्चे किसी न किसी रूप में बाल श्रम से जुड़े हैं।[2] 21 अगस्त 2023 को भारत की जनसंख्या 1430448674 थी।[3] भारत के पास 1357.90 लाख वर्ग किमी भू-भाग है जो विश्व के कुल भू-भाग का मात्र 24 प्रतिशत है फिर भी विश्व की 18.7 प्रतिशत आबादी का भार उसे वहन करना पड़ रहा है।[4] भारत में गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली आबादी लगभग 27 करोड़ (1922) है।[5] 9 नवम्बर, 2000 को उत्तर प्रदेश से पृथक हुए एवं नवगठित राज्य उत्तराखण्ड में वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 10086292 है जो भारत की कुल जनसंख्या का 0.83 प्रतिशत है।[6] उत्तराखण्ड राज्य में कुल साक्षरता दर 78.82 प्रतिशत है जिसमें पुरुषों तथा स्त्रियों की साक्षरता दर (2011) क्रमश : 87.40 एवं 70.00 प्रतिशत है।[7]

शोध प्रारूप— प्रस्तुत अध्ययन अन्वेषणात्मक-विवेचनात्मक है। अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण से बालश्रम के कारण, बाल-श्रमिकों की कार्य दशाएं एवं समस्याओं आदि का अध्ययन किया गया है। विवेचनात्मक दृष्टिकोण से बाल-श्रमिकों की जीवन पद्धति का अध्ययन किया गया है। अध्ययन का क्षेत्र नैनीताल जनपद का हल्द्वानी नगर है। हल्द्वानी नाम आस-पास के क्षेत्र में 'हल्दू' वृक्षों की बहुतायत के कारण पड़ा है। यह कुमाऊं का सबसे बड़ा नगर है जो कुमाऊं वन प्रदेश द्वार की तरह दिखता है।[8] यहाँ असंगठित क्षेत्र में कार्यरत बाल श्रमिकों की संख्या जनपद में सर्वाधिक होते हुए भी अनेक कार्यस्थल बिखरे हुए हैं फिर भी विभिन्न प्रमुख क्षेत्रों यथा मोटर गैराजों में कार्यरत बाल श्रमिक, घरेलू कार्यों

में, होटलों, ढाबों तथा रैस्टोरैंटों में कार्यरत, टॉफी बनाने, बेकरी का काम करने, थैलियाँ बनाने, जूता पॉलिस करने व कूड़ा-करकट बीनने वाले बाल-श्रमिक अध्ययन की विषय वस्तु हैं। असंगठित क्षेत्र में कार्य करने वाले बाल श्रमिकों की संख्या उनके कार्य करने के क्षेत्र के आधार पर अत्यधिक होते हुए भी उनकी कोई ऐसी सूची उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर कार्य क्षेत्रों को ध्यान में रखते हुए उनकी सही संख्या का अनुमान लगाया जा सके। अतः "उद्देश्य पूर्ण प्रतिचयन" को आधार बनाकर समानुपातिक आधार पर निदर्श का निर्धारण अध्ययन स्थल पर ही करने का प्रयास किया गया। इस प्रकार आटोमोबाइल कार्य करने वाले 147, घरेलू नौकर 43, होटल या रेस्टोरेंट में कार्यरत 59, उत्पादन कार्य से सम्बद्ध 30 तथा सड़कों के किनारे कार्य करने वाले 36 अर्थात् कुल 315 बाल श्रमिकों को अध्ययन में सम्मिलित किया गया।

उपलब्धियाँ– अध्ययन में पाया गया कि आयु के दृष्टिकोण से 10 वर्ष से कम उम्र के बाल-श्रमिक 34 प्रतिशत तथा 10 वर्ष से 14 वर्ष के बाल-श्रमिकों का प्रतिशत 66 प्रतिशत पाया गया। अध्ययन में माता-पिता की अज्ञानता और बच्चों की निरक्षरता बड़े पैमाने पर पाई गई। लगभग 75 प्रतिशत बच्चे पूर्णतः निरक्षर पाए गए। इसके अलावा साक्षर बच्चों में से लगभग एक चौथाई बाल-श्रमिक सिर्फ कक्षा 5 तक पढ़े थे और उनमें से करीब तीन चौथाई ने कक्षा 5 के बाद पढ़ाई छोड़ दी। बाल-श्रमिकों की सामाजिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिकोण डाले तो पाते हैं कि 56.86 प्रतिशत बाल श्रमिक अनुसूचित जाति, 36.28 प्रतिशत अन्य पिछड़ी जाति, 3.17 प्रतिशत ऊँची जाति एवं 3.69 प्रतिशत मुस्लिम समुदाय के परिवार से हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आधे से अधिक दलित जातियों तथा लगभग 1/3 से अधिक पिछड़े वर्गों के बच्चे मजदूरी करने बाहर चले जाते हैं।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह पाया गया कि इन बाल-श्रमिकों के 78.79 प्रतिशत परिवार भूमिहीन पाए गए तथा शेष 160 परिवारों में 108 परिवारों के पास 0.30 एकड़ से कम भूमि, 39 परिवारों के पास 0.50 से लेकर एक एकड़ तथा 10 परिवारों के पास एक से ढाई एकड़ तथा मात्र 3 परिवारों के पास ढाई एकड़ से अधिक भूमि पाई गई। यह तथ्य भी सामने आया कि कुल बाल-श्रमिकों में से कृषि एवं उससे सम्बन्धित कार्यों में 5.67 प्रतिशत, आकस्मिक प्रकृति के शारीरिक श्रम वाले कार्यों में 21.77 प्रतिशत, घरेलू मजदूर, दुकानों, होटलों, गैराजों आदि में नौकरी करने वाले 24.45 प्रतिशत, औद्योगिक इकाईयों में 44.1 प्रतिशत, फेरी तथा अन्य व्यवसायों में 2.1 प्रतिशत तथा पारम्परिक पेशों में (बाल काटना, दर्जीगिरी, बढ़ई गिरी) 1.18 प्रतिशत बाल-श्रमिकों कार्य करते हुए पाए गए। इससे स्पष्ट होता है कि अधिकांश बाल-श्रमिक गैर कृषि कार्यों में कार्यरत हैं। ग्रामीण रोजगारों में लगभग 5 प्रतिशत बाल मजदूर पाए गए हैं।

अध्ययन में पाया गया कि बाल-श्रमिकों को सबसे कम मजदूरी 20 रुपये प्रतिमाह तथा अधिकतम 700 रुपये प्रति माह दी जाती है किन्तु बाल श्रमिकों की औसत मासिक मजदूरी 227/-रुपए पाई गई। यह भी पाया गया कि बाल-श्रमिकों को वर्ष भर में 8 से 9 माह तक ही नियमित रुप से काम मिलता है। जहां तक कार्य के घण्टों का प्रश्न है करीब 3 प्रतिशत मजदूरों को 8 से 10 घंटे, 23 प्रतिशत मजदूरों को 12 से 16 घंटे, 3.5 प्रतिशत मजदूरों को 16 से अधिक घण्टे कार्य करना पड़ता है। होटल एवं चाय की दुकानों में कार्य के घण्टे सबसे अधिक पाए गए। बाल-श्रमिकों को जोखिमपूर्ण एवं खतरनाक उद्योगों एवं उत्पादन प्रक्रियाओं में लगे रहने के कारण विभिन्न प्रकार की बीमारियों का शिकार होना पड़ता है। अधिकांश बाल-श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव काम की परिस्थितियों के कारण भी होता है। इसके अतिरिक्त बच्चों का शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट नहीं होता है कि वे भारी बोझ उठा सकें या जलती भट्टियों की आँच सहन कर सकें।

अध्ययन के अंतर्गत बाल-श्रमिकों के शोषण से संबंधित विभिन्न कारणों में 41.84 प्रतिशत के लिए बेरोजगारी, 20.40 प्रतिशत के लिए ऋणी होना, 13.27 प्रतिशत के संबंध में बड़ा परिवार होना, 15.31 प्रतिशत मामलों में पिता का अत्यधिक शराबी-जुआरी होना तथा 9. 18 प्रतिशत मामलों में परिवार के बड़े सदस्य की लम्बी बीमारी आदि प्रमुख कारण स्पष्ट हुए। बाल-श्रम के कारणों की खोज से स्पष्ट हुआ कि प्रमुख कारकों में निर्धनता, अन्य आर्थिक कारण, प्रतिकूल पारिवारिक वातावरण, माता-पिता या अभिभावकों द्वारा उपेक्षा करना, परिवार के किसी बड़े सदस्य मुख्यतः माता-पिता में से किसी एक की मृत्यु होना, मनोविज्ञान संबंधी कारण, विचारपूर्वक चुनाव, सरल जीवन की इच्छा, शहरी जीवन की लालसा, शैक्षणिक कारण आदि प्रमुख हैं। बालिकाओं के शोषण का प्रमुख कारण मुख्य रूप से गरीबी ही है।

इसके अतिरिक्त परिवेशगत अव्यवस्थाओं के कारण भी बाल-श्रमिकों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यद्यपि बाल-श्रमिक अधिनियम 1986 की धारा-13 के अन्तर्गत केन्द्र और राज्य सरकार को किसी प्रतिष्ठान या व्यवसाय में काम करने वाले बच्चों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के लिए नियमावली बनाने का अधिकार है अर्थात् कार्य स्थल, सफाई, रद्दी के निष्पादन, रोशनदान एवं तापमान, धूल एवं धुआँ, कृत्रिम नमी, प्रकाश, पीने के पानी, शौचालय

एवं मूत्रालय, थूकदान, मशीनों की घेराबन्दी, खतरनाक मशीनों में लगे बच्चों का प्रशिक्षण एवं पर्यवेक्षण, बिजली काटने की पद्धति, स्वचालित मशीनों, सीढ़ी तथा पहुँच के साधन की व्यवस्था, आँखों की सुरक्षा, ज्वलनशील गैस एवं धुआँ से सुरक्षा, आग से सावधानी, भवन का रख-रखाव आदि पर नियम बनाने का अधिकार है किन्तु अधिकांश राज्यों में बाल-श्रमिक नियमावली बनी ही नहीं है और जिन राज्यों में बनी भी है वहां भी उन नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया जाता है जिसके फलस्वरूप बाल-श्रमिकों के स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि सरकार द्वारा विभिन्न चरणों में बाल-श्रम उन्मूलन हेतु प्रयास किए जाते रहे हैं तथा सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत 34 शहरों में चाइल्ड लाइन सेवा प्रारम्भ की गई[9] तथा बाल विकास के अन्तर्गत राष्ट्रीय आयोग की स्थापना कर बच्चों के लिए घोषणा-पत्र लागू किए जाने आदि कार्यक्रमों का उद्घोषण किया गया।[10] भारत में सामाजिक न्याय और अधिकारिता के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों के 28 लाख से ज्यादा परिवारों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सहायता दिए जाने, विभिन्न राज्यों में जाति विकास निगमों के जरिए 10 लाख लाभार्थियों को आर्थिक सहायता, मैट्रिकुलेशन से आगे की शिक्षा जारी रखने के लिए करीब 46.43 लाख छात्रों को मैट्रिक के बाद की छात्रवृत्तियाँ दिए जाने तथा सफाई कार्यों से जुड़े लोगों के करीब 12.79 लाख बच्चों को मैट्रिक के पूर्व छात्रवृत्ति दिए जाने, इसी प्रकार पिछड़ी जातियों के 12 लाख छात्रों को मैट्रिक से पहले छात्रवृत्ति दिए जाने, 4.50 लाख छात्रों को मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति दिये जाने तथा गरीबी रेखा से नीचे रह रहे पिछड़े वर्ग की महिलाओं के लिए स्वर्णिम योजना प्रारम्भ किए जाने आदि के आंकड़े उपलब्ध हैं।[11] तथापि बाल-श्रम में हो रही निरन्तर वृद्धि निश्चय ही इस समस्या की गंभीरता को इंगित करती है।

हिन्दू मजदूर सभा के बैनर तले काशीपुर (नैनीताल) में आयोजित दो दिवसीय बाल श्रमिक कार्यशाला में बाल-श्रम कानूनों को कड़ा करते हुए सश्रम कारावास के साथ-साथ मुआवजा दिए/बढ़ाए जाने, बाल-श्रमिकों की शिक्षा व उत्थान की व्यवस्था किए जाने तथा बाल-श्रम उन्मूलन के लिए व हद जन जागरण अभियान चलाए जाने के प्रस्ताव पारित किए गए। साथ ही ट्रेड यूनियन के कैडर के शिक्षित किए जाने के साथ स्टीकर व पोस्टर के माध्यम से प्रचार-प्रसार किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह भी स्पष्ट हुआ कि वर्तमान बाल-श्रम उन्मूलन कानून में विसंगतियों तथा प्रक्रियात्मक खामियों के चलते इस समस्या का हल कानून द्वारा संभव नहीं है। इसके लिए ट्रेड यूनियनों, स्वयं सेवी संस्थाओं व अर्द्धशासकीय संस्थाओं के माध्यम से जनजागरण अभियान चलाया जाय। कार्यशाला में बाल श्रमिकों के लिए उत्तराखण्ड राज्य में नान फारमल एजूकेशन सेन्टर स्थापित किए जाने, श्रम कानूनों में कठोर कारावास तथा मुआवजे का प्रावधान किए जाने तथा बाल श्रमिकों के उत्थान हेतु योजना बनाए जाने के प्रस्ताव भी पारित किए।[12]

इतना ही नहीं बाल श्रम के विरुद्ध संघर्ष में चोटी के फुटबालरों से सजे रियल मैड्रिड क्लब ने अपने खिलाड़ियों की लोकप्रियता का प्रयोग करने के लिए अन्तराष्ट्रीय श्रम संगठन के साथ मिलकर बाल-श्रम के विरुद्ध रेड कार्ड भी जारी किया। आई.एल.ओ. की पत्रिका के अनुसार रीयल मैड्रिड और आई.एल.ओ. के बीच 18 दिसम्बर, 2002 को विश्व फुटबाल दिवस के अवसर पर मैड्रिड के सैंटियागो गरनाबू स्टेडियम में "रेडकार्ड टू चाइल्ड लेबर" अभियान प्रारम्भ किया गया था। विश्वभर में बाल-श्रम की विभाषिक झेल रहे 1800 लाख बच्चों के शोषण के विरुद्ध सभी खिलाड़ियों ने अपनी जर्सी पर लाल लोगो लगाया हुआ था।[13]

बाल-श्रम पर काशीपुर (नैनीताल) में हुई दो दिवसीय कार्यशाला पर हिन्दू मजदूर सभा के राष्ट्रीय सचिव ने बाल-श्रमिकों की बढ़ती संख्या पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि वर्ष 1991 के सर्वे में 1 करोड़ 12 लाख बाल-श्रमिक थे जो कि 2001 के सर्वे में बढ़कर 1 करोड़ 65 लाख हो गए हैं। बाल श्रमिकों की संख्या बढ़ने का मुख्य कारण गरीबी तथा अशिक्षा बताया गया। इससे भी बढ़कर बात यह है कि समाज ने बाल-श्रम को परिस्थितिवश स्वीकार कर लिया है। भारतीय संविधान की धारा 24 में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को नौकरी पर रखना कानूनन प्रतिबन्ध है। धारा 27 के तहत शारीरिक, मानसिक, अध्यात्मिक, नैतिक व सामाजिक विकास के लिए पर्याप्त जीवन स्तर के अधिकार को मान्यता दी गई है। बाल-श्रमिकों का शारीरिक विकास अवरुद्ध हो जाता है साथ ही अशिक्षा के कारण की उनकी कौशल क्षमता भी प्रभावित होती है, जिसका सीधा असर उत्पादकता और उसकी गुणवत्ता पर पड़ता है जिससे आर्थिक विकास प्रभावित होता है। इसके विपरीत यदि हम बाल-श्रम पर अंकुश लगाने में सफल रहे तो लोगों के रहन-सहन का स्तर बढ़ने के साथ ही देश में आर्थिक समृद्धि भी बढ़ेगी। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा में बने रहने के लिए नई तकनीक को अपनाना जरुरी है।

इसके लिए नई पीढ़ी का शिक्षित होना भी उतना ही जरुरी है। कार्यशाला में इस बात पर भी चिंता प्रकट की गई कि कुल बजट का मात्र 5 प्रतिशत भाग ही शिक्षा पर व्यय किया जा रहा है। बाल-श्रम पर अंकुश लगाने के लिए सरकार में दृढ़ इच्छा शक्ति होनी चाहिए। संगठित क्षेत्र के श्रमिकों के साथ ही असंगठित क्षेत्र में भी बाल-श्रम पर प्रभावी रोक लगाए जाने की जरुरत है।[14] इस तथ्य पर

भी जोर दिया गया कि बाल श्रम की समस्या को कभी ट्रेड यूनियनों ने भी अपनी समस्या नहीं समझा, जबकि वास्तव में यह मजदूरों की भी समस्या है क्योंकि छोटे बच्चों से काम कराने से व्यस्कों में बेरोजगारी बढ़ेगी।

इस तथ्य पर जोर देने की जरुरत है कि भारत में अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था न होने के कारण बहुत सारे बच्चे कम उम्र में लगभग 5 से 7 वर्ष में ही छोटे-मोटे काम करना प्रारम्भ कर देते हैं अर्थात् या तो कभी विद्यालय गए ही नहीं अथवा उन्होंने तीन-चार कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ दी। बाल-श्रम की समस्या के पीछे मुख्य कारण देश की गरीबी है। गरीब परिवारों के बच्चों को अपने परिवार का अस्तित्व बनाए रखने के लिए छोटी सी उम्र में ही बचपन छोड़कर काम करना पड़ता है। दूसरी ओर बाल-श्रम को प्रोत्साहित करने के पीछे उद्योगपतियों और व्यवसायियों का लालच छिपा रहता है, जिसकी आड़ में वे उनकी विवशता का लाभ उठाकर सस्ता श्रम प्राप्त कर लेते हैं। उनकी इस मानसिकता के चलते ये गरीब परिवार गरीबी के चंगुल से कभी निकल ही नहीं पाते और यह चक्र चलता रहता है। वास्तव में परिस्थितियां ही ऐसी हैं, चाहे जितने भी कानून बना दिए जाएं, सफलता हाथ नहीं लगती। लम्बे समय तक हुए छुट-पुट प्रयासों के बाद अब कहीं जाकर सबके लिए मानवाधिकार अवधारणा लोगों तक पहुंची है और लोग बाल-श्रमिकों के प्रति सचेत भी हुए हैं। लेकिन समस्या अभी बनी हुई है। वास्तव में विशेषज्ञों का यह दायित्व है कि वे सिद्धान्तों को और अच्छी तरह परिभाषित करें, उनकी समीक्षा करें और सरकार को प्रेरित करें कि वह बाल-श्रम कानूनों को सुधारें। इसके अतिरिक्त सरकार पर इस बात के लिए भी दबाव डाला जाय कि बच्चों के हितों का सर्वाधिक ध्यान इन कानूनों में रखा जाय और समय-समय पर इसके क्रियान्वयन की जांच भी की जाए।

उत्तराखण्ड सरकार ने बाल-श्रमिकों के चिन्हींकरण, शिक्षा व पुनर्वास के लिए केन्द्र सरकार के पास 52 करोड़ रुपए का प्रस्ताव भेजा है। श्रम विभाग के अनुसार प्रदेश में 1,13,84 बाल-श्रमिक काम कर रहे हैं इनमें से 1142 बाल-श्रमिक खतरनाक क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं।[15] उपरोक्त से स्पष्ट है कि मात्र कानूनी तरीकों पर निर्भर रहकर बाल श्रम पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता हैं कानूनी प्रावधानों द्वारा बाल-श्रम संबंधी दशाओं में सुधार के प्रयास व्यापक तौर पर सफल नहीं हो पाए क्योंकि इनमें बाल-श्रम के पीछे जो विस्तृत संदर्भ थे, उनकी उपेक्षा की गई थी। ये सन्दर्भ काफी जटिल हैं और समाज में जड़ जमाए हुए विभिन्न आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तत्वों से सम्बन्धित हैं, जिनके प्रत्यक्ष और परोक्ष नकारात्मक प्रभाव बाल-श्रम पर दिखाई पड़ते हैं वास्तविकता यह है कि कोई भी क्षेत्र तभी प्रगति कर सकता है जबकि यहां के बच्चे शिक्षित, स्वस्थ व सुखी होंगे। बाल-श्रम के उन्मूलन के लिए प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक जन के अन्तर्मन में प्रतिबद्धता होना आवश्यक है।

संदर्भ

1. https://www.drishtiias.com>manual-
2. Newsdesk uttaranews May 1, 2023.
3. https://www.worldmeters.info (Elaboration of data by United Nations, Department of Economic and Social Affairs, Population Division).
4. केसरी नन्दन त्रिपाठी एवं आलोक कुमार (नवम्बर 2013) उत्तराखण्ड एक समग्र अध्ययन, बौद्धिक प्रकाशन, प्रयागराज, पृ. 51
5. https://www.dw.com>india-poverty
6. केसरी नन्दन त्रिपाठी एवं आलोक कुमार (वही), पृ. 51
7. वही, पृ. 52
8. बद्री दत्त पाण्डे (1995). कुमाऊँ का इतिहास प्रकाशन, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा, (उत्तराखण्ड) पृ. 34-35
9. सफलता के नए आयाम' सूचना एवं प्रसारण मंत्रलय, भारत सरकार द्वारा आंकल्पित एवं प्रकाशित, अरावली प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2002, पृ. 78
10. वही, पृ. 78.
11. वही, पृ. 78.
12. दैनिक जागरण-बाल-श्रम उन्मूलन के लिए कानूनों को कड़ा करने पर जोर, कुमाऊँ, देहरादून, 9 मार्च, 2003.
13. दैनिक जागरण-बाल-श्रम के खिलाफ संघर्ष रेगा रियल मैड्रिड क्लब, देहरादून, सोमवार, 24 मार्च, 2003, पृ. 3.
14. दैनिक जागरण-बाल-श्रम पर रोक के लिए बड़ों को काम दें, देहरादून, शनिवार, 8 मार्च, 2003.
15. अमर उजाला, बाल मजदूरों के पुनर्वास को प्रस्ताव, शनिवार, 4 जनवरी, 2003, पृ 3.

डॉ. निर्दोषिता बिष्ट

सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र,

रा. स्ना. महा. द्वाराहाट (अल्मोड़ा) उत्तराखण्ड

श्रीरामचरितमानस की अनुशीलन विधि

—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी

श्रीरामचरितमानस एक महाकाव्य है जिसमें मानव जीवन और समाज के विभिन्न पक्षों का विविध सन्दर्भों में चित्रण हुआ है। विस्तृत कथा-प्रसंग में विभिन्न प्रकृति वाले पात्रों की मनो दशाओं, स्वभावगत रुचियों, कार्य क्षमताओं आदि के अनुसार उनकी बातचीत, उनके विचार, उनकी मान्यताओं आदि का इसमें स्थान-स्थान पर समावेश हुआ है। अतः महाकाव्य के अध्ययन-अनुशीलन से निष्कर्ष निकालने के लिए किसी कथन विशेष के प्रसंग को ध्यान में रखना अनिवार्य है। बिना इसको जाने-समझे कि कौन-सी बात किसने और कब कही है, उस बात का सामान्यीकरण कर देना सही नहीं है। इस ग्रंथ में विधि-निषेधों के रूप में कही गई बातों को उनके कहने वालों के आधार पर तीन वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम, सद्पात्रों (राम, लक्ष्मण, सीता, भरत, वाल्मीकि, निषाद, हनुमान, विभीषण आदि) के द्वारा कहे गये नीति कथन। द्वितीय, असद्पात्रों (रावण, शूर्पणखा, खर, दूषण, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि) के नीति कथन, और तृतीय, मानस के चार वक्ताओं (शिव, कागभुसुण्डि, याज्ञवल्क्य और स्वयं तुलसीदास) द्वारा कहे गये नीति वचन। अन्य पात्रों द्वारा उपदेश के रूप में कही गई बातों को भी इन्हीं तीनों वर्गों में से किसी न किसी में समाहित किया जा सकता है। इनमें से जो बातें प्रथम और तृतीय वर्ग के पात्रों के द्वारा कही गई हैं। अर्थात्, सद्पात्र जो नीति कथन करते हैं या जिन्हें कवि ने अपनी ओर से उपदेश, स्पष्टीकरण, नीति-कथन आदि के रूप में कहा है वही सामान्य जीवन में मान्य और अनुकरणीय हैं। यह भी ध्यान रखना होगा कि कुछ प्रसंगों में सद्पात्र (राम, लक्ष्मण आदि) भी परिस्थिति सापेक्ष बात करते हैं जैसे कि मेघनाद के शक्ति-प्रयोग से लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर प्रगाढ़ दुख की अभिव्यक्ति में प्रलाप-रूप में राम का कथन, 'जौ जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू, पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू'[1] (यदि मैं जानता कि वन में भाई का विछोह हो जायेगा यानी कि भाई का साथ छूट जायेगा तो मैं पिताजी की उस बात को नहीं मानता) या फिर चित्रकूट में भरत-शत्रुघ्न के सेना सहित पहुंचने की सूचना पाकर क्रोधित लक्ष्मण का यह कह पड़ना कि 'राम निरादर कर फल पाई, सोवहिं समर सेज दोउ भाई'[2] (राम का निरादर कर, उनसे युद्ध करने की इच्छा से आये हुए दोनों भाई-भरत शत्रुघ्न आज युद्ध भूमि में मृत्यु को प्राप्त होंगे)। मानवीय संवेदना के आधार पर इन कथनों के अर्थ अपना तात्कालिक महत्व तो रखते हैं परन्तु ये जीवन के व्यापक पक्षों के आदर्श नहीं बन सकते हैं।

इसी प्रकार, असद् पात्रों द्वारा कही बातें प्रायः व्यंग्यात्मक या आत्मप्रशंसापरक होती हैं इसलिए उन्हें नीति वचन, यथार्थ कथन अथवा सामाजिक आदर्श मानने से पहले उनकी प्रासंगिकता पर गम्भीर विचार करना पड़ेगा। श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान राम को मर्यादा पुरुषोत्तम रूप में चित्रित किया है और उन्हें समस्त आदर्श गुणों से परिपूर्ण दिखाया है लेकिन उसी में एक जगह उन्हीं के लिए यह भी कहा गया है कि 'अगुन अमान जानि तेहिं पिता दीन्ह बनवास'[3] अर्थात जब पिता (राजा दशरथ) ने अच्छी तरह समझ लिया कि इस पुत्र (राम) में न तो कोई गुण है और न ही स्वाभिमान तो उन्हें घर से निकाल दिया (वनवास दे दिया)। राम के वनवास के कारण पर विचार किये बिना यह मान लिया जाना स्वाभाविक है कि आखिर किसी योग्य, गुणी और सदाचारी पुत्र को कोई पिता घर से क्यों निकाल देगा, हो सकता है कि जब राजा दशरथ राम के कार्य-व्यवहार से बहुत दुखी हो गये होंगे तो ऊबकर या नाराज होकर उन्होंने राम को घर से निकल जाने का आदेश दे दिया होगा। कुछ ऐसी ही बात अयोध्याकाण्ड की इस चौपाई में द्रष्टव्य है जिसमें राम, लक्ष्मण और सीता को वनपथ पर जाते देखकर मार्ग में पड़ने वाले किसी गाँव की स्त्रियाँ उनके माता-पिता को कोसती हैं—'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे, जिन्ह पठयेबन बालक ऐसे'[4] अर्थात हे सखी! भला वे माता-पिता कैसे (ममता रहित या कठोर हृदय वाले) होंगे जिन्होंने इतने सुन्दर-सुकुमार बच्चों को जंगल में भेज दिया है। पूरे प्रसंग को जाने बिना इस कथन से भी यह अर्थ निकाला जा सकता है कि न तो दशरथ में आदर्श पिता के गुण थे और न कौशल्या ममतामयी माता थीं।

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों में ध्यान देने वाली बात है कि पहला कथन रावण का है जिसे वह अंगद द्वारा राम की प्रशंसा किये जाने पर क्रोधित होकर राम पर व्यंग्य करता हुआ कहता है और दूसरे प्रसंग में राम के वनवास के कारण से सर्वथा अनभिज्ञ ग्रामीण स्त्रियाँ सहज सहानुभूतिवश वैसा कहती हैं। कथा में ये प्रसंग जहाँ पर आये हैं वहाँ बहुत स्वाभाविक

भी लगते हैं। रावण राम का शत्रु है तो वह तो उनमें कमियाँ निकालेगा ही और इसके लिए उसके द्वारा उनके गुणों को भी दोषों के रूप में वर्णित करना अवसरानुकूल लगता है। जब वह सुनता है कि राम समुद्र से रास्ता देने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं तब भी हंसता है और राम की बुद्धि का उपहास करता है—'सुनत बचन बिहँसा दससीसा, जौं असि मति सहाय कृत कीसा। सहज भीरु कर बचन ढ़ाई, सागर सन ठानी मचलाई।'[5] अर्थात 'इन तपस्वियों की धृष्टता तो देखो! समुद्र के सामने बच्चों के समान जिद कर रहे हैं। अगर ऐसी ही बुद्धि न होती तो भला वानरों को अपना सहयोगी क्यों बनाते'। स्पष्ट है कि ये सभी कथन राम के चरित्र के परिचायक नहीं हैं। सामान्य व्यवहार में कभी-कभी व्यक्ति किसी विशेष मनोदशा में कुछ ऐसी बातें कह जाता है जो उतने समय तो उसकी मनोदशा का बोध कराती हैं लेकिन उसके सहज स्वभाव को व्यक्त नहीं करती हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई माँ घर के कामों में बहुत उलझी हुई हो और उसका छोटा बच्चा उससे बार-बार कोई जिद करके उसे परेशान कर रहा तो वह कह उठती है कि अभी पटक दूंगी मर जाओगे। इस कथन से उसके क्षोभ को तो समझा जा सकता है लेकिन इससे माँ को बच्चे की हत्या करने वाली साबित करना सर्वथा अनौचित्यपूर्ण होगा।

श्रीरामचरितमानस में भी कुछ ऐसे प्रासंगिक कथन आये हैं जो कहने वाले की मनोदशा के सूचक हैं न कि उसके स्वभाव के। ऐसे कथन सार्वकालिक सिद्धांत-कथन भी नहीं हैं। यथा—'निज प्रतिबिम्ब बरुकि गहि जाई, जानि न जाइ नारि गति भाई।'[6] (भले ही अपनी परछाईं पकड़ने जैसे असम्भव कार्य को तो सम्भव बनाया जा सकता है लेकिन स्त्री के व्यवहार को समझ पाना सम्भव नहीं है।) 'अधम ते अधम अधम अति नारी'[7] (स्त्री तो निम्नकोटि के प्राणियों में भी सबसे निम्न है।) 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी'[8] (ढोल नामक वाद्य, मूर्ख व्यक्ति, शूद्र वर्ण का व्यक्ति और स्त्री—ये सभी ताड़ना यानी दण्डपूर्ण शिक्षा के पात्र होते हैं।) 'नारि स्वभाव सत्य कवि कह हीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं। साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया'[9]। (स्त्रियों के स्वभाव के विषय में कवियों ने सत्य कहा है कि इनके हृदय में साहस, झूठ, चंचलता, मोह, भय, अविवेक, अपवित्रता और क्रूरता—ये आठ अवगुण सदा भरे रहते हैं।) उपर्युक्त सभी कथन परिस्थितिजन्य कथन हैं। इनका सामान्यीकरण सही नहीं है। इसी प्रकार एकाधिक प्रसंगों में आलंकारिक प्रयोग के रूप में ऐसे उपमानों का भी प्रयोग हुआ है जिन्हें सामान्यतया राम जैसे आदर्श पात्र की तुलना के लिए सही नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, जब सीता हिरन के पीछे गये हुए राम को संकट में पड़ा हुआ समझकर लक्ष्मण को उनकी सहायता करने के लिए जाने का आदेश देती हैं तो लक्ष्मण के जाने का प्रसंग कवि द्वारा इस प्रकार निरूपित हुआ है—'बन दिसि देव सौंपि सब काहू, चले जहाँ रावन ससि राहू'[10] अर्थात सीता की सुरक्षा का उत्तरदायित्व वन देवता एवं दिशाओं के देवताओं को सौंपकर लक्ष्मण वहाँ के लिए चल दिये जहाँ रावण रूपी चन्द्रमा के लिए राहु के समान राम थे। प्रथम दृष्टया राम को राहु (अर्द्ध शरीरी, राक्षसवंशी, अमंगलकारी पापग्रह) के समान और रावण को चन्द्रमा (शीतल, सौम्य, प्रकाशमान देवता) जैसा कहना सर्वथा अनौचित्यपूर्ण लगता है लेकिन जब इस आलंकारिक तुलना में तुलना के आधारभूत कार्य को देखा जायेगा तो यह तुलना औचित्यपूर्ण और विशिष्ट लगने लगेगी। रावण का पराभव राम द्वारा वैसे ही कर दिया जाना निश्चित है जैसे राहु द्वारा चन्द्रमा को तेजहीन कर दिया जाता है। सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना में उपमेय (जिसकी तुलना की जाए) और उपमान (जिससे तुलना की जाए) के उभयनिष्ठ गुणों पर ही ध्यान दिया जाता है, अन्य आनुषंगिक बातों पर नहीं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि किसी व्यक्ति की उपमा शेर से की गई हो तो इस तुलना में शेर की शक्ति और साहस को ही ध्यान में रखा जायेगा। शेर का जानवर होना, जंगल में रहना, हिंसक होना, मांसभक्षी होना आदि आनुषंगिक बातों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं होगा। महाकाव्य, विशेषतया रामचरितमानस में कतिपय विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी अलग-अलग प्रसंगों में अलग-अलग अर्थों में किया गया है। 'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना, एही भाँति चलेउ हनुमाना', और 'मृषा न होइ मोर यह बाना' इन दोनों प्रसंगों में बाना शब्द क्रमाशः 'बाण' और 'वचन' के भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'संजम यह न विषय कर आसा' और 'देखुबि भीषन दच्छि न आसा' में आया हुआ 'आसा' शब्द प्रसंग-भेद से क्रमशः 'आशा' और 'दिशा' का वाचक है। इसी प्रकार 'उर ताड़ना करहिं बिधि नाना', 'सापत ताड़त परुष कहंता', 'सकल ताड़ना के अधिकारी' आदि प्रसंगों में आये हुए 'ताड़न' शब्द के अर्थों में भावगत अन्तर अवश्य है।

श्रीरामचरितमानस में लोकमंगल की भावना ही प्रधान है। ग्रन्थारम्भ से लेकर ग्रन्थ की समाप्ति तक कवि गोस्वामी तुलसीदास बार-बार लोकहित की ही बात करते चलते हैं—'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँहि त होई'[11] (कीर्ति, साहित्य और सम्पत्ति वही श्रेष्ठ है जो गंगा की भाँति बिना किसी भेदभाव के सभी का हित करने वाली हो।) 'सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी'[12] (सम्पूर्ण संसार को सीताराममय मानता हूं इसलिए सभी को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूं।) 'परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम

नहि अंधमाई'[13](दूसरों का हित करने से बड़ा कोई धर्म नहीं है और दूसरों को पीड़ा देने से बड़ा कोई अधर्म या नीच कर्म नहीं है।) 'नर सरीर धरि जेपर पीरा। करहिं तेसहहिं महा भव भीरा'[14] (मानव शरीर प्राप्त करके जो दूसरों को दुख पहुंचाते हैं उन्हें संसार में घोर विपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं।)

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य की परिकल्पना तुलसीदास की समतामूलक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना ही है जिसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री-पुरुष सभी) को शिक्षा, स्वास्थ्य, जीविकोपार्जन आदि के अधिकार सहित सहजीवन का अवसर प्राप्त है। रामचरितमानस में प्रबन्ध-रचना की बहुत सारी विशेषताओं में से एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि तुलसीदास कथा-प्रसंग में प्रवाह का विशेष ध्यान रखते हैं। इसीलिए यदि मुख्य कथा के बीच कोई अवान्तर या प्रासंगिक कथा आती है तो वे उसका उल्लेख मात्र करके मुख्य कथा को आगे बढ़ा देते हैं, मुख्य कथा को रोककर अवान्तर कथाओं को विस्तार देना अथवा किसी पूर्व प्रसंग को बीच में वर्णित करना उनकी रचना-शैली का अंग नहीं है। रामचरितमानस में बीसियों ऐसे स्थल हैं जहाँ अवान्तर कथाओं का संकेत मात्र हुआ है। कुछ संकेत उदाहरणार्थ द्रटव्य हैं—1.' सुमिरत हरिहिं श्राप गति बाधी। सहज विमल मन लागि समाधी।' यह प्रसंग नारद मोह का है। नारद हिमालय की एक मनमोहक गुफा में बैठकर तपस्या करने लगते हैं और हरि नाम-स्मरण में लीन नारद को श्रापजन्य बाधा नहीं सताती। तुलसीदास यहाँ यह नहीं बताने लगते हैं कि नारद को कौन-सा श्राप मिला था और क्यों या किससे मिला था क्योंकि यह सब बताने में मुख्य कथा का प्रवाह बाधित हो जाता। 2. तनय जजाति हिं जौवन दयऊ। पितु आज्ञा अघ अजस न भयऊ। 3. जेहिं प्रकार सुरसरि महि आई। गाधि सून सब कथा सुनाई। 4. तापस अंध साप सुधि आई । कौसल्यहिं सब कहा बुझाई। 5.गौतम नारि श्रापबस उपल देह धरि धीर। चरन कमल रज चाहति पा करहु रघुबीर। 6. मातहिं पितहिं उरि न भये नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के। 7. आवत पन्थ कबंध निपाता। तेहि सब कही साप कै बाता। दुरवासा मोहि दीनी श्रापा। प्रभुपद पेखि मिटा सो पापा। 8.रिषि अगस्त की साप भवानी। राछस भयउ रहा मुनि ग्यानी।

उपर्युक्त प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए समुद्र द्वारा कही गई बात पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ढोल गँवार वाली पंक्ति सायास रखी गई है क्योंकि इसके पूर्व ही समुद्र का कथन पूर्ण हो जाता है— प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरहि कटकु न मोर बड़ाई। प्रभुभल कीन्ह मोहिं सिख दीन्हीं। मरजादा पुनि तुमरी कीन्हीं। अर्थात आपके प्रताप से मैं सूख जाऊँगा और सेना पार उतर जायेगी लेकिन मेरा बड़प्पन नहीं रह जायेगा, मुझे शिक्षा देकर आपने अच्छा किया लेकिन मर्यादा भी आपकी ही बनाई हुई है। स्पष्ट है कि यहाँ समुद्र का यह कथन महत्वपूर्ण है कि मेरे सूख जाने पर आपकी सेना तो पार हो जायेगी लेकिन मेरी मर्यादा नष्ट हो जायेगी। समुद्र की ईश्वर-निर्मित मर्यादा यही है कि समुद्र सूख नहीं सकता। आगे कही गई पंक्ति 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' का समुद्र की मर्यादा से कोई साम्य नहीं स्थापित होता है। अतः श्रीरामचरितमानस के किसी कथन को सामाजिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। अब एक विशेष महत्वपूर्ण बात अध्येताओं के लिए। श्रीरामचरितमानस की लोकप्रियता ने इसमें क्षेपकों (मिलावट) को भी मौका दिया है। यह खेद का विषय है कि गोस्वामी तुलसीदास की हस्तलिपि में श्रीरामचरितमानस की कोई पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं हो पाई है इसलिए इसमें प्रतिलिपिकारों द्वारा अपनी ओर से कुछ मिलाने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह और भी आवश्यक हो जाता है कि तुलसीदास की काव्य विषयक मूल प्रवृत्ति को समझा जाय और उसके अनुरूप ही उनके कथनों की विवेचना की जाय।

सन्दर्भ

1. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, लंकाकाण्ड, 61/3
2. वही, अयोध्याकाण्ड, 230/2
3. वही, लंकाकाण्ड, 31
4. वही, अयोध्याकाण्ड, 111/4
5. वही, सुन्दरकाण्ड, 56/3
6. वही, अयोध्याकाण्ड, 47/4
7. वही, अरण्यकाण्ड, 35/2
8. वही, सुन्दरकाण्ड, 59/3
9. वही, लंकाकाण्ड, 16/1
10. वह, अरण्यकाण्ड, 28/3
11. वही, बालकाण्ड, 14/5
12. वही, बालकाण्ड, 8/1
13. वही, उत्तरकाण्ड, 41/1
14. वही, उत्तरकाण्ड, 41/2
15. वही, उत्तरकाण्ड, 21/3
16. वही, उत्तरकाण्ड, 29/2

—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय कुचलाई, सीतापुर, उ. प्र.

विवाह के असुधार्य भंग का सिद्धांत : पूर्ण न्याय की अवधारणा

—डॉ. चन्द्र भूषण मिश्र

प्राचीन विश्व के सभ्यताओं में विवाह का प्रथम प्रमाण, 2350 ई. पू. मेसोपोटामिया में पाया गया था। हिन्दू दर्शन के अन्तर्गत शिव-पार्वती विवाह ही प्रथम उल्लेख के रूप में वर्णित है। बाईबिल की प्रथम पुस्तक "जेनेसिस" 1:27 के अनुसार 'यहोवा' ने एक पुरुष की रचना की। उसके बाद 2:21-25 में उल्लेख है कि यहोवा (ईश्वर) ने प्रथम पुरुष 'आदम' की एक पसली निकालकर, उससे एक स्त्री की रचना कर डाली, जिसे 2:25 में पहली बार "Man & His Wife" सम्बोधन दिया था। इसका बेहतरीन उदाहरण, भगवान शिव का अर्द्ध नारीश्वर स्वरूप है। इस प्रकार स्त्री धरती की धुरी एवं स्नेह का विशाल स्रोत है। स्त्री परिवार की पीढ़ी एवं पवित्रता का प्रकाश पुँज थी। माननीय न्यायमूर्ति 'पीकाक' ने यह मत व्यक्त किया था, "जहाँ किसी पुरुष और स्त्री के बारे में यह साबित हो जाता है कि वे पति और पत्नी के रूप में एक साथ रहते थे, वहाँ जब तक स्पष्टतः इसके विरुद्ध साबित नहीं कर दिया जाता, विधि के अधीन यह उपधारणा की जायेगी कि वे किसी विधिमान्य विवाह के फलस्वरूप न कि रखैल (उप-पत्नी) की स्थिति में एक साथ रहे थे।"[1] यह सिद्धान्त उन्होंने रोमन विधिक व्यवस्था से लिया था। वैवाहिक संबंध का तात्पर्य, एक पति या पत्नी के विधिक रूप से संरक्षित, वैवाहिक हित, एक-दूसरे के लिए होते हैं, जिसके अंतर्गत अन्य की वैवाहिक आबद्धता, जैसे साथ, एक ही छत के नीचे रहना, लैंगिक संबंध और उनका अनन्य उपभोग, बच्चों को रखना, उनका पालन करना, घर में सेवा, समर्थन, प्रेम, स्नेह, विश्वास, सद्भाव पसन्द इत्यादि है।[2] सामान्य रूप से विवाह के तीन आवश्यक तत्व माने जाते हैं[3]—(1) विवाह किये जाने का करार (2) पति और पत्नी के रूप में साथ रहना (3) जनता के समक्ष यह पेश करना कि वे विवाहित हैं। माननीय न्यायमूर्ति ने मत व्यक्त किया था, "जब किसी पुरुष एवं स्त्री ने अनेक वर्षों तक लगातार सहवास किया हो, तब विधि में विवाह के पक्ष में और आवारागर्दी के विरुद्ध उपधारणा की जाती है।[4] इसी प्रकार माननीय न्यायमूर्ति अरिजीत पसायत ने मत व्यक्त किया, "जहाँ भागीदार एक लम्बी अवधि तक पति-पत्नी के रूप में रहे हैं, और समाज पति एवं पत्नी के रूप में मान्यता देता है तो वहाँ वैध विवाह के पक्ष में उपधारणा उत्पन्न होगी"[5] हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की प्रमुख धारा-5 एवं 7 के अंतर्गत वैध विवाह के आवश्यक तत्व एवं शर्तों का वर्णन किया गया है।

विवाह के असुधार्य भंग का सिद्धांत—एक आदर्श विवाह का आधार सहनशीलता, समायोजन और एक-दूसरे के प्रति आदर होता है। कतिपय सहनीय सीमाओं तक एक-दूसरे की गलतियों को सहन करना प्रत्येक विवाह में अन्तर्निहित होता है। छोटी-मोटी छीटाकशी, तुच्छ विभेदों को बढ़ाना नहीं चाहिये और इसे इस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर नहीं करना चाहिये कि यह स्वर्ग में बनाये गये रिश्ते को तोड़ दे। अति तकनीकी और अति संवेदनशील दृष्टिकोण, वैवाहिक संस्था के प्रति खतरनाक होती है। विवाह के असुधार्य रूप से टूट जाने के अन्तर्गत, पक्षकार, सैद्धांतिक एवं विधिक रूप से पत्नी एवं पति के रूप में रहते हैं परन्तु व्यावहारिक एवं तथ्यतः रूप से पति एवं पत्नी के रूप में नहीं रहते हैं। ऐसे विवाह के अंतर्गत, पक्षकार एक साथ नहीं रहते, उनके बीच में प्रेम एवं सद्भाव समाप्त हो जाता है, और आपसी आदर एवं सम्मान नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियाँ उद्भूत हो जाती हैं जिनमें विवाह व्यावहारिक नहीं रह जाता। ऐसे विवाह में विवाह के सभी बाह्य दिखावे होते हैं किन्तु वास्तविकता कुछ नहीं होती है। विवाह मात्र दिखावा होता है जो वस्तुतः सारहीन होता है। ऐसी परिस्थितियों में दिखावे के रूप में विवाह को बनाए रखने में मुश्किल से ही कोई उपयोगिता होती है जब भावुकता और बाध्यताएँ जो विवाह के सार होते हैं, विलुप्त हो जाते हैं।

विवाह के असुधार्य भंग का सिद्धांत का ऐतिहासिक उद्भव एवं विकास :- कामनवेल्थ देशों के अन्तर्गत, न्यूजीलैण्ड देश में प्रथम बार, "डायवोर्स एण्ड मैट्रीमोनियल केसेज अमेन्डमेंट एक्ट, 1920" में यह उपबंध सम्मिलित किया गया था। तीन वर्षों या उससे अधिक के लिए पृथक रहने का करार विवाह-विच्छेद के लिए याचिका करने के आधार थे और न्यायालय को विवेकाधिकार दिया गया था कि वे विवाह-विच्छेद मंजूर कर सकते हैं या नहीं। सन् 1921 में माननीय न्यायमूर्ति *सामण्ड* द्वारा 'विवाह के टूट जाने के सिद्धांत' के रूप में प्रतिपादन किया गया था, यह निम्न शब्दों में है—"मेरे विचार में विधानमंडल ने यह आशय किया था कि तीन वर्षो के पृथक्करण को इस न्यायालय द्वारा प्रथमदृष्ट्या विवाह

विच्छेद के लिए अच्छे आधार के रूप में स्वीकार करना चाहिए। जब वैवाहिक संबंध अवधि के दौरान वस्तुतः मौजूद नहीं रहते हैं और जब तक इसके प्रतिकूल कोई विशेष कारण नहीं होते, यह विधितः भी समाप्त हो जाता है। साधारणतः यह पक्षकारों के हित में या लोकहित में नहीं होता कि पुरुष और स्त्री विधि में पति और पत्नी के रूप में एक-दूसरे के साथ आबद्ध रहे जब कि लम्बी अवधि के लिए वस्तुतः उनके संबंध समाप्त हो गये हैं। ऐसे पृथक्करण के मामले में विवाह का आवश्यक प्रयोजन विफल हो जाता है और यह साधारणतया बना भी नहीं रह सकता अपितु यह हानिकर भी होता है।"[6] सन् 1969 में स्कॉटलैण्ड के चर्च की आम सभा ने भी विवाह विषयक अपराधों के स्थान पर विवाह के टूटने को प्रतिस्थापित करने का सुझाव दिया, जो इस प्रकार हैं—"विवाह विषयक अपराध, प्रायः बिगड़ते वैवाहिक संबंधों के परिणाम होते हैं न कि उनके कारण। विवाह-विच्छेद का अभियोगात्मक सिद्धांत, विवाह विषयक अपराधों को बढ़ावा देता है, कड़वाहट बढ़ाता है और उस दूरी को जो उनके बीच पहले से है, और बढ़ाता है। पक्षकारों में से कम से कम एक पक्ष द्वारा यह विनिश्चय किये जाने के परिणामस्वरूप कि वह दूसरे पक्ष के साथ नहीं रहना चाहता है, कम से कम दो वर्ष की निरन्तर अवधि के लिए पृथक्करण को, विवाह के भंग होने के एक मात्र साक्ष्य के रूप में कार्य करना चाहिये।" भारतवर्ष के अन्तर्गत हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन "विवाह का असुधार्य रूप से टूट जाना" विवाह विच्छेद के लिए आधार नहीं है। भारतीय विधि आयोग की 71वीं रिपोर्ट में ''विवाह के असुधार्य भंग के सिद्धांत'' पर सविस्तार विचार किया गया था। रिपोर्ट को सन् 1978 में भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। परन्तु 45 वर्षों के समय बीत जाने पर भी यह विधि का रूप नहीं ले सका है।

विवाह के असुधार्य भंग का सिद्धांत से संबंधित अप्रत्यक्ष प्रावधान—हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अंतर्गत विवाह विच्छेद के निम्न प्रावधान है—(1) धारा-13(1)(पक) के अंतर्गत "विवाह के अनुष्ठान के पश्चात् अर्जीदार के साथ क्रूरता का बर्ताव किया गया है। (2) धारा-13ख, के अन्तर्गत, विवाह के पक्षकार पारस्परिक सम्मति से विवाह-विच्छेद की डिक्री प्राप्त कर सकते हैं।

(3) धारा-14 के अन्तर्गत, विवाह के एक वर्ष के अंदर विवाह विच्छेद के लिए कोई याचिका पेश न की जायेगी। परन्तु विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद के लिए याचिका पेश की जा सकती है यदि याचिकाकर्ता द्वारा (1) असाधारण कष्ट भोगे जाने का, या (2) असाधारण दुराचारिता का है। हिन्दू विवाह अधिनियम,1955 की धारा-13(1)(पक), 13-ख और धारा-14 का एक साथ निर्वचन करने पर इस प्रकार निष्कर्ष निकलते हैं—(1) 'क्रूरता' एक व्यापक अवधारणा है। इसके अन्तर्गत 'मानसिक क्रूरता' अति व्यापक अवधारणा है। मानसिक क्रूरता की जब पराकाष्ठा होती है तो वह अपने अन्तर्गत, विवाह के असुधार्य भंग के सिद्धांत को, अपने में समाहित कर लेता है। (2) जब 'मानसिक क्रूरता' को धारा-13 ख एवं धारा-14 को एक साथ लेकर चलते हैं तो विवाह के असुधार्य भंग के सिद्धांत का जन्म होता है। वह यह 'असाधारण कष्ट' एवं 'असाधारण दुराचारिता' का विषय बन सकता है। (3) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13-ख(2) एक प्रक्रियात्मक विधि है, जो निर्वचन के नियम के आधार पर निर्देशात्मक प्रावधान है, आज्ञापक नहीं है।

न्यायिक दृष्टिकोण : विवाह के असुधार्य भंग का सिद्धांत—चेतनदास बनाम ***कमला देवी***[7] इस मामले में माननीय उच्चतम न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि "वैवाहिक संबंध सामान्य तौर पर समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान एवं भूमिका निभाता है। इसलिए विवाह विच्छेद का अनुतोष प्रदान करने के लिए "विवाह के असुधार्य भंग" के किसी अनुरोध को संकुचित फार्मूले के रूप में लागू करना उचित नहीं होगा। हर पहलू को तथ्य और उनकी परिस्थिति की पृष्ठभूमि में विचार किया जाना चाहिये।

संध्या रानी बनाम *कल्याणराम नारायणन*[8] इस के वाद में पक्षकार पिछले तीन साल की अवधि से अधिक समय तक अलग-अलग रह रहे थे। पक्षकारों के बीच विवाह का असुधार्य भंग हो गया है, इसलिए माननीय उच्चतम न्यायालय ने विवाह विच्छेद की डिक्री पारित कर दिया। *कंचन देवी* बनाम *प्रमोद कुमार मित्तल*[9] के मामले में पक्षकार दस वर्ष से अलग-अलग रह रहे थे और सुलह की कोई संभावना नहीं थी। माननीय उच्चतम् न्यायालय ने निष्कर्ष निकाला कि पक्षकारों के बीच 'विवाह का असुधार्य भंग' हो गया है। विवाह का विघटन कर दिया है। *स्वाति वर्मा* बनाम *राजन वर्मा*[10] के मामले में पक्षकारों द्वारा एक-दूसरे के विरूद्ध अनेक दाण्डिक मामले फाइल किये गये थे। माननीय उच्चतम न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि पक्षकारों के बीच विवाह का असुधार्य भंग हो गया था। विवाह विच्छेद की डिक्री पारित किया। इसी प्रकार माननीय उच्चतम न्यायालय ने *संघमित्र घोषण* बनाम *काजल कुमार घोषण* [11] के मामले में विवाह के असुधार्य भंग के सिद्धांत के आधार पर, विवाह विच्छेद की डिक्री पारित किया। *अनिल कुमार जैन* बनाम *माया जैन*[12] के मामले में पक्षकार सात वर्ष से अधिक समय से अलग-अलग रह रहे थे। माननीय उच्चतम न्यायालय ने विवाह के असुधार्य भंग के सिद्धांत के आधार पर, विवाह विच्छेद की डिक्री पारित किया। *नवीन कोहली* बनाम *नीलू*

कोहली[13] के मामले में, पक्षकार एक-दूसरे से 10 वर्षों से अधिक समय तक पृथक रह रहे थे। पत्नी द्वारा मिथ्या परिवाद पति के विरुद्ध दायर करना तथा उनके साथ-साथ रहने की कोई आशा नहीं थी। माननीय *न्यायमूर्ति दलवीर भंडारी* ने मत व्यक्त किया कि विवाह के पूर्ण रूप से टूट जाने पर विवाह को बनाये रखना अनुचित है। इसलिए उनके द्वारा विवाह-विच्छेद के विघटन का निर्देश देते हुए, अपील मंजूर की गई थी। *मनीष गोयल* बनाम *रोहिणी गोयल*[14] के मामले में माननीय न्यायमूर्ति डॉ. बी. एस. चौहान ने अभिनिर्धारित किया कि "जब पक्षकारों के बीच भावनात्मक रूप से वैवाहिक संबंध समाप्त हो गये हों तथा सुधार की कोई गुंजाइश न हो और विवाह असुधार्य रूप से टूट गया हो तो पक्षकारों को और आगे दुःखद स्थिति से बचाने के लिए, विवाह विच्छेद की डिक्री को पारित कर देना चाहिये।" क्या जहाँ पर न्यायालय यह पाता है कि विवाह पूर्णतया चलने योग्य नहीं है, भावनात्मक रूप से समाप्त है, और सुधार के परे, असुधार्य रूप से टूट गया है, और तथ्य विधि में ऐसे कोई आधार दर्शित नहीं होते हैं, जिसके आधार पर विवाह-विच्छेद प्रदान किया जा सके, तो वहाँ "पूर्ण न्याय की अवधारणा" के अन्तर्गत, विवाह विच्छेद की डिक्री प्रदान किया जा सकता है? यही मत माननीय उच्चतम् न्यायालय ने *शिल्पा_सैलेश* बनाम *श्री निवासन*[15] के मामले में व्यक्त किया है तथा माननीय उच्चतम न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि जहाँ 'विवाह असुधार्य रूप से टूट गया है' वहाँ न्यायालय, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा-13ख के अन्तर्गत प्रक्रियात्मक अपेक्षा द्वारा बाध्य हुए बिना, पारस्परिक सम्मति द्वारा विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित करके, विवाह का विघटन करने का विवेकाधिकार है। यह शक्ति केवल मात्र माननीय उच्चतम न्यायालय के पास है, अन्य न्यायालय के पास नहीं है।

भारत का संविधान : पूर्ण न्याय की अवधारणा— भारतीय संविधान के अनुच्छेद-142 के अन्तर्गत, पूर्ण न्याय की अवधारणा, का समावेश है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-142 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए, माननीय उच्चतम न्यायालय, सामान्यतः कानूनी उपबंधों के उल्लंघन में या उन्हें अनदेखा करते हुए, आदेश पारित नहीं करता और न ही मात्र सहानुभूति के आधार पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है। पूर्ण न्याय की अवधारणा एक व्यापक आयाम है तथा साम्या की शक्ति को अपने में समावेशवित करता है। न्याय वह आधार है, जो किसी भी विधिक उपक्रम के प्रयोजन को सिद्ध करता है और जिस पर विधि के नियम की वैधता, आधारित रहती है। पूर्ण न्याय की अवधारणा के अन्तर्गत साम्यपूर्ण शक्ति, सामान्य और विशिष्ट के बीच अंतर को सामने करती है। प्रथम, विधि के सामान्यतः एक उदार और मानवीय निर्वचन, जहाँ तक विधि के वास्तविक विरोध के बिना, संभव है, सामान्य रूप से साम्या कहा जाता है, द्वितीय आपवादिक मामलों में विधि का एक उदार और मानवीय उपान्तरण, सामान्य विधि की परिधि के भीतर नहीं आता है, विशिष्ट साम्या कहा जाता है। विशिष्ट साम्या सूक्ति "साम्या, विधि का अनुसरण करती है'' को नहीं मानती है। इसलिए भारत के संविधान के अनुच्छेद-142 के अन्तर्गत पूर्ण न्याय की अवधारणा, साम्या को, विधि पर प्राथमिकता प्रदान करने के लिए विधि प्राधिकार या शक्ति प्रदान करता है। *प्रेमचन्द गर्ग* बनाम *उत्पाद शुल्क आयुक्त*[16] के मामले में माननीय उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय करने के लिए, न्यायालय जो एक आदेश पारित कर सकता है वह न केवल संविधान द्वारा गारंटी दिये गये मूल अधिकार से संगत होना चाहिए, अपितु यह, सुसंगत कानूनी विधियों, अधिष्ठायी उपबंधों से भी असंगत नहीं होना चाहिये।

उच्चतम् न्यायालय विधिज्ञ परिषद बनाम *भारतसंघ*[17] के मामले में माननीय उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद-142 के अन्तर्गत, किसी विधि के अधिष्ठायी उपबंधों को पूर्णतया अनदेखा नहीं किया जा सकता और किसी ऐसे विवाद्यक के संबध में आदेश पारित नहीं किया जा सकता, जो कि एक अन्य कानून में विहित रीति के अनुसार ही तय किया जा सकता है। इसका किसी ऐसे मामले में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये, जहाँ विधि की दृष्टि में कोई आधार नहीं है, जिसके आधार पर आदेश पारित किये जा सके। *लक्ष्मीदास मोरारजी* बनाम *बेहरोसे दराब मदन* [18] के मामले में माननीय उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद-142 के अधीन कार्य करते हुए, ऐसा कोई आदेश पारित नहीं किया जा सकता या राहत प्रदान नहीं किया जा सकता जो पूर्णतया असंगत हो या मामले से संबद्ध अधिष्ठायी या विधिक अधिनियमिति के विरुद्ध हो। शक्ति का प्रयोग ऐसे मामले में किया जाना चाहिये, जिन्हें विधि के विद्यमान उपबंधों द्वारा प्रभावी रूप से और यथोचित रूप से सुलझाया न जा सके या जब विधि के विद्यमान उपबंध पक्षकारों के बीच पूर्ण न्याय न कर सके। *राम जन्म भूमि मंदिर वाद*[19] में माननीय उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि वाक्याशं "पूर्ण न्याय करने के लिए आवश्यक है" एक व्यापक आयाम है तथा साम्या की शक्ति को अंतर्विष्ट करता है, जो तब लागू की जाती है, जब विधि की कठोर प्रयोज्यता एक उचित परिणाम उत्पन्न करने के लिए अपर्याप्त है। न्याय की माँग न केवल सकारात्मक विधि, बल्कि सकारात्मक विधि की मौनानुकूलता प्राप्त करने के लिए उसके अन्तर्विरोधों के

अधीन एक समाधान का पता लगाने के लिए सूक्ष्म ध्यान की अपेक्षा करता है, जो साम्यापूर्ण और न्यायोचित है। *शिल्पा सैलेश* बनाम *वरूण श्रीनिवासन*[20] के मामले में संविधान पीठ की ओर से माननीय *न्यायमूर्ति संजीव खन्ना* ने यह मत अभिनिर्धारित किया कि "भारत के संविधान के अनुच्छेद-142(1) के अधीन शक्ति अपरिभाषित और असूचीबद्ध है, जिससे कि किसी स्थिति के लिए उपयुक्त अनुतोष को स्वरूप प्रदान करने के लिए लचीलापन को सुनिश्चित किया जा सके। यह तथ्य की शक्ति केवल इसी न्यायालय को प्रदान की गयी है, एक आश्वासन है कि उसका प्रयोग सम्यक प्रतिरोध और सतर्कता के साथ किया जायेगा।

भारत के संविधान के अनुच्छेद-142 एवं अनुच्छेद-136 में संबंध—भारतीय संविधान, 1950 के अनुच्छेद-136 के अंतर्गत उच्चतम् न्यायालय को शक्ति है कि वह अपने विवेकानुसार भारत के राज्य क्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किये गये किसी निर्णय, डिक्री के अवधारण, दंडा देश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकता है। यह संविधान द्वारा न्यायालय में विवक्षित विश्वास और भरोसे के साथ निहित की गई असाधारण अधिकारिता है। इस अधिकारिता का प्रयोग, असाधारण सावधानी और सतर्कता के साथ किया जाना चाहिये। ऐसे व्यापक विवेक का प्रयोग करने के लिए इस न्यायालय के समक्ष आवेदन करने के लिए किसी पक्षकार को कोई निहित अधिकार नहीं है, बल्कि ऐसी प्रक्रिया तब प्रयोग की जा सकती है, जब न्यायालय यह समझता है कि 'अन्याय को दूर' करने के लिए यह आवश्यक है। ऐसी व्यापक शक्ति रखने का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि निचले न्यायालयों के विनिश्चियों के कारण अन्याय न हो सके या न किया जा सके। इसके अतिरिक्त, जनसाधारण के महत्व का विधि का कोई प्रश्न या विश्चिय होना चाहिये, जिससे न्यायालय की अंतःभावना को आघात पहुँचे। दूसरे शब्दों में जब तक यह नहीं दर्शाया जाता कि आपवादिक और विशेष परिस्थितियाँ विद्यमान है और सारभूत और घोर अन्याय किया गया है और प्रश्नगत मामला अपील किये गये विनिश्चय के पुनर्विलोकन के लिए पर्याप्त घोरता के लक्षण दर्शित करता है, तब तक ऐसा प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। माननीय उच्चतम् न्यायालय, सामान्यतया, किसी पक्षकार को उच्च न्यायालय में अपील या निर्देष की सामान्य प्रक्रिया से कतराने की अनुज्ञा नहीं देता है जब तक कि 'अत्यंत महत्व के विधि के सिद्धांत का प्रश्न उद्भूत नहीं होता है। इसका आपवादिक रूप से सतर्कता के साथ और केवल असाधारण स्थिति में प्रयोग किया जाना चाहिये। *भारत संघ* बनाम *करनैल सिंह*[21] के मामले में माननीय उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि "जब अनुच्छेद-136 के अधीन यह न्यायालय अपनी वैवेकिक शक्ति का प्रयोग करता है या अनुच्छेद-142 के अधीन कोई आदेश पारित करता है तब यह ऐसा अत्यंत सावधानी और सम्यक विचार करने के पश्चात् करता है। किन्तु जब हम इस न्यायालय के विवेक के प्रयोग में विधि तय कर रहे हैं तब इस प्रकार तय की गयी विधि स्पष्ट होनी चाहिये और प्रवर्तनशील होनी चाहिये बजाय उसे अस्पष्ट रखने के, जिससे कि यह भविष्य में उत्पन्न होने वाली सभी समरूप मामलों में बाध्यकारी पूर्व निर्णय बन सके।"

निष्कर्ष एवं सुझाव :- (1) सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा-151 द्वारा मान्य सिविल न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति और धारा-482 द. प्र. संहिता, 1973 के अधीन उच्च न्यायालय की अन्तर्निहित शक्ति का प्रावधान है। जो सिविल वादों में सिविल न्यायालय को और दाण्डिक वादों में उच्च न्यायालय को ऐसा आदेश, जो 'न्याय की पूर्ति के लिए' या न्यायालय की प्रक्रिया का दुरूपयोग निवारण करने के लिए आवश्यक हो, पारित करने के लिए सशक्त करता है। अभिव्यक्त "न्याय की पूर्ति" विधि के भीतर प्रत्येक प्रकार के सर्वोत्तम लोक हित का निर्देश करती है, अपितु न्यायालय सि. प्र. संहिता और द. प्र. संहिता में उपबंधित विधि के विशिष्ट पहलू पर प्रक्रिया के प्रतिकूल कार्य करने के लिए सशक्त नहीं किये गये हैं। जहाँ सि. प्र. स. और द. प्र. सं. मौन है क्रमशः सिविल न्यायालय या उच्च न्यायालय लोकहित में आदेश पारित कर सकते हैं, इस साधारण कारण से कि कोई भी विधायन सभी संभाव्य परिस्थितियों को अनध्यात करने में सक्षम नहीं है जो भावी वाद में उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार सि.प्र.सं. और द.प्र.सं. के अन्तर्गत क्रमशः सिविल न्यायालय या उच्च न्यायालय को ऐसा आदेश करने के लिए जो "न्याय की पूर्ति के लिए" या "न्यायालय की प्रक्रिया का दुरूपयोग निवारण" करने के लिए आवश्यक है, अन्तर्निहित शक्ति को सीमित या अन्यथा प्रभावित करने के रूप में मान्य नहीं है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-136 के अन्तर्गत माननीय उच्चतम न्यायालय को 'सारभूत' एवं घोरतम अन्याय को रोकने' के लिए या ''विधि के महत्वपूर्ण सारवान् प्रश्न" के निर्धारण के लिए शक्ति प्रदान किया गया है, जबकि अनु.-142 के अंतर्गत माननीय उच्चतम न्यायालय को "पूर्ण न्याय" प्रदान करने वाली शक्ति प्रदान की गई है जो अतिव्यापक आयाम एवं अवधारणा है। (2) हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 13ख, 13(1) (पक) एवं धारा-14 के संयुक्त प्रभाव की परिकाष्ठा, से "विवाह के असुधार्य रूप से भंग" की अवधारणा का जन्म होता है तथा धारा-14 के अंतर्गत विधायिका 'असाधारण कष्ट' एवं असाधारण दुराचारिता आयाम के अंतर्गत विवाह

विच्छेद के लिए सिविल न्यायालय एवं उच्च न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गयी है जो एक साल के अंदर दे सकता है। "असाधारण कष्ट की अवधारणा" एक व्यापक अवधारणा है, बल्कि "विवाह के असुधार्य रूप से भंग" की अवधारणा को अपने में समाहित करता है, साथ ही साथ 'क्रूरता' की अवधारणा की बदलते सामाजिक आयाम को भी अपने में समाविष्ट करता है। इसलिए सिविल न्यायालय एवं उच्च न्यायालय, असुधार्य रूप से विवाह भंग के आधार पर विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित कर सकते हैं। (3) हिन्दू विवाह अधि. की धारा 14, 13 ख एवं धारा 13(1)(पक) को एक साथ निर्वचन करने पर धारा-13ख(2) में दिये गये। छः महीने का प्रावधान आज्ञात्मक नहीं बल्कि निर्देशात्मक है, विशेष परिस्थितियों में सिविल न्यायालय एवं उच्च न्यायालय दोनों, इस प्रावधान के अंतर्गत दोनों पक्षकारों को छूट प्रदान कर सकते हैं। जो "न्याय के प्रयोजन" के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। (4) 'विवाह के असुधार्य रूप से भंग' के आधार पर केवल माननीय उच्चतम न्यायालय, अनु.-142 के अंतर्गत, पक्षकारों को विवाह विच्छेद की डिक्री प्रदान कर सकता है, यह "समान न्याय की अवधारणा" के साथ भद्दा मजाक है, ऐसा लगता है कि माननीय उच्चतम् न्यायालय "पूर्ण न्याय" की अवधारणा का अतिक्रमण कर रही है और यह पूर्ण न्याय की अवधारणा, के क्षीण आवरण में, विधायी कृत्य का अपहरण है। क्योंकि अनुच्छेद-136 के अंतर्गत "अन्याय के निवारण के लिए" माननीय उच्चतम् न्यायालय पक्षकारों के साथ न्याय कर सकती है, साथ ही साथ माननीय उच्च न्यायालय और सिविल न्यायालय भी "न्याय के पूर्ति" के उद्देश्य के लिए कर सकती है। यही हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अंतर्गत "विधायिका का आशय" है। इसलिए "विवाह के असुधार्य भंग" के आधार पर विवाह विच्छेद के लिए विधायिका को कानून बनाने का कोई औचित्य दृष्टिगत नहीं होता है।

संदर्भ

1. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955
   (1881) 6 AC 364
2. पी. एन. राव बनाम गुजरात राज्य, IR 2014 SC 331
3. AIR 2014 SC 309
4. AIR 1929 PC 135
5. (2008) 4 SCC 520
6. (2010) 2 me-fu-i- 35
7. (2001) 4 SCC 250
8. (1993) Sup. 2 SCC 588
9. (1996) 8 SCC 90
10. (2004) 1 SCC 123
11. (2007) 2 SCC 220
12. (2010) 1 me-fu-i- 216
13. (2010) 2 me-fu-i- 1
14. (2010) 3 me-fu-i- 73
15. (2023) 2 SCCD 1044 (SC)
16. IR 1963 SC 996
17. AIR 1998 SC 1895
18. (2009) 10 SCC 425
19. (2020) 1 SCC 1
20. (2023) 2 SCCD 1044 (SC)
21. (1995) 2 SCC 728

–डॉ. चन्द्र भूषण मिश्र
सहायक प्राध्यापक,
लॉ कॉलेज, शहडोल

उत्तराखण्ड की संस्कृति के विभिन्न आयाम विशेषतः तीसरी सदी ई. पू. के संदर्भ में

—ललित सिंह

उत्तराखण्ड भारत का एक उत्तरी राज्य है। राज्य गठन के क्रम में उत्तराखण्ड भारत का 26वाँ और हिमालयी क्षेत्र का 10वाँ राज्य है। वर्तमान में उत्तराखण्ड को देवभूमि के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि यहाँ पर हिन्दू देवी-देवताओं के कई सारे मंदिर स्थित हैं। उत्तराखण्ड राज्य को दो हिस्सों गढ़वाल और कुमाऊं में बाँटा गया है। भारत की संसद द्वारा 01 अक्टूबर, 2019 से 'जम्मू और कश्मीर' राज्य को दो केन्द्र शासित प्रदेशों के रूप में 'जम्मू और कश्मीर' और 'लद्दाख' में बदलने से पहले, उत्तराखण्ड भारत का 27 वाँ और हिमालयी क्षेत्र का 11वाँ राज्य था। उत्तराखण्ड राज्य की स्थापना 9 नवम्बर, 2000 को उत्तर प्रदेश राज्य से अलग होकर हुई। उत्तराखण्ड का नाम पहले उत्तराँचल था। 1 जनवरी, 2007 को इसका नाम बदल कर उत्तराखण्ड कर दिया गया। उत्तराखण्ड के पूर्व में नेपाल, पश्चिम में हिमाचल, उत्तर में तिब्बत और दक्षिण में उत्तर प्रदेश स्थित हैं। उत्तराखण्ड की राजधानी देहरादून (ग्रीष्मकालीन राजधानी 'गैरसैण') है, देहरादून क्षेत्रफल की दृष्टि से उत्तराखण्ड राज्य का सबसे बड़ा शहर है। भौगोलिक संरचना की दृष्टि से देखें तो यह भारत का अब 26 वाँ राज्य है, जो क्षेत्रफल दृष्टि से भारत का 18 वाँ राज्य है। उत्तराखंड का इतिहास पौराणिक काल जितना पुराना है। उत्तराखण्ड का उल्लेख प्रारम्भिक हिन्दू ग्रंथों में मिलता है, जहाँ पर केदारखंड (वर्तमान गढ़वाल) और मानस खंड (वर्तमान कुमांऊ) का जिक्र किया गया है। वर्तमान में इसे देवभूमि के नाम से भी जाना जाता है। लोक कथाओं के आधार पर पाण्डव यहाँ पर आये थे और महाभारत और रामायण की रचना यहीं पर हुई थी। प्राचीन काल से यहाँ मानव निवास के प्रमाण मिलने की पुष्टि होती है। यहाँ की सौन्दर्यमय घाटियाँ, प्राकृतिक वनस्पतियों से समृद्ध पर्वत, जल से भरपूर नदियों शांतिपूर्ण वातावरण, शुद्ध, वायु, जल की प्रचुरता आदि मानव को अपना यहाँ आवास बनाने के लिए सदियों से आकर्षित करती रही होगी। आज उत्तराखण्ड दो मंडलों में सिमट के रह गया है, लेकिन उत्तराखण्ड कत्यूरी, चन्द राजवंशों, मौर्यों, पवारों, गोरखाराज और अंग्रेजों के शासनाधीन रहा है। महापाषाणीय शवाधान तथा अनेक प्रजातियों वह राजवंशों का अस्तित्व वर्तमान समय में यहाँ पाया जाता है। इन प्रजातियों का उल्लेख अनेक पुराग्रंथों में यथा वेद, महाभारत, पुराण, रामायण व अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों में पर्याप्त मिलता है। उत्तराखण्ड का इतिहास क्षेत्र के गौरवशाली अतीत को बताता है। उत्तराखंड की उत्पत्ति और विकास का एक लंबा इतिहास रहा है; जो कि यहाँ के राजवशों, प्रजातियों और जाति के अस्तित्व वह इतिहास को उजागर करता है। कुणिन्द राजवंश प्राचीन हिमालय, उत्तराखंड और उत्तर भारत में सबसे पहले शासन करने वाली जाति थी, उत्तराखण्ड के पहाड़ी क्षेत्रों में तीसरी-चौथी ई तक इनका शासन था। कुणिन्दों का साम्राज्य मूलतः गंगा, यमुना के उपजाऊ क्षेत्र के आस-पास था और तत्कालीन समय में कुणिन्द लोग मौर्यों साम्राज्य के अधीन थे। अतः मेरे द्वारा इस शोध पत्र में उत्तराखण्ड की संस्कृति के विभिन्न आयाम विशेषतः तीसरी सदी ई.पू. के संदर्भ में शोध शीर्षक के अन्तर्गत प्राथमिक, द्वितीयक और अभिलेखीय साक्ष्यों का वृहद् अध्ययन और विश्लेषण करके प्रस्तुत किया जायेगा।

कुंजी शब्द— उत्तराखण्ड, संस्कृति, विभन्न आयाम, औषधीय

प्रस्तावना : सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और सम्राट अशोक महान के राज्यकाल में उत्तराखण्ड मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। बिन्दुसार के राज्यकाल में खानदेश में विद्रोह हुआ था, जिसे सम्राट अशोक ने शान्त कर दिया था। मौर्य साम्राज्य में उत्तराखण्ड— जैसे बीहड प्रदेश का शासन, सम्भवतः स्थानीय सामन्तों के द्वारा होता था। उन दिनों यदि किसी स्थानीय सामन्त की राजभक्ति सन्देहास्पद बन जाती थी तो उसे हटाकर, उसके किसी सम्बन्धी के हाथ में स्थानीय शासन सौंप देने की प्रथा थी। शुंगकाल में तथा उसके पश्चात् भी यह प्रथा बनी रही। इससे अनुमान लगता है कि हिमाचल उत्तराखण्ड का शासन सम्भवतः पूर्ववत् कुणिन्द-सामन्तों के द्वारा होता था। सम्राट अशोक महान की मृत्यु के पश्चात् वे स्वतन्त्र हो गए। उत्तराखण्ड की दक्षिणी पर्वतीय ढालों पर बसे खश शस्त्रोपजीवी बड़े प्रबल थे। उत्तरी भागों में किरात जाति का बाहुल्य था। मेगस्थनीज के अनुसार गंगाजी के स्त्रोत प्रदेश के किरात चपटी नाक के कारण बिना मुंहवाले दिखाई देते थे। इनमें से कुछ व्यक्ति चन्द्रगुप्त के शिविर में लाए गए थे। वे बड़े भद्रपुरुष थे। किन्तु

उनके मुंह नहीं थे। वे भूने हुए मांस की गन्ध तथा फल-फूलों पर ही निर्वाह करते थे। नाक को ही मुंह के रूप में प्रयुक्त करने के कारण उनके शरीर से बड़ी दुर्गन्ध आती थी। फल-फूलों की सुगन्ध के अभाव में उन्हें अपने प्रदेश से दूर, विशेषकर शिविर में, जीवित रहना अति कठिन था। जीवन की आवश्यकताएं कम थी। लोग सीधे-साधे और संतोषी थे। कृषि और पशुचारण पर आजीविका निर्भर थी। कन्द-मूल-फलादि का भोजन में महत्त्वपूर्ण स्थान था, शिक्षा का प्रचार था अन्यथा शिलालेखों को खुदवाना व्यर्थ होता। जनता को शिलालेख पढ़कर सुनाने के लिए नियुक्त अधिकारियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। धार्मिक महत्व के स्थानों पर समाज-उत्सव मनाने की प्रथा थी। कालसी, उत्तराखण्ड में महत्वपूर्ण स्थान था। वहाँ समाज-उत्सव मनाये जाते थे और यक्षणी आदि की पूजा की जाती थीं। वन के निकट स्थित उस प्रदेश में लोग आखेट भी खेलते थे। मांस खाने की सार्वभौम प्रथा थी। पशुओं में हरिण का, तथा पक्षियों में मोर का मांस विशेष स्वादिष्ट समझा जाता था। समृद्ध व्यक्तियों के बड़े परिवारों में प्रतिदिन अनेक पशु-पक्षी भोजन-हेतु मारे जाते थे। सम्राट और राजप्रसाद के कर्मचारियों के लिए प्रतिदिन मारे जाने वाले पशु-पक्षियों की संख्या कई सहस्र तक पहुँचती थी। यद्यपि समाज में पशुपालन मारने वाले व्याधों तथा पक्षी पकड़ने वाले बहेलियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। फिर भी जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण अंश मांस के लिए पशु पालने, बनैले पशु मारने तथा पक्षियों को पकड़ने या मारने से अपना निर्वाह करता था। आखेट मनोरंजन का प्रमुख साधन था। उसमें साहस और शक्ति प्रदर्शित करने के अवसर मिलते थे तथा भोजन के लिए ताजा मांस प्राप्त होता था। राजा लोग जब विहार-यात्रा करते थे तो आमोद-प्रमोद तथा आखेट रचे जाते थे।

विवाह तथा पुत्र जन्म आदि के अवसरों पर मंगलाचार किए जाते थे। प्रवास पर जाते समय, अनिष्ट निवारण और सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए भी मंगलाचार की सार्वभौम प्रथा थीं नारियाँ, विशेषकर, माताएँ, ऐसे मंगलाचारों में प्रमुख भाग लेती थीं। विश्वास था कि मंगलाचार के आगन्तुक रोगों और कष्टों को रोका जा सकता है। शिव, स्कन्द, विशाख आदि देवी-देवताओं, मातृ-देवियों, यक्ष, रक्ष और नागों की पूजा का सार्वभौम प्रचार था। परवर्ती मौर्यनरेश इनकी मूर्तियाँ ढलवाकर बेचते थे। पतंजलि ने इन हिरण्यार्थी मौर्यों की पोल खोली है। कृषि और पशुचारण के अतिरिक्त आजीविका के कुछ अन्य साधन भी थे। कौटिल्य ने उत्तर के मलेच्छों से प्राप्त होने वाले उत्तम कम्बलों और चर्मों का उल्लेख किया है। साम्राज्य की सीमा ईरान और अफगानिस्तान तक फैल जाने के कारण उत्तर भारत में पश्चिम से आने वाले उत्तम एवं बहुमूल्य अश्वों का प्रचार बढ़ गया था। जातकों में पश्चिम से आने वाले अनेक अश्व व्यापारियों का उल्लेख मिलता है। सारे देश में सुरक्षा और सुव्यवस्था की स्थापना हो जाने पर व्यापार और आवागमन में बड़ी वृद्धि हो गई थी। इसलिए ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों की यात्रा और भारवाहन के लिए उत्तराखण्ड के भारद्वाज और टांकण अश्वों की मांग पूर्ववत चली आती थी। पर्वताश्रयी आयुधजीवियों की, जिन्हें कौटिल्य ने शस्त्रोपजीवी कहा है, मौर्य साम्राज्य में बड़ी मांग थी। हट्टे-कट्टे खाश-कनैत मौर्य सेना में बड़ी संख्या में भरती होते थे। साम्राज्य के विभिन्न भागों में, विद्रोहों का दमन करने के लिए तथा नवीन प्रदेश जीतने के लिए उनका प्रयोग होता था। चन्द्रगुप्त को मगध का सिंहासन दिलाने में खाश-वीरों का प्रमुख हाथ था। मौर्य सेना के अग्रिम दल के कोशार या खस सैनिकों ने अति प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

उत्तराखण्ड के गंगा जल की उन दिनों बड़ी मांग थी। सम्राट अशोक की गंगा स्रोत के पुनीत गंगाजल के प्रति असीम श्रद्धा थी। महावंश के अनुसार उसके लिए देवता प्रतिदिन मानसरोवर से आठ बहगी पुनीत गंगाजल लाते थे। राजा अशोक इस जल को अपने प्रिय व्यक्तियों में बाँटते थे। वे प्रतिदिन चार बहगी जल संघ को, एक त्रिपिटकधारी साठ स्थविरों को तथा एक संघमित्र को देकर शेष दो बहगी गंगाजल अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए उत्तराखण्ड के पावन गंगाजल की जितनी मांग थी, उतनी ही मांग शारीरिक स्वस्थता के लिए उत्तराखण्ड की जड़ी-बूटियों की थी। महावंश के अनुसार हिमालय के देवता प्रतिदिन नागलता की सहस्रों दातुन, आँवला, हरीतिकी आदि औषधियाँ तथा सुन्दर वर्ण (रग, रस और गन्ध वाले आमों को लेकर सम्राट अशोक के पास पहुंचते थे। निश्चय ही हिमालय के ये देवता भांग और ऊन की गातियाँ लपेटे पाटलिपुत्र पहुँचे होंगे। महावंश के पूर्वोक्त उद्धरणों से विदित होता है कि उत्तराखण्ड के कतिपय निवासी शीतकाल में, उत्तर भारत में, दूर-दूर तक पहुँच कर, गंगाजल और औषधियों का विक्रय करते थे। सम्राट अशोक ने देश के विभिन्न भागों में तथा पड़ोसी देशों में भी मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालयों की स्थापना की थी। इन चिकित्सालयों में मुख्यतः हिमालय की जड़ी-बूटियों का प्रयोग होता था। दुर्गम पर्वतीय ढालों से जड़ी बूटियों को एकत्रित करके किरातादि बनेचर जातियाँ उन्हें स्थानीय बाजारों में बेचती थीं, जहाँ से वे देश के समस्त भागों में पहुंचाई जाती थीं। कालकूट-सम्राट अशोक ने अपने साम्राज्य के सुदूरस्थ प्रान्तों के मुख्यालयों में अपने चौदह वृहत शिलालेखों वाली शिलाओं की स्थापना की थी। इन शिलाओं में से एक को कुलिन्द जनपद के मुख्यालय, टोंस और यमुना को संगम पर स्थित, कालकूट में भी लगाया गया

था। पाणिनि के समय भी कुलिन्द जनपद का मुख्यालय कालकूट में था। कालकूट का निकटवर्ती प्रदेश उन दिनों घना बसा था। उसके निकट पड़ोस में शिक्षा का संतोषजनक प्रचार था। कालसी से दक्षिण में यमुना के पश्चिमी तट पर सुधनगर में अशोक ने एक स्तूप की स्थापना की थी जिसे सातवीं शती में ह्वेनसांग ने भी देखा था। भाबर प्रदेश में घनी बस्तियाँ थीं। गंगाद्वार-अहोगंग से पश्चिम की और कालकूट-सुधनगर को तथा पूर्व की और गोविशाण- अहिच्छत्र को व्यापारिक मार्ग पर्वत की तलहटी में चलते थे। सम्राट अशोक ने गोविशाण और अहिच्छत्र, दोनों में स्तूप बनाए थे। सातवीं सदी में इन्हें भी चीनी यात्री ह्वेनसांग ने देखा था। मगध साम्राज्य (तीसरी सदी ई. पू.) के उत्थान से पूर्व हमारा देश अनेक छोटे-बड़े जनपदों में बंटा था जिनके मध्य नदी, पर्वत, वन या मरूभूमि आदि द्वारा सीमा निर्धारित होती थी। जनपदों में से कुछ एकराज थे। कुछ गण या संघ। गण या संघ का शासन उस जनपद सभा और परिषद् के परामर्श के अनुसार जनपद का शासन करते थे। पौराणिक पुरावृत्त में अनेक सार्वभौम या चक्रवर्ती नरेशों का उल्लेख मिलता है, जो हिमालय से लेकर समुद्र तक विस्तृत सारी पृथ्वी या जम्बूद्वीप को अपनी विजय का लक्ष्य बनाते थे। अनेक विजेता उत्तराखण्ड की पुनीतभूमि में कैलास, गन्ध मादन, बिन्दुसर और गंगाजी के स्रोत प्रदेश तक अपनी राज्य सीमा पहुँचाने की लालसा रखते थे। प्रायः इन नरेशों की दिग्विजय से जनपदों के अस्तित्व का लोप नहीं होता था। युधिष्ठिर की दिग्विजय से समकालीन जनपदों के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आया था। जैसा कि उन जनपदों के द्वारा महाभारत समर के भाग लेने से स्पष्ट है। महासमर के पश्चात् भी जनपद उसी प्रकार बने रहे। प्रायः दिग्विजयी नरेश विजित जनपद से उपायनादि लेकर ही संतुष्ट हो जाते थे।

संदर्भ

1. स्मिथ, विन्सेट (1920), द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया : फ्रॉम द अर्लीएस्ट टाइम्स टू द एंड आफ 1911, क्लेरेन्डर प्रेस, पी. पी. 104-106
2. चौधरी, एच. सी. (1996), पॉलिटिकिल हिस्ट्री ऑफ एनशिएंट इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
3. ट्राउटमैन, टामस आर.(1971), कौटिल्य एंड दि अर्थशास्त्र, लाइडेन
4. थापर, रोमिला (1961), अशोक एंड दि डिक्लाइन आफ दि मौर्याज, प्रथम प्रकाशन आक्सफर्ड, पृ. 200
5. शर्मा, आर. एस., (1980), शुद्र इन एनशिएंट इंडिया, दिल्ली
6. चौधरी, एच. सी. राय (1988) एवं शास्त्री, के. ए. नीलकंठ (1967), नंदों के युग में भारत, नंदों और मौर्यों की आयु, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
7. मुखर्जी, आर. के., चन्द्रगुप्त मौर्य और हिज टाइम्स, मोतीलाल बनारसी दास
8. गीगर, डब्ल्यू (1908), महावंश, लंदन
9. मजूमदार, आर. सी. (2003) (1952), प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसी दास
10. मुखर्जी, बी. एन. (1984), स्टडीज इन आरामाइक एडिकट्स आफ अशोक, कलकत्ता
11. सिंह, उपिंदर (2008), प्राचीन और प्रारंभक मध्य कालीन भारत का इतिहास : पाषाण युग से 12वीं शताब्दी तक, पियर्सन
12. झा, द्विजेंद्रनारायण (2000), प्राचीन भारत (सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल), श्याम बिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया), लक्ष्मीनारायण दिल्ली-110052, पृ. 104-25
13. डॉ. नागोरी, एस. एल., श्रीमती नागोरी, कान्ता 'प्राचीन भारत का वृहत् इतिहास (भारतीय इतिहास का वैदिक युग), व्यास बिल्डिंग, एस.एम.एस., हाईवे, जयपुर, पृ. 133-55
14. भंडारकर, डी. आर. (1925), अशोक, कलकत्ता।
15. बरुआ, बी. एम. (1948), अशोक एंड हिज इंस्क्रिप्शंस', कलकत्ता
16. मजूमदार, प्रभात कुमार, भारत के प्राचीन अभिलेख, विश्वभारती पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, पृ. 1-99
17. कॉनिंघम, रॉबिन, यंग, रुथ (2015), द आर्कियोलॉजी आफ साउथ एशिया : फ्रॉम द इंडस टू अशोक, सी. 6500 ई.पू. 200, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 453
18. डबराल, शिव प्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास (भाग-3), ई. पू.पांचवी शती से तेरहवीं शती वि. तक, वीर गाथा प्रकाशन, दोगड़ा, गढ़वाल, पृ. सं. 106-11
19. रैप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि.-1, पृ. 641

–ललित सिंह

शोधार्थी (इतिहास), डी. ए. वी. (पी. जी.) कॉलेज, देहरादून

असुर आदिवासियों की जिजीविषा

(रणेन्द्र कृत उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' के संदर्भ में)

—सौरभ कुमार
—डॉ. जगदीश सौरभ

शोधसार— वर्ष 2009 में प्रकाशित रणेन्द्र कृत उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' भूमंडलीकरण के दौर में विलुप्ति के कगार पर खड़ी एक प्राचीन आदिवासी समुदाय 'असुर' आदिम जनजाति की करुण कहानी है। इस उपन्यास के माध्यम से रणेन्द्र आदिवासी जीवन, समाज और वर्तमान समय में उनके संकट की पहचान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वैश्वीकरण के कारण आदिवासी समाज, विशेषकर आदिम जनजाति पर क्या प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है, उस पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयास किया गया है। उपन्यास का शीर्षक ही इस बात का संकेत दे देता है कि असुरों के लिए भूमंडलीकरण के दौर का संघर्षशील प्राचीन समय से लगातार चलते आ रहे संघर्षशील जीवन की अगली कड़ी मात्र है। आधुनिक समय में संकट उनके सामने रूप बदल कर और भयावह रूप से टकरा रहा है। प्रस्तुत अध्ययन में अपने संघर्षशील जीवन में अपनी समस्याओं से बार-बार लोहा लेते, बिखरते और पुनः उसी जोश के साथ खड़े होते असुरों की कभी न खत्म होने वाली जिजीविषा को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। लोहा पिघलाने वाली सबसे प्राचीन जाति, भट्ठी में तपते लोहे की भांति प्राचीन काल से ही अत्याचार को झेलते, अपनी परंपरा, रीति-रिवाज, अपनी संस्कृति तथा अपने अस्तित्व एवं अपनी अस्मिता की रक्षा करते असुरों की जिजीविषा को रणेन्द्र ने किस प्रकार अभिव्यक्त किया है, इस शोध में उसे रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

बीजशब्द- *असुर, आदिवासी, जनजाति, संघर्ष, जिजीविषा, वैश्वीकरण, अंधविश्वास*

झारखंड में कुल 32 जनजातियाँ हैं। इनमें से 8 जनजातियों को अति प्राचीन जीवन पद्धति, स्थिर जनसंख्या और शिक्षा के निम्न स्तर के कारण आदिम जनजाति या विशेष जनजाति की श्रेणी में रखा गया है। 'असुर' जनजाति उनमें से एक है। असुर जनजाति की ज्यादातर जनसंख्या मुख्यतः झारखंड में रहती है तथा आंशिक रूप से पश्चिम बंगाल तथा उड़ीसा में भी हैं। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में असुर जनजाति की जनसंख्या मात्र 10712 है उनमें से 7783 झारखंड में रहते हैं। नेतरहाट असुर बाहुल्य क्षेत्र है। इस इलाके में बॉक्साइट खनन के कारण उन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बॉक्साइट खनन के लिए अपनी जमीन और साथ ही अपनी आजीविका गवां देने के कारण उनका अस्तित्व संकटग्रस्त है। रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' इसी केन्द्रीय समस्या को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास में रणेन्द्र वैश्वीकरण से उपजी समस्याओं यथा—पलायन, विस्थापन, आजीविका का क्षरण आदि पर प्रकाश डालते ही हैं, साथ ही उन बातों पर भी नजर दौड़ाते हैं जिससे असुर आदिवासियों की पहचान धूमिल होती है। पौराणिक कथाओं के अनुसार सुर-असुर संघर्ष के बाद अपनी संस्कृति की रक्षा करते, अपने अस्तित्व और पहचान के लिए भटकते असुरों नें पाट क्षेत्र में पनाह लिया। बीसवीं सदी में वैश्वीकरण ने यहाँ भी इनका पीछा किया और अस्तित्व के ऐसे गहरे संकट में डाल दिया कि यह जनसंख्या अब विलुप्ति के कगार पर खड़ी है। ''जो लड़ाई वैदिक युग में शुरु हुई थी, हजार-हजार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था।''[1] प्राचीन काल में देवासुर संग्राम के साथ असुरों के कभी न खत्म होने वाले संघर्षों की शुरुआत हुई जो आज तक जारी है। लगातार संघर्षों का सामना करती हुई लोहा पिघलाने वाली जाति आज भी उसी मजबूती के साथ विकट परिस्थितियों और समस्याओं का सामना कर रही है। रणेन्द्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' में असुरों की इसी संघर्षशील चरित्र और उनकी कभी न हार मानने वाली प्रवृत्ति को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

आज के समय में असुर समुदाय के लोग अपने आप को पौराणिक असुरों का ही वंशज मानते हैं। असुरों के बारे में गैर-आदिवासी समाज की धारणा आज भी वही है जैसा मिथकों में बताया गया है। दस-बारह फुट लंबे, दांत बाहर, हाथों मे तरह तरह के हथियार, नरभक्षी, शक्तिशाली। यह चारित्रिक गिरावट देवासुर संग्राम में पराजय का परिणाम है। युद्ध में

जो विजयी होते हैं उनके कवि-कथाकार हमेशा पराजित जाति को अन्यायी,अत्याचारी, खूंखार आदि बताने का प्रयास करती ही है। रणेन्द्र कहते हैं—''असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दांत-वांत निकले हुए, माथे पर सींग-वींग लगे हुए लोग होंगे। लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रही थीं।''[2] रणेन्द्र ने रुमझूम के साथ संवाद के माध्यम से असुरों के बारे में बताने की कोशिश की है। देवासुर संघर्ष के कारणों पर कई-कई व्याख्याएं हैं जिसपर रणेन्द्र नजर डालते हैं।

कई इतिहासकार यह मानते हैं कि भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता सिंधु सभ्यता के प्रतिष्ठापक असुर आदिवासी ही थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से इनका संबंध स्वीकार किया जाता है। बाद मे असुरों के विकसित साम्राज्य का अंत आर्यों के साथ संघर्ष में हुआ। श्रीरंग अपनी पुस्तक 'असुर आदिवासी' में कहते है—''असुर राजाओं का देवी देवताओं से युद्ध कोई पराशाक्तियों का युद्ध नहीं था। बल्कि धरती पर आर्य-अनार्य अथवा सुर-असुर जाति का राजनैतिक संघर्ष था।''[3] प्राचीन काल में सुर और असुर संघर्ष में न केवल असुर साम्राज्य का नाश हुआ बल्कि असुरों की संस्कृति का भी ह्रास हुआ। उनकी सांस्कृतिक हत्या हुई। मानवशास्त्री, पुरातत्ववेत्ता, इतिहास, जनश्रुति सबकी अनदेखी कर असुरों की विकसित संस्कृति को ठुकराने का प्रयास किया गया। बहुसंख्यक समाज ने हमेशा असुरों को 'अन्य' की श्रेणी में रखा। 'अन्य' मतलब एक शत्रु, हत्या योग्य, गालियां देने योग्य। रणेन्द्र कहते हैं, ''छाती ठोंक-ठोंककर अपने को अत्यंत सहिष्णु और उदार कहने वाली हिन्दुस्तानी संस्कृति ने असुरों के लिए इतनी भी जगह नहीं छोड़ी थी। वे उनके लिए बस मिथकों में शेष थे। कोई साहित्य नहीं, कोई इतिहास नहीं, कोई अजायबघर नहीं। विनाश की कहानियों के कहीं कोई संकेत मात्र भी नहीं।''[4] हजारों सालों से पीछे हटते अपनी संस्कृति बचाते-बचाते असुर इस पाट पर आ गए। परंतु, नष्ट करने की प्रक्रिया अभी भी जारी है।

अंधविश्वास एक ऐसी समस्या है जो आदिवासी समुदाय के भीतर गहरी पैठ बनाए हुए है। असुर समुदाय भी इससे बचा नहीं है। इसलिए अंधविश्वास में डूबे हुए अपने ही समाज से संघर्ष की चिंता हमेशा बनी रहती है।

अंधविश्वास के कारण असली समस्या की पहचान कर पाना कठिन हो जाता है क्योंकि वह समाज किसी भी समस्या को अपनी नियति मान लेता है। लालचन असुर के चाचा की बलि को इसी अंधविश्वास के दायरे मे रखकर देखा जाता है जबकि असली कारण यह है कि इलाके के बाहुबलियों की नजर असुरों की धनहर खेती के जमीनों पर होती है। लालचन असुर के चाचा के 5 एकड़ धनहर खेत पर गोनू सिंह के खानदान की नजर कब से थी और वह इसे बेचने का दबाव भी बना चुका था। अंधविश्वास मे डूबे असुर समुदाय के भोलेपन का फायदा शिवदास बाबा जैसे लोग उठाते हैं और चैरिटी के नाम पर अपना धंधा चलाते हैं। शिवदास बाबा के कारण में आए भगतों को दो चीजों से परहेज करना था—एक घर में कोई भी काले जानवरों को नहीं रखना था और दूसरा, माँस-मछली का त्याग करना था। काले जानवर इनके आमदनी थे और माँस-मछली प्रोटीन के एकमात्र स्रोत। लेकिन ''वे यह समझने के लिए तैयार नहीं थे कि ये गाय-गोरू, मुर्गी, सूअर केवल पशु नहीं, बल्कि उनकी जमा-पूंजी थे, घरेलू बैंक के पासबुक। हारी-बीमारी, शादी-ब्याह, अन्य प्रयोजनों में यही काम आते हैं। किन्तु शिवदास बाबा के एक चमत्कार ने इन घरेलू बैंकों को एक झटके में दिवालिया कर दिया और मजे की बात तो यह कि इन्हें खबर तक नहीं हुई।''[5]

असुर आदिवासी जिन समस्याओं से जूझ रहे थे वह सिर्फ इनकी समस्या नहीं थी। भारत और दुनिया के लगभग हर क्षेत्र में मूलनिवासियों की यही स्थिति है। रणेन्द्र असुर आदिवासियों के संघर्षों की तुलना अमेरिका के रेड इंडियंस से करते हैं। वहाँ पर आदिवासियों के साथ हुए बर्बरता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि अमेरिका के मैसाच्यूट्स के एक जनजातीय समुदाय का राजा मैटकोम अपने इलाके में एक सामूहिक नृत्य का आयोजन करता है। अंग्रेज इसे युद्ध पूर्व की चेतावनी समझ कर उन पर हमला कर देते हैं। ''राजा मैटकोम का सिर काटा गया और इसे सार्वजनिक स्थान पर लटका दिया गया, जहां वह सिर बीस वर्षों तक लटककर मूल निवासियों में भय का संचार करता रहा। राजा मैटकोम का कटा सिर और चाचा का कटा सिर आपस में गड्मड् हो गए।''[6] दोनों जगह आदिवासियों के साथ बर्बरता हुई। तेजी से उनका निर्ममता पूर्वक सफाया किया गया या किया जा रहा है। एक बाहरी साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा और दूसरा भीतरी विस्तारवादी ताकतों द्वारा।

वैश्वीकरण के दौर में खनिज खनन के लिए आए मल्टी नैशनल कंपनियों ने आदिवासी समुदाय को नुकसान तो पहुंचाया ही, उनकी जगह संकुचित हो गई, उनकी आजीविका छिन गई, लेकिन इनके इलाके में अवैध खनन से सबसे ज्यादा नुकसान आसपास के असुरों का ही होता है। ये ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे, बड़ी कंपनियों की चालाकियाँ नहीं समझ पाते थे और दूसरी बात यह थी कि प्रशासनिक अधिकारियों की संलिप्तता के कारण कंपनियों पर किसी तरह की कार्यवाही भी नहीं होती थी। ''छोटे-बड़े सभी खदान मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर काम, वन विभाग, गैरमजरुआ जमीन, असुर रैयत की जमीन से ज्यादा खनन किया करते। अवैध खनन खुलेआम और वर्षों से जारी था।''[7] अब यहाँ एक बार फिर रेड

इंडियंस का संदर्भ प्रासंगिक हो जाता है। रेड इंडियंस का संदर्भ लेकर रुमझूम असुरों की स्थिति समझाने का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार अमेरिका में जनजातीय प्रधानों को बहला फुसलाकर, उपहार देकर उनकी जमीन हड़पी गई उसी प्रकार असुरों के साथ भी किया जा रहा है। जहां इससे काम नहीं चलता वहाँ शक्ति का प्रयोग किया जाता है और अब भूमि हड़पो अभियान राज्य नीति में तब्दील हो गया है। अरुंधति रॉय कहती हैं कि भारतीय संविधान ने राज्य को जनजातियों की भूमि का संरक्षक बना दिया। उन्हें मतदान का अधिकार देकर उनसे आजीविका छीन ली। ''रातों-रात उसने पूरी जन-जातीय आबादी को अपनी ही भूमि का अतिक्रमण करने वालों में तब्दील कर दिया। उसने उन्हें वनों से प्राप्त होने वाली उपज के पारंपारिक अधिकार से वंचित कर दिया और पूरी जीवन-शैली का अपराधीकरण कर दिया।''[8] रमेश शरण कहते हैं—''बीसवीं शताब्दी के शुरुआत में देश मे विकास की नई रणनीति बनी। इसके लिए बहुत बड़े पैमाने पर भूमि का अधिग्रहण हुआ। झारखंड जैसे क्षेत्र में जहां खनिज की बहुलता थी, बड़े पैमाने पर औद्योगीकीकरण की योजनायें बनी। नेहरू जी ने इसे भारत के नए मंदिरों की संज्ञा दी। ऐसा भी कहा गया कि देश हित में विस्थापन रूपी बलिदान आवश्यक है।''[9]

असुर आदिवासियों का इलाका इतना सिमटता जा रहा है कि जीवित रहने भर के लिए अनाज उगा पाना संभव नहीं है। इसलिए भुखमरी की समस्या उत्पन्न हो रही है। भूख और गरीबी ने इन्हें अंदर से खोखला कर दिया है। इनकी सामाजिक व्यवस्था भरभरा गई है। देश में घुमन्तु जनजातियों के संदर्भ में वासवी कहते हैं—''आज भी बहुत सारे आदिवासी समूह भोजन-संग्रह की तलाश में घूमते रहते हैं। ये घुमंतू आदिवासी जंगलों से आजीविका तलाशते हैं। वे देश के पश्चिमी घाटों के पर्वतों और जंगलों में अपनी अस्तित्व की रक्षा के लिए भटकते हैं।''[10] असुर आदिवासी भी इसी तरह अपनी संस्कृति बचाते, अपने अस्तित्व की रक्षा करते, आजीविका तलाशते इस पाट पर आकर बसे थे। वैश्वीकरण के दौर में आर्थिक प्रगति के नाम पर इन्हें इस पाट क्षेत्र से भी विस्थापित किया जा रहा है। कमाए हुए धन का नगण्य हिस्सा इनके विकास पर खर्च कर दिया जाता है लेकिन वह भी इनके शोषण की भरपाई नहीं कर सकती। ''अगर कैंसर अस्पताल है तो कहीं न कहीं छापते शिखर वाला बॉक्साइट का पर्वत भी अवश्य होगा।''[11] इनके जमीनों से ही आर्थिक प्रगति कर, धन दौलत इकट्ठा कर इनके लिए नई नई बीमारियां परोसी जाती हैं। खदान कंपनियों द्वारा अग्रीमेंट की शर्तों का पालन नहीं किया जाता। बार-बार सुरक्षा मापदंडों का उल्लंघन किया जाता है। ''पच्चीस-तीस सालों में खान-मालिकों ने जो बड़े बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते लगते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी।''[12]

आदिवासियों में हमेशा से प्रकृति के साथ साहचर्य का भाव रहा है। इनके यहाँ जंगल, नदी-झरने, जानवर, इंसान सब साथ-साथ जीवन यापन करते हैं। पाश्चात्य, भारतीय, मार्क्सवादी, दलित आदि सभी दर्शन के केंद्र में मनुष्य-मनुष्यता है, जबकि आदिवासी दर्शन एकमात्र ऐसा दर्शन है जो प्रकृति को श्रेष्ठ मानता है। इसके अनुसार, ''सृष्टि सर्वोच्च नियामक सत्ता है। सम्पूर्ण सजीव और निर्जीव-जगत तथा प्रकृति-सबका अस्तित्व एक समान है। मनुष्य का धरती, प्रकृति और सृष्टि के साथ सहजीवी संबंध है।''[13] आदिवासी समुदाय प्रकृति पूजक समाज रहा है। यहाँ जीव-जन्तु, कीट-पतंगों को भी अलग नहीं समझा जाता है। यहाँ 'अन्य' की अवधारणा नहीं है। शुरुआत से ही आदिवासी समाज प्रकृति के साथ तादात्म्य बैठाकर चलता आया है। प्रकृति की रक्षा के लिए संघर्ष करते आया है। लेकिन अब प्रकृति बचाने के नाम पर उनका ही विस्थापन किया जा रहा है।

संदर्भ

1. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा सं, 2021, पृ. 100, 2. वही, पृ. 11
3. श्रीरंग, असुर आदिवासी, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, प्रथम संस्करण, 2020, पृ. 11
4. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा सं., 2021, पृ. 33, 5. वही, पृ. 58
6. वही, पृ. 38, 7. वही, पृ. 27
8. अरूंधति रॉय, (अनुवाद-नीलाभ), भूमकाल कॉमरेडों के साथ, राजकमल पेपरबैक्स, 2015, पृ. 13
9. सुधीर पाल (सं.), झारखंड एनसाइक्लोपीडिया, खंड-3 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 220
10. रमणिका गुप्ता (सं.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2019, पृ. 62
11. अरुंधति रॉय, (अनुवाद—नीलाभ), भूमकाल कामरेडों के साथ, राजकमल पेपरबैक्स, 2015, पृ. 19
12. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2021, पृ. 13
13. वंदना टेटे, वाचिकता, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2020, पृ. 16

—सौरभ कुमार
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय

—डॉ. जगदीश सौरभ
शोध निर्देशक, हिन्दी विभाग,
झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय

नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्रियों की सामाजिक चेतना

—राम कुमार
—डॉ. मंजुला सिंह

शोध सारांश— सामाजिक विसंगतियों और थोथी मान्यताओं को समूल नष्ट करने के लिए नारी संगठन को पर्याप्त महत्व दिया है। नागार्जुन ने अपने स्त्री पात्रों के माध्यम से ग्रामीण अंचल में स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार व शोषण के विरुद्ध मोर्चा लेती है और पितृसत्तात्मक परिवार पर करारा प्रहार करते हैं। नागार्जुन ने अपने स्त्री पात्रों—गौरी, इन्दिरा, चम्पा, उगनी अपमानित तिरस्कृत भारतीय नारी की प्रतिनिधि है और अपने सुख की प्राप्ति के लिए वर्तमान की घोर पीड़ा सहती है तथा सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध खड़े होने का साहस करती है। ये स्त्री पात्र आशावादी और हिम्मती है। उपन्यास के दूसरे पक्ष को देखें तो माधुरी, बिसेसरी, निर्मला, कामेश्वर की भाभी आत्मविश्वासी एवं प्रगतिशील क्रांतिकारी स्त्रियां है। वास्तविक रूप में स्त्री जब तक श्रम, सहयोग और विवेक को समन्वित कर अपने भीतर आत्मसात नहीं करेगी तब तक देश, समाज और स्वयं उनका कल्याण नहीं होगा।

मुख्य शब्द— चेतना, कुम्भीपाक, स्वाभिमान, अन्तर्जातीय, उत्पीड़न, वेश्यावृत्ति, सामाजिक।

प्रस्तावना— मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जीवन में आने वाली कठिनाईयों के साथ अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए जीवन जीता है। इस ब्रह्माण्ड में जीव और चेतना को घनिष्ठ माना गया है। चेतना एक ऐसी प्रवृत्ति है जो जीव को उत्तेजित करना स्वाभविक है। चेतना एक ऐसी ताकत है जो अन्याय के विरोध में लड़ने के लिए सदैव तत्पर रहती है। चेतना के कारण प्रत्येक स्त्री अपने मार्ग पर और अपने तत्वों को समेटकर चलने का प्रयास करती है। चेतना का अर्थ प्रेरणा, ज्ञात होना, विद्रोह, जागरूकता, सोचना, समझना। डॉ. मोहनलाल कपूर के शब्दों में—"चेतना को मानसिक अपघात माना है, जिसके अंतर्गत सविवेक, सम्प्रेषणीय, जागरूकता, अनुभूति, मनोविज्ञान, संवेदना आदि मानी है।"[1]

वर्तमान समय में नारी चेतना का सशक्त रूप उभर कर सामने आया है। उसे अपने जीवन में विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ा है। लेकिन फिर भी स्त्रियों ने अपने संघर्ष को जारी रखा है। अगर देखा जाए तो भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। यह देखा गया है कि एक तरफ दुर्गा की पूजा की गयी तो दूसरी तरफ अबला एवं माया के रूप में उपेक्षित रही। स्त्री की इस दुर्बलता ने नागार्जुन के संवेदनशील मन प्राण को खूब मथा और उन्हें इस विसंगति पूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध खड़े होने के लिए तत्पर बनाया। उनका मानना है कि स्त्री सामाजिक उत्थान का एक अनिवार्य अंग है। उसके अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। नागार्जुन ने मिथिला ग्रामांचल की स्त्रियों के अन्दर छिपी शक्ति को पहचाना था उन्होंने अपने उपन्यासों में माधुरी, चम्पा, उग्रतारा, गौरी, निर्मला, भुवन आदि सशक्त, आत्मनिष्ठा से युक्त स्त्रियों को प्रमुखता दी है।

'रतिनाथ की चाची उपन्यास की नायिका गौरी अपने ऊपर हुए अत्याचार व अपमान को सहन करते हुए एक नए समाज की कल्पना करती है। उसके जीवन में विभिन्न समस्यायें आती हैं परन्तु उन समस्याओं को बड़ी ही सरलता के साथ सहन करती है। वह अपने परिवार का संचालन चर्खा कातकर रतिनाथ और जयनाथ का पेट पालती है तथा वह एक सजग नारी का उदाहरण भी प्रस्तुत करती है। अपने जीवन के कष्टों को सहन करते हुए मलेरिया पीड़ित रोगियों की सेवा के लिए भी समर्पित रहती है। नागार्जुन स्त्री चेतना के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। परिवार के परम्परागत ढांचे ने व्यक्ति के शोषण को मजबूती प्रदान की है। लेखक ने अपने उपन्यासों में स्त्री पात्र को समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और रीतिरिवाजों के प्रति विद्रोह करते हुए दिखाय है। नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री चेतना का प्रभाव देखने को मिलता है। उनके प्रमुख उपन्यासों में स्त्री पात्र गौरी, माया, विसेसरी, नीरू और माधुरी आदि हैं।

'दुःखमोचन' उपन्यास में टमका कोइली गांव का मार्मिक चित्रण किया गया है। जो अंधविश्वास तथा पुराने रीति रिवाजों से मुक्ति दिलाने में एक नारी की अहम भूमिका थी। 'दुःखमोचन' की नायिका माया ने इसका साक्षात् प्रमाण प्रस्तुत किया है। जब माया विधवा हो जाती है तो वह पुनः विवाह करना चाहती है तो यह पितृसत्तामक समाज इसका खुलकर विरोध करती है परन्तु माया कपिल के साथ पुनर्विवाह-अंतर्जातीय विवाह कर लेती है और इस भारतीय समाज

में एक मिसाल पैदा करती है। नागार्जुन के उपन्यास 'वरूण के बेटे' में स्त्री पात्र माधुरी के व्रिदोह के जरिये स्त्री की सामाजिक चेतना को नागार्जुन ने उभारा है। इस भारतीय समाज मे स्त्री की स्थिति अत्यंत मार्मिक है। लड़की की शादी उसके मां-बाप चाहे जिसके साथ कर दें। माधुरी को उसके सास-ससुर द्वारा प्रताड़ित किया जाता है तो वह अपने ससुराल से विद्रोह कर देती है और पुनः अपने मायके वापस चली आती है। इस प्रकार देखा गया है कि मधुरी में विद्रोह की भावना जागृत होती है।

'कर्तव्यनिष्ठ स्त्री'—नागार्जुन के अपने उपन्यासों में स्त्री के बाद भारतीय ग्राम्य जीवन के भाष्यकार के रूप में नागार्जुन का ही नाम आता है। लेखक ने अपने उपन्यासों में रतिनाथ की चाची में (गौरी), नई पौध में (बिसेसरी), वरूण के बेटे (मधुरी), कुम्भीपाक (निर्मला), चम्पा (इन्दिरा) और उग्रतारा (उगनी) में आदि को कर्तव्यनिष्ठ स्त्री के रूप में स्वीकार किया है। विजय बहादुर सिंह लिखते है, ''इन उपन्यासों में सबसे महत्वपूर्ण बात ग्रामीण चरित्रों के उस शक्ति की पहचान है जो होरी से कहीं अधिक धनिया में थी। चम्पा, भुवन, माधुरी, उग्रतारा में कठोर संकल्प और आत्मष्ठिा मिलती है। वह धनिया का ही विकसित रुप है।''[2] बिसेसरी की तरह मधुरी भी एक कर्तव्यपरायण स्त्री है। माधुरी एक साहसी एवं सरल स्वभाव की लड़की है। भोला साहनी का सुपुत्र मंगल माधुरी से प्रेम करता है और माधुरी भी मंगल से अधिक प्रेम करती है। परन्तु कुछ कारणवश मंगल का विवाह एक सुन्दर सुशील लड़की से हो जाता है और माधुरी का विवाह एक जटिल से हो जाता है। विवाहोपरान्त मंगल और मधुरी मिलते रहते हैं।

'स्वाभिमानी स्त्री'—नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री को स्वाभिमानी के रूप में देखा गया है। कुछ स्त्री पात्र ऐसी हैं जो अपने स्वाभिमान को बेचना नहीं चाहती हैं। वे समाज में हो रहे अत्याचार, शोषण का डटकर सामना करती हैं। वे स्त्रियाँ समाज में अपनी अमिट छाप छोड़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वाभिमान ही उनके जीवन की मूल धरोहर है। रतिनाथ की चाची उपन्यास में गौरी एक स्वाभिमानी स्त्री है। उसके चरित्र में मातृत्व व सहिष्णुता दिखायी पड़ती है। उसके नेत्रों में अपने पुत्र के प्रति वात्सल्य देखने को मिलता है। गौरी अपने जीवन के संघर्षों को बहुत ही सुगमतापूर्वक सहन करती हुई स्वाभिमान के साथ जीना पसंद करती है। वह परिवार और समाज में चल रहे संघर्षों को झेलते हुए जीवन संघर्ष करती रहती है। समाज में हो रहे अत्याचार व शोषण का खुलकर विरोध करती है और अपने स्वाभिमान को गिरने नहीं देती है। 'बलचनमा' उपन्यास में बलचनमा की मां स्वाभिमानी नारी है। वह गांव के जमींदार के सभी जुल्मों को सहन तो करती है। परन्तु अपना स्वाभिमान कभी गिरने नही देती है। बलचनमा उपन्यास के माध्यम से नागार्जुन ने स्त्री के स्वाभिमान को दर्शाने का प्रयास किया है। बलचनमा के परिवार में माँ, दादी और छोटी बहन थी। जो अत्यन्त निर्धन परिवार था। परन्तु बलचनमा की मां कर्तव्यनिष्ठ सहनशील, स्वाभिमानी महिला है। गरीब होने पर भी अपने स्वाभिमान के कारण कहती है, यह अनाज वापस रख लीजिए यह मामूली गेहूँ नहीं है कि आसानी से हजम होगा।''[3]

'स्त्री समानता'—नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री संघर्ष करते दिखाई दे रही है। आज के इस आधुनिक समाज में स्त्री पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही है। वह हर क्षेत्र में अपने महत्व को सिद्ध कर रही है। पुरुष के समान स्त्री को बदलती हुई परिस्थितियों में स्त्री के समानता का मुक्त समर्थन किया है। इस समर्थन का चित्रण नागार्जुन के 'नई पौध' उपन्यास में दिखाई देता है। इस उपन्यास में विधवा समेसरी की इकलौती बेटी बिसेसरी का विवाह चतुरानन चौधरी वृद्ध से होना निश्चित हुआ है। इससे बिसेसरी का जीवन बर्बाद होगा। ऐसी स्थिति को देखकर गांव के कुछ युवक इस विवाह का विरोध करते हैं। इन युवकों में माहेश्वरी झा और दिगम्बर मल्लिक प्रमुख हैं। ये युवक चाहते हैं कि समानता के आधार पर बिसेसरी का विवाह अधिक उम्र के साथ न हो और बिसेसरी भी जानती है कि केवल आंसू बहाने से काम नहीं चलेगा। नई पौध का दिगंबर विसेसरी के संबंध में वाचस्पति से कहता है, ''बिसेसरी बड़ी समझदार और बहादुर लड़की है। बोझा बनकर तुम्हारी गदर्न नही तोड़ेगी वह। साथ रखोगे और मांकुल ट्रेनिंग दोगे तो अच्छी से अच्छी साथिन बनेगी।''[4] 'कुम्भीपाक' उपन्यास में स्त्री पात्र में समानता देखी गयी है। इस उपन्यास में स्त्री को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त होते हैं। चम्पा भुवन को कहती है, ''तुम किसी आश्रम में प्रवेश नहीं करोगी और न ही इस समाज से घबराना क्योंकि अब तुम समझदार लोगों के सम्पर्क में चली गयी हो। इसलिए तुम्हारा इस समाज द्वारा शोषण न हो इसके लिए आपको सदैव जागरूक रहना है।''[5] क्योंकि अब तुम्हें कोई चकमा नहीं दे सकता और न ही छल सकता है। जहां पर पुरुष बल होगा वहां स्त्री की बुद्धि होगी। स्त्री शक्ति होगी तो पुरुष ज्ञान। नागार्जुन के उपन्यासों के स्त्री पात्रों में ममतामयी भावना देखने को मिलती है। नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' की प्रमुख स्त्री पात्र गौरी में गहरा ममत्व दिखायी पड़ता है क्योंकि मां बनने की क्षमता स्त्री के लिए एक शक्ति है। गौरी को अपने पुत्र के प्रति मोह दिखायी पड़ता है। वह अपने पुत्र के लिए सभी प्रकार की सामाजिक संस्थाओं को आसानी से झेलती है। इसी प्रकार बलचनमा उपन्यास में बलचनमा की बहन रोशनी पर मझले मालिक कुदृष्टि और अपनी पिटाई के बाद

उसकी माँ कहती है–''बबुआ बालचन! मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं है।''[6] माँ के विचार सुनकर ही बलचनमा निश्चय करता है कि चाहे उजड़ जाना पड़े, चाहे जहल-दामुल हो, चाहे फाँसी चढ़ूं लेकिन मगर कभी जालिम के सामने सिर नहीं झुकाऊँगा। इस प्रकार देखा गया है कि एक माँ का अपने पुत्र के प्रति अत्यधिक ममत्व दिखायी पड़ता है।

नागार्जुन ने प्रत्येक पल शोषण व अन्याय का खण्डन किया है वह किसी भी स्तर का हो। नई पौध (1953 ई.) में प्रकाशित उपन्यास में नागार्जुन ने स्त्री की सामाजिक चेतना को प्रदर्शित किया है। इस उपन्यास में बिसेसरी की ममता को दिखाया है। उसने अपने परिवार के सम्मान में वाचस्पति नामक युवक से विवाह करती है और समाज व परिवार के प्रति अटूट सम्बन्धों के द्वारा अपनी गरिमामयी ममता को अंकित किया है। सन् 1957 ई. में प्रकाशित उपन्यास 'वरूण के बेटे' में स्त्री पात्र मधुरी की सामाजिक चेतना को दिखाया गया है। माधुरी के माता-पिता उसका विवाह बेमेल कर देते हैं लेकिन फिर भी वह सहर्ष स्वीकार करती है। मधुरी में भी कहीं न कहीं ममता दिखायी पड़ती है। वह अपने परिवार के प्रति सजग व गंम्भीर रहती है और अपने माता-पिता का मान-सम्मान रखती है। वह कहती है, नहीं अब वह कभी उस नाशखोर बुड्ढे की लात-बात बर्दाश्त करने नही जायेगी।''[7] नागार्जुन के उपन्यासों के पात्र अच्छे बुरे जो भी हों, ने अपनी एक निजता रखते हैं। वे करुणा, ममत्व एवं प्रेम से परिपूर्ण है। इस संदर्भ में प्रकाशक, मनु लिखते है, ''नागार्जुन की स्त्रियां ममतामयी हैं स्नेहमयी हैं, लेकिन वे मजबूत स्त्रियां हैं। प्रेम को लेकर हाय-हाय करना उन्हें नहीं भाता बल्कि प्रेम को लेकर एक तरह की दृढ़ता उनमें जरूर है। इसलिए प्रेम में वे कोई फर्क नहीं करती।''[8] प्रत्येक स्त्री पात्र, पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर चलना चाहती हैं, वे समाज में व्याप्त बुराईयों को समाप्त करना चाहती हैं। इस प्रकार नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री पात्रों में सामाजिक चेतना एवं ममत्व दिखायी पड़ता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह देखा जा सकता है कि नागार्जुन ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री की सामाजिक चेतना पर विशेष बल देकर भारतीय समाज को जागृत करने का सफल प्रयास किया है। नागार्जुन ने स्त्री के वास्तविक जीवन के संघर्षों को उजागर कर दिखाया है कि स्त्री भी सामाजिक संघर्ष करके अपने जीवन को पुरुष के समान बना सकती है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री शक्ति की पहचान कराने के लिए स्त्री पात्रों में माधुरी, चम्पा, उग्रतारा, गौरी, निर्मला, भुवन आदि के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। स्त्री का जीवन बहुत ही मार्मिक, कर्तव्यनिष्ठ, विद्रोही, स्वाभिमानी और ममतामयी होता है। नागार्जुन ने स्त्री समानता को अपने उपन्यास में अंकित किया है। इसके साथ ही साथ स्त्री शिक्षा पर बल देकर इस समाज को जागृत करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और बाबा नागार्जुन ने अपने उपन्यासों के माध्यम से एक नये समाज की कल्पना कर स्त्रियों को समाज में बराबर का हक हूकूक दिलाने का सफल प्रयास किया है।

सन्दर्भ

1. डॉ. उत्तम राजाराम आल्तेकर (2001), उपन्यासकार नागार्जुन तथा अण्णा भाऊ साठे, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स गाजियाबाद, पृ. सं. 92
2. विजय बहादुर सिंह (2009), नागार्जुन का रचना संसार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 123
3. नागार्जुन (1997), बलचनमा, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 60
4. नागार्जुन (1998), नई पौध, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, पृ. 63
5. डॉ. उत्तम राजाराम आल्तेकर (2001), उपन्यासकार नागार्जुन तथा अण्णा भाऊ साठे, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स गाजियाबाद, पृ. 115
6. शोभाकांत (2003), नागार्जुन रचनावली-4, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 29
7. डॉ. मीरा चन्द्रा (2013), नागार्जुन का कथा साहित्य, अमन प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, पृ.122
8. नागार्जुन (2003) वरुण के बेटे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 111

–राम कुमार
शोध छात्र, महर्षि सूचना प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय लखनऊ, उत्तर प्रदेश

–डॉ. मंजुला सिंह
शोध निर्देशिका, महर्षि सूचना प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय लखनऊ, उत्तर प्रदेश

73वें संविधान संशोधन के परिप्रेक्ष्य में पंचायतीराज व्यवस्था की समीक्षा

—विजय सिंह
—प्रो. धर्मेन्द्र कुमार सिंह

सारांश : महात्मा गांधी नें कहा ''भारत की आजादी का मतलब होना चाहिए समूचे भारत की आजादी। आजादी की शुरुआत सबसे नीचे से होनी चाहिए। इस तरह हर गाँव एक गणराज्य होगा। इसका मतलब यह कि हर गाँव को आत्मनिर्भर और अपने मामलों को खुद निपटाने में काबिल होना पड़ेगा। अनगिनत गाँवों से बने इस ढाँचे में आगे की ओर फैलते और ऊपर चढ़ते दायरे होंगे। जीवन एक पिरामिड की तरह होगा जिसमें शीर्षक आधार पर टिका होगा। 'संविधान के भाग-4 में नीति निदेशक सिद्धान्त के अन्तर्गत अनुच्छेद 40 के द्वारा उस लक्ष्य को प्राप्त करने का संकेत दिया, जिसमें कहा गया है कि ''राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठायेगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।''

प्रमुख शब्द : 73वें संविधान संशोधन, पंचायती राज व्यवस्था, अनुच्छेद 40, नीति निदेशक सिद्धान्त, संविधान के भाग-4, पंचायतों में आरक्षण।

परिचय : दिसम्बर 1989 में हुए संसदीय निर्वाचनों के परिणमास्वरूप केन्द्र में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में जनता दल की सरकार बनी। इस सरकार ने सितम्बर, 1990 में कुछ परिवर्तनों के साथ पुनः संशोधन विधेयक को लोक सभा में प्रस्तावित किया। दुर्भाग्यवर्ष जनता दल की सरकार अपना कार्यकाल पूरा किये बिना ही गिर गई और जून, 1991 में हुए लोक सभा चुनावों में पी. वी. नरसिम्हाराव के नेतृत्व में कांग्रेस पुनः सत्ता में आ गयी। पंचायती राज व्यवस्था की ओर नयी सरकार ने कदम बढ़ाते हुए 16 सितम्बर, 1991 को इसने संविधान का 73वाँ संशोधन विधेयक प्रस्तावित किया। इस विधेयक को संसद की संयुक्त समिति के विचारार्थ भेजा गया। समिति ने इस पर विचार कर अपना प्रतिवेदन जुलाई 1992 में संसद को भेज दिया।

उसी वर्ष 22 दिसम्बर को लोक सभा एवं 23 दिसम्बर को राज्य सभा ने इसे निर्विरोध पारित कर दिया। मध्य अप्रैल 1993 तक 17 राज्यों ने इसकी पुष्टि कर दी। इसके पश्चात 20 अप्रैल, 1993 को इसे राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हो गयी और पुनः क्रमांकित कर उसी वर्ष 24 अप्रैल को यह संविधान (73वाँ संशोधन) अधिनियम, 1992 के रूप में लागू हो गया। यह संशोधन संविधान में एक नये भाग (भाग-9) को जोड़ता है, जिसमें अनुच्छेद 243 के अधीन 15 नये अनुच्छेदों को जोड़ते हुए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को मजबूत आधार प्रदान किया। भारत में पंचायतीराज संस्थाएं लम्बे समय से अस्तित्व में रही हैं, लेकिन पूर्व की तमाम खामियों को देखते हुए इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये—

1. गाँव व ग्राम के समूह स्तर पर ग्राम सभा का गठन। 2. पंचायतों का ग्राम पंचायत व अन्य स्तरों पर गठन। 3. सभी स्तरों पर सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन। 4.अनुसूचित जाति-जनजाति के वर्गों का उनकी संख्या के अनुपात में सदस्य व अध्यक्ष के लिए आरक्षण। 5.महिलाओं के लिए सदस्य व अध्यक्ष पदों के लिए कम से कम एक-तिहाई आरक्षण। 6. पाँच वर्ष का कार्यकाल और यदि किसी कारण से पंचायतों को निरस्त कर दिया गया हो तो 06 माह के अन्दर पुनः चुनाव। 7. राज्य को निर्देशित करना कि वे पंचायतों को इतने कार्य, अधिकार व शक्तियाँ प्रदान करें, जिससे कि वे स्वायत्तशासन की संस्थाएँ बन सकें और अपने स्तर पर आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय की योजनाएँ बना सकें। 8. पंचायतों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए राज्य विधानमण्डल उन्हें उचित निधि (फण्ड) उपलब्ध कराये तथा उन्हें कर लगाने की शक्ति भी प्रदान करें। 9. पंचायत की आर्थिक स्थिति को सशक्त करने हेतु प्रत्येक पाँच वर्ष पश्चात् वित्त आयोग का गठन किया जाये।[1]

73वें संविधान संशोधन में पंचायतों की संरचना : 73वें संविधान संशोधन के द्वारा राज्यों को बाध्य किया गया है कि वे अपने-अपने राज्यों में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना करें। प्रत्येक राज्य में ग्राम, मध्यवर्ती और जिला स्तर पर इस भाग के उपबन्धों के अनुसार पंचायतों का गठन किया जायेगा।[2]

पंचायतों की परिभाषा (अनुच्छेद-243) : भारतीय संविधान के भाग-9 में पंचायतों की परिभाषा करते हुए कहा गया

है कि 1. 'जिला' से किसी राज्य का जिला अभिप्रेत है। 2. 'ग्राम सभा' से ग्राम स्तर पर पंचायत के क्षेत्र के भीतर समाविष्ट किसी ग्राम से सम्बन्धित निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत व्यक्तियों से मिलकर बिना निकाय अभिप्रेत है। 3.'मध्यवर्ती स्तर' से ग्राम और जिला स्तरों के बीच का ऐसा स्तर अभिप्रेत जिसे किसी राज्य का राज्यपाल, इस भाग के प्रयोजनों के लिए, लोग अधिसूचना द्वारा मध्यवर्ती, स्तर के रूप में विनिर्दिष्ट करें। 4.'पंचायत' से ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अनुच्छेद 243-20 के अधीन गठित स्वायत्त शासन की कोई संस्था (चाहे वह किसी भी नाम से ज्ञात हो) अभिप्रेत है। 5.'पंचायत क्षेत्र' से पंचायत का प्रादेशिक क्षेत्र अभिप्रेत है। 6.'जनसंख्या' से ऐसी अन्तिम पूर्ववर्ती जनगणना में अभिनिश्चित की गई जनसंख्या अभिप्रेत है जिसके सुसंगत आंकड़े प्रकाशित हो गए हैं।

7.'ग्राम' से राज्यपाल द्वारा हम भाग प्रयोगजनों के लिए, लोक अधिसूचना द्वारा ग्रामों का रूप में विनिर्दिष्ट ग्राम अभिप्रेत है और इसके अन्तर्गत इस प्रकार विनिर्दिष्ट ग्रामों का समूह भी है।[3]

पंचायतों का नामकरण : 73वें संविधान संशोधन अधिनियम 1992 'पंचायत' शब्द का प्रयोग करता है। अधिनियम अनेक स्तरों की पंचायत के नामों के बारे में बहुत सशक्त नहीं है। अनुच्छेद 243 में केवल 'ग्राम सभा' नाम का प्रयोग किया गया है जिसमें कहा है कि ''यह ग्राम स्तर पर पंचायत के क्षेत्र के भीतर समाविष्ट किसी ग्राम से सम्बन्धित निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत व्यक्तियों से मिलकर बना निकाय अभिप्रेत है।'' परन्तु 'ग्राम सभा' की कार्यकारिणी को राज्य विधि बनाकर कोई भी नाम दे सकती है।[4]

पंचायतों का गठन : संविधान (73वाँ संशोधन) अधिनियम 1992 के अनुसार पंचायतों में दो प्रकार के सदस्य होंगे। निर्वाचित एवं पदेन। पदेन सदस्यों को छोड़कर सभी अन्य सदस्यों 'चुनाव किसी भी' स्तर पर पंचायत के प्रादेशिक क्षेत्र की जनसंख्या का ऐसी पंचायत में निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त राज्य में यथासाक्य एक ही हो। किसी पंचायत के सभी स्थान, पंचायत क्षेत्र में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुए व्यक्तियों से भरें जायेंगे और इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या का उसको आबंटित स्थानों की संख्या से अनुपात समस्त पंचायत क्षेत्र में यथासाक्य एक ही हो।[5]

पंचायतों के लिए निर्वाचन : 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत पंचायतों के निर्वाचन के लिए उपबन्ध किया गया है जिसमें, पंचायतों के लिए कराए जाने वाले सभी निर्वाचनों के लिए निर्वाचक नामावली तैयार कराने का और उन सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण एक राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा, जिसमें एक राज्य निर्वाचन आयुक्त होगा, जो राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जायेगा।[6]

पंचायतों में निर्वाचन के लिए योग्यताएँ : 73वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा संविधान में अनुच्छेद 243 (च) में यह उपबन्धित किया गया है कि वे सभी व्यक्ति को राज्य विधान मण्डल के लिए निर्वाचित होने की अर्हता रखते हैं, पंचायत का सदस्य होने के लिए अर्ह होंगे। पंचायतों एवं राज्य विधान मण्डल के निर्वाचन अर्हता में केवल एक अन्तर है, पंचायतों के लिए 21 वर्ष एवं राज्य विधान मण्डल के लिए 25 वर्ष। इसके अतिरिक्त कोई विशेष अन्य योग्यता का उल्लेख नहीं किया गया है।[7]

पंचायतों में निर्वाचन की निरर्हता : अनुच्छेद 243 (च) यह उपबन्ध करता है कि कोई व्यक्ति किसी पंचायत के सदस्य के लिए निर्वाचित होने के या सदस्य बने रहने के लिए निरर्ह होगा (क) यदि वह किसी प्रवृत्ति विधि के अधीन सम्बन्धित राज्य विधान मण्डल के लिए निर्वाचित होने के निरर्ह है। (ख) यदि वह राज्य विधान मण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन निरर्ह है किन्तु कोई व्यक्ति इस आधार पर निरर्ह नहीं होगा कि वह 25 वर्ष से कम आयु का है, यदि उसने 21 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है। यदि यह प्रश्न उठता है कि किसी पंचायत का कोई सदस्य खण्ड (1) में वर्णित किसी निरर्हता से ग्रस्त हो गया है या नहीं तो, प्रश्न ऐसे प्राधिकारी के विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जाएगा, जैसा राज्य का विधान मण्डल विधि बना कर विदित करे।[8]

पंचायतों में आरक्षण : संविधान (73वाँ सशोधन) अधिनियम में पंचायत के तीनों स्तरों-ग्राम, मध्य एवं जनपद में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगें और इस प्रकार आरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात, उस पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या से यथाशक्य वही होगा जो उस पंचायत क्षेत्र में अनुसूचित जातियों की अथवा उस पंचायत क्षेत्र में अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या का अनुपात उस क्षेत्र की कुल जनसंख्या से है और ऐसे स्थान किसी पंचायत में भिन्न-भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों को चक्रानुक्रम से आबंटित किये जा सकेंगे। अनुच्छेद घ(1) के अधीन आरक्षित स्थानों की कुल संख्या के कम से कम एक-तिहाई स्थान, यथा स्थिति, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे। प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की कुल संख्या के कम से कम एक-तिहाई स्थान (अनुसूचित जाति एवं जनजाति की महिलाओं सहित) महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगें और ऐसे स्थान किसी पंचायत में भिन्न-भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों

को चक्रानुक्रम से आबंटित किए जा सकें।[9]

पंचायतों का कार्यकाल : 73वें संविधान संशोधन के अनुसार सभी स्तरों पर प्रत्येक पंचायत का कार्यकाल उसके गठन के पश्चात् प्रथम बैठक की तिथि में पाँच वर्ष का होगा (अनुच्छेद 243 (ङ) (1))।[10]

पंचायतों की शक्तियाँ, प्राधिकार और उत्तरदायित्व : 73वाँ संविधान सशोधन के पश्चात् संविधान में जोड़े गये अनुच्छेद-छ के अन्तर्गत पंचायतों की शक्तियाँ, प्राधिकार और उत्तरदायित्व उपबन्ध के अधीन किसी राज्य का विधान-मण्डल, विधि द्वारा, पंचायतों को ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने में समर्थ बनाने के लिए आवश्यक हों और ऐसी विधि में पंचायतों को उपयुक्त स्तर पर ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए जो उसमें विनिर्दिष्ट की जायें, निम्नलिखित के सम्बन्ध में शक्तियाँ और उत्तरदायित्व न्यायगत करने के लिए उपबन्ध किये जा सकेंगे।[11]

11वीं अनुसूची : उपरोक्त उद्देश्यों से संविधान में 11वीं अनुसूची जोड़ी गई है जिसमें उन विषयों का वर्णन है जिन पर पंचायतों को विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई है। वे विषय निम्नलिखित हैं– कृषि, भूमि सुधार, लघु सिंचाई, पशु पालन, सामाजिक वानिकी, लघु उद्योग, खादी, ग्रामीण आवास, पेय जल, ईंधन तथा चारा, मार्ग, ग्रामीण विद्युतीकरण, गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोत, गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, प्रौढ़ तथा अनौपचारिक शिक्षा, पुस्तकालय, सांस्कृतिक कार्यकलाप, बाजार एवं मेले, स्वास्थ्य तथा सफाई, परिवार कल्याण, महिला एवं शिक्षु विकास, सामाजिक कल्याण, दुर्बल वर्गों का कल्याण, सार्वजनिक वितरण प्रणाली एवं सामुदायिक अस्तियों का अनुरक्षण।[12]

ग्राम पंचायतों की समितियाँ एवं उनके कार्य : ग्राम पंचायत अपने कार्यों एवं दायित्वों को पूरा करने के लिए विभिन्न समितियों का गठन करेगा। नियोजन एवं विकास समिति, निर्माण कार्य समिति, शिक्षा समिति, प्रशासनिक समिति, स्वास्थ्य एवं कल्याण समिति एवं जल प्रबन्धन समिति।[13] *पंचायतों को कर अधिरोपण की शक्ति एवं निधियाँ :* संविधान संशोधन (73वाँ) के द्वारा पंचायतों को आर्थिक चुनौतियों से निपटने हेतु संविधान में अनुच्छेद-243 का समावेश करते हुए कहा गया है कि ''किसी राज्य का विधान मण्डल विधि द्वारा (1) ऐसे कर, शुल्क, पथकर और फीसें उदग्रहीत, संग्रहीत और विनियोजित करने के लिए किसी पंचायत को, ऐसी प्रक्रिया और ऐसे निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए समनुर्दिष्ट कर सकेगा। (2.) राज्य सरकार द्वारा उदग्रहीत और संग्रहीत ऐसे कर शुल्क, पथकर और फीसें किसी पंचायत को, ऐसे प्रयोजनों के लिए तथा ऐसी शर्तों और निर्बन्धनों के अधीन रहते हुए समुनर्दिष्ट कर सकेगा। (3.) राज्य की संचित निधि में से पंचायतों के लिए ऐसे सहायता-अनुदान देने के लिए उपबन्ध कर सकेगा। और (4.) पंचायतों द्वारा या उनकी ओर से क्रमशः प्राप्त किये गये सभी धनों को जमा करने के लिए ऐसी निधियों का गठन करने और उन निधियों में से ऐसे धनों को निकालने के लिए भी उपबन्ध कर सकेगा, जो विधि में विनिर्दिष्ट किये जायें।[14]

वित्त आयोग का गठन : अनुच्छेद 243 (झ) यह उपबन्धित करता है कि राज्य का राज्यपाल संविधान संशोधन धिनियम (73वाँ) 1992, आरम्भ से एक वर्ष के भीतर और उसके पश्चात् प्रत्येक पाँच वर्ष के अवसान पर पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करने के लिए एक वित्त आयोग का गठन करेगा जो निम्नलिखित विषय में राज्यपाल को अपनी सिफारिशों देगा– (1.) उन सिद्धान्तों की बाबत जो निम्नलिखित को शासित करेगा, ऐसे करों, शुल्कों, पथकरों और फीसों के शुद्ध आगमों का राज्य पंचायतों के बीच वितरण जो इस भाग के अधीन उनके बीच वितरित किए जाने हैं या किए जा सकेंगे तथा सभी स्तरों पर ऐसे आगमों के सम्बद्ध अंशों का पंचायतों के बीच आबंटन। ऐसे करों, शुल्कों, पथकरों और फीसों का अवधारण जो पंचायतों को समनुदेषित किया जा सकेंगे या उनके द्वारा विनियोजित किया जा सकेंगे। राज्य की संचित निधि में से पंचायतों के लिए सहायता अनुदान।

(2.) पंचायतों की वित्तीय स्थिति के सुधार के लिए अपेक्षित उपाय। (3.) किसी अन्य विषय की बाबत, जो राज्यपाल द्वारा पंचायतों के ठोस वित्तपोषण के हित में वित्त आयोग को निर्दिष्ट किया जा सके।[15]

पंचायतों के लेखाओं की संपरीक्षा : 73वें संविधान संशाधन अधिनियम 1992 के द्वारा संविधान में अनुच्छेद 243(ञ) जोड़ा गया, जिसमें कहा गया है कि ''राज्य विधान मण्डल, विधि द्वारा, पंचायतों द्वारा लेखे रखे जाने और ऐसे लेखाओं की संपरीक्षा करने के बारे में उपबन्ध कर सकेगा।[16] *राज्य निर्वाचन आयोग :* 73वें संविधान सशोधन अधिनियम के द्वारा राज्य निर्वाचन के गठन का उपबन्ध है (अनुच्छेद 243 ट), जिसमें एक निर्वाचन आयुक्त होगा जिसकी नियुक्ति राज्य के राज्यपाल के द्वारा होगी। निर्वाचक नामावली तैयार कराने का और पंचायतों के निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण इस राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा।[17] *निर्वाचन सम्बन्धी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप का वर्णन :* अनुच्छेद 329 में यह कहा गया है कि निर्वाचन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाने पर न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार न्यायालयों को इस बात की अधिकारिता नहीं होगी कि वे अनुच्छेद 243 (ट) के अधीन निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन या स्थानों के आबंटन से सम्बन्धित किसी विधि की मान्यता की परीक्षा करें।

पंचायत का निर्वाचन, निर्वाचन अर्जी पर ही प्रश्नगत किया जा सकेगा जो ऐसे प्राधिकारी को और ऐसी रीति से प्रस्तुत की जाएगी जो राज्य विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन विदित किया जाये।[18]

73वें संविधान संशोधन का महत्व : 73वाँ संशोधन हमारे देश में पंचायती राज व्यवस्था के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया है। *प्रथम* यह पंचायतीराज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान करता है। अब तक भारतीय संविधान में केवल ग्राम पंचायतों का उल्लेख था और वह भी राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों वाले अध्याय में, जो कि संविधान की व्यवस्था के अनुसार, बाध्यकारी नहीं है। इसके विपरीत, 73वें संशोधन के प्रावधानों की प्रकृति बाध्यकारी है। *द्वितीय,* यह पूरे देश में त्रि-स्तरीय पंचायतीराज व्यवस्था का आदेश देकर समरूपता लाने का प्रयास करता है। इसका अपवाद केवल वे राज्य हैं, जिनकी जनसंख्या 20 लाख से अधिक नहीं है। ऐसे राज्य द्वि-स्तरीय व्यवस्था को अपना सकते हैं। *तृतीय,* 73वाँ सशोधन पंचायतीराज व्यवस्था में लोकतंत्र की सीमा में वृद्धि करता है, यह व्यवस्था करके कि सभी स्तरों पर प्रतिनिधि वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे जनता द्वारा निर्वाचित होंगे। *चतुर्थ,* यह संशोधन राज्य स्तर पर निर्वाचन आयोग के गठन की व्यवस्था करके स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन का आश्वासन देता है। *पंचम्,* यह पंचायतीराज संस्थाओं को कार्यकाल की सुरक्षा एवं निरन्तरता प्रदान करता है, यह व्यवस्था करके कि समस्त पंचायतीराज संस्थाओं का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा तथा इस कार्यकाल के पूर्ण होने के पूर्व ही इन संस्थाओं का नया निर्वाचन सम्पन्न हो जायेगा। निरन्तरता की रक्षा करने के लिए यह भी व्यवस्था की गयी है कि यदि कोई भी पंचायतीराज संस्था निर्धारित पाँच वर्ष पूर्ण होने के पूर्व ही विघटित हो जाती हैं, तो विघटति होने की तिथि से 6 माह के भीतर नये निर्वाचन सम्पन्न होने आवश्यक है। साथ ही, कार्यकाल की सुरक्षा और इन संस्थाओं को राज्य सरकार द्वारा बार-बार विघटन से रोकने के लिए यह भी व्यवस्था की गयी है कि यदि भंग करते समय पंचायत का कार्यकाल 6 माह अथवा उससे अधिक का बचा हुआ है, तो नव-निर्वाचित पंचायत पूर्व पंचायत के मात्र अवशिष्ट कार्यकाल का उपभोग करेगी। पृष्ठ, नयी पंचायतीराज व्यवस्था समाज के दुर्बल वर्गों के पक्ष में आरक्षण प्रदान कर उन्हें पंचायतीराज संस्थाओं के संचालन में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है। इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण आरक्षण महिलाओं के पक्ष में किया गया है, जिनके लिए प्रत्येक पंचायत में एक-तिहाई स्थान आरक्षित कर दिये गये हैं। *सप्तम्,* नवीन सशोधन 29 विषयों की एक सूची निर्मित करता है, जिस पर पंचायतीराज संस्थाओं को अनन्य क्षेत्राधिकार प्राप्त होगा। *अन्त में* यह पंचायतीराज संस्थाओं को आय के विभिन्न स्रोत प्रदान कर उनकी वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है।[19]

73वें सशोधन की कमजोरियाँ : 73वें सशोधन में कुछ दुर्बलतायें हैं, जिनमें कुछ अग्रलिखित हैं—*प्रथम,* समरूपता के नाम पर 73 वाँ संशोधन उन राज्यों पर भी त्रि-स्तरीय व्यवस्था थोपने का प्रयास करता है। *द्वितीय,* संसद तथा राज्य विधान मण्डलों के सदस्यों को पंचायतों का पदेन सदस्य बनाना, उन्हें इन संस्थाओं में अनावश्यक प्रभाव प्रदान करना है। *तृतीय,* 73वाँ संशोधन राज्य सरकार तथा पंचायतीराज संस्थाओं तथा साथ ही इन संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों तथा नियुक्त अधिकारियों के मध्य जटिल सम्बन्धी के प्रश्न पर पूर्णतया चुप है। *चतुर्थ,* 73वें संशोधन में पंचायतीराज संस्थाओं के विघटन की प्रक्रिया के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। *पंचम्,* 73वाँ सशोधन पंचायतीराज संस्थाओं को ऐसे कार्य देता है, जिन्हें हम समाजार्थिक स्वरूप कह सकते हैं। अच्छा यह होता कि इन संस्थाओं को विधि और व्यवस्था के कार्य भी दे दिये जाते। यह इन संस्थाओं को और अधिक शक्तिशाली तथा उत्तरदायी बना देता। अन्त में, 73वाँ सशोधन बिना राज्यों का विश्वास प्राप्त किये, पंचायतीराज व्यवस्था में पुनर्गठन और सुधारों को लाने का प्रयास करता है।[20]

संदर्भ

1. वर्थवाल, सी. पी. 'स्थानीय स्वशासन', सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 2010, पृ.180, 2.अनुच्छेद 243(ब)
3. अनुच्छेद 243, 4.अनुच्छेद 243(ब)(1)
5. अनुच्छेद 243 (ठ), 6.अनुच्छेद 243 (ज्ञ)
7. अनुच्छेद 243 (थ)(1), 8.अनुच्छेद 243 (थ)(2)
9. अनुच्छेद 243 (क), 10.अनुच्छेद 243 (ज्ञ)(2)
11. अनुच्छेद 243 (ळ), 12.11वीं अनुसूची
13. अनुच्छेद 243 (ळ)(1), 14.अनुच्छेद 243 (भ)
15. अनुच्छेद 243 (प), 16.अनुच्छेद 243 (श्र)
17. अनुच्छेद 243 (ज्ञ)(1), 18.अनुच्छेद 243 (व)
19. दूबे, डॉ. अवधनारायण, 'नयी पंचायती राज व्यवस्था' मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरशन, वाराणसी, 2002
20. महीपाल, 'पंचायती राज : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ', राष्ट्रीय पुस्तक व्यास, भारत, 2014।

–विजय सिंह
शोधार्थी, विधि विभाग, एम.जे.पी.आर.यू.बरेली

–प्रो. धर्मेन्द्र कुमार सिंह
पर्यवेक्षक, विधि विभाग, बरेली कालेज, बरेली एवं वर्तमान प्राचार्य, उदय प्रताप स्वायत्तशसी कॉलेज, वाराणसी (उ.प्र.)

अनामिका कृत 'खुरदुरी हथेलियाँ' में अभिव्यक्त लोक एवं स्त्री जीवन

—डॉ. उपेन्द्र कुमार

शोध सार : लोक साहित्य और लोक जीवन बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग का अपना साहित्य है। अनामिका का काव्य मुख्यतः स्त्री अथवा सर्वहारा वर्ग की अभिव्यक्त का कोलार्ज है। स्त्री-संबंधी विमर्श के शास्त्रीय आधार जितने संपुष्ट हैं उससे कम संपुष्ट उसके लोकतात्विक आधार नहीं है। लोक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसमें स्त्री जीवन की सुखिया और दुखिया दोनों तरह की व्यथाएं हमारे सामने लाती हैं। अनामिका की कविता संग्रह 'समय के शहर में' में यह बात स्पष्ट हुई है। इन कविताओं में स्त्री जीवन लोककथाओं, उक्तियाँ एवं मिथकों द्वारा व्यक्त हुआ है। भारतीय समाज में रची-बसी लोक कथाओं में स्त्रियों के जीवन का दस्तावेज निहित है। कविताओं की संरचना में 'कहन' शैली में बतरस के भाव में स्त्री जीवन से जुड़ी बातों को व्यक्त किया है। इन कविताओं में प्रतीक लौकिक जीवन से जुड़े दृश्यों द्वारा नये जीवन बोध के द्वारा नया अर्थ देता है। ग्रामीण जीवन का एक अभिन्न अंग लोकगीत एवं श्रमगीत है जो स्त्रियों द्वारा रचा गया है इसीलिए इनमें स्त्रियों का जीवन-संघर्ष झलकता है। अनामिका की कविताओं में कथ्य एवं शिल्प दोनों लौकिक जीवन से जुड़े हुए हैं।

बीज शब्द—लोक, अभिव्यक्ति, स्त्रीत्व, समरस, लोकोक्तियाँ, कहावत, करुणा, लोक संस्कृति।

मूल आलेख—अनामिका का काव्य संग्रह 'खुरदुरी हथेलियाँ' एक महत्वपूर्ण रचना है। इस रचना का संसार लोकरंग में रंगा हुआ है। लोक में व्याप्त मुहावरे, लोकोक्तियाँ, कहावतें, पढ़ा लिखा, भोगा हुआ सब कुछ एक नए कलेवर में मिलता है। इस कलेवर की भाषा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें एक नई स्त्री भाषा का रंग देखने को मिलता है। लोक जीवन का अभिप्राय सर्वसाधारण जनता है, जिनकी व्यक्तिगत पहचान न होकर सामूहिक पहचान हो। लोक जीवन का एक रूप हमें भावाभिव्यक्तियों की शैली में मिलता है जिसके द्वारा लोक मानस की मांगलिक भावना से ओत-प्रोत होना सिद्ध होता है। इसका एक उदाहरण लोक में व्याप्त एक कहावत में देख सकते हैं। लोग दीपक बुझाना नहीं कहते है बल्कि दीपक बढ़ाना कहते हैं। लोक दीपक के बुझने की कल्पना मात्र से ही सिहर उठता है। अनामिका की कविताओं में लोकजीवन का मूल अर्थ सामूहिकता है। भारतीय वाङ्मय में विभिन्न कालों में 'लोक' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है।' 'ऋग्वेद' में यह शब्द प्रथमतः 'स्थान' के अर्थ में मिलता है, जैसे 'स्थान दो' के लिए 'देही लोकम्' का प्रयोग हुआ है। बाद में तीन लोक, 'चौदह लोक' आदि अर्थ मिलते हैं। लोक का कोशगत अर्थ जनसमुदाय का बोधक है। महाभारत आदि में भी लोक शब्द आम जनता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग अंग्रेजी के 'फोक' शब्द के अर्थ में होने लगा है। 'फोक' शब्द एंग्लो सेक्शन शब्द 'विसब' का विकसित रूप है। यह शब्द आदिम समाज के उन सभी सदस्यों का द्योतक है जिनसे वह समुदाय बना है। 'फोक' शब्द के लिए हिंदी में तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। लोक, जन और ग्राम। लोक व्यापक शब्द है इसे सीमित अर्थ में नहीं देखा जा सकता है। लोक के विषय में हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है, ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समस्त जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है।''[1]

प्रकृति का सिद्धांत अर्धनारीशवर का है जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों की युगल सृष्टि ही यज्ञ का पूर्ण होना होता है। यह लोक में भी प्रचलित है और शास्त्रों में भी। लोक में ये इस भाव से है कि परिवार, समाज की मजबूती स्त्री-पुरुष की समानता में ही निहित है। भारतीय लोक एवं शास्त्र दोनों स्थानों पर शक्ति के बिना शिव को शव माना गया है। मानव जीवन में हुए सामरस्य की खोज में हुए विमर्श का परिणाम ही समाज की पारिवारिक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में स्त्री तत्व करुणा के रूप को इंगित करती है। शास्त्रों पर हमेशा पुरुषवादी मानसिकता से बंधे समूह का एकाधिकार रहा है, जिसके कारण आधी आबादी की अभिव्यक्ति हमें शास्त्रों में न के बराबर दिखाई पड़ती है। जो थोड़ा बहुत स्त्री-अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है वह पितृसत्ता के दबाव या उनकी अनुमति की छाया मात्र है। लोक अभिव्यक्ति उतनी ही पुरानी है जितनी की मानव सभ्यता, इसमें लोक जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति

सभी कुछ समाहित है। लोक तत्व एक तरह से जनता की संपत्ति है। इसे लोक संस्कृति का दर्पण भी कहा जा सकता है। जन संस्कृति का जैसा सच्चा एवं सजीव चित्र लोक तत्व में मिलता है वैसा अन्य कहीं नहीं मिल सकता है। ''सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली सहज अवस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है उसकी आशा निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि की अभिव्यंजना जिस तत्व में समाहित है वह लोक तत्व ही है।''[2]

अनामिका कृत 'खुरदुरी हथेलियाँ' की कविताओं में लोक की खुशबू है। इस संग्रह की कविताएं स्त्री जीवन का सच्चा कोलार्ज हैं, जिनमें उसके सुख-दुख, परिवार, जीवन, मुक्ति की आकांक्षा, बहनापा, ममत्व, करुणा सभी भावों को एक साथ देखा जा सकता है। ''लोकरंग में रची बसी इस समाद्रित स्त्री कवि की शब्द और बिम्ब संपदा के स्रोत अनंत है। यहाँ लोकजीवन का कोई अनूठा प्रसंग विश्व साहित्य के किसी मार्मिक प्रसंग की उंगली पकड़कर उसी तरंग में उठता है जिसमें चेखव की तीन बहनें उठती थीं। मिलकर देखे एक सपने का तबोताब है इनमें।''[3] अनामिका की कविताओं की पात्र, घटना, प्रतीक, कहने की शैली इत्यादि अपने लोक से जुड़ी हुई है। इसीलिए ये कविताएं व्यक्तिगत रूप से सामाजिक तक की यात्रा करती हैं। 'खुरदुरी हथेलियाँ' संग्रह की कविताएं, मौसियाँ, ऊनी टोपी, चीख, जलेबियाँ हंसी, डाक टिकट, अनपढ़, भरोसा इत्यादि में लोक की खुश्बू से भरी हुई है। घर की वस्तुओं और एक स्त्री का उससे संबंध मौसियाँ कविता में देखने को मिलता है। इस कविता में स्त्री जीवन और परिवार के अंतर संबंधों को लोक बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से ऐसा व्यक्त किया है कि कविता पढ़ने वाला पाठक बड़ी आसानी से अपने को जोड़ लेता है।''चटनी-अचार मूंगबाड़ियाँ और बेस्वाद संबंध चटपटा बनाने के गुप्त मसाले और नुस्खे सारी उन तकलीफों के जिन पर ध्यान भी नहीं जाता औरों का।''[4]

भारतीय जनमानस में व्याप्त लोकगीतों को यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो उनमें स्त्री जीवन की तमाम दारुण कथाएं हैं। अपनी वेदनाओं को स्त्रियाँ गीतों के माध्यम से गाकर व्यक्त करती हैं। उन गीतों में उनकी वेदना की गहरी छाप देखी जा सकती है। घर छोड़कर ससुराल जाने का दर्द हो, बाल विवाह, दहेज का दंश हो या वियोग सभी प्रकार के मनोभावों को स्त्रियों ने अपने गीतों में गाया है। इसी लिए रेखा सेठी ने अनामिका की कविताओं को ''लोक संवेदना का स्त्री राग''[5] कहा है। लड़कियों का बोलना, तर्क करना, खुलकर जीना किस तरह पुरुषवादी मानसिकता को कचोटता है? इसका उदाहरण अनामिका की कविताओं में देखा जा सकता है। विवाह के समय गाए जाने वाले गीतों में अक्सर नायक राजकुमार ही होता है, उसके बाद भी स्त्रियों को अपनी नियति पता होती है। इन गीतों में अक्सर अपने उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यंजना भी होती है। 'छप्पर की मालाएं' कविता में पति-पत्नी संबंध से ज्यादा भरोसा दोस्ती पर होता है उसे लोक प्रतीकों में कौआ के माध्यम से बताती है–

छप्पर के कौओं से ही/कर लूँगी दोस्ती, काक भूसुंडी की कथाएं सुनूंगी/जयंत कौए का पूछूंगी हाल-चाल और एक दिन किसी मन पसंद कौए के पंखों पर उड़ जाऊँगी सारी हद बेहद के पार।''[6]

समकालीन हिन्दी कविता में लोक चेतना विषय से जुड़कर कुछ मुद्दे साहित्यकार और आस्वादकों के सामने एक चुनौती के रूप में उभर कर आते हैं। विज्ञान और तकनीकी के युग में क्या यह चेतना नष्टप्राय होती जा रही है? क्या वह धारा आज चुनौतियों का सामना कर रही है? क्या वह एक पूरक तत्व है या विरोधी? क्या विश्वग्राम का वैचारिक पहलू हमारी लोकचेतना को झकझोर कर डालेगी या साथ लेकर चलेगी? क्या आज के युग में साहित्य की लोकचेतना केवल संग्रहालय की चीज बनकर रह गई है? क्या वह आस्था और जीवन मूल्य का अटूट हिस्सा है? साहित्यकार उसको बिकाऊ चीज के रूप में मानते हैं या टिकाऊ? केवल दिमागी कसरत के रूप में लोकचेतना को साहित्य में जगह देती है तो उसमें ऊर्जा और उन्मेष की गुंजाइश न रहेगी। इन प्रश्नों का उत्तर अनामिका अपनी पुस्तक 'स्त्री विमर्श का लोकपक्ष' में देती हैं, वो कहती हैं, ''स्त्री संबंधी विमर्श के शास्त्रीय आधार जितने संपुष्ट हैं उससे कम संपुष्ट उसके लोक तात्विक आधार नहीं। लोक-मनीषा में स्त्री संबंधी दो द्वित्व विलोम आपस में टकराते हुए दिखते हैं। सुखिया और दुखिया दो तरह की स्त्रियाँ मानी गई हैं जो लोक कथाओं में बहनापे के रूप में प्रगट होती है।''[7] कविता के आस्वादन और विज्ञान और तकनीकी के इस युग में स्त्री भाषा और भाव लोक के साथ मिलकर कविता को अधिक संप्रेक्षणीय बना देती है। ''बीर बहूटी सी लाल लाली लाली डोलियाँ में लाली रे दुल्हनियां जित देखों तित लाल की लाली से लहालोट था वह सूती लत्ता/जिसका घूँघट ओढ़ें बैठे थे चुकमुक पयाऊँ के जोड़वाँ घड़े/उस चौराहे पर!''[8]

साहित्य की लोकचेतना की अपनी खूबियाँ अवश्य होती हैं। पतन के पड़ाव पर पहुंचने के अवसर पर साहित्य की कमजोर विधाओं के सशक्तिकरण के बारे में सक्रिय सतर्क चर्चाएं सबल बन जाती हैं। यह साहित्य की लोकचेतना के लिए भी लागू होती है। शुरू में ही यह संकेत देना उचित होगा कि हमारे समाज में 'लोक' शब्द के अर्थ की कई छवियाँ हैं। उसको विशेषण के रूप में रखकर कई शब्द प्रचलित हैं–जैसे लोकगीत, लोककथा, लोकभाषा, लोकवाणी, लोकमत, लोकतंत्र, लोकजीवन, लोकलाज, लोकप्रियता। लोकचेतना के पोषक तत्वों की तलाश भी

आज अनुसंधान का विषय है। नेतृत्व विज्ञान, समाज विज्ञान, मिथक, आदिबिंब आदि उनमें शामिल हैं। लोक साहित्य को पहले दूर-दराज के गाँवों के निरक्षरों के जीवन निरीक्षण के नमूने के रूप में समाज ने मान लिया था। लेकिन आज वह विशेषज्ञों के लिए गहन अध्ययन की विधा बन गई है। समाज में कई अवसरों पर स्त्रियों द्वारा लोकगीतों को गाया जाता है। धार्मिक गीत, मांगलिक गीत, श्रमगीत आदि। बच्चों को प्रारम्भिक और नैतिक शिक्षा के लिए स्त्रियों ने इन कथाओं को जन्म दिया, जिसकी भाषा में ममत्व प्रेम और आदर्श प्रमुख रहा। अनामिका अपनी कविताओं का विषय इसी लोक से उठाती हैं। अनामिका का स्त्री विमर्श मुख्यता करुणा और स्त्रीत्व पर आधारित है, जिसकी ऊर्जा उन्हें लोक से मिलती है। ''लड़कियां हवा, धूप, मिट्टी होती हैं/ उनका कोई घर नहीं होता/ जिनका कोई घर नहीं होता/उनकी होती है भला कौन सी जगह/ कौन सी जगह होती है ऐसी/जो छूट जाने पर औरत हो जाती है/कटे हुए नाखूनों, कंघी में फँसकर/ आये हुए केशों सी/ एक दम से बुहार दी जाने वाली?''[9]

नव उपनिवेशवाद, उत्तराधुनिकता और भूमंडलीकरण की चकाचौंध आज साहित्य की सहजता को प्रदूषित कर रही है। नाना प्रकार की व्यस्तताएं जीवन को यांत्रिक बना रही हैं। दिल को दिल्लगी मिलने के क्षण कम हो रहे हैं। इसलिए लोकचेतना की धड़कन आज की कविता में अधिक अनुभूत नहीं होती। फिर पाठकीय अभिरुचि भी उस ओर अधिक उन्मुख नहीं है। आलोचकों के इन निष्कर्षों को एकदम बेबुनियाद ठहराना भी ठीक नहीं लगता। अनामिका की कविताओं का स्वर समकालीन कवयित्रियों में बिल्कुल अलग है। उनके यहाँ स्त्री विमर्श सिर्फ जेंडर तक सीमित नहीं है। अनामिका की कविताओं का स्वर वे सभी बनते हैं जो शोषित हैं वंचित है। स्त्री जीवन को कबीर जैसे कवि ने माया, ठगनी, काजल की कोठरी जैसी संज्ञा दी है। अनामिका 'काजल' कविता में इन संज्ञाओं को स्वीकारते हुए अपनी महत्ता को लोक के रंग में ऐसे व्यक्त करती हैं कि पाठक के मन में गहरा प्रभाव डाल दे। ''देखों तो मुझको/ रहती हूँ काजल की कोठरी में/ पर काजल पारना नहीं जानती/ आँखों में बसकर मैं भी तो काजल बन जाती/ माथे पर चढ़कर दिठौना नहीं बसी/ नहीं चढ़ी, नहीं सही खुश हूँ/ मैं मोंखे की दीवार पर भी।''[10] प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका सिमोन द बोउआ कहती हैं कि स्त्री पैदा नहीं होती है बल्कि बनाई जाती है। इसके लिए स्त्री के लिए 'सेकेंड सेक्स' की संज्ञा दी है। अनामिका स्त्री की यही दोयम नागरिक की बात को लोक शब्दों के द्वारा इतने सहज ढंग से कहती हैं कि इसके लिए पारिभाषिक शब्दावली की जरूरत नहीं पड़ती है। अनामिका स्वयं कहती हैं कि ''क्या कहा गया है इससे अधिक जरूरत कैसे कहा है पर होतीं है।''[11] कह सहजता से कहने का ढंग अनामिका को लोक से मिला है। अनामिका कहती हैं कि ''पढ़ा गया हमको/जैसे पढ़ा जाता है कागज बच्चों की फटी कापियों का/चनाजोर गरम के लिफाफे बनाने के पहले देखा गया हमको/जैसे कि कुफत हों उन्हीं देखी जाती है कलाई घड़ी/अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद।''[12] साहित्य की लोकचेतना उतनी प्राचीन है जितना आदि मानव। उसमें रागात्मक पक्ष उसे मुख्य बनाता है। ग्रामीणों के पर्व, त्योहार, आचार-विचार, रिश्ते, जीवनमूल्य आदि को उन्हीं की बोली में अभिव्यक्ति मिलती है। उनके भाव और भाषा में अपनी मिट्टी की सुगन्ध आती है। उसमें मन की जड़ता को दूर करने की अपूर्व क्षमता होती है। लोक मौखिक और जीवंत परंपरा का हिस्सा है। वह, असल में एक अमुक व्यक्ति की भावाभिव्यक्ति नहीं है, वरन् समष्टि की भावाभिव्यक्ति का आईना हैं। वह समाज की धरोहर हैं। पुराने समाज की धड़कन और स्पन्दन उसको सप्राण बनाती हैं। सामाजिक-पारिवारिक मूल्य ही उसकी जैव खाद है। लोक साहित्य मानवीय रिश्तों को मधुर बनाता है। भोले-भाले आदमियों के अरमानों को मजबूत बनाता है। अनामिका की कविताएं इन लोक तत्वों से संपुष्ट हैं, इसीलिए ये कविताएं पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं।

संदर्भ

1. डॉ. संतराम देशवाल, हरियाणा संस्कृति एवं कला, हरियाणा ग्रंथ अकादमी पंचकुला, संस्करण, 2017, पृ. 27
2. कृष्ण देव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, सं., 1995, पृ. 25
3. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2019, फ्लैप पर टिप्पणी, 4. वही, 21
5. रेखा सेठी, स्त्री पक्ष एवं परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, 2019, पृ. 226
6. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2019, पृ. 23
7. अनामिका, स्त्री विमर्श का लोक पक्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2012, पृ. 219
8. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2019, पृ. 56, 9. वही, 16, 10. वही, 18
11. अनामिका, मन माँझने की जरूरत, सामयिक प्रकाशन, स. 2012, पृ. 11
12. अनामिका, खुरदुरी हथेलियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, स. 2019, पृ. 13

–डॉ. उपेन्द्र कुमार
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय, रांची

राजनीतिक भूगोल के वैदिक आयाम

—डॉ. रत्नेश शुक्ल
—रोहणी तिवारी

शोध सार— वैदिक चिन्तन ने भूगोल को एक शाश्वत विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसके अन्तर्गत मूलभूत रूप से उच्चावच, जलवायु, प्रादेशिक अध्ययन, सामाजिक संरचना, आर्थिक क्रियाओं, परिवहन, पर्यावरण तथा मानव-पृथ्वी अन्तर्सम्बन्धों सम्बन्धी विविध आयामों को समाहित किया जाता है। निश्चित रूप से विविध भौगोलिक लक्षणों वाली पृथ्वी और राज्य के मध्य अर्न्तसम्बन्धों का राजनीतिक भूगोल रूपी क्रमबद्ध अध्ययन भी इसी वैदिक चिन्तन की ही एक अमूल्य देन है। प्रस्तुत शोध पत्र राजनीतिक भूगोल के इसी वैदिक चिन्तन की वर्तमान प्रासंगिकता का अध्ययन करता है। प्रस्तुत शोध पत्र का मूलभूत उद्देश्य प्रशासनिक संरचना, सुशासन, राजा के कर्तव्य, राज्य, राष्ट्र जन, जनता तथा जनवाद, युद्ध, विश्वशांति, विश्व बन्धुत्व एवं सामाजिक समरसता जैसे राजनीतिक भूगोल के विषयक प्रकरणों के वैदिक चिन्तन की विवेचना के साथ-साथ उनकी वर्तमान प्रासंगिकता का अध्ययन करता है। यह शोध पत्र प्राथमिक एवं द्वितीयक सूचनाओं के एकत्रीकरण एवं विलेश्षण की त्रि-स्तरीय संरचना पर आधारित है। वेद सम्बन्धी अध्ययनोपरान्त यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वर्तमान समय में जब विश्व अशांति के मार्ग पर अग्रसर हो और तृतीय विश्व युद्ध से समस्त विश्व आक्रान्त हो तो ऐसे विनाश काल में वेदामृत ही शान्ति रुपी जीवन प्रदान कर सकने में सक्षम है।

शब्द कुंजी—राजनीतिक भूगोल, प्रशासनिक संरचना, राज्य, राष्ट्र, जन, जनता तथा जनवाद, युद्ध, विश्वशांति, विश्व बन्धुत्व एवं सामाजिक समरसता।

रूपरेखा— भारतीय ज्ञान परम्परा की आधारशिला निश्चित रूप से वेद ही है जो कि मानव के लिए मात्र आध्यात्मिकता मार्ग का ही नहीं प्रशस्त करते अपितु अक्षुण्ण अलौकिक ज्ञान के माध्यम से मानव को विविध विषयक ज्ञान प्रदान करते हैं। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, वैसे-वैसे मानव की अन्तर्दष्टि विकसित होती गई। वह वेद रूपी विविध विषयक अमूर्त ज्ञान को मूर्त ज्ञान के विषयों एवं शाखाओं में वर्गीकृत कर अध्ययन करने लगा अर्थात् वह जो ज्ञान भूतकाल में मानव के पास में था तथा वर्तमान में जो मानव के अधीनस्थ है तथा भविष्य में जिसकी प्राप्त हेतु मानव प्रयासरत है, समस्त का मूल सदैव वेद के गर्भ में निहित है। श्रीवास्तव, वी.के. (2005, पृ52) अनुसार, ''वैदिक युगीन भूगोल के ज्ञान का वर्णन प्रादेशिक विस्तार, उच्चावच, जलवायु, सामाजिक भूगोल, उद्योग एवं परिवहन शीषकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।'' किसी भी देश के राजनैतिक विकास में उपयुक्त उल्लेखित कारकों का विशेष महत्व हैं क्योंकि राजनीतिक भूगोल पृथ्वी के भौगोलिक लक्षणों एवं राज्य के मध्य अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदों द्वारा ही पृथ्वी एवं राज्य के अन्तर्सम्बन्धों को मूलभूत चिन्तन का बीज रोपा गया, वही कालान्तर में राजनीतिक भूगोल के रूप में एक पल्लवित वृक्ष हुआ। निश्चित रूप से राजनीतिक परिपेक्ष्य में वैदिक चिन्तन परम्परा यूनानी और रोमन भौगोलिक चिन्तन परम्पराओं से भी पुरातन तथा समृद्ध है परन्तु अत्यन्त खेद का विषय यह है कि यथोचित महत्व के अभाव में यह चिन्तन परम्परा प्रचारित-प्रसारित होने के स्थान पर हाशिये पर ढ़केले गई। प्रायः भूगोल की पुस्तकों में प्राचीन भारत के भौगोलिक विचारों के अन्तर्गत भौगोलिक ज्ञान का अभ्युदय यूनानी और रोमन के पश्चात् मानकर तदनुरूप पठन-पाठन हेतु पाठ्य पुस्तकों में व्यवस्थित किया जाता है। वेदों ने पृथ्वी को जड़ वस्तु नहीं माना अपितु वेदों ने ही सर्वप्रथम यह स्थापित किया कि भूमि माता के समान है और मानव उसका पुत्र है। यही वैदिक चिन्तन कालान्तर में 'मानव भूमि की उपज है'(सेम्पुल, 1911, पृ.1) के रूप में विकसित हुआ। वेदों ने ही पृथ्वी एवं मानव के मध्य भावजनित सम्बन्धों का बीजारोपण किया। प्रस्तुत शोध पत्र राजनीतिक भूगोल के वैदिक चिन्तन रूपी मूलाधार का वर्णन करते हुए वर्तमान विश्व में इसकी प्रासंगिकता को सिद्ध करने का प्रयास करता है।

शोधपत्र के उद्देश्य— प्रस्तुत शोधपत्र के निम्नलिखित उद्देश्य है।

1. राजनीतिक भूगोल के विषयक प्रकरणों यथा प्रशासनिक संरचना, सुशासन, राजा के कर्तव्य, राज्य, राष्ट्रजन,

जनता तथा जनवाद, युद्ध, विश्वशांति, विश्व बन्धुत्व एवं सामाजिक समरसता से सम्बन्धी वैदिक चिन्तन का विश्लेषण करना।

2. राजनीतिक भूगोल के उपर्युक्त उल्लिखित प्रकरणों से सम्बन्धी वैदिक चिन्तन की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना।

विधितन्त्र : प्रस्तुत शोध पत्र हेतु निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्राथमिक एवं द्वितीयक सूचनाओं के संश्लेषण की त्रि-स्तरीय संरचना का प्रयोग किया गया है। प्रथम दृष्टया यह शोध पत्र प्रकाशित एवं अप्रकाशित द्वितीयक सूचनाओं के प्रधान एवं गौण स्रोतों पर आधारित प्रतीत होता है परन्तु विषय की दुरुहता एवं गाम्भीर्य को दृष्टिगत रखते हुए सूचना संग्रहण की इस प्रक्रिया में विषय-विशेषज्ञों की व्याख्या को प्राथमिक सूचना के रूप में सम्मिलित कर सम्यक विवेचन करने का प्रयास किया गया है। त्रि-स्तरीय संरचना के प्रथम स्तर के अन्तर्गत समस्त वेदों को, द्वितीय स्तर के अन्तर्गत विषयानुकूल प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य को तथा तृतीय स्तर पर उपर्युक्त दोनों स्तरों से प्राप्त सूचनाओं का विषय विशेषज्ञों द्वारा विश्लेषण को सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार तीनों स्तरों से प्राप्त सूचनाओं को अन्ततः समाकलित किया गया है।

पूर्व साहित्य का पुनरावलोकन : वेद विषयक विभिन्न आयामों पर अध्ययन की ओर सदैव से ही भूगोल वेत्ताओं की प्रवृत्ति रही है। दास, अबिनास चन्द्रा (1921) द्वारा ऋग्वेदकालीन भारत का वर्णन किया गया। भार्गव, पुरुषोत्तम लाल (1956) ने भारत का वैदिक काल के सन्दर्भ में वर्णन किया। इस सम्बन्ध में लाहा, बिमल चरण (1972) द्वारा प्राचीन भारत के ऐतिहासिक भूगोल का अध्ययन किया गया। वेदों में विज्ञान सम्बन्धी विषय पर एक महत्वपूर्ण अध्ययन द्विवेदी, कपिल देव (2000) द्वारा किया गया। प्राचीन भारत के ऐतिहासिक भूगोल सम्बन्धी अध्ययन कालान्तर में जायसवाल, एस. के. (2009) द्वारा भी किया गया। द्विवेदी, कैलाश नाथ (2009) ने वैदिक भूगोल के अन्तर्गत भूगोल की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन वैदिक आलोक में प्रस्तुत किया। देवी, पूनम (2017) द्वारा ऋग्वेदकालीन भूगोल का अध्ययन किया गया। विरादिया, मंजुला (2018) द्वारा वेदों में उल्लिखित राष्ट्र की राजनैतिक स्थिति का अध्ययन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में किया। शुक्ल, रत्नेश (2020) द्वारा वेदों के आलोक में मानव भूगोल का अध्ययन किया गया जिसमें राजनीतिक भूगोल के वैदिक सन्दर्भों हेतु एक आरम्भिक रूपरेखा प्रस्तुत की गई। शर्मा, सीमा रानी (2022) द्वारा वैदिक वाङ्मय में लोकतन्त्र की अवधारणा का अध्ययन किया गया। इस प्रकार यह अध्ययन राजनीतिक भूगोल की वैदिक रूपरेखा को क्रमबद्ध रूप से विस्तार प्रदान करता है।

विवेचना : प्रस्तुत शोध पत्र की विवेचना के प्रथम खण्ड के अन्तर्गत राजनीतिक भूगोल विषयक प्रकरणों से सम्बन्धी वैदिक चिन्तन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है तथा द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत वैदिक आलोक में विवेचित राजनीतिक भूगोल विषयक प्रकरणों की वर्तमान प्रासंगिकता का मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया गया है।

राजनीतिक भूगोल विषयक वैदिक चिन्तन : राजनीतिक भूगोल विषयक प्रकरणों से सम्बन्धी वैदिक चिन्तन का विश्लेषण किया जाएगा जिसके अन्तर्गत प्रशासनिक संरचना, सुशासन, राजा के कर्तव्य, राज्य, राष्ट्र, जन, जनता तथा जनवाद, युद्ध, विश्वशांति, विश्व बन्धुत्व एवं सामाजिक समरसता प्रमुख है। क्रमबद्ध विवेचन इस प्रकार है—वेदों का सूक्ष्मावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में उल्लिखित सभा, समिति, विदथ और गण नामक प्रशासनिक एवं जनतान्त्रिक संस्थाएं हैं। ऋग्वेद में सभा का उल्लेख आठ बार, समिति का उल्लेख नौ बार, विदथ का उल्लेख 122 बार और गण का उल्लेख 46 बार प्राप्त होता है। वेदों में वर्णित राजनीतिक व्यवस्था में सर्वप्रथम राजा है जो युद्ध एवं शासन के द्वारा प्रजा का पालन-पोषण करते थे जिनका चयन उच्चवंश परम्पराधारित होता था। प्रशासनिक व्यवस्था की संरचना कुल (परिवार) से ग्राम, ग्राम से विश, विश से जन, जन से राज्य अथवा राष्ट्र के क्रम में श्रृंखलाबद्ध है। प्रशासनिक एवं न्यायिक कार्यों हेतु सभा का संचालन किया जाता था जिसमें जन के वरीय सदस्यों द्वारा भागीदारी की जाती थी। सभा के पश्चात् समिति राजनीतिक कार्यों के संचालन हेतु निर्णय लेने वाली वह व्यवस्था थी। समिति नामक व्यवस्था के अन्तर्गत राजा के चुनाव के भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं। अतः समिति का समर्थन प्राप्त करने हेतु राजा उत्सुक रहते थे। सभा और समिति के साथ-साथ इस काल में विदथ और गण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्य प्रशासनिक संस्थाएं हैं। विदथ एक ऐसी सभा थी जो धर्म निरपेक्षता के आलोक मे सामाजिक-आर्थिक और धार्मिक निर्णय लेने के साथ-साथ सैन्य सम्बन्धी निर्णय भी लिया करती थी। गण शब्द को सभा द्वारा शासित रूप में व्याख्यित किया जाता है अर्थात् एक या एक से अधिक इकाई मिलकर जो शासन कार्य करते थे, उन्हें ही गण कहा गया है।

लक्ष्य है प्राणी मात्र का अभय होना अर्थात् किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का, किसी से भी प्राणभय न हो अर्थात् राज्य/राष्ट्र की सीमा सुरक्षित हो, समाज विभिन्न प्रकार के अपराध एवं आन्तरिक कलह से मुक्त हो, सभी प्राणी अपनी जीवन प्रत्यशा की आदर्श आयु पूर्ण कर रहे

हो। इस सम्बन्ध में अर्थवेद का प्राण सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अर्थवेद के प्राण सूक्त के अतिरिक्त शाला सूक्त, दुन्दुभि सूक्त, मृत्यु सूक्त तथा पृथ्वी सूक्त में सर्वजीव मैत्री अर्थात् एकता सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए हैं जो कि राष्ट्र के सुशासन का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य हैं—यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रियतः एवा मे प्राण! मा बिभेः। यथश हश्च रात्री च न बिभीतो न रिय एवा मे प्राण! मा बिभेः।। (अथर्ववेद, 2/15/1 से 2)

ऋग्वेद राजा के प्रजा के प्रति कर्तव्य और प्रजा की राजा के प्रति अपेक्षाओं को व्यक्त करता हुआ निर्देशित करता है कि राजा को विनाशकारी शत्रुओं के विनाश हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए तथा राज्य में मानव संसाधनों के संवर्धन हेतु लिए अतिरिक्त मूर्धन्य विद्वानों को आश्रय देना चाहिए ताकि राज्य के सम्यक विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकें। यो वृत्राय सिनमत्रभरिष्यत्र तं जनित्री विदुष उवाच। पथो रदन्तीरनु जोषमस्मै दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम्।। (ऋग्वेद, 2/30/2)

वेदों में राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया गया है—'मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य' (ऋग्वेद, 4/42/1) अतः ऋग्वेद ही राष्ट्रीयता के प्रथम संस्थापक है। ''माता भूमिः पुत्रेऽहं पृथिव्याः'' (अथर्ववेद, 12/1/12) के माध्यम से अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त ने पृथ्वी और मानव के मध्य सम्बन्धों को भाव जनित रूप में व्यक्त किया है। पृथ्वी सूक्त के अतिरिक्त साम्मनस्य या संज्ञान सूक्त, पुरुष सूक्त, वाक सूक्त, प्राण सूक्त आदि में राष्ट्रीयता का निरूपण किया गया है। ऋग्वेद, दशम् मण्डल में 191 वें सूक्त के ऋचाओं में व्यक्त हृदय, मन और कार्य से जन समुदाय के मध्य परस्पर पूर्णरूपेण एकता, संगठन एवं समानता राष्ट्र की अवधारणा को ही व्यक्त करता है—समानो मन्त्रस्समितिस्समानी, समानं मनः सह चित्तमेशम् । समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।। (ऋग्वेद,10/191/3) शुक्ला (2020) के अनुसार "वेदों में राष्ट्र को विराट पुरुष के पीठ के समान और प्रजा को ग्रीवा, कन्धें, कटि, जंघा और घुटने के समान बताया गया हैं।'' निश्चित रूप से यह भारतीय वैदिक चिन्तन रेटजेल के राज्य के जैविक सिद्धान्त की पृष्ठ भूमि है। उल्लिखित चिन्तन से सम्बन्धित ऋचा द्रष्टव्य हैं—पृष्ठीर्मे राष्ट्रम् उदरम् असौ ग्रीवाश् च श्रोणी। ऊरूअरत्नी जानुनी विशो मे ङ्गानि सर्वतः।। (यजुर्वेद, 20/8)

जन राज्य का एक अभिन्न अंग है। जन शब्द मूलभूत रूप से ऋग्वेद में प्रथम बार इन्द्र सूक्त द्वितीय मण्डल में प्रयुक्त हुआ है जिसमे महर्षि गृत्समद समस्त जनों को सम्बोधित करते हुए इन्द्र के वैभव, विक्रम, शौर्य तथा ऐश्वर्य का परिचय देते हैं। विभिन्न वेद ऋचाओं में स्पष्ट रूप से जन परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मिश्र (2023, पृ. 72) के अनुसार, "अथर्ववेद में पृथ्वी सूक्त (12/1) में जन शब्द पाँचवें मन्त्र में पूर्वजना :, 15 वें मन्त्र में प्चजनाः तथा 47 वें मन्त्र जनायनाः तथा 57 वें मन्त्र में जनान् तथा 61 में जनानाम् के रूप में प्रयुक्त मिलता है।'' जन का अर्थ जन्म लेने वाला मानव तथा इसी जन में तल् प्रत्यय जुड़ने से जनता तथा इसी जनता सम्बन्धी चिन्तन से जनवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसी भाव को अथर्ववेद में 'प्रजान्ाच हिते हितम्' (अथर्ववेद, 1/19/39) द्वारा व्यक्त करके पुष्ट किया गया है।

राजनीतिक ऋग्वेद के राजा की कर्तव्यों के अन्तर्गत राज्य की सम्पत्ति पर बलपूर्वक अधिग्रहण की दशा में, मान एवं सम्प्रभुता को क्षति पहुंचाने वाले शत्रु के विनाश हेतु युद्ध की अपरिहार्यता को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि युद्ध के बहुधा प्रसंग मनुष्येत्तर कोटि में इन्द्र के सन्दर्भ में प्राप्त होते हैं परन्तु राजा के रूप में राजा सुदास और दसराज्ञ युद्ध का विवरण ऋग्वेद के सातवें मण्डल में प्राप्त होता है। यह युद्ध परुषणी नदी के तट पर लड़ा गया जिसे वर्तमान में रावी के नाम से जानते हैं। ईयुरर्थं न न्यर्थं परुषणीमाशुश्चनेदभिपित्व जगाम। सुदास इन्द्रः सुतुकाँ अमित्रनरन्धयन्मानुष वध्रिवाचः ।। (ऋग्वेद, 7/18/9) वेदों में युद्ध में प्रयुक्त तत्कालीन अस्त्रशस्त्र के रूप में धनुष बाण का वर्णन किया गया हैं—''धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम'' (ऋग्वेद, 6/75/2)। ऋग्वेद का संज्ञान सुक्त विश्वशान्ति, के अन्तर्गत एकता सद्भाव एवं सहयोग हेतु निर्देशित करते हुए कहता है कि भाषा, धर्म एवं विचारों से विभिन्नताओं युक्त समस्त प्राणी अपने हृदय में एकता को प्रतिष्ठित कर, विविध विरोधों का परित्याग कर, मनसा, वाचा, कर्मणा सामाजिक समरसता से परिपूर्ण होकर संयुक्त प्रयास द्वारा स्वध्येय की प्राप्ति हेतु राष्ट्र हित में अग्रसर हो—सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा यथा सद्वध्धे सूजानाना उपासते।।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनःयथा नः सुसहासति।। (ऋग्वेद,10/191/2 एवं 4) प्राणियों में परस्पर एकता, सौहार्द, मैत्री एवं सर्वत्र शान्ति (विश्व शान्ति) का यही भाव यजुर्वेद में भी परिलक्षित होता है—द्यौः शान्तिर् अन्तरिक्षः शान्तिः पृथिवी शान्तिर् आपः शान्तिर् औाधयः शान्तिः। वनस्पतयःशान्तिर् विश्वे देवाः शान्तिर् ब्रह्म शान्तिः सर्वः शान्तिः शान्तिर् एवं शान्तिः सामा शान्तिर् एधि।। दृते दृःह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि सम् ईक्षन्ताम् ।मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा सम् ईक्षामहे।। (यर्जुवेद, 36/17 से 18) अथर्ववेद भी एक दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष एवं ईर्ष्या के स्थान पर प्रेम, मैत्री एवं दया द्वारा विश्व बन्धुत्व का मार्ग निर्देशित करता है तभी प्राणियों मे अभय का संचार होगा अर्थात् सुशासन द्वारा सुदृढ़ राष्ट्र का

निर्माण होगा। अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावाप थिवी उभे इमे। अभयं.पचादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु। अभयं मित्रदभयममित्रदभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।। (अथर्ववेद, 19/15/5 से 6)

लोकतन्त्र के वर्तमान स्वरूप की आधारशिला निश्चित रूप से वेद ही है। वेद लोकतन्त्र के पालन का तर्क के साथ-साथ एक नैतिक सम्बल भी प्रदान करते है। वेदों में वर्णित प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाएं वर्तमान में प्रजा के हितों की रक्षा के सन्दर्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। राज्य में सुशासन स्थापित करना प्रत्येक कालखण्ड में राज्यों की प्रथम वरीयता है। राज्यों में सुशासन हेतु सीमाओं की सुरक्षा, राष्ट्र की अखण्डता एवं सम्प्रभुता, आन्तरिक कलह से मुक्ति, अपराध से मुक्ति, प्रजा की सुरक्षा के फलस्वरूप अभय की अनुभूति प्रमुख है। निश्चित रूप से किसी भी देश अथवा राज्य के लिए मानवीय संसाधन सदैव ही एक अमूल्य निधि है। अतः शासक को राज्य में मानव संसाधनों के संवर्धन हेतु प्रोत्साहन प्रदान करना सदैव प्रासंगिक है। वेदों में वर्णित युद्ध की अपरिहार्य दशाओं के अन्तर्गत कहा जा सकता है जब शारीरिक, आत्मिक एवं भावनात्मक पोषण करने वाली वस्तुओं के बलात् अपहरण द्वारा मान की क्षति हो तब ही युद्ध की अपरिहार्य होता है अर्थात् राज्य की सम्पत्ति पर बलपूर्वक अधिग्रहण की दशा में, राष्ट्र के मान एवं सम्प्रभुता को क्षति पहुँचाने की दशा में ही युद्ध अनिवार्य होता है। वर्तमान में जब विश्व के अधिकांश देश एक दूसरे स्वयं को बलपूर्वक अध्यारोपित करने की चेष्टा में हो तब वेद द्वारा प्राशस्त विश्वशांति, विश्व बन्धुत्व एवं सामाजिक समरसता के मार्ग से ही मानव कल्याण सम्भव हैं।

उपसंहार : आधुनिक प्रकरणों के दृष्टिकोण से राजनीतिक भूगोल का विषयक्षेत्र निश्चित रूप से अत्यन्त व्यापक है परन्तु इस व्यापक वृक्ष का मूल वेद ही है। जिस प्रकार एक बीज में सम्पूर्ण वृक्ष का विकास अन्तर्निहित होता है ठीक उसी प्रकार वेदों द्वारा प्रदान किए गए आधारभूत चिन्तन में विषय की सम्पूर्ण व्यापकता अन्तर्निहित है। वेदों द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक व्यवस्थाएँ, राजधर्म, राजनीति सम्बन्धी चिन्तन एवं निर्देशित कर्तव्य वर्तमान में इस प्रकार अत्यन्त प्रासंगिक है कि मानव कल्याण एवं विश्व शान्ति हेतु एक मात्र विकल्प वेदों की ओर लौटना ही है।

सन्दर्भ

1. अथर्ववेद
2. ऋग्वेद
3. जायसवाल, एस. के. (2009), प्राचीन भारत के ऐतिहासिक भूगोल, न्यू रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश
4. द्विवेदी, कैलाश नाथ (2009), वैदिक भूगोल सप्तसैन्धव प्रदेश, रचना प्रकाशन, जयपुर, राजस्थान
5. द्विवेदी, कपिल देव (2000), वेदों में विज्ञान, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही), उत्तर प्रदेश
6. देवी, पूनम (2017), ऋग्वेदकालीन भूगोल, इंटरनेशनल रिसर्च *जर्नल ऑफ कार्मस, आर्ट्स एण्ड साइंस, संस्करण 8 अंक 8,* पृ. 237-243
7. लाहा, बिमल चरण (1972). प्राचीन भारत के ऐतिहासिक भूगोल, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश
8. मिश्र, अभिराज राजेन्द्र, (2023) *विश्वगुरू भारत,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश
9. यर्जुवेद
10. विरादिया, मंजुला (2018). वेदों में राष्ट्र की राजनैतिक स्थिति-वर्तमान परिपेक्ष्य में *जर्नल ऑफ सोशल साइंस,* अंक 18, पृ.1-7।
11. शुल्क रत्नेश (2020). वेदों में वलणत मानव भूगोल सम्बन्धी विषयवस्तु की विवेचना, *शोध सरिता,* संस्करण 7 अंक 26; पृ.14-17
12. शर्मा, सीमा रानी (2022). वैदिक वाङ्मय में लोकतन्त्र की अवधारणा, *स्कालरी रिसर्च जर्नल फॉर ह्यूमनिटी साइंस एण्ड इंग्लिश लैंग्वेज,* अंक 10/52 पृ. 13301-13305
13. श्रीवास्तव, वी.के. (2005). भौगोलिक चिन्तन के आधार, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश।
14. Bhargava, P.L. (1956). India in the Vedic Age, The Upper India Publishing House Ltd, Lucknow, India.
15. Das, A. C. (1921). Rig-Vedic India, University of Calcutta, Calcutta, India.
16. Semple, E.C.(1911). Influences of Geographic Environment, Henry Holt and Company, New York.

–डॉ. रत्नेश शुक्ल
असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर भूगोल विभाग,
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

–रोहणी तिवारी
शोधार्थिणी (संस्कृति) लाजपत राय कालेज,
साहिबाबाद (गाजियाबाद), उत्तर प्रदेश

न्याय की सामाजिक एवं आर्थिक अवधारणा–एक दृष्टि

–माधवेन्द्र तिवारी
–डॉ. तरूण कुमार राय

न्याय की अवधारणा निरंतर एक गतिशील अवधारणा रही है। इसलिए इसे परिभाषित करने के प्रयास में मुख्य कठिनाईयाँ आती है। जो निम्नलिखित है :

1. 'न्याय' शब्द से, भिन्न-भिन्न लोगों ने विभिन्न युगों और विभिन्न स्थानों में विभिन्न अर्थ लगाये हैं। इसलिए इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के कारण, हर मानव के लिए इसके निहितार्थ अलग-अलग हैं।

2. न्याय का विचार एक गतिशील अवधारणा है, परिणामस्वरूप इसके निहितार्थ में कालान्तर में परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार हो सकता है कि जो अतीत में न्याय हो, वह वर्तमान में अन्याय हो और जो अतीत में अन्याय रहा हो, वह आज न्याय हो जाए। उस समय एक और समस्या उत्पन्न होती है जब न्याय के अमूर्त विचार का, इसके व्यावहारिक धरातल से, सामंजस्य करना पड़ता है। उदाहरण के लिए हम दैवी या नैतिक न्याय की चर्चा कर सकते हैं, लेकिन यह किन्ही मानकों के अनुरूप नहीं होगा और इस कारण इसे व्यावहारिक रूप में लागू करने के योग्य नहीं समझा जायेगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'अधिकांश लोग यह समझते हैं कि वे न्याय के अभिप्राय को जानते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि न्याय के बारे में उनकी अवधारणा बहुत अस्पष्ट होती है। इसके बावजूद न्याय की संकल्पना के कतिपय निश्चिय निहितार्थ है। पहली बात तो यह है कि न्याय की अवधारणा के लिए न्यायपूर्ण स्थिति का होना अनिवार्य है, क्योंकि न्यायपूर्ण स्थिति की पूर्व पहचान किये बिना इसका मूल्यांकन करना असम्भव है। दूसरी बात यह है कि न्याय की अवधारणा नैतिकता के साथ जुड़ी हुई है। तीसरे, इसमें लाभ एवं हानि के उपयुक्त वितरण की भावना निहित होती है। इसका तात्पर्य सामान्यतः उन तरीकों से है जिसमें पुरस्कारों और दावों आदि का व्यक्तियों में न्यायपूर्ण वितरण किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि न्यायोचितता से इसका घनिष्ठ संबंध है। यदि कोई क्रूर एवं तानाशाह शासक अपनी प्रजा को तेल में उबाले और बाद में उस तेल में वह खुद कूद पड़े तो यह अन्यायपूर्ण कार्य होगा,यद्यपि व्यवहार में दोनों में कोई असमानता नहीं है। चौथे, सामान्यतया न्याय, अनुकूल वातावरण अर्थात् लोकतांत्रिक व्यवस्था में कायम रहता है।

न्याय की प्राचीन भारतीय अवधारणा : प्राचीन भारतीय धर्म एवं ग्रन्थों के अन्तर्गत 'न्याय' की अवधारणा शब्द के विभिन्न उद्देश्यों को लेकर इसके कई सिद्धान्त बन गये हैं। इसमें दार्शनिक सिद्धान्त सम्भवतः प्राचीनतम् है। इसके दर्शन में प्राचीन धर्म ग्रन्थों तथा चिन्तकों के विचारों में होते हैं। भारतीय धर्म ग्रन्थों में और भारतीय चिन्तकों के द्वारा न्याय का संबंध धर्म से स्थापित किया गया है। जिसका अर्थ कर्त्तव्य परायणता के विचार से किया जा सकता है। सामान्यतः 'धर्म' शब्द का उपयोग चार संदर्भों में किया जा सकता है। (क) धर्मशास्त्र के प्रसंग में इसका अभिप्राय धर्म से है। (ख) आचार शास्त्र के प्रसंग में इसका तात्पर्य अवगुण के विरूद्ध गुण से है।(ग) विधिशास्त्र के प्रसंग में इसका अभिप्राय कानून से है। (घ) क्रिया के प्रसंग में इसका अभिप्राय कर्त्तव्य परायणता से है।

न्याय की युनानी अवधारणा : न्याय की विशुद्ध दार्शनिक अवधारणा महान यूनानी चिन्तक प्लेटो (427-347 ई. पू.) की कृति 'रिपब्लिक' में मिलती है। यहाँ न्याय का तात्पर्य, लोगों के ऐसे जीवन से है जो कार्यात्मक विशेषीकरण के नियम के अनुरूप हो। इसमें यह भावना निहित है कि ''हर व्यक्ति को वह कार्य करना चाहिये जिसके लिए प्रकृति ने उसे बनाया है; एक को एक ही कार्य और फिर हर एक को अपना-अपना कार्य करना चाहिये और वह भी एक न कि अनेक।'' दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय है, ''अपना कार्य करना और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करना।'' न्याय की दार्शनिक व्याख्या को महान चिंतक अरस्तू ने व्यवहारिक धरातल प्रदान किया तथा उन्होंने कहा कि ''अन्याय तब पैदा होता है जब समान व्यक्तियों में असमानतापूर्वक और असमान व्यक्तियों से समानतापूर्वक व्यवहार किया जाता है। ''अरस्तू के पश्चात् न्याय की दार्शनिक विचारधारा का प्राकृतिक विचारधारा में विलय हो गया जिसे पहले स्टोइको ने बाद में रोमन विधि शास्त्रियों ने विकसित किया था। स्टोइक यह मानते थे कि विश्व में शासन करने वाला सिद्धांत ''विवेक'' है। अतः मनुष्य के प्रकृति के साथ सामंजस्य से रहना, मूलतः उस मानक के अनुसार रहना है, जिसे मनुष्य

को सिद्ध करना चाहिए। दूसरे शब्दों में रोमन विधि शास्त्रियों ने ''न्याय को अंतिम साध्य माना था।'' ईसाई धर्म के अविर्भाव के साथ ही प्राकृतिक न्याय के विचार को दैवी स्वीकृति के नियम के साथ जोड़ दिया गया। स्टाइको और रोमनों की दृष्टि में जो शब्द प्रकृति था, वह ईसाई पादरियों के लिये ईश्वर बन गया था। दूसरे शब्दों में ''प्रकृति ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रकृति है।'' नये ज्ञान के विकास के साथ आधुनिक युग में न्याय की दार्शनिक अवधारणा को आघात पहुंचा फिर भी इसका महत्व पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ। न्याय का विचार अपने दार्शनिक लक्ष्यों के कारण बिल्कुल अमूर्त होते हुए भी उदारवादी विधिशास्त्र के अनुयायियों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बना रहा।

न्याय की विश्लेणात्मक अवधारणा : इस विचार धारा के प्रमुख समर्थक, जॉन आस्टिन, जिसने बेंथम एवं हॉब्स से प्रेरणा लेते हुए, यह कहा कि ''कानून को एक ओर न्याय और दूसरी ओर उद्दंडता के दमन के मंत्र के रूप में कार्य करना चाहिये। दूसरे शब्दों में, न्याय कानून का तत्कालीन ध्येय है और न्याय के तत्व के अभाव में न्याय दमन का यंत्र बन जायेगा। दूसरे शब्दों में सक्षम अधिकार क्षेत्र के न्यायालय को अपना न्यायपूर्ण निर्णय देते समय निम्न शर्तों को पूरा करना चाहिये– (क) मानव व्यवहार के लिए निश्चित निर्धारित नियम होंगे। (ख) किसी भी प्रकार का विशेष व्यवहार, विशेष परिस्थितियों में ही किया जाना चाहिये। अन्य विभेद तभी औचित्यपूर्ण होंगे, जब उन्हें बनाते हुए नियमों में सार्वभौमिक तौर पर संशोधन किया जाना चाहिये, अर्थात् किसी प्रकार के विशेष अपवाद नहीं हो सकते, केवल कसौटियों की व्याख्या

हो सकती है, जिससे नये विभेदों का सृजन हो जिन्हें सामान्यतया लागू किया जा सके। (ग) उपचार या व्यवहार में भेद समानुपातिक होना चाहिये, अर्थात् विभेद के होने पर हम इसे न्यायालय में चुनौती दे सकते है।

न्याय की मार्क्सवादी अवधारणा : मार्क्सवादी विचारधारा न्याय के आदर्श और वर्गयुद्ध के सिद्धान्त का एकीकरण करती है। कानूनों की आवश्कता बुर्जुआ वर्ग को येन-केन प्रकारेण सत्ता में बनाये रखने के लिए है। परन्तु सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के बाद कानूनों का उद्देश्य बदल गया, अब कानूनों की आवश्यकता बुर्जुआ समाज को समाजवादी समाज में स्थानान्तरित करने के लिए होती है। चूँकि, अब सत्ता का एक मात्र स्रोत साम्यवादी दल होता है, इसलिए न्यायालयों को इसकी विचारधारा तथा कार्यक्रमों का अनिवार्यतः अनुसरण करना होता है। मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत न्यायालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि ये व्यवस्था में, वैचारिक अनुयायियों के उत्साह के साथ कार्य करके, अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। वितरणात्मक न्याय की अवधारणा ने समाजवादी लोकतंत्र या संशोधनवादी उदारवाद के वर्तमान युग में विशेष महत्व प्राप्त किया था। इसे अमेरिका के महान विधिशास्त्री जे. डब्ल्यू. चिपमैन और जॉन रॉल्स की रचनाओं में देखा जा सकता है। इस अवधारणा के चलते ''लोकतंत्र को एक मानवतावादी आकांक्षा की जगह, बाजार में सन्तुलन कायम करने वाली प्रणाली का रूप दे दिया गया है।'' वितरणात्मक न्याय की अवधारणा, न्याय के मानक और समानता के सिद्धांत के मध्य आंगिक संबंध स्थापित करता है। इस संदर्भ में हम जे. डब्ल्यू. चिपमैन की कृतियों की ओर संकेत कर सकते हैं जिसने न्याय के विचार को, मानव की आर्थिक विवेकशीलता के सिद्धान्तों और उपभोक्ता की प्रभुसत्ता एवं व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता के दावे के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। इसका तात्पर्य है कि ''न्याय यह अपेक्षा करता है कि कोई व्यक्ति, किसी अन्य व्यक्ति की कीमत पर लाभ न प्राप्त करे।''

जॉन रॉल्स- जॉन रॉल्स की कृति के प्रकाशन के बाद उसका नाम समग्र बौद्धिक जगत, में प्लेटो, कॉण्ट और जे. एस. मिल जैसे महान विचारकों की श्रेणी में रखा जाने लगा। जॉन रॉल्स उपयोगितावादी दर्शन को संशोधित करते हुए उसके स्थान पर व्यैक्तिक, नैतिक परिप्रेक्ष्य की स्थापना करता है। जॉन रॉल्स के मत में न्याय की अवधारणा के अन्ततः दो सिद्धान्त है। 1. प्रत्येक व्यक्ति को उतनी मूलभूत स्वतंत्रतायें समान रूप से मिलनी चाहिये, जो सभी के लिए स्वतंत्रता की वैसी ही स्थिति के अनुकूल हो, तथा 2.आर्थिक और सामाजिक विषमताओं को इस प्रकार से व्यवस्थित किया जाना चाहिये कि वे, (क) सर्वाधिक वंचित वर्ग के लिए अधिक से अधिक लाभकारी हो, (ख) उन पदों और स्थितियों के साथ संलग्न हो, जो उपयुक्त अवसर की समानता की परिस्थितियों के अधीन सभी के लिए खुले हो। इसके साथ व्यक्ति के आत्मसम्मान की रक्षा की जाये। न्यायसंगत समाज में आत्मसम्मान का आधार मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का खुला वितरण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जॉन रॉल्स ऐसा समतावादी नहीं है जो सामाजिक और आर्थिक लाभों के समान वितरण की ही उपेक्षा करता हो वरन् वह एक ऐसा समतावादी भी है जो हर एक व्यक्ति मूल्य और स्वायत्तता का आग्रह करता है।

न्याय के तीन व्यापक आयाम हैं, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक। सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में लोकतंत्र के अंतर्वेक्षण से न्याय के अर्थ का इतना विस्तार हो गया कि अब इसके अन्तर्गत मानव जीवन के सभी क्षेत्र आ जाते हैं। व्यक्ति के अधिकारों को, समाज के व्यापक हितों के पक्ष में युक्तियुक्त तरीके से सीमित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में समाज का कल्याण, व्यक्ति के अधिकारों और समुदायों के हितों के मध्य, समन्वय और समाधान पर निर्भर करता है। सामाजिक न्याय का संबंध

व्यक्ति के अधिकारों और सामाजिक नियंत्रण के मध्य संतुलन से है ताकि मौजूदा कानूनों के अधीन व्यक्ति की आशाओं की पूर्ति को सुनिश्चत किया जा सके। संकीर्ण दृष्टिकोण से देखने से लगता है कि सामाजिक न्याय व्यक्ति के कुछ अधिकारों को सामाजिक हित की बलि बेदी पर चढ़ाया जा रहा है, परंतु व्यापक परिप्रेक्ष्य पर देखने पर सामाजिक न्याय के विचार का उद्देश्य न केवल व्यक्ति और समाज के उद्देश्यों में समाधान लाना है या विरोध की स्थिति में समाज के हित को अधिमान्यता प्रदान करना है, ताकि वह सामाजिक परिवर्तन का आवश्यक अंग बन जाये जिसके लिए बहुतों के हित की खातिर किसी वस्तु की कुर्बानी देनी पड़ेगी। सामाजिक न्याय की अवधारणा अतिव्यापक है जिसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर गरीबी और निरक्षरता के उन्मूलन तक कुछ भी हो सकता है, एफ. ए. हॉयक के अनुसार, ''ऐसी प्रणाली में जिसमें हर एक को अपने ज्ञान को अपने प्रयोजन के लिए प्रयोग करने की अनुमति दी जाती है, वहाँ सामाजिक न्याय की अवधारणा थोथी एवं निरर्थक है क्योंकि इसमें किसी की इच्छा अलग-अलग लोगों की सापेक्ष आय का निर्धारण नहीं कर सकती या किसी को रोक नहीं सकती कि वे आंशिक रूप में किसी संयोग पर निर्भर हो। अवसर की समानता का विचार इस लक्ष्य के बावजूद न्याय के सिद्धांत को काटता है, यह आकर्षक प्रतीत होता है। लेकिन एक बार जब इसको उन सुविधाओं से आगे बढ़ाया जाता है जिन्हें अन्य कारणों से सरकार द्वारा प्रदान किया जाता है, तो यह पूर्णरूप में एक छलपूर्ण आदर्श बन जायेगा और इसे प्राप्त करने की कोई ठोस कोशिश एक भयानक सपना सिद्ध होगा।

आर्थिक न्याय, सामाजिक न्याय का सहगामी तत्व है। आर्थिक न्याय की अवधारणा के रूप में स्वतंत्रता का समस्त विचार ही राजनीति के क्षेत्र को पार करके आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में पदार्पण करता है। ऐसा कहा जाता है कि यदि स्वतंत्रता, आर्थिक न्याय प्राप्त करने के मार्ग में बाधक है तो वह निरर्थक है। एक भूखे या ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसे मानव-गरिमा से वंचित किया गया है, राजनीतिक स्वतंत्रता एक खोखला और मिथ्या शब्द है। आम बोलचाल की भाषा में आर्थिक न्याय की अवधारणा का तात्पर्य यह है कि आर्थिक मूल्यों के आधार पर लोगों के मध्य कोई विभेद न किया जाय। आर्थिक न्याय की अवधारणा का संबंध अनिवार्यतः भूखों को रोटी, नंगों को कपड़ा और बेघर को रहने के लिए मकान देना और प्रगति के लिए, उन्हें अवसर प्रदान करना है। सामाजिक न्याय की भांति आर्थिक न्याय की अवधारणा भी मार्क्सवाद और उदारवादी विचारकों के मध्य विवाद का विषय रही है। उदाहरण के लिए, समाजवाद की अवस्था में ''हर एक को उसके कार्य के अनुसार मिलना'' और समाजवाद की अंतिम अवस्था अर्थात् साम्यवाद में ''हर एक से उसकी योग्यता के अनुसार कार्य लेना''और हर एक को उसकी आवश्यकता मिलना'' जैसा मार्क्सवादी सूत्र वितरण के न्यायपूर्ण सिद्धांत एवं कमजोर तथा अपंग लोगों, जब वे कार्य नहीं करते, की सहायता करने के मानवतावादी मानक के विरूद्ध होगा। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देशों के न्यायालयों ने विधिक और युक्तियुक्त सीमाओं के जिन मानकों का निर्धारण किया है, उससे आर्थिक न्याय का समस्त विचार, प्रवाहमय और शायद एकदम निर्थरक हो जायेगा। न्याय की अवधारणा और इसके बारे में विचारों को राष्ट्रीय स्तर पर, आर्थिक एवं सामाजिक हितों और दूसरी ओर व्यक्तियों का सामूहिक हितों के मध्य वर्तमान समय के साथ संतुलन और सामन्जस्य स्थापित करना होगा। डॉ. चन्द्र भूषण मिश्र के अनुसार, ''न्याय एक बहुरंगी अवधारणा है। जो समय एवं परिस्थितियों के साथ बदलती रहती है। न्याय की अवधारणा को परम्परागत एवं सैद्धान्तिक सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता क्योंकि यह एक गतिशील अवधारणा है। माननीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी का कथन, ''सबका साथ, सबका विकास और सबका विश्वास, को न्याय की अवधारणा अपने में समाहित करती है। जो सामाजिक एवं आर्थिक न्याय प्राप्त करने का एक सार्वभौमिक सूत्र है।''

संदर्भ

1. जेम्स ब्राइस, 'मार्डन डेमोक्रेसीज,' खण्ड-2 लंदन, 1921
2. हेरोल्ड पॉटर, 'डी क्वेस्ट आफ जस्टिस,' लंदन 1951
3. डेविड मिलर, 'सोशल जस्टिस,' ऑक्सफोर्ड, 1976
4. सी. के. ऐलन, आस्पेक्ट्स ऑफ जस्टिस, लंदन, 1955
5. पी. बी. मुखर्जी, थ्री प्रिंसिपल प्रॉब्लम ऑफ इंडियन कांस्टीट्यूशन, नई दिल्ली, 1972
6. ई. आर. बीवेन, स्टोइक्स एण्ड स्किोप्टिक्स
7. सी. बी. मैक्फर्सन, डेमोक्रेटिक थियरी-एसेज इन रिट्राइवल, लंदन, 1976
8. जे. डब्ल्यू चिपमैन, जस्टिस एज केयरनेस, छठा भाग, न्यूयार्क, 1963
9. जॉन रॉल्स, ए थियरी ऑफ जस्टिस, हावर्ड, 1971
10. एफ.ए. हॉयक, लॉ लेजिस्लेशन एण्ड लिबर्टी, शिकागो, 1976

–माधवेन्द्र तिवारी

शोध-छात्र एवं सहायक प्राध्यापक (विधि),
रा.गा. शास.स्नातको. महाविद्यालय, अम्बिकापुर (छ.ग)

–डॉ. तरूण कुमार राय

शोध निर्देशक एवं सहायक प्राध्यापक (विधि),
रा.गा. शास. स्नातको. महाविद्यालय, अम्बिकापुर(छ.ग.)

हौशंगाबाद जनपद की ग्रामीण महिलाओं को सशक्त बनाने में जनसंचार माध्यम एवं 'स्वयं सहायता समूह' की भूमिका

—डॉ. बिनीता मौर्या

नारी मानव जाति की जननी और दो पीढ़ियों को जोड़ने वाली एक कड़ी है। भारतीय संस्कृति में समाज के इस हिस्से को सदैव ही अधिक महत्व दिया गया है। वैदिक काल में तो महिलाओं को 'देवी' तुल्य समझा जाता था परन्तु मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद ब्राह्मणों द्वारा हिन्दू धर्म की रक्षा एवं स्त्रियों के सतीत्व तथा रक्त की शुद्धता बनाए रखने हेतु महिलाओं के संबंध में नियमों को कठोर बना दिया गया था। महिलाओं ने भी इन आदर्शों को अपने जीवन में लागू करने में संकोच का अनुभव नहीं किया। महिलाओं की आर्थिक पराधीनता, पर्दाप्रथा के कारण अशिक्षा एवं संयुक्त परिवार की सुदृढ़ता हेतु महिलाओं को दबाकर रखने की प्रवृति ने भारत में महिलाओं की स्थिति को निरन्तर बना दिया। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 द्वारा महिलाओं को भी पुरुषों के समान संपत्ति में अधिकार प्रदान किया गया। इन प्रयासों के फलस्वरूप महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हुए। फिर भी स्थिति संतोषप्रद नहीं कही जा सकती है, क्योंकि वर्तमान समय में भी सिद्धान्त एवं व्यवहार में भिन्नता पायी जाती है। भारतीय संविधान पुरुषों व महिलाओं के बीच अधिकारों की मान्यता देता है, परन्तु निर्विवाद रूप से स्त्रियों को भूमिका व क्रिया में भेद स्वीकार करता है। संविधानगत समानता की व्यवस्था महिलाओं की स्थिति संवैधानिक दृष्टि से तो सुदृढ़ हो गई किन्तु वास्तविक रूप में आज भी महिलाएँ शोषण व उत्पीड़न की शिकार बनी हुई हैं। महिलाओं की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए उनकी सामाजिक रूपरेखा को जानना अति आवश्यक है।

विकास वह दशा है जिसे लोगों के जीवन की परिवर्तन प्रक्रिया में उनके कल्याण का उच्चतर जीवन स्तर आदि उद्देश्य की प्राप्ति हेतु प्रयुक्त किया जाता है। विकास एक ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया है जो प्रजातांत्रिक विकासशील राष्ट्र के लोगों की आशा आकांक्षाओं से संबद्ध होती है। यदि इसे मानव कल्याण के लिए उपयोग किया जाये तो विकास का अर्थ जन सामान्य के लिए सार्थक हो जाएगा अर्थात विकास का तात्पर्य सदैव समाज के द्वारा उनकी सांस्कृतिक धरोहर व प्रतिमानों व दूसरों की रूचियों को नष्ट किए बिना ही उच्चता की ओर परिवर्तन से है।

भारत सरकार के द्वारा न्यूनतम सरकार और अधिकतम शासन तथा 'सबका साथ सबका विकास' की तर्ज पर नए भारत की अवधारणा बहुत ही महत्वाकांक्षी व चुनौती पूर्ण कार्य है। इस चुनौती पूर्ण कार्य में ग्रामीण विकास की ओर सरकार द्वारा किये गये प्रयासों के आधार पर महिलाओं के विकास पर जोर दिया जा रहा है जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था का 10 प्रतिशत दर से विस्तार हो सके तो आगामी वर्ष 2032 में भारत 10 खरब अमेरिकी डॉलर की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ गरीबी-रहित देश होने का गौरव प्राप्त कर सकेगा।

भारत जैसे विकासशील एवं कृषि प्रधान देश की 50 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या के आजीवका का प्रमुख स्रोत कृषि क्षेत्र है। भारत के आर्थिक सर्वेक्षण 2013-14 के अनुसार कृषि क्षेत्र जो भारत में कुल कार्यबल का 50 प्रतिशत से अधिक रोजगार प्रदान करने में सहायक है और देश के सकल घरेलू उत्पाद में लगभग 17-18 प्रतिशत योगदान देता है। भारत के सन्दर्भ में ग्रामीण विकास को एक प्रक्रिया या व्यूह रचना तक ही सीमित कर देना भारतीय जन-जीवन के ताना बाना को सतही धरातल तक ही सीमित रखना माना जा सकता है। ग्रामीण विकास तो आदिकाल से हमारे जीवन का अंग रहा है। हमारे मनीषियों ने इसे एक दर्शन और साधन के रूप स्वीकार किया। यदि रामराज्य से लेकर मध्य युग तक को ऐतिहासिक रचनाओं रूपी निधि पर हम निगाह डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि पूरी की पूरी प्रशासकीय व्यवस्था ग्रामीण स्तर से ऊपर की तरफ जाती थी। आज भी देश के लगभग तीन चौथाई आबादी गांव में बसी है और कृषि ही अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार हो, उस देश में ग्रामीण विकास के बिना राष्ट्र के विकास की कल्पना ही भला संभव है। यही कारण है कि योजनाबद्ध विकास की प्रक्रिया के प्रथम सोपान यानि पहली पंचवर्षीय योजना से ही ग्रामीण विकास सरकार की मुख्य प्राथमिकाओं में शामिल रहा है। 1970 में बांग्लादेश से गरीब और समाज के निम्न तबके के लोगों के जीवन में आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु स्वयं सहायता समूह की अवधारणा को बांग्लादेश

ग्रामीण बैंक के रूप में जीवंत रूप प्रदान करने वाले नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो. मोहम्मद युनुस का योगदान अविस्मरणीय है। चार दशक के बाद आज भी स्वयंसहायता समूह बहुत प्रासंगिक है। इस समूह के माध्यम से सभी सदस्य अपनी सामूहिक बचत निधि से जरूरतमंद सदस्य को न्यूनतम ब्याज दर पर ऋण प्रदान करते हैं जिससें वे अपने आर्थिक गतिविधियों के माध्यम से आजीविका उपार्जन हेतु अपनी उद्यमशीलता को आकार प्रदान करता है।

विकासशील देशों के लिये यह स्वयं सहायता समूह जमीनी-स्तर पर जनसामान्य के आर्थिक सशक्तिकरण का एक प्रमुख माध्यम है। वहीं दूसरी ओर इस अवधारणा को न केवल सामान्य लोगों द्वारा अपनाया जाता है। अपितु दुनिया भर की सरकारी व गैरसरकारी संस्थाएं भी स्वयं सहायता समूह के महत्व को बखूबी समझती हैं। 1991-92 के दौरान स्वयं सहायता समूहों को विशेष प्रोत्साहन दिया गया तथा इस प्रक्रिया में नाबार्ड की भूमिका प्रमुख रही। भारत की नौंवी पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के दौरान स्वयं सहायता समूहों को जमीनी स्तर पर विकासात्मक योजनाओं के कार्यान्वयन में उपयोग में लाया गया। वास्तव में स्वयं सहायता समूह ग्रामीण निर्धनों का छोटा, आर्थिक दृष्टि से एक समान और एक-दूसरे से जुड़ा समूह है। इस समूह की जरूरतें समूह के भीतर एक जैसी होती हैं और सब मिलकर एक ही कार्य सामूहिक रूप से करना चाहते हैं। यह स्वप्रेरणा से बचत के लिए बनाया गया समूह है और सभी सदस्यों ने एक साधारण निधि में योगदान देना स्वीकार किया है, जिसे समूह के निर्माण के अनुसार जरूरतमंद सदस्यों को उत्पाद तथा उपयोग के प्रयोजनों के लिए ऋण के रूप में दिया जायेगा, ताकि उनकी आय में बढोतरी हो और जीवन-स्तर में बेहतरी आए। स्वयं सहायता समूह का उद्देश्य ग्रामीण निर्धनों की ऋण की जरूरतों की पूर्ति के लिए पूरक ऋण नीतियां बनाना है। इसके साथ ही बैकिंग गतिविधियों को बढ़ावा देना, बचत तथा ऋण के लिए सहयोग करना, समूह के सदस्यों के भीतर आपसी विश्वास और आस्था बढ़ाना आदि है। समूह की सदस्य संख्या 10 से 20 तक हो सकती है। परिवार का कोई एक सदस्य, पुरुष या स्त्री स्वयं सहायता समूह का सदस्य बन सकता है। समूह के सदस्यों में वरीयता के तहत आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से एक समानता होनी चाहिए। समूह में गरीबी रेखा के नीचे के स्तर के, गरीबी-रेखा के ऊपर के स्तर के नीचे के या दोनों स्तरों से सदस्य हो सकते हैं। समूह में सामान्यतः 10 से 20 सदस्य समूह के नाम पर खाता और पासबुक होता है। 20 से अधिक सदस्य का समूह कम्पनी अधिनियम के तहत समूह का पंजीकरण आवश्यक होता है। बिना पंजीकरण के बैंक से ऋण नहीं दिया जा सकता है। स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना के तहत लघु सिंचाई के लिए छोटे को भी अनुदान स्वीकृत हो सकता है।

समूह के सदस्यों का उद्देश्य आगे चलकर बैंक से ऋण लेना होता है। अतः समूह का प्रत्येक सदस्य कानूनी करार करने के लिए पात्र होना चाहिए। अर्थात् सदस्य की आयु 18 वर्ष से अधिक होनी चाहिए एवं सदस्य मानसिक रूप से स्वस्थ होना चाहिए। देश में अनेक नीतिगत निर्णय होने के बावजूद यह पाया गया था कि देश की 10 करोड़ जनता को बैंक ऋण की सुविधा उपलब्ध नहीं थी। इसका प्रमुख कारण था गरीबों की छोटी-छोटी परन्तु बार-बार ऋण राशि की आवश्यकताएं। इन आवश्यकताओं को वर्तमान बैकिंग प्रणाली के तहत पूरा करना काफी खर्चीला था। गरीब व्यक्तियों के पास बैंक ऋण लेने के लिए आवश्यक जमानत के तौर पर रखने के लिए कोई चल अथवा अचल सम्पति नहीं होती है। इसलिए बैंक की वसूली व निगरानी करना कठिन हो जाता है। इन सभी कमियों को दूर करने के लिए स्वयं सहायता समूह की कल्पना साकार की गई है। इससे गरीबों को बिना जमानत ऋण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर बैंको की वसूली 100 प्रतिशत तक हो जाती है। आज केन्द्र राज्य एवं जिला प्रशासन समूहों के विकास हेतु यह कार्य स्वयं सहायता समूहों का ग्रामीण भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास में योगदान निम्न रूपों द्वारा कर रही है।

1. सामाजिक उद्यमिता को प्रोत्साहान देने में सहायक 2.रोजगार, स्वरोजगार व उद्यमिता से गरीबी उन्मूलन में सहायक 3. महिला स्वयं सहायता समूहों द्वारा उत्पादित विभिन्न खाद्य, पदार्थों जैसे अंचार, पापड़, वड़ी, दलिया, आटा, अगरबत्ती, मुरब्बा इत्यादि की सुगम उपलब्धता से महिलाओं व बच्चों के पोषण तथा विकास में महत्वपूर्ण योगदान 4. छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले की महिलाओं में गणवेश सिलाई और कोरिया जिले की महिलाओं ने गृह उद्योगों से आर्थिक आत्मनिर्भरता एवं आत्मविश्वास पाया 5. स्वैच्छिक बचत और वित्तीय समावेशन को प्रोत्साहन 6. नवाचार एवं रचनात्मक उद्योगों को प्रोत्साहन। 7. क्षेत्रीय आर्थिक व सामाजिक असमानता को कम करने में सहायक।

आज भारत के विभिन्न राज्यों जैसे छत्तीसगढ, ओड़िशा, मध्य प्रदेश, झारखण्ड, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल, पश्चिम बंगाल और तेलंगाना इत्यादि में महिला स्वयं सहायता समूह विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं। तमाम ऐसे समूह हैं जो महिलाओं को सशक्त बना रहे हैं। साथ ही सरकार के द्वारा इन्हें पुरस्कार भी दिये जा रहे हैं। इनमें फूलबासन यादव ने वर्ष 2001 में महिला स्वयं सहायता समूह की शुरूआत दो मुठ्ठी चावल और दो रूपये से की थी। वर्ष 2012 में महिला

सशक्तिकरण कार्य के लिए पद्मश्री से सम्मानित किया गया है। फूलबासन यादव देश के महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने में स्वयं सहायता समूहों की भूमिका को अत्यधिक महत्वपूर्ण और प्रभावी मानती हैं। आज मध्य प्रदेश सरकार ने 2022 तक राज्य में 10000 करोड़ रूपये की योजनाओं के माध्यम से दो करोड़ महिलाओं को 10 लाख स्वयं सहायता समूह सीमित बनाने का लक्ष्य रखा है। इसके माध्यम से 11-25 करोड़ महिलाओं को शामिल कर 10 लाख स्वयं सहायता समूह का गठन किया जाएगा 165 हजार ग्राम संगठन 1600 संकुल स्तरीय परिसंघ और 534 प्रंखड स्तरीय परिसघं गठित होगा।

जून 2011 में आजीविका मिशन शुरू किया गया था। इसके तहत देश के छह लाख गांवो 25 लाख पंचायतों, 6000 ब्लाकों एवं 600 जिलों में स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से 7 करोड़ बीपीएल परिवारों को इसके दायरे में लाया गया। सोनिया गांधी ने यह भी कहा था कि दुनिया में कोई दूसरा देश नहीं है जहाँ महिलाओं को सशक्त बनाने के लिये ऐसी महत्वाकांक्षी और बड़ी योजना चलाई जा रही है। इसके लिये 1000 सदस्यों के 50 स्वयं सहायता समूहों के संबोधन के लिए अधिकतम 2.15 लाख का ऋण उपलब्ध कराया जाता है। समूहों के द्वारा लिए गए ऋण का 25 प्रतिशत व उनकी बचत का 5 प्रतिशत अनुदान के रूप में दिया जाता है।

भारत में यह समूह इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि पहाड़ी हो या समतल जगह रेगिस्तान सभी जगहों पर यह समूह तेजी से कार्य कर रहा है। बुन्देलखण्ड भारत का बहुत ही पिछड़ा राज्य माना जाता है जिसके कारण यहाँ पर गरीबी का प्रकोप एक बीमारी की तरह है। लेकिन स्वर्ण जयंती योजना के तहत आज यह कार्य सरकार के द्वारा तेजी से चलाया जा रहा है जिससे गांव में जाकर सरकार के द्वारा स्वयं सहायता समूह का गठन कर उन्हें रोजगार की जानकारी देकर सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है। आज चित्रकूट, बरगढ़, मानिकपुर जैसे घने व पिछड़े गांव में महिलाओं ने मिलकर समूह का गठन कर कुल 500 समूहों को तैयार किया है। साथ ही घर बैठे मोमबत्ती, बकरी पालन, बल्ब व अपने घर के पुरुषों को ई-रिक्शा लोन पर दिलाकर उन्हें नशा मुक्त तथा रोजगार से जोड़कर आर्थिक रूप से मजबूत कर रही है। इस तरह वे महिलाएं जो अपने घर में प्रताड़ित की जा रही हैं उन्हें समूह के माध्यम से न्याय दिलाने का भी कार्य यह समूह कर रही है। संपतपाल के द्वारा समूह का गठन कर महिला के द्वारा किये जा रहे घरेलु हिंसा के विरुद्ध अन्दोलन कर उन्हें सशक्त कर रही है। साथ ही सरकार के द्वारा महिलओं की सुरक्षा के लिये बनाये गये योजनाओं का लाभ दिलाने का प्रयास कर रही है। जैसे, विधवा पेंशन, पिता की संपत्ति में अधिकार और अन्य कार्य जिससे उन्हें सशक्त बनाया जा रहा है। सरकार के द्वारा 2014 से आज तक हर दिन महिलाओं को सशक्त बनाने के लिये प्रयास किया जा रहा है। कन्या भ्रूण को जड़ से समाप्त करने का आन्दोलन चलाया जा रहा है। सरकार के द्वारा चलाये गये योजनाओं के द्वारा बेटी बचाओ और बेटी पढ़ाओ तथा सबका साथ सबका विकास जैसे नारे के महत्व को समझाया जा रहा है। देश ग्रामीण क्षेत्र को उज्जवला, आजीविका तमाम ऐसे कार्यों से उन्हें विकास की धारा से जोड़ने का प्रयास कर रहा है।

अतः इस प्रकार स्वयं सहायता समूह देश के विभिन्न राज्यों में अनेक गतिविधियों द्वारा न केवल महिलाओं के सामाजिक व आर्थिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं अपितु समाज में सकारात्मक व रचनात्मक वातावरण को विकसित करने में भी सहायक है। स्वयं सहायता समूह के द्वारा देश के निमार्ण में तथा विभिन्न सामाजिक विषमताओं जैसे गरीबी, बेरोजगारी, भेदभाव, भ्रष्टाचार एवं महिला व बाल उत्पीड़न इत्यादि को जन-आन्दोलन एवं भागीदारी से दूर करने में सरकार व समाज को अपना बहुमूल्य योगदान दे सकती है। साथ ही महिलाओं के द्वारा परिवार, समाज व देश की प्रगति नींव रखी जा सकती है। यह तभी हो सकता है जब हम उन्हें सशक्त व मजबूत बनाएं। इस तथ्य को साकार करने में स्वयं सहायता समूह की भागीदारी निश्चित कर भारत को वास्तविक अर्थो में समृद्ध, विकसित एवं समतामूलक राष्ट्रों की श्रेणी में ला सकते हैं।

सन्दर्भ

1. समाजकार्य, तेजस्कर पाण्डेय व ओजस्कर पाण्डेय, संस्करण, 2011, भारत बुक सेन्टर लखनऊ, पृ. 542-43
2. समाजकार्य के क्षेत्र, संगीता तेज व ओजस्कर पाण्डेय संस्करण, 2011 भारत प्रकाशन लखनऊ, पृ. 88-90
3. कुरूक्षेत्र, जुलाई 2019, पृ. 38-42
4. कुरूक्षेत्र 2013, पृ. 28-31, 40-45

–डॉ. बिनीता मौर्या

असिस्टेंट प्रोफेसर, गृह विज्ञान

श्रीमती जे. देवी महिला महाविद्यालय, बभनान, गोंडा

उत्तर प्रदेश

नागार्जुन का काव्य-दर्शन

—डॉ. शिखा रानी

शोध-सारांश

''जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ,
जनकवि हूँ, मैं साफ कहूँगा, क्यो हकलाऊँ।''

हिन्दी की प्रगतिशील कविता को विकसित और पल्लवित करने में नागार्जुन का महत्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन जन-जीवन के कवि थे। उनका काव्य जन-सामान्य के दुःख, दर्द को अभिव्यक्ति देने वाला प्रभावी काव्य था। उनकी कविता का स्थान विशेष की कविता न होकर पूरे हिन्दी प्रान्त की और पूरे देश की कविता थी। ये भारत के आइंसटाइन कहे जाते हैं। नागार्जुन एक बौद्ध दार्शनिक थे। ये आयुर्वेद के शिष्य भी थे। उन्हें मध्यमिका दर्शन का संस्थापक माना जाता है। नागार्जुन दार्शनिक होते हुए भी व्यवहार की उपेक्षा करने वाले आचार्य नहीं थे। ''लोक संव तिसत्यं च सत्यं च परमार्थितः।।'' वे जानते थे कि व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ का उपदेश ही नहीं हो सकता और परमार्थ की प्राप्ति के अभाव में निर्वाण नहीं मिल सकता। नागार्जुन जीवन भर अन्याय, दरिद्रता भूख और अभाव ग्रस्त जैसी चीजों से लड़ते रहे।

प्रमुख शब्द— प्रगतिशील कविता, बौद्ध दार्शनिक,प्रगतिशील विचारधारा, काव्य-दर्शन।

जन-ज्वाला को अपने काव्य का आभूषण बनाने वाले नागार्जुन लोक चेतना के संवाहक कवि थे। निराला के बाद नागार्जुन ही ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने सच्चे अर्थों में अपने साहित्य के मूल में प्रमुखता से जनवादी मूल्यों को प्राथमिकता दी है। नागार्जुन जीवन-पर्यन्त पद दलित, शोषित, मजदूरों, किसानों तथा भूखे-नंगे लोगों की मुक्ति के लिए निरन्तर संघर्षरत रहे और यह संघर्ष उनकी काव्य चेतना को एक अलग दीप्ति से दीपित करता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है, ''नागार्जुन जितने क्रान्तिकारी सचेत रूप से हैं, उतने ही अचेत रूप से भी हैं।[1] बाबा 'नागार्जुन' एक प्रसिद्ध प्रगतिशील विचारधारा के भारतीय कवि हैं। नागार्जुन जीवन, धरती, जनता तथा श्रम के गीत गाने वाले एक ऐसे कवि थे जिनकी रचनाओं को किसी सीमा-विशेष से नहीं बाँधा जा सकता। अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की भाँति उन्होंने अपनी कविताओं को भी स्वतन्त्र रखा है। उनकी कविताओं में मानवीय संवेदनाएं भी कूट-कूट कर भरी हुई हैं।

इनकी कविताओं में इनका भाव, धर्म, तथ्य और अनुभव से जुड़ा हुआ मिलता है। इनकी कविता आध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक, सुख और अध्ययन से जुड़ी हुई मिलती है, जबकि उन्होंने देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत होकर देशहित में कई महत्वपूर्ण कार्य किए। अकबर के समाज में रहते हुए तुलसी ने जीवन सम्बन्धी अभाव और अपमान के सम्बन्ध में लिखा था—''मातु-पिता जग जाइ तज्यो विधिहू न लिखी कछू भाल भलाई/नीच, निरादर भाजन, कादर, कूकर-टूकन लागि ललाई।।''इसके बाद बीसवीं सदी में नेहरू के स्वतन्त्र भारतीय समाज में रहते हुए कवि नागार्जुन लगभग इसी अभाव और अपमान को फिर से लिखते हैं—''मानव होकर मानव के ही चरणों में मैं रोया/दिन बागों में बीता, रात को पटरी पर मैं सोया/कभी घुमक्कड़ यार-दोस्त से मिलकर कभी अकेले/एक-एक दाने की खातिर सौ-सौ पापड़ बेले।।''किन्तु दोनों के लिखने में फर्क है। तुलसी जहाँ दुःख का कारण विधि के विधान को मानते हैं, वहीं नागार्जुन इसे राजनीतिक-सामाजिक, चाल बाजियों से जोड़कर देखते हैं। जीवन का यह दुःख और अभाव नागार्जुन काव्य में न केवल सामाजिक तथ्य के रूप में बल्कि सघन अनुभव के रूप में बार-बार उभरता है।

नागार्जुन आम आदमी की त्रासदी हैं। उसकी उन्नति एवं उत्थान के लिए वे निरन्तर संघर्षरत रहे। उन्होंने अपने काव्य में अंध-परम्पराओं को तोड़कर मानवीय मूल्यों की स्थापना का सार्थक एवं प्रशंसनीय प्रयास किया। वे संस्कृत, और पालि भाषा के ज्ञाता एवं हिन्दू, बौद्ध, जैन दर्शन के अध्येता थे। वे स्वयं ब्राह्मण जाति में जन्म लेकर भी पंडितों से प्रभावित नहीं थे। गरीबी में पल-बढ़कर भी वे कभी कुंठा, आत्महीनता के शिकार नहीं हुए और उनके व्यक्तित्व की

यही विशेषता उन्हें कबीर के समकक्ष खड़ा करती है, इसीलिए आलोचक उन्हें 'आधुनिक कबीर' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। एक आस्था विश्वास का स्वर उनके साहित्य में तरंगायित होता हुआ नजर आता है। घोर दरिद्रता में भी अपने घर शिशु का नयन उधारना उन्हें बुरा नहीं लगा। वे एक गरीब किसान की भाँति अपने बेटे को प्यार करते हैं। उसकी माँ को सराहते हैं और एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करते हैं—*तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान/ म क में भी डाल देती जान/धूलि धूसर तुम्हारे ये गात/छोड़कर तालाब मेरी झोपड़ी में/खिल रहे जलजात/यदि तुम्हारी माँ न माध्यम बनी होती आज/मैं न सकता देख/मैं न पाता जान/तुम्हारी ये दंतुरित मुस्कान।*"[12]

नागार्जुन की काव्यधारा मैदानी नदी की भाँति सहजता से बहती हुई सदृश्य को रससिक्त करती है। उनकी कविता एक प्रवाह के समान स्वयं प्रवाह में पड़कर अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। नई भूमि को तलाशती है और उस भूमि को उर्वर बनाती है। निराला के समकालीन होने के कारण वह उनकी काव्य विरासत को आत्मसात् करते हुए जनवादी मूल्यों से अपने साहित्य को परिवेष्टित करते हैं। नेह और क्षेम की एक सम्पूर्ण दुनिया उनके साहित्य में विद्यमान है। उनकी कविता में ग्रामीण परिवेश अपने यथार्थ रूप में समग्रता के साथ चित्रित हुआ है। गन्ना-चूसने या खाने-पीने का आनन्द नागार्जुन को तब आता है जब वह अपने गाँव के पगडंडी की चन्दनवर्णी धूल को अपने माथे से लगा लेते हैं। कच्ची माटी की सुगन्ध उनके काव्य में सौंधी सुगन्ध बनकर महकती है। गाँव की वही मिट्टी उनके भावलोक की इच्छाओं को जागृत करती है। भीनी-भीनी खुश्बू वाले फल उनको आनन्दित उत्साहित करते हैं—*बहुत दिनों के बाद/अबकी मैंने जी भर देखी/पकी-सुनहली फसलों की मुस्कान/....बहुत दिनों के बाद/अबकी मैंने जी भर सूँघे/मौलसिरी के ढेरों-ढेर से/ ताजे-टटके फूल/बहुत दिनों के बाद/....अबकी मैं जी भर छू पाया/अपनी गँवई पगडण्डी की चंदनवर्णी धूल/बहुत दिनों के बाद।*"[13]

वह गरीब भुखमरी अकाल बाढ़ से तड़फड़ाती हुई जनता के लिए जीने मरने के लिए संकल्पित होते हुए अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं—*"मैं तुम्हारे लिए ही जियूँगा-मरूँगा/मैं तुम्हारे इर्द-गिर्द रहना चाहूँगा/मैं तुम्हारे ही प्रति अपनी वफादारी निभाऊँगा/आओ खेत मजदूर और भूमिदार नौजवान/आओ खदान श्रमिक और फैक्ट्री वर्कर नौजवान/आओ कैम्पस के छात्र और फैकल्टियों के नवीन/हाँ! हाँ तुम्हारे ही अन्दर तैयार हो रहे हैं प्राध्यापक/आगामी युगाक के लिबरेटर।*"[14]

नागार्जुन के सम्बन्ध में *डॉ. विश्वनाथ तिवारी का कथन* सर्वथा सटीक है कि नागार्जुन कविता में दल के साथ तो नहीं मगर जन-जन के साथ हमेशा बंधे रहे। लोक जीवन और लोकमानस को जितनी आत्मीयता से नागार्जुन ने व्यक्त किया है उतना किसी दूसरे ने नहीं किया है।"

नागार्जुन पर मार्क्सवाद एवं समाजवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। व्यक्तिगत जीवन की सामाजिक विषमता दुख-दीनता और ग्रामीण-कुरीतियों को न सिर्फ देखने बल्कि उनको भोगने का अवसर भी नागार्जुन को अपने जीवन में मिला। एक ज्ञान की पिपाशा उनके अन्दर थी जिसने उन्हें हमेशा यायावर बनाये रखा। 'यात्री' नाम से लिखी उनकी प्रारम्भिक कविताएं उनके यायावरी होने का प्रमाण हैं। बचपन की कठोर विषमताएं, परिस्थितियों का प्रभाव उन्हें निरन्तर अगले सत्य के लिए प्रेरित करता रहा। सनातनी छोड़कर वह आर्य समाजी बनते हैं और आर्य-समाजी प्रभाव से मुक्त होकर बौद्ध भिक्षुक बन जाते हैं। बौद्ध धर्म के अध्ययन के बाद उनका इस धर्म से मोहभंग हो जाता है और वे मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित हो जाते हैं। वे जीवन-पर्यन्त शोषित पीड़ित वर्ग के लिए अपने काव्य को वैचारिक-अस्त्र की भाँति प्रयोग करते रहे। वे मानव मुक्ति का स्वप्न देखते रहे एवं v iuh ifr c) rkvkadks?kks"kr djrsjgs *प्रतिबद्ध हूँ, सम्बद्ध हूँ, आबद्ध हूँ/प्रतिबद्ध हूँ जी हाँ! प्रतिबद्ध हूँ/बहुजन समाज की प्रगति के निमित्त/संकुचित 'स्व' की प्रगति के निमित्त/अविबेकी भीड़ की 'भेड़िया धसान' के खिलाफ../हाँ जी हाँ! शतधा प्रतिबद्ध हूँ।*"[15]

वह लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रतिस्थापना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। उन्होंने परतंत्र भारत की तस्वीर को अपनी आँखों से देखा था और स्वतंत्र भारत के पचास वर्षों का विकास उनकी आँखों से छिपा नहीं था। उन्होंने देश की आर्थिक विषमताओं को दर्शक की तरह देखा ही नहीं था बल्कि एक किसान की तरह उनको भोगा भी था। भारतीय लोकतंत्र की दशा से वह भली-भाँति परिचित थे। वह जनविरोधी राजनैतिक हमलों से निरन्तर प्रतिवाद करते रहे—*"भटक गया है देश दलों के बीहड़ वन में/कदम-कदम पर सांय ही उगता है मन में/नेता क्या है निज-निज गुट के महापात्र हैं/राष्ट्र कहाँ है शेष-शेष बस राज्य मात्र है।*"[16]

राजनैतिक एवं सामाजिक विषमता के प्रति विद्रोह की भावना उनकी जनवादी कविता का स्वर रहा है। जैसे—झूठी राजनीति, सामाजिक पाखण्ड, भ्रष्टाचार, सत्तालोलुपता आदि के प्रति कवि का मन विद्रोह करता है— *"दिल ने कहा- दलित माओं के सब बच्चे अब बागी होंगे/अग्निपुत्र होंगे वे, अन्तिम विप्लव के सहभागी होंगे।।"*

कमलेश्वर लिखते हैं, "नागार्जुन से मिलता तो भीतर की आग माँगता जो बहुतों के पास नहीं होती। खुद वह नहीं देगा। किसी शाम या सुबह उसके साथ लग जाना, तब वह जलता हुआ शहर तुम्हें दिखायेगा। गौर से देखना,

उस शहर के बीचों-बीच वह खुद भी जल रहा होगा।'' यह वही व्यक्ति है जिसने शिव पूजन सहाय की परम्परा को आत्मसात किया है और हर तरह के प्रथा मण्डलों को नोंच-नोंच कर फेंकता रहा है। यास्क ने कहा है, 'अपने कर्म की सफलता का प्रमाण चाहते हो, तो लोक से जाकर पूछो।' नागार्जुन का सारा कला धर्म इसी लोकपक्ष की आधार भूमि पर खड़ा है।''

नागार्जुन अपने काव्य में अंध-परम्पराओं को खंडित करते नजर आते हैं। उनका कवि हृदय मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण एक नई जमीन तलाशता नजर आता है। वह एक नये सत्य के अनुसंधान में तत्पर नजर आते हैं। उनका जन्म एक सनातनी परम्परा के कर्मकांडी परिवार में हुआ था और अपने पिता के दबाव में वह सनातनी पंडित बने, किन्तु ज्ञान की प्यास और कवि स्वभाव उन्हें निरन्तर नये सत्य खोजने को विवश करता रहा। वह शीघ्र ही सनातनी से आर्य समाजी बन गये फिर बौद्ध और अंत में मार्क्सवादी। वह सनातनी परम्परा के कर्मकांड द्वारा प्रतिपादित ईश्वर पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—*कल्पना के पुत्र हे भगवान/चाहिए मुझको नहीं वरदान/बाप दादों की तरह रगड़ूँ न मैं निज नाक/मंदिरों की देहरी पर पकड़ दोनों कान/हे! हमारी कल्पना के पुत्र हे! भगवान/युगों से आराधना की आ गये अब तंग/ढ़ाल और म दंग।''*[7]

बौद्ध मठ में भिक्षुणियों की दीन-दशा देख वे किसी भी तरह का समझौता न कर आलोचना करने को विवश होते हैं। उनके अन्दर एक सहज मातृत्व की भूख को वे एक मानवीय आकांक्षा मानते हैं। वे अपनी संवेदनाओं को प्रमुखता से व्यक्त करते हैं। वे तप को सत्य नहीं मानते हुए कहते हैं—*भगवान अमिताभ सहचर मैं चाहती/चाहती अवलम्ब चाहती सहारा/देकर तिलांजलि मिथ्या संकोच को/हृदय की बात लो कहती हूँ आज मैं/कोई एक होता कि जिसको/अपना मैं समझती/भूख मातृत्व की मेरी मिटा देता/स्त्रीत्व का सुफल पाकर अनायासधन्य होती मैं।''*[8]

नागार्जुन की कविता में सौन्दर्य-बोध अत्यंत गहरे रूप में उभरा है। उनका सौन्दर्य बोध यथार्थ से साक्षात्कार करता हुआ जीवन में सौन्दर्य की तलाश करता है। वह साधारण जन के प्रेम-प्रसंगों को भी एक नये दृष्टिकोण से देखते हैं। मिथिला की प्रकृति, वहाँ के लोग, पत्नी की याद सभी कुछ उनकी संवेदना को उर्वर बनाता है। अनुभूतियों को प्रगाढ़ता प्रदान करता है। वह अपनी पत्नी के सिन्दूर, तिलंकित भाल याद करते हैं, वहीं अपनी मातृभूमि का सौन्दर्य उन्हें आकर्षित करता है—*''याद आते हैं स्वजन/जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख/स्मृति विहंग की कभी थकने न देती पांख/याद आता मुझे अपना वह तरउनी ग्राम/याद आती लीचियाँ वे आम/याद आते मुझे मिथिला के रूचिर भू-भाग..../याद आते बेजुबन के नीलिमा के निलय अति अभिराम।''*[9]

यहाँ सौन्दर्य का यथार्थपरक चित्रण, प्रवासी होने का दुखः सम्पूर्ण गाँव का परिवेश, पूँजीभूत होकर पाठक की हृदयतंत्री को झकझोरता है और अतीत की स्मृतियों को सजग कर देता है। कवि सार्थक बिम्बों से जीवन की संध्याकाल में पहुँचे दाम्पत्य के उन सूत्रों को तलाशने का प्रयास करता है जिनमें वृद्धावस्था की दहलीज पर झड़ चुके केशों वाली अपनी पत्नी-प्रिया से संवाद करता है कि अपनी माँग का वह अंश तो बताओं जहाँ किसी समय तुम सिन्दूर लगाया करती थीं जो केशों के झड़ जाने पर सपाट हो गया है।

निष्कर्षः नागार्जुन लोक-चेतना के कवि हैं। उनकी कविता साधारण-जन की कविता है। यह कविता उनके सुख-दुःख में रची-बसी, पली-बढ़ी है। वह जीवन-पर्यन्त आम आदमी के लिए संघर्षरत रहे। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा एवं दर्शन का प्रभाव उनकी कविता में समावेषित है। जनता का दुःख उन्हें काव्य रचना के लिए निरंतर प्रेरित करता था। गाँव, घर, जन, परिवेश, देश, धरती, मनुष्य सभी के प्रति उनकी दृष्टि में एक नया सौंदर्य-बोध विद्यमान है और यही सौन्दर्य बोध उनके साहित्य को उदात्त एवं कालजयी बनाता हुआ जन-जन से जोड़ता है।

सन्दर्भ

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद, डॉ. शर्मा रामविलास, पृ. 141
2. नागार्जुन की चुनी हुई कविताएं
3. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएं (बहुत दिनों के बाद) मिश्र, शोभांकित, पृ. 123
4. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि, पृ. 460
5. समकालीन हिन्दी कविता, डॉ. तिवारी विश्वनाथ, पृ. 65
6. नागार्जुन की चुनी हुई कविताएँ-2, सं. मिश्र, शोभाकांत
7. नागार्जुन का रचना संसार, सिंह विजय बहादुर, पृ. 148
8. नागार्जुन विशोषांक, कमलेश्वर, पृ. 26
9. उपरिवत
10. नागार्जुन की चुनी हुई कविताएँ, सं. मिश्र, शोभांकित, पृ. 42

–डॉ. शिखा रानी

असिस्टेन्ट प्रोफसर, हिन्दी विभाग,
श्री द्रोणाचार्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दनकौर, जिला-गौतम बुद्ध नगर, उ. प्र.

लाजवाब कमलेश्वर : सन्दर्भ कहानी 'चप्पल'

—प्रो. मनोज कुमार पाण्डेय

मेरी दृष्टि में बड़ा कहानीकार वह होता है जो छोटी-छोटी घटनाओं में छिपी बड़ी संवेदनाएं देखता हैं और उन्हें पहचानकर व्यापक पटल पर उन्हें कल्पना शब्दों, समसामयिकता, दृश्यबंध आदि रंगों में सजाकर ऐसा प्रस्तुत करें कि उनसे गुजरते हुए कलाग्राही उनकी विशेषताओं के प्रभाव से अनछुए न रह जाएं। मेरे मुत्तालिक कमलेश्वर ऐसे ही कहानीकार हैं। अभी कुछ अरसे पहले मैंने उनकी कहानी 'चप्पल' पढ़ी। कहानी पढ़ते ही मेरे भीतर से निकला लाजवाब कमलेश्वर। एक छोटी सी घटना जिसका लेखक साक्षी होता है और उसे ऐसे दिव्य रूप में प्रस्तुत करता है कि पढ़ने वाला उसकी दिव्यता से अनछुआ रह ही ना पाए। कहानी चप्पल में यह अनुभूत किया जा सकता है। आप पढ़कर देख सकते हैं। लेखक कहानी के प्रारम्भ में लिखता है—''कहानी बहुत छोटी सी है। मुझे आल इण्डिया मेडिकल इंस्टीट्यूट की सातवीं मंजिल पर जाना था आई.सी.यू. में। गाड़ी पार्क कर के चला तो मन बहुत दार्शनिक हो उठा कितना दुःख और कष्ट है दुनिया में.... लगातार एक लड़ाई मृत्यु से चल रही है....और उस दुःख और कष्ट को सहते हुए लोग-सब एक से हैं।''[1]

कहानी का मजमून ये है कि लेखक अपनी एक परिचित (संध्या) को जिनकी बड़ी आँत की सर्जरी ऑल इण्डिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट में हुई है, जो स्वयं चिकित्सक हैं, उन्हें सातवीं मंजिल पर स्थित आई.सी.यू. वार्ड में देखने गया है। अस्पताल में पहुँचने पर कैसे हमारे मन में दार्शनिक विचार आते हैं और कैसे हम इन विचारों में निमग्न हो जाते हैं, इन्हें भी इसी कहानी में लेखक ने बखूबी दर्शाया है—''दर्द और भावना तो दर्द और यातना ही है, चाहे वह किसी की हो। इसमें इंसान और इंसान में भेद नहीं किया जा सकता। दुनिया में हर माँ के दूध का रंग एक है। खून और आंसुओं का रंग भी एक है। दूध, खून और आंसुओं का रंग नहीं बदला जा सकता...शायद इसी तरह दुःख, कष्ट और यातना के रंगों का बंटवारा नहीं किया जा सकता। इस विराट मानवीय दर्शन से मुझे राहत मिली थी....मेरे भीतर से सदियां बोलने लगी थीं। एक पुरानी सभ्यता का वारिस होने के नाते यह मानसिक सुविधा जरूर है कि तुम हर बात, घटना या दुर्घटना का कोई दार्शनिक उत्तर खोज सकते हो। समाधान चाहे न-मिले, पर एक अमूर्त दार्शनिक उत्तर जरूर मिल जाता है।''[2] यह दार्शनिकता लेखक को तब भी अनुभूत होती है जब वह सातवीं मंजिल पर जाने के लिए लिफ्ट की ओर इमरजेंसी वार्ड से गुजरते हुए जाता है—''रास्ता इमरजेंसी वार्ड से ही जाता था। एक बेहद दर्द भरी चीख इमरजेंसी वार्ड से आ रही थी....वह दर्द भरी चीख तो दर्द भरी चीख ही थी....दूध, खून और आंसुओं के रंगों की तरह चीख की तकलीफ भी तो एक-सी थी। उसमें विषमता कहाँ थी?''[3] लेखक एम्स गया है अपनी एक परिचित को देखने, जो वहाँ सातवीं मंजिल पर आई.सी.यू. में भर्ती है। बड़ी छोटी सी यात्रा है लिफ्ट की, आखिर लिफ्ट में समय ही कितना लगता है गन्तव्य तक पहुँचने में। पर इसी अल्प यात्रा में लेखक को कहानी भी मिल जाती है और उसका किरदार भी और तो और कहानी का शीर्षक भी मिल जाता है। क्यूँ न इसे देखते चला जाए। आखिर लिफ्ट आई। 'सेवेन-सात' मैंने कहा और संध्या के बारे में सोचने लगा। दो-तीन वार्ड-ब्वाय तीसरी और चौथी मंजिल पर उतर गए।

पांचवी मंजिल पर लिफ्ट रुकी तो कुछ लोग ऊपर जाने के लिए इंतजार कर रहे थे। इन्हीं लोगों में था वह पांच साल का बच्चा। अस्पताल की धारीदार बहुत बड़ी-सी कमीज पहने हुए....शायद उसका बाप, वह जरूर ही उसका बाप होगा, उसे गोद में उठाए हुए था....उस बच्चे के पैरों में छोटी-छोटी नीली हवाई चप्पलें थीं, जो गोद में होने के कारण उसके छोटे पैरों में उलझी हुई थीं। अपने पैरों से गिरती हुई चप्पलों को धीरे से उलझाते हुए बच्चा बोला, ''बाबा! चप्पल...''उसके बाप ने चप्पलें उसके पैरों में ठीक कर दीं। वार्ड ब्वाय व्हील-चेयर आगे बढ़ाते हुए बोला, ''आ जा, इसमें बैठेगा।'' बच्चा हल्के से हंसा....वार्ड ब्वाय ने उसे कुर्सी में बैठा दिया....उसे बैठने में कुछ तकलीफ हुई पर वह कुर्सी के हत्थे पर अपने नन्हें-नन्हें हाथ पटकता हुआ भी हंसता रहा। दर्द का एहसास तो उसे भी था पर दर्द के कारण का एहसास उसे बिल्कुल नहीं था। वह कुर्सी में ऐसे बैठा था जैसे सिंहासन पर बैठा हो....कुर्सी बड़ी थी और वह छोटा था। वार्ड ब्वॉय ने कुर्सी को पुश किया। वह लिफ्ट में आ गया। उसके साथ ही उसका बाप भी। उसका बाप उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरता रहा। लिफ्ट सात पर रुकी, पर मैं नहीं निकला। दो-एक लोग निकल गए। लिफ्ट आठ पर रुकी। यहीं आपरेशन थियेटर थे। दरवाजा खुला तो एक नर्स जिसके हाथ में पर्चे थे, उसे देखते हुए बोली, ''आ

गया तू!'' उस बच्चे ने धीरे से मुस्कुराते हुए नर्स से कहा हाँ! उसकी आँखें नर्स से शरमा रही थीं और उनमें बचपन की बड़ी मासूम दुधिया चमक रही थी। व्हील-चेयर एक झटके के साथ लिफ्ट से बाहर गई....नर्स ने उसका कंधा हलके से थपथपाया—''बाबा! चप्पल'', वह तभी बोला, ''मेरी चप्पल....'' उसकी एक चप्पल लिफ्ट के पास गिर गई थी। उसके बाप ने उसे वह चप्पल भी पहना दी। उसने दोनों पैरों की उंगलियों को सिकोड़ा और अपनी चप्पलें पैरों में कस लीं। लिफ्ट बंद हुआ और नीचे उतर गया। वार्ड ब्वॉय बच्चे की कुर्सी को पुश करता हुआ आपरेशन थिएटर वाले बरामदे में मुड़ गया। नर्स उसके साथ ही चली गई। उसका बाप धीरे-धीरे उन्हीं के पीछे चला गया। तब मुझे याद आया कि मुझे तो सातवीं मंजिल पर जाना था। संध्या वहीं थी। मैं सीढ़ियों से एक मंजिल उतर आया।''[4]

एक लेखक कैसे अपने किरदार और कथानक से सहज ही जुड़ जाता है और ऐसा जुड़ता है कि सब कुछ भूल जाता है। यहाँ दृष्टव्य है। ''जाना था जापान पहुँच गए चीन'' वाला हाल उसका हो जाता है। यहाँ कुछ ऐसा ही होता दिख पड़ता है बच्चे के हाव-भाव, कार्य-कलाप लेखक को ऐसा बाँध लेते हैं कि वह सातवीं मंजिल पर जाने के बजाय आठवीं मंजिल पर पहुँच जाता है। अपनी परिचित संध्या, उसके डॉक्टर पति और उनके परिचित डाक्टरों के हुजूम से लेखक जब ढाई-तीन घंटे बाद मुक्त होकर वापसी में लिफ्ट के सामने पहुंचता है तो ऊपर जाती हुई लिफ्ट में चढ़ जाता है कि उसे छोड़ने आये लोगों को रुकना न पड़े इसलिए और फिर आठवीं मंजिल पर उसे पुनः अपना किरदार-कथानक और उनसे जुड़े तथ्य मिल जाते हैं। लेखक बयान करता है—''लिफ्ट आठ पर पहुंचा। वहाँ ज्यादा लोग नहीं थे। पर एक स्ट्रेचर था और दो-तीन लोग। स्ट्रेचर भीतर आया। उसी के साथ लोग भी। स्ट्रेचर पर चादर में लिपटा वही बच्चा पड़ा हुआ था। वह बेहोश था। वह आपरेशन के बाद लौट रहा था। उसके गालों और गर्दन के रेशमी रोएं पसीने से भीगे हुए थे.... माथे पर बाल भी पसीने के कारण चिपके हुए थे। उसका बाप एक हाथ में ग्लूकोज की बोतल पकड़े हुए था.... ग्लूकोज की नली की सुई उसकी थकी और दूधभरी बांह की धमनी में लगी हुई थी। उसका बाप लगातार उसे देख रहा था....वह शायद पसीने से माथे पर चिपके उसके बालों को हटाना चाहता था, इसलिए उसने दूसरा हाथ ऊपर किया, पर उस हाथ में बच्चे की चप्पलें उसकी उंगलियों में उलझी हुई थीं. ...वह छोटी-छोटी नीली हवाई चप्पलें। मैंने बच्चे को देखा। फिर उसके निरीह बाप को। मेरे मुँह से अनायास निकल ही गया, ''इसका....'' ''इसकी टांग काटी गई है।'' वार्ड ब्वॉय ने बाप की मुश्किल हल कर दी। ''ओह!....कुछ हो गया था?'' मैंने जैसे उसके बाप से ही पूछा। वे मुझे देखकर चुप रह गए....उसके ओंठ बुदबुदाकर थम गए.. .लेकिन वह भी चुप नहीं रह सका। एक पल बाद ही बोला, ''जाँघ की हड्डी टूट गई थी....'' ''चोट लगी थी?'' ''नहीं....सड़क पार कर रहा था.....एक गाड़ी ने मार दिया'' वह बोला और मेरी तरफ ऐसे देखा जैसे टक्कर मारने वाली गाड़ी मेरी ही थी।

फिर वह वीतराग होकर अपने बेटे को देखने लगा। पांचवी मंजिल पर लिफ्ट रुकी। बच्चों का वार्ड इसी मंजिल पर था। लिफ्ट में आने वाले कई लोग थे....वार्ड ब्वॉय ने झटका देकर स्ट्रेचर निकाला तो बच्चा बोरे की तरह हिल उठा, अनायास ही मेरे मुँह से निकल गया, ''धीरे से'' ''ये तो बेहोश है....इसे क्या पता?....स्ट्रेचर को बाहर पुश करते हुए वार्ड ब्वॉय ने कहा। उस बच्चे का बाप खुले दरवाजे से टकराता हुआ बाहर निकला तो एक नर्स ने उसके हाथ की ग्लूकोज की बोतल पकड़ ली। लिफ्ट के बाहर पहुँचते ही उसके बाप ने उसकी दोनों नीली हवाई चप्पलें वहीं कोने में फेंक दीं....फिर कुछ सोचकर कि शायद उसका बेटा होश में आते ही चप्पलें मांगेगा उसने पहले एक चप्पल उठाई....फिर दूसरी भी उठा ली और स्ट्रेचर के पीछे-पीछे वार्ड की तरह जाने लगा। मुझे नहीं मालूम कि उसका बेटा जब होश में आएगा तो क्या मांगेगा? चप्पल मांगेगा या चप्पलों को देखकर अपना पैर मांगेगा....''[5] जीवन आशा पर ही टिका है। अस्पताल में उसके दर्शन होते हैं। लोग आते हैं दुःख लेकर, दर्द लेकर पर एक उम्मीद के साथ कि वे ठीक हो जाएंगे, फिर से सामान्य जीवन जी सकेंगे। यह भाव यह कहानी हमारे सामने प्रस्तुत करती है। अस्पताल तो हम सभी जाते हैं कभी न कभी, अपनों को देखने या दिखाने। पर अस्पताल के मरीजों में ही अपना किरदार ढूंढ लेना, उन मरीजों के दुःख-दर्द में 'चप्पल' जैसी कहानी खोज लेना और इतने शानदार तरीके से उसे कम से कम अल्फाजों में उतार कर पाठकों के सामने पेश कर देना और कहानी से अपने पाठकों का मन मोह लेना, एक पल को उन्हें सोचने पर विवश कर देना। ये कमलेश्वर जैसा कोई बिरला कहानीकार ही कर सकता है। सचमुच कमलेश्वर लाजवाब हैं, लाजवाब।

संदर्भ

1. चप्पल, कमलेश्वर, स्वातंयोत्तर हिन्दी कहानियाँ, सम्पादक कमलेश्वर, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, चौथी आवृत्ति 2011, पृ. 54,
2. वही, पृ. 54, 3. वही, पृ. 54-55, 4. वही, पृ. 56-57,
5. वही, पृ. 60-61

–प्रो. मनोज कुमार पाण्डेय
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
कालीचरण पी.जी. कालेज, लखनऊ

कुमाऊँ के लोक देवताओं का धार्मिक व सामाजिक महत्व

—गरिमा पाण्डेय

अन्य पर्वतीय क्षेत्रों की भांति कुमाऊँ की लोक संस्कृति भी उल्लासमय है। संस्कृति का यह उल्लासमय स्वरूप देवताओं की स्तुतियों, विरहगीतों, नृत्यों, कल्पना-चित्रों तथा स्थापत्य के स्वरूपों में आज भी बहुत कुछ अंशों में विद्यमान है। गरीब और अभावग्रस्त समाज अपने उसके अभिषापपूर्ण परिणामों से बचाने के लिए या उस ओर से ध्यान हटाने के लिए कुछ लोकरंजक रूपों को खोज ही लेता है। कुमाऊँ भी आर्थिक दृष्टि से काफी अभावग्रस्त रहा है, इसीलिए यहाँ के लोक जीवन सांस्कृतिक पक्ष बहुपक्षीय एवं बहुआयामी है।[1] लोक देवताओं का धार्मिक महत्व सर्वोपरि है। यहाँ के लोक जीवन में व्यक्ति विशेष की आस्था पूर्णतया अपने लोक देवताओं के प्रति गहराई से जुड़ी रहती है। धर्म जो कि केवल पूजा उपासना एवं धार्मिक अनुष्ठानों में ही परिलक्षित नहीं होता, अपितु लोक जीवन के प्रत्येक पहलू में इसके लक्षण दिखाई देते हैं। लोगों के रहन-सहन एवं आचार-व्यवहार में भी इसके प्रभाव देखे जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि यहाँ के स्थानीय लोक जीवन में लोक देवताओं का धार्मिक महत्व है। पौराणिक देवी देवताओं को वह अपने बीच का ही मानते हैं। इस तरह से भूटांगी या राजांगी सभी देवताओं के साथ जनसमुदाय की अंतरंग भावनाएँ जुड़ने के कारण उसका धार्मिक महत्व और अधिक बढ़ जाता है। उक्त के संदर्भ में बद्रीदत्त पाण्डे लिखते हैं— वैष्णव, शैव व स्मारतों के देवताओं के अलावा जिनका जिक्र अन्यत्र किया जाता है, कुमाऊँ में कुछ स्थानीय देवता भी माने जाते हैं। कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर ज्यादातर कुमाऊँ में इन्ही ग्राम देवताओं को पूजते हैं, जागर भी लगाते हैं, भूत-प्रेतों में इनका विश्वास अब भी अटल है। यद्यपि ज्ञान व विद्वत्ता की वृद्धि होती जा रही है, वेदान्तवाद, अनीश्वरवाद का भी जोर बढ़ता है तथापि असंख्य लोग चुपचाप ग्रामों में ही बल्कि शहरों में भी इनको पूजते हैं, देवता अवतारते हैं और बलि चढ़ाते हैं। इन देवताओं को संतुष्ट कर ये अपनी ईष्ट सिद्धि होना समझते हैं।[2]

इन देवी देवताओं के विषय में एक विशिष्ट बात यह भी है कि ये अपने उपासकों को श्राप व वरदान देने की क्षमता के अतिरिक्त न्याय देने का कार्य भी करते हैं। अन्याय के विरूद्ध आर्तजन की पुकार को सुनना तथा अपराधी व्यक्ति को दण्ड देना भी इनके प्रभाव क्षेत्र के अंतर्गत आता है। न्यायाधीश का कार्य करने वाले इन देवी देवताओं को पीड़ित व्यक्ति के द्वारा पुकारे जाने अथवा इनके दरबार में जाकर न्याय की दुहाई दिए जाने पर ये अन्यायी व्यक्ति को दण्ड देने के लिए उसे अनेक प्रकार के कष्टों में डाल देते हैं। अपराधी व्यक्ति को दण्ड के रूप में न केवल दी गई हानि पूर्ति करनी होती है, अपितु देवता की पूजा अर्चना भी करनी होती है।कुमाऊँनी समाज में विद्यमान परंपराओं से भी यहाँ के लोक देवताओं के धार्मिक महत्व को समझा जा सकता है। यहाँ जन सामान्य पर आने वाली किसी भी विपत्ति के निराकरण को देवताओं के साथ संबांधित पाते हैं, यद्यपि इस प्रकार के लोक विश्वास में लोक देवताओं के प्रति अधिक विश्वास दिखाई देता है। पूरे कुमाऊँनी समाज में आचरियों अर्थात परियों की मान्यता है। माना जाता है कि यह नवयुवकों के साथ नवयुवतियों पर भी चिपकती हैं। सामान्यतः इन परियों का निवास स्थान ऊँचे पर्वतों, नदी-घाटियों, गाढ़-गधेरों एवं सुनसान एवं एकांन्त स्थलों में माना जाता है। इनके संदर्भ में कहा जाता है कि ये गीत-संगीत तथा नृत्य एवं गायन में पारंगत होती है। इनकी एक विशेषता यह भी है कि ये तड़क-भड़क रगों वाली वस्तुओं के साथ-साथ नवयुवकों के बल पर ये तड़क-भड़क रंगों से युक्त वस्तुओं को धारण करने वालों को अपने प्रभाव में लेती है।[3] चूंकि, लोक देवताओं का सीधा संबंध समाज से है, इसलिए इसका सामाजिक महत्व कम नहीं हो सकता। लोक देवताओं के महत्व का उजागर करने वाली विभिन्न परंपराएं कुमाऊँनी समाज में प्रचलित देवी देवताओं हरू, सैम, गंगनाथ, केदारनाथ, एड़ी कत्यूर, ग्वल्ल, कलविष्ट तथा दुर्गा, वराही आदि के मंदिरों में ग्रामवासियों के द्वारा प्रतिवर्ष सामूहिक रूप से जागर, बैसी, तिमासी लगाई जाती है। इसी तरह व्यक्तिगत रूप से भी कुल देवता की अपने-अपने घरों में जागर लगाने की प्रथा कुमाऊँ में विद्यमान है।[4]

लोक देवताओं के धार्मिक महत्व को हम अजनजातीय समाज के साथ-साथ कुमाऊँ के जनजातीय समाज में भी पाते हैं। वे लोग भी देवताओं के धार्मिक महत्व को समझाते हुए विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक कष्टों के निवारणार्थ अपने समाज में माननीय कुमाऊँ के भोटान्तिक की शरण में विद्यमान है। इस संदर्भ में पूजन की परंपरा कुमाऊँ के

भोटान्तिक समाज में भी विद्यमान है। इस संदर्भ में डॉ. एस. एस. पॉगती लिखते हैं कि रागि में नदी नाले पार करते समय अथवा अजाड़ बस्ती में से भयभीत हो जाते हैं। उनके शरीर पर यही भय एक बीमारी का रूप धारण कर लेती है, जो कि उस स्थान विशेष पर रहने वाले भूत को खिचड़ी, दाल-भात तथा बकरी की बलि चढ़ाने पर ठीक हो सकता है। इस प्रकार के लागू-भागू (भूत-प्रेत) की कहानी प्रायः वृद्ध अपने नाती-पोतों को सुनाया करते हैं। हिम शिखरों पर विचरण करते हुए यक्ष, गंधर्व, किन्नर तथा परियों की कल्पना करके सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय उनको विचरण करते हुए दिखाई पड़ता था। संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई देना एक साधारण घटना मानी जाती है। हास देवता द्वारा एक नमजली की लकड़ी का मेसर देवता द्वारा बर्निया की लकड़ी का पॉछू गाँव के लोग उनकी देवतुल्य आत्मा को अब भी प्रतिवर्ष पूजते रहते हैं। हास लकड़ी के लिए जंगल देवतुल्य आत्मा को अब भी प्रतिवर्ष पूजते हैं। हास लकड़ी के लिए जंगल जाती हुई युवतियों को सनिया देवता का भय अब भी लगा रहता है।[5]

खान-पान की परंपराओं में भी कुमाऊँ क्षेत्र के अंतर्गत लोक देवताओं का प्रभाव दिखाई दे रहा है। सामान्यतः इस भू क्षेत्र में सतोगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी भोजन की परंपरा रही है। सतोगुणी भोजन को अधिकांशतः देव भावनाओं पर विश्वास रखने वाले धार्मिक लोग ग्रहण करते हैं। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से सतोगुणी भोजन की परंपरा ब्राह्मण परिवारों में देखने को मिलती है। कुमाऊँनी समाज में विद्यमान खान-पान की उक्त परंपराओं के निर्वहन में लोक देवताओ के सामाजिक महत्व को महसूस किया जा सकता है। डा. मदन चंद भट्ट लिखते हैं कि जागर वैदिकालीन तांडव नृत्य का मध्यकालीन स्वरूप यह झाड़-फूंक और तंत्र-मंत्र से जुड़ी परंपरा है। इसमें लोक देवताओं को उनके में से किसी एक के शरीर पर अवतरित कराया जाता है, उसे डंगरिया अथवा बखरिया कहा जाता है। चंदकालीन कुछ ताम्रपत्रों में बजनिया और बखरिया के लिए जनता द्वारा भूमिकर दिए जाने का उल्लेख है। इस कारण प्रत्येक गॉव में एक दास और एक डंगरिया बसाए गए।[6] संभवतः तत्कालीन परिस्थितियों में प्रत्येक गाँव में दास और एक डंगरिया को अनिवार्य रूप से बसाने की परंपरा के पीछे उस समय के समाज में इनका अत्यंत सामाजिक महत्व प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि वर्तमान की अपेक्षा अतीत में लोक देवताओं की पूजन परंपराओं के साथ-साथ जागर, बैसी आदि परंपराएं अधिक विद्यमान रही होंगी। संभवतः इससे संबंधित लोगों के आर्थिक साधनों की पूर्ति भी होती होगी। जिस प्रकार की परंपराएं लोक देवताओं के संदर्भों में प्रचलित हैं। पूर्वकाल में इन परंपराओं के श्रेष्ठ एवं विशिष्ट रूप प्रचलित रहे होंगे।

आज जबकि अर्थ का संबंध सभी परंपराओं में दिखाई देने लगा है, हमारा मानना है कि लोक देवताओं के आर्थिक महत्व को उजागर करने वाले अनेकानेक तथ्यों की चर्चा भी होनी चाहिए। आज से लगभग पांच-छह वर्ष पूर्व तक कुमाऊँ जैसे पर्वतीय भू-भाग में स्वास्थ्य सुविधाएं नगण्य थीं, उस समय लोग अपने इष्ट देवता, कुलदेवता तथा ग्राम देवता की पूजा-अराधना इस तरीके से करते थे कि घर-बाहर पशुओं एवं खेत-खलिहानों की खैर रखवाली के लिए लोग विविध प्रकार से लोक देवताओं को पूजते थे। इस प्रकार पूजा विधान तथा समय की पूर्ण जिम्मेदारी दास एवं डंगरियों पर भी हुआ करती थी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि लोक का जो सामाजिक महत्व पूर्व में था वह उसी रूप में आज भी है, लेकिन देवी-देवताओं के से याचना करने वाला पूर्व की अपेक्षा आज किंचित बदल गया है। ऐसा देखा गया है कि यदि कुमाऊँ के लोक देवताओं की नियमपूर्वक पूजा-अर्चना की जाती है तो वह अपने भक्तों की केवल मनोकामना ही पूर्ण नहीं करते बल्कि उनकी कृषि भूमि एवं पशुओं की सुरक्षा भी करते हैं। जिस भूमि में लोक देवताओं को लोग भावपूर्ण श्रद्धा से स्मरण करते हैं, वहीं देवी-देवता अपने दैविक एवं सिद्धियों से धन-धान्य में अभिवृद्धि एवं समृद्धि प्रदान करते हैं। कभी-कभी क्षेत्र विशेष के आराध्य देव उस भू-भाग में रहने वाले लोगों को वहाँ अपनी उपस्थिति का आभास भी कराते हैं। सामाजिक कार्यों पूजा-आराधना में भी लोक देवताओं का अपना योगदान रहता है। लोक देवता हमेशा अपने प्रभाव क्षेत्र में दीन दुःखियों एवं पीड़ितों को न्याय दिलाते हैं तथा लोगों को अत्याचार एवं अन्याय से मुक्त करते हैं।

संदर्भ

1. बटरोही, कुमाऊँ संस्कृति, 1977, सत्यपाल उपयोगी प्रकाशन रूद्रपुर, नैनीताल
2. पाण्डे बद्रीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो, पृ. 569
3. शर्मा डी. डी., 2007, उत्तराखण्ड के लोक देवता, अंकित प्रकाशन पीली काठी, हल्द्वानी, पृ. 12
4. जोशी प्रयाग, 1986, कुमाऊँ गढ़वाल की लोक गाथाओं का विवेचनात्मक अध्ययन, प्रकाशन डिपो बरेली, पृ. 81
5. जोशी कृणनंद 1971, कुमाऊँ का लोक, पेज नं 66-67, साहित्य प्रकाा डिपो बरेली
6. एस. एस. पॉगती, 1992, मध्य हिमालय की भाटान्तिक जनजाति, जोहार के शौका, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 102-03

–गरिमा पाण्डेय

सहायक प्राध्यापिका (इतिहास),

राजकीय महाविद्यालय तल्ला सल्ट, अल्मोडा, उत्तराखण्ड

कानपुर देहात में पर्यावरण प्रदूषण : कारण एवं बचाव

—अंजू प्रिया

सारांश—कानपुर देहात उत्तर प्रदेश का एक जिला है जिसकी स्थिति गंगा-यमुना दोआब के दक्षिण में स्थित है। अत्यंत उपजाऊ मैदान यहां पाये जाते हैं परन्तु आज इक्कीसवीं सदी में इसकी हालत अत्यधिक खराब अवस्था में आ चुकी है। पर्यावरण प्रदूषण के कारण जन-जीवन काफी अव्यवस्थित हो गया है। औद्योगिक कचरा जिनमें ठोस अपशिष्ट तथा वायु द्वारा प्रदूषण मुख्य है तथा कृषि में प्रयोग कीटनाशकों तथा अवैज्ञानिकपूर्ण तरीके से की गयी कृषि ने प्रदेश को बंजर अवस्था में पहुंचा दिया है। यह अत्यधिक खतरनाक स्थिति को इंगित करता है। वायु में मौजूद प्रदूषक मनुष्य के तांत्रिका तंत्र को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। वहीं जमींन पर उगी शाक-सब्जी खाने से तरह-तरह की बीमारियों के चपेट में लोग आने लगे हैं। इसका कारण है—प्रदूषण। प्रदूषण न केवल पर्यावरण को नुकसान पहुंचाता है, वरन यह हमारे जन-जीवन व आने वाली पीढ़ी के लिये अस्वास्थ्यकर है।

मुख्य बिन्दु : पर्यावरण प्रदूषण, औद्योगिक कचरा, अवैज्ञानिक कृषि एवं भूमि प्रयोग, जन-जीवन का स्वास्थ्य।

कानपुर देहात उत्तर प्रदेश राज्य का एक जिला है तथा गंगा एवं यमुना के दोआब के दक्षिण में बसा हुआ है। आकार में यह पतंगनुमा है। लगभग सभी ऋतुओं का अनुभव यहां किया जा सकता है। रबी की फसल में मुख्यतः गेहूँ बोया जाता है तथा अन्य फसलों में जौ, चना, मटर, अरहर, सरसों, खरीफ फसलों में चावल, ज्वार, मक्का, बाजरा इत्यादि प्रमुख फसलें बोई जाती हैं। कानपुर देहात में प्रदूषण का सिलसिला दिन-पर-दिन बढ़ता चला जा रहा है। कानपुर देहात कानपुर नगर से सटा हुआ है जिसके कारण यहां औद्योगिक प्रदूषण का स्तर अत्यधिक ज्यादा है। न केवल औद्योगिक प्रदूषण का स्तर अधिक है वरन् यहाँ वायु प्रदूषण का स्तर भी काफी खराब अवस्था में है। प्रदूषण का स्तर दिन-पर-दिन नगरीकरण के कारण बढ़ता चला जा रहा है, जिसके कारण घरेलू कचरे में भी तीव्र वृद्धि हो रही है। कृषि में अवैज्ञानिकीकरण के कारण कृषि का स्तर भी प्रभावित होता चला जा रहा प्रदूषण के विचित्र स्थिति के कारण जन-जीवन, कृषि तथा पशु, पक्षियों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है जो कि आने वाले भविष्य के लिये खतरा साबित हो सकता है। जिस तीव्र गति से पर्यावरण का शोषण किया जा रहा है, उस तरह से देखा जाये तो यह प्रतीत होता है कि पर्यावरण की स्थिति यदि एक बार गम्भीर होती है तो भविष्य में पृथ्वी पर विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक संकट बढ़ सकते हैं जो न केवल हमारे पर्यावरण के लिए घातक हैं, वरन यह हमारे लिए व हमारी आने वाली पीढ़ी के लिए भी अत्यधिक घातक हो सकता है जिससे पृथ्वी पर आपदाओं में निरंतर वृद्धि होगी। कृषि के लिए जमीन कम पड़ जायेगी तथा अनाज की कमी हो सकती है, जिससे मनुष्य अकाल की स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। अतः पर्यावरण को बचाना हमारा कर्तव्य बनता है। कानपुर देहात में अभी जिस प्रकार की स्थिति बनी हुई है, इससे इस क्षेत्र के भविष्य की कल्पना की जा सकती है। यदि हम सचेत रहे तो आने वाली आपदाओं का सामना कर सकते हैं तथा उन्हें कम करने का प्रयास कर सकते हैं।

प्रस्तावित शोधपत्र प्राथमिक एवं द्वितीयक आँकड़ों पर आधारित है जिसमें मैग्जीन, अखबार, पुस्तकों, शोधपत्रों तथा इंटरनेट से जानकारी एकत्रित की गयी है तथा साथ ही साथ व्यक्तिगत अवलोकन भी किया गया है। क्षेत्र को नजदीक से आँका गया है तथा आँकड़ों की जाँच करके ही इस पत्र में शामिल किया गया है। कानपुर देहात में उद्योगों की संख्या अधिक होने के कारण प्रदूषण अत्यधिक है। औद्योगिक उत्सर्जन के कारण वायुमण्डल में जहरीली गैसें अत्यधिक मात्रा में पायी जाती हैं जिनमें कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा अत्यधिक है तथा पी पी एम की मात्रा 2.5 है तथा अन्य जहरीली गैसें मिलकर हमारे श्वसन क्रिया द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश करती हैं जिससे विभिन्न प्रकार की श्वास सम्बन्धी बीमारियाँ मनुष्यों में पनपने लगती हैं। यह अत्यधिक शोचनीय विषय है कि हम लगातार उद्योग धंधों को बढ़ावा दे रहे हैं जो कि पर्यावरण के लिये खतरे का विषय है। आज हमारी पृथ्वी उद्योगों से भर गयी है। उद्योगों का संचालन नवीकरणीय ऊर्जा से चलाने के बजाये हम उन नवीकरणीय संसाधनों का प्रयोग करते हैं जिससे यह समस्या बढ़ती चली जा रही है।

पर्यावरणीय प्रदूषण के मुख्य कारणों में कृषिगत कचरा भी शामिल है, जिसमें अवैज्ञानिक कृषि के कारण भूमि में मौजूद सूक्ष्म जीव जहरीली कीटनाशक दवाओं के सम्पर्क में आकर अपना दम तोड़ देते हैं जिसके कारण कृषि को भविष्य में काफी हद तक नुकसान का सामना करना पड़ सकता है। मृदा में निम्नीकरण का अर्थ होगा कि भविष्य में मृदा अनुपजाऊ होती चली जायेगी जिससे एक समय बाद वह मृदा बंजर भूमि में बदल जायेगी तथा इससे वहाँ खेती करना कठिन हो जायेगा तथा यह आने वाले भविष्य में खतरे का सूचक है। यह खतरा सिर्फ इसलिए ही नहीं बढ़ेगाा कि मृदा बंजर हो जायेगी बल्कि इसलिये भी बढ़ जायेगा क्योंकि हमारे पास कोई दूसरा संसाधन नहीं है जो हमारे कृषि करने के काम में आ सके जिस पर हम कृषि कर सकेंगे।

वायुमण्डलीय प्रदूषण अत्यधिक वाहनों के प्रयोग से, चिमनियों के प्रयोग से तथा घरों में प्रयोग चूल्हे पर खाना पकाने, पराली जलाने से होता है। कोयले या लकड़ियों के दहन से वायुमण्डल में ब्$_2$ की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होती है जो कि प्रदूषण का मुख्य कारण है जहाँ 2011 में ब्$_2$ की मात्रा 18 करोड मैट्रिक टन थी वहीं 2023 में ब्$_2$ की मात्रा बढ़कर 23 करोड़ मैट्रिक टन हो गयी थी। वायु में मिलने वाले पी पी एम की मात्रा भी वायु में प्रदूषण को इंगित करती है। वायुमण्डल में इस कदर से भारी मात्रा में जहरीली गैसों का पाया जाना अत्यधिक गम्भीर समस्या है। यह समस्या जितनी देखने में गम्भीर है उससे कहीं ज्यादा इसके क्या प्रभाव होंगे यह प्रश्न गम्भीर है। हमें अपने तौर-तरीकों में बदलाव लाना चाहिए ताकि यह समस्या कम हो सके। हालाँकि, अब इस पर कंट्रोल करना थोड़ा मुश्किल है पर यह केवल हमारे प्रयासों के द्वारा ही कम किया जा सकता है। प्रदूषण हमारी जिन्दगी के साथ ही नहीं वरन् प्रत्येक वस्तु के साथ खिलवाड़ कर रहा है। कोयले से निकलने वाली कार्बन मोनोओक्साइड यदि बंद कमरे में रखी जाये तो यह लोगों को नींद में ही मार सकती है। यह पूरे वातावरण में फैली है और प्रत्येक मनुष्य इससे प्रभावित है। यह मनुष्यों में घातक बीमारियों के लिए भी उत्तरदायी है। इसी प्रकार से सल्फर डाई ऑक्साइड यह गैस भी अम्ल वर्षा के लिए उत्तरदायी गैस है जिससे आगरा का ताजमहल तक प्रभावित है। यह मृदा को बंजर बना देती है। अतः हमें चाहिए कि हम उद्योग धंधों को कुछ सावधानी से लगाये ताकि भविष्य में उद्योगों का सकारात्मक प्रभाव हो। हमें चाहिए कि हम ऐसे उद्योगों को बढ़ावा दें जो हस्त उद्योगों पर आधारित हो ताकि मानव संसाधन का भी अच्छी तरह से प्रयोग हो सके।

जलवायु में आज तीव्र गति से परिवर्तन होता जा रहा है जिसके कारण भी अनचाही आपदा किसी-न-किसी दिन आती रहती हैं। जलवायु में परिवर्तन मुख्यतः ब्$_2$ की मात्रा बढ़ने से हुई है तथा अनुमानतः 2050 तक धरती से सारे हिम आवरण नष्ट होने के 100 प्रतिशत आसार हैं जिससे धरती का जल स्तर तीव्र गति से बढ़ जायेगा जिससे अकाल, बाढ़ एवं सूखे की घटना तीव्र गति से बढ़ जायेंगी जो कि मनुष्य या किसी भी जीव के लिये अत्यधिक घातक है। जलवायु परिवर्तन एक गंभीर समस्या है तथा इस समस्या से बचने का केवल एक ही उपाय है कि हमें अपनी दिनचर्या में बदलाव लाना पड़ेगा। पेट्रोल एवं डीजल से चलने वाले वाहनों के स्थान पर इलेक्ट्रिक वाहनों का प्रयोग तथा नवीकरणीय संसाधनों का प्रयोग एक बेहतर उपाय होगा। पर्यावरण प्रदूषण केवल कानपुर देहात की ही समस्या नहीं है, यह समस्त विश्व की भी समस्या है, केवल जागरूकता ही इस समस्या का समाधान है। हमें चाहिए कि हम ज्यादा से ज्यादा जागरूक बने ताकि उन कारणों का पता लगा सके जो कि पर्यावरण प्रदूषण के कारक हैं तथा उनके निपटारे का हल निकाल सकें। केवल मनुष्यों की लापरवाही का नतीजा है जो आज पृथ्वी के समस्त स्थानों पर प्रदूषण के कारण जन-जीवन अस्त-व्यस्त होता चला जा रहा है। ग्लोबल वार्मिंग इसका जीता-जागता उदाहरण है, जिसके कारण पृथ्वी का तापमान दिन-पर-दिन बढ़ता चला जा रहा है और ऋतुओं में परिवर्तन होता जा रहा है जिससे एक समय बाद ऋतुओं में पूर्णतः परिवर्तन आ जायेगा। फसलों को किस प्रकार बोना है यह भी ज्ञात नहीं हो पायेगा। इसलिए भी हमें अपने रोजाना के कामों में परिवर्तन लाना होगा। साफ-सफाई का भी विशेष ध्यान देना होगा ताकि प्रदूषण कम से कम फैलें।

पर्यावरण प्रदूषण का मुख्य कारण तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या भी है। जनसंख्या दबाव पर्यावरण को संकुचित करता है जिससे पर्यावरण में विषमतायें उत्पन्न होती हैं। शिक्षा और जागरूकता के अभाव ने मनुष्य को अत्यधिक खतरे में पहुंचा दिया है। भविष्य में अत्यधिक जनसंख्या से संसाधन नष्ट हो जायेंगे तथा पृथ्वी पर अकाल की अवस्था में जन-जीवन नष्ट हो जायेगा। बढ़ती जनसंख्या अत्यधिक मात्रा में अपने सीमित संसाधनों पर दबाव बनाती है। संसाधनों का संकुचन पैदा हो जाता है तथा संकुचन से वस्तुयें दुर्लभ बन जाती हैं तथा दुर्लभ वस्तुयें निकट भविष्य में समाप्त हो जाती हैं और यह चक्र चलता रहता है। किसी भी चीज के साथ अत्यधिक मात्रा में छेड़छाड़ करने से वह वस्तु हमेशा के लिए नष्ट हो जाती है तथा बढ़ती जनसंख्या अभिशाप की तरह होती है। यदि उसे उचित उपयोग में न लायी जाये। जनसंख्या के मामले में भारत प्रथम स्थान पर वहीं कानपुर देहात की जनसंख्या भी कुल समय से तीव्र गति से बढ़ती चली जा रही है।। एक सही समय पर जब इन चीजों को यदि न संभाला जाये

तो चीजें खराब होने लगती हैं। जनसंख्या भी ठीक उसी प्रकार है। यदि जनसंख्या को सीमित न किया जाये तो भविष्य में मनुष्य जाति के लिए यह खतरे का सूचक हो जायेगा। हमारी सरकारों को चाहिए कि वह अपने देश की जनसंख्या को कम करने के सही उपाय अपनाये तथा जनसंख्या के नियंत्रण के उपाय करें।

कानपुर देहात की तहसीलों में प्रदूषणों के कारण 2018 के अनुसार अकबरपुर तहसील में फैक्ट्रियों से निकलने वाला केमिकल एवं धुआँ जिसने वहां की ए.क्यू. का स्तर पीएम 1047 कर दिया है। भोगनीपुर तहसील में पराली का धुआँ, ध्वनि प्रदूषण, कूड़ा जलाने एवं फैक्ट्रियों से निकलने वाला कचरा अत्यधिक चिंतनीय है। डेरापुर तहसील में भी पराली जलाने से तथा फैक्ट्रियों से निकलने वाला धुआँ तथा निर्माण कार्य होने के कारण प्रदूषण का स्तर काफी दुखदायक है। रसूलाबाद तहसील में धुआँ, जलभराव, फैक्ट्रियों का कचरा एवं वाहनों द्वारा किया गया वायु प्रदूषण तथा ध्वनि प्रदूषण मुख्य चिंता के विषय हैं। सिकन्दरा तहसील में फैक्ट्रियों से निकलने वाला धुआँ एवं कचरा, पराली का जलाया जाना, वाहनों द्वारा छोड़ा गया धुआँ एवं उनके द्वारा बजाया जाने वाला हार्न वायु एवं ध्वनि प्रदूषण के अत्यंत गंभीर कारण हैं। मैथा तहसील में कूड़ा जलाना, वाहनों से निकलने वाला धुआँ, फैक्ट्रियों से निकलने वाला धुआँ एवं अपशिष्ट अत्यधिक चिंता का एवं पर्यावरण के लिये नुकसानदायक हैं।

कानपुर देहात में कुल मिलाकर 6 तहसीलें हैं जिनमें मुख्यतः अकबरपुर, भोगनीपुर, डेरापुर, रसूलाबाद, सिकन्दरा, मैथा प्रमुख तहसीलें हैं। इन तहसीलों में प्रदूषण की समस्या अत्यधिक गम्भीर रूप में पायी जाती है। प्रत्येक तहसील वायु प्रदूषण से ग्रस्त है तथा फैक्ट्रियों से निकलने वाला धुआँ इनमें मुख्य प्रदूषक कारक है। पराली जलाना प्रत्येक जिले में एक सामान्य समस्या में पाया जाता है। कहीं जलभराव से लोग त्रस्त हैं तो कचरे से जिसमें प्लास्टिक का कचरा सर्व प्रमुख है। अतः इन आँकड़ों से यह जाहिर होता है कि पर्यावरण की स्थिति कानपुर देहात में उचित अवस्था में नहीं है तथा यहाँ एक गंभीर सवाल खड़ा हो जाता है कि यदि पर्यावरण का इसी प्रकार से ह्रास होता रहा तो भविष्य में हमारी आने वाली पीढ़ी कैसे जीवन को व्यतीत करेगी? यह एक गंभीर सवाल है जो कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में होना चाहिए। हमें चाहिए कि हम पर्यावरण को इन गम्भीर समस्याओं से बचायें। उन वाहनों का प्रयोग कम से कम करें जिनसे पर्यावरण में कार्बन-डाई-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ती है, नवीकरणीय संसाधनों के प्रयोग पर ज्यादा से ज्यादा ध्यान दें, सौर ऊर्जा से चलने वाली विद्युत का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग करें तथा इलेक्ट्रिक वाहनों का प्रयोग करें।

सन्दर्भ

1. Parry, M.L. 1990. Climate change and world agriculture. London : Earthscan Publication.
2. M. H. Abd. Wahab, 1991. "Environmental Pollution Causes for Concern", LJM Bulletin, December, Pg. (22-25)
3. Mohd. Aniff. 1992. "Dilemma Environment Control". New Straits Times, March 18, Pg. (10)
4. Morzita Samad, 1992. "Global warming : We must Help". New Straits Times.
5. Majorie Chiew, 1992. "Green and Moves Too slow section 2", The star, May 13 Pg. (1)
6. Nor Azlina Ismail, 1992. "Low New Emision standards for vehicles form June 1". New Stairs Times.
7. Brigitte Rozario. 1992. "The Need for specialist's help", Section 2- Environment Feb. 8, Pg (9)/
8. New straits Times Editor, 1992. "Greening of Residential Area". New straits Times March 18, Pg (10).

–अंजू प्रिया

शोध छात्रा, भूगोल विभाग,

वी.एस.एस.डी. पी.जी कॉलेज, कानपुर, उ.प्र.

गीत से नवगीत का इतिहास

—डॉ. मनोरमा मिश्रा

गीत मानव मन के इतिहास को प्रकृति प्रदत्त ऐसा तोहफा है जिसने मानव मन के सुख-दुःख, उल्लास-वेदना, उन्माद-विषाद आदि अंतरतम् भावनाओं को उसके अन्तस् से निकाल कर औरों तक प्रक्षेपित किया जिसने मानव-मानव के बीच के सम्बन्धों को, समाज की अवधारणा में रूपान्तरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शरद की सुबह ने मानव मन के उल्लास को अभिव्यक्ति दी तो जेठ की सूनी दुपहरी ने उसके विषाद को व्यक्त किया, बसन्ती हवा की सरसराहट और गर्जित समुद्र ने उसके उन्माद को उत्तेजित किया तो शिशिर रात्रि के सन्नाटे ने उसके अवसाद को निष्पादित किया, मानव मन की इन सार्वभौमिक अन्तरभावनाओं का इतिहास उतना ही पुराना है जितना की मानव। और इन अन्तरतम् भावों की प्रकृति ने उसे उसी तरह व्यक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जिस तरह सूखी मिट्टी पर जल गिरकर उसकी भीनी गंध को व्यक्त कर देता है। अतः निश्चित है कि मानव मन के इन अन्तरतम् भावों और प्रकृति के विविध स्वभावों का संबंध आदिकालीन और सार्वभौमिक है और प्रकृति के विविध स्वभावों के सम्पर्क से विभावित होकर मानव मन के ये अन्तरतम् भाव कभी संचारी भाव बनकर आविर्भूत और तिरोहित हुए तो कभी स्थाई भाव बनकर आलोकित हुए और कभी अनुभाव की तरह विविध कलाओं के रूप में प्रकट हुए। इन विविध कलाओं में भी जिस कला के रूप में मानव मन के इतिहास के ये अन्तरतम् भाव अपने सबल, चिरस्थाई चिरप्रभावी रूप में प्रकट हुए वह कला थी गीतकला। गीत द्वारा ही मानव मन ने प्रकृति द्वारा विभावित अपने अन्तरतम् भावों को सर्वप्रथम प्रकट किया। इसीलिए कहते हैं कि गीत मानव जाति का आदिम काव्य रूप है, वह मानव सभ्यता से जुड़ा है, वह मानव मन की प्रथम कलात्मक अभिव्यक्ति है, उसे कुण्ठा के बोझ से मुक्त करने वाली प्रथम शक्ति है, उसके अवसाद-विषादों को निष्कासित करने, उन्माद-उल्लासों को प्रकाशित करने वाली मानव द्वारा अपने समूह के प्रति की गयी प्रथम भक्ति है।

गीत विधा से ही मानव अपने मन की भावनाओं, सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों, वैयक्तिक जीवन की विविध दशाओं आदि का प्रकाशन स्वतंत्रतापूर्वक कर सकता है। इसीलिए मानवीय अन्तरतम् को अभिव्यक्ति प्रदायनी यह विधा लोक विधा बन गयी और लोक कण्ठा में हजारों वर्ष तक जीवित रही। मानवीय इतिहास की किसी अन्य कलात्मक विधा में गीत विधा के समान अक्षुण्ण जीवनी शक्ति नहीं है। ''आज के इस वैज्ञानिक युग में मुद्रण, प्रकाशन और दूरसंचार के व्यापक साधनों के उपलब्ध होने पर भी मनुष्य जाति केवल गीत काव्य को ही आज भी स्मरण शक्ति में सुरक्षित रखकर कण्ठ परम्परा में जीवित रखती है।'' मानवीय कला की यदि कोई विधा लोकमानस में गहराई तक रची-बसी है तो यह है गीत विधा। ऋग्वेद की ऋचाओं का सामवेद के संगीत से आप्लाविक होने से लेकर 11वीं सदी के संस्कृत के गीत गोविन्द तक जो गीत विधा का इतिहास विस्तृत फलक पर फैला पड़ा है वह इस बात का प्रमाण है। ऋग्वैदिक आर्यों ने ऊषा की भव्यता और ऋतुओं की नव्यता से प्रभावित होकर जो प्रस्तुति की अथवा प्रकृति से प्रकोपित होकर जो स्तुति की, सबमें गेयता विद्यमान है। संस्कृत साहित्य का बहुत सा भाग गीतमय है। महाकवि कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत को गीतकाव्य की श्रेष्ठ रचनाएं माना जाता है। संस्कृति की चोर पंचाशिका, पवनदूत, भामिनी विलास आदि भी गीत शैली की रचनाएं हैं। जयदेव का गीत गोविन्द तो संस्कृत गीत काव्य का सर्वोत्तम उज्ज्वल रत्न है। स्वामी विवेकानंद, जो स्वयं भारतीय संस्कृति के एक महान गायक थे, गीत गोविन्द से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने उसके भाव पक्ष की अपेक्षा उसके श्रुति-मधुर पद विन्यास की अधिक प्रशंसा की। हिन्दी में गीत काव्य की प्राचीनतम कृति सिद्ध सरहपा की रचनाएं हैं। सरहपा के साथ अन्य सिद्ध लोग भी गीत शैली को अपनाकर चले। सिद्ध लोग गा-गाकर अपने सिद्धान्तों अथवा अनुभूतियों का प्रचार किया करते थे। नाथ पंथी साधुओं ने भी गीत शैली को अपनाया। सिद्धों के गीत ऋक शैली के हैं और नाथों के गाथा शैली के। गाथा शैली की अन्य गीत कृतियाँ नरपति नाल्ह कृत बीसलदेव रासो और जगनिक कृत परमाल रासो (आल्हा खण्ड) प्रसिद्ध है। चूंकि, यह गाथा शैली की गीत कृतियाँ प्रेम और उससे उत्पन्न संघर्ष की विषय वस्तु पर आधारित है अतः प्रेम और वीर तत्त्व के होने के कारण इनके गीतों में एक तरफ कल्पना की भाव भूमि बड़ी ही मनोहर है तो दूसरी तरफ वीरता की रणभूमि भी बड़ी व्यापक है। लेकिन यह व्यापकता कहीं-कहीं

तो अतिश्योक्ति की सीमा तक जा खड़ी हुई है और जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ गीत की आत्मा की स्वाभाविक हत्या भी हुई है। इसके विपरीत, आगे चलकर विद्यापति और कबीर के पदों में जो गेयता है वह आत्माभिव्यंजना के कारण हृदयग्राही है यद्यपि जहाँ कबीर बुद्धि प्रसूत है वहाँ वे केवल उपदेशक हैं लेकिन जहाँ वे आत्ममुग्ध है वहाँ वे सच्चे गीतकार, पक्के कवि हैं। जैसे 'बालम आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया गेह रे' जैसे गीतों में।

लेकिन इसके कुछ समय पूर्व प्रकट होने वाले साहित्य मर्मज्ञ, संगीतज्ञ और कवित्व सर्वज्ञ के धनी सूफी संत शिरोमणि निजामुद्दीन औलिया के परमप्रिय शिष्य अमीर खुसरो ने जो गीत प्रस्तुत किए वे अब तक के गीत साहित्य से अपनी अलग पहचान बनाए खड़े थे। अब तक गीत भाव से जन्म लेकर कल्पना अथवा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की भूमि पर खड़ा था लेकिन अमीर खुसरो ने गीत को धरती पर खड़ा किया। अमीर खुसरो का गीत भाव प्रसूत तो था लेकिन धरती का रस लेकर खड़ा था, लोक जीवन को सीधे-सीधे अभिव्यक्त कर रहा था—''दइया री मोहे भिजोया री/शाह निजाम के रंग में/कपड़े रंगत ते कुछ ना होत है/या रंग में मैंने तन को डुबोया री/दइया री मोहे भिजोया री।''इसी तरह दूसरा है—''मगन बिन फल रही सरसों/अंबवा फले, टेसू फूले/कोयल बोले डार-डार/और गोरी करत सिंगार मलनियां/गुंदवा ले आई कर सों।'

इस तरह अमीर खुसरो ने गीत के लिए एक नया द्वार खोल दिया और यह द्वार था धरती का द्वार। अमीर खुसरो के बाद गीत की आत्मा फिर से कल्पना के रंगों में डूब गयी और आत्म केन्द्रित हो गयी। जो भी हो कुल मिलाकर गीत पुनः आत्ममुग्ध हो गया। भक्तिकाल के भक्त कवियों ने भक्ति भाव से विभोर होकर टेकयुक्त जो पद गाए उनके शब्द संयोजन में जो लयता है वह ऐसी विभोर कर देने वाली है कि सहृदय भाव विगलित हो उठे। उन्होंने कोमल सरस शब्दों का जो अपूर्व अद्वितीय संयोजन किया है उससे हर शब्द के भीतर से संगीत बजता है। सूर जैसे भक्तों के पदों को संगीत से संवारने के लिए किसी महारथी संगीतज्ञ की आवश्यकता नहीं पड़ती है बल्कि पद का हर शब्द स्वयं अपना संगीत कहता है। हर गाने वाला सुर साधक हो जाता है और उसकी बाह्य दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है।

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल में गीत की रचना प्रायः कम ही हुयी क्योंकि रीतिकालीन कवि पर आचार्यत्व की छाप थी जिससे उनकी कविता में बौद्धिकता और श्लेष-यमकादि अलंकारों की भरमार होती थी, यद्यपि कुछ रीतिमुक्त कवियों की कविता में भावव्यंजना के उत्कर्ष के कारण गेयता विद्यमान है फिर भी भक्तिकालीन रचनाओं जैसा आंतरिक शब्दबद्ध संगीत नहीं है।

इसके उपरान्त भारतेन्दु युग की वस्तुपरकता और द्विवेदी युग की इतिवृतात्मकता के कारण इन युगों में गीत विधा का विकास नगण्य ही रहा लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व में उत्पन्न आर्थिक, राजनैतिक विभीषिका ने मानव मन को झकझोर डाला। अभावग्रस्त मानव मन अपने भावों को कल्पना में खोजने लगा। मानव का मानव के प्रति मोहभंग हुआ तब वह वैयक्तिक होने लगा। स्थूलता के प्रति उसे विकर्षण पैदा हुआ तब वह सूक्ष्मता में अपने अस्तित्व को खोजने लगा। इन परिस्थितियों ने 20वीं सदी के मानव मन को वैयक्तिकता, कल्पनाशीलता और सूक्ष्मता की ओर प्रक्षेपित किया। फलतः यूरोप में दांते की भव्य कविता और रोमांटिसिज्म ने जन्म लिया तो भारत भूमि के मानव-मन की इन भावशील दशाओं ने छायावाद नामक युग को जन्म दिया। इस छायावाद नामक युग में कल्पनाशीलता, सूक्ष्मता और वैयक्तिकता का बोलबाला रहा। ये कवि वर्तमान से असंतुष्ट होकर कल्पना में सुन्दर जगत को खोजने लगे। वैयक्तिक सुख दुःख की बात करने लगे। और ऐसे भावों की अभिव्यक्ति के लिये गीत ही सर्वप्रमुख विधा थी। अतः भारतेन्दु और द्विवेदी युग के साहित्य में धराशायी गीत पुनः उठ खड़ा हुआ। महादेवी और निराला तो इस गीत के लिये अवतार सिद्ध हुए, यद्यपि इन दोनों ने गीत के लिए आन्तरिक लय पर जोर दिया, शब्द चयन पर ध्यान दिया। तुकान्तता की परिपाटी और छन्द की वासी हो चुकी माटी को त्याग दिया। निराला तो छायावादी कवियों में सबसे आगे थे। वे प्रयोगधर्मी कवि थे। उन्होंने गीत की विधा में नवीन प्रयोग किए। 13वीं सदी में अमीर खुसरो ने जिस गीत को धरती के रस से सींचा था निराला ने उसे अब 20वीं सदी में धरती के यथार्थ रस से सराबोर कर दिया। उन्होंने अपने गीतों को एक तरफ कल्पना के कोमल रंगों से उकेरा तो दूसरी तरफ यह भी स्थापित किया कि गीतों में बाह्य यथार्थ को भी चित्रित किया जा सकता है। इसकी इस नव स्थापना के कारण ये अपने देहावसान के दो दशक बाद आरम्भ हुए नवगीत काव्यान्दोलन के प्रेरणास्त्रोत कहलाए। इसके पश्चात् प्रगतिवाद में जो कवि धरती की माटी लेकर खड़े हुए उनकी कविता में गेयता विद्यमान रही लेकिन प्रयोगवादी कवि की अतिबौद्धिकता ने उसे गेयता से विलग कर दिया।

तत्पश्चात् स्वतंत्र भारत में नयी कविता के वन में नवगीत का पौधा लहलहाया। एक तरह से यह भी गेय तत्त्व और आन्तरिक अथवा भावलय में सम्पृक्त कविता थी, लेकिन इसकी भावभूमि और विषय वस्तु नयी कविता की थी। नयी कविता की भावभूमि तात्कालीन मानव की जिजीविषा, जीवटता और विफलता थी तो विषय वस्तु धरती का बाह्य यथार्थ था। यद्यपि इस भावभूमि और विषय

वस्तु की ओर कुछ मात्रा में संकेत अमीर खुसरो ने तथा स्पष्ट संकेत निराला ने कर दिया था लेकिन इनके गीत नवगीत नहीं कहलाये और जब 60 के दशक में समसामयिक विषय वस्तु और भावबोध को लेकर जो कविता रची गयी वह नयी कविता कहलायी और इस नयी कविता के कानन से आन्तरिक लय और भावगत तुकान्तता से गेयता को प्राप्त जिस कविता की रचना हुयी उसे नवगीत कहा गया।

इस तरह निर्मम आर्थिक सम्बन्धों से प्रसूत संवेदनशून्य नये मानव के नये सम्बन्धों, स्थितियों-परिस्थितियों से प्रसूत विषय वस्तु को लेकर 60 के दशक में जो कविता रची गयी, वह नयी कविता कहलायी जिसने अर्थलय की श्रेष्ठता की घोषणा कर काव्य की आत्मा—भावलय, गेयता, शाब्दिक ताल को नकार कर कविता को गद्यात्मक बना उसके आत्म तत्त्व को ही घायल कर दिया। लेकिन इन्हीं विषय परिस्थितियों में कुछ कवित्व मर्मज्ञों ने घायल काव्यात्मा को बचाया। नयी कविता की विषय वस्तु को स्वीकार कर उसे भावलय, शाब्दिक ताल और आन्तरिक गेयता से संवारा और इस तरह काव्यात्मा को पुनः स्वस्थ किया। स्वस्थ हुई यही काव्यात्मा नवगीत कहलाई।

काव्यात्मा के चिकित्सकों में कुछ तो प्रयोगवादी युग के अज्ञेय जैसे कवित्व मर्मज्ञ थे तो कुछ नयी कविता धारा के उथले हो चुके तट की उर्वर बालू से प्रसूत थे। डॉ. नगेन्द्र द्वारा संकलित हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन चिकित्सक कवित्व मर्मज्ञ जो नवगीतकार नाम से जाने गये, की सूची दी गयी है। इस सूची और हिन्दी साहित्य के तमाम इतिहासों में संकलित नवगीतकारों की सूची के आधार पर प्रमुख नवगीतकार इस प्रकार हैं— अज्ञेय, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, डॉ. महेन्द्र भटनागर, केदारनाथ सिंह, विजय देव नारायण, बालस्वरूप राही, ठाकुर प्रसाद सिंह, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश बाजपेई, मुद्रा राक्षस, मलयज, हरिनारायण व्यास, वीरेन्द्र मिश्र, सोम ठाकुर, कुंवर नारायण तथा ओमप्रभाकर अवस्थी आदि।

ये नवगीतकार एक ही समय में प्रतिबद्ध और तटस्थ दोनों रहे हैं। इनकी प्रतिबद्धता केवल अपने परिवेश और वास्तविक अनुभव के प्रति है और ये तटस्थ हैं काव्य-रचना में किसी भी प्रकार के विशिष्ट आग्रह से। ये मतवाद विशेष के प्रति भी तटस्थ हैं। ये रचना के शिल्प-विशेषज्ञ के प्रति आग्रही नहीं हैं। निजी परिवेश और अनुभूति विशेष के अनुसार जो भी काव्य रूप हो सकता है, ये कवि उसी का प्रयोग करते हैं। ये कवि काव्य-भाषा के रूप विशेष के प्रति तटस्थ है। ये कवि स्वयं को परम्परा से कटा हुआ नहीं मानते और न ही उसका भंजक। परम्परा के श्रेष्ठत्व को स्वयं में संजोए, उसके विद्यमान और परिवर्तित रूप को ये कवि स्वीकार करते हैं, लेकिन ये रूढ़ियों के पोषक नहीं हैं। इनकी दृष्टि में जीवन की सम्पूर्णता है, उसका कोई पक्ष या अंग विशेष नहीं। ये कवि वस्तु-सत्य की कविता करते हैं, वैयक्तिक या आरोपित सत्य की नहीं। इन कवियों की दृष्टि में जातीयता किसी भी आधुनिकता, अत्यानुधिकता या अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक-महत्त्वपूर्ण है : क्योंकि उसके ये सीधे भोक्ता अर्थात् प्रमाणित प्रवक्ता है। ये कवि मानते हैं कि कविता कभी ''गद्य'' नहीं थी, न है, न हो सकेगी। लिहाजा ये उसमें संगीत और लय को अनिवार्य मानते हैं। लेकिन छन्द की रूढ़ियां इनके लिए नितान्त बेमानी है।

संदर्भ

1. नवगीत दशक भाग 2, संकलन शम्भूनाथ सिंह, प्रथम संस्करण पृ. 6
2. विधापति, सम्पादक, आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ. 41
3. मध्यकालीन काव्य, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. 65
4. दृष्टव्य, पृ. 654
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, पृ. 584

—डॉ. मनोरमा मिश्रा
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
सत्यवती कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रेमचंद की कहानियों का विषय विन्यास

– उत्तम कुमार

शोध-सार–रचनाकार अनेक साहित्यिक विधाओं में रचनायें करते हैं जिनमें से एक है 'कहानी'। कहानी एक आधुनिक गद्य विधा है। आधुनिकता के आविर्भाव के साथ-साथ अनेक गद्य विधाओं के समानांतर कहानी का भी आविर्भाव एवं विकास हुआ है। हिन्दी कहानी की अब तक की विकास यात्रा लगभग सौ वर्षों की है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि हिन्दी कहानी ने बहुत कम समय में एक श्रेष्ठ साहित्यिक विधा का रूप प्राप्त कर लिया। कहानी के एक नई दिशा देने वाले, कहानी को जीवन के संबंधों तथा समाज की समस्याओं के साथ जोड़ने वाले, कहानीकार के रूप में मुंशी प्रेमचंद का योगदान अद्वितीय है। उन्होंने हिन्दी उपन्यासों और कहानियों को 'कर्मभूमि' ही नहीं बदली, उनका 'कायाकल्प' भी कर दिया। उन्होंने 1907 ई. में अपनी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' लिखी जो उर्दू की पत्रिका 'जमाना' में छपी। प्रेमचंद की कहानियों के विषय व्यापक है। शिक्षित-अशिक्षित, विद्यार्थी-शोधार्थी अथवा साहित्येतर पाठक सभी प्रेमचंद की कहानियों से आकर्षित होते हैं।

मूल आलेख–साहित्य हमारी संवेदना को जगाता है और हमें संकीर्ण मानसिकता से ऊपर उठने को प्रेरित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य हमें 'स्व' से ऊपर उठाकर लोक से जोड़ने का कार्य करता है। प्रेमचंद 'साहित्य के उद्देश्य' नामक निबंध में कहते हैं–''साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का समान जुटाना नहीं है। उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।''[1]रचनाकार अनेक साहित्यिक विधाओं में रचनायें करते हैं जिनमें से एक है 'कहानी'। कहानी एक आधुनिक गद्य विधा है। आधुनिकता के आविर्भाव के साथ-साथ अनेक गद्य विधाओं के समानांतर कहानी का भी आविर्भाव एवं विकास हुआ है। हिन्दी कहानी की अब तक की विकास यात्रा लगभग सौ वर्षों की है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि हिन्दी कहानी ने बहुत कम समय में एक श्रेष्ठ साहित्यिक विधा का रूप प्राप्त कर लिया। इसका श्रेय महान कहानीकारों जैसे–चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, फणीश्वर नाथ रेणु, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती, अमरकांत, उषा प्रियंवदा इत्यादि को जाता है जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से कहानी को एक समृद्ध एवं सशक्त विधा बनाया।

मुंशी प्रेमचंद कहानी को साहित्य में ऊँचा स्थान देते हुए कहते हैं–''साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है।''[2] वस्तुतः कहानी एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली तथा कथाविन्यास सब उसी भाव को पुष्ट करते हैं। कहानी को एक नई दिशा देने वाले, कहानी को जीवन के संबंधों तथा समाज की समस्याओं के साथ जोड़ने वाले, कहानीकार के रूप में मुंशी प्रेमचंद का योगदान अद्वितीय है। उन्होंने 1907 ई. में अपनी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' लिखी जो उर्दू की पत्रिका 'जमाना' में छपी। प्रेमचंद ने अपने 30 वर्षों के रचनाकाल (1907-1936) में लगभग 300 कहानियाँ लिखीं जिन्हें बाद में मानसरोवर के 8 खंडों में संकलित किया गया। एक वाक्य में कहें तो प्रेमचंद का आगमन हिन्दी कहानी के इतिहास में विकास का एक चरण मात्र न होकर एक 'लीप' या छलांग है।

प्रेमचंद की कहानी यात्रा को दो चरणों में बाँटा जा सकता है। पहला चरण लगभग 1907 से 1925 तक दिखाई पड़ता है जबकि 1925 से 1936 के दौर की कहानियाँ दूसरे चरण में शामिल की जाती हैं। पहले चरण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का चरण कहा जाता है। इस चरण में उन पर आदर्शवाद, भारतीय परंपरा, हृदय परिवर्तन तथा अन्य गांधीवादी मान्यताओं का पहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी' और 'बूढ़ी काकी' जैसी कहानियाँ इसी दौर की हैं। 1925 ई. के आसपास से प्रेमचंद पर आदर्शवाद का प्रभाव क्षीण होने लगता है। उनकी कहानियाँ यथार्थ के सघन और नंगे रूप को देखने का साहस जुटाने लगती हैं। यहाँ कहानियाँ यथार्थ से आरंभ होकर यथार्थ में ही खत्म होती हैं। 'सद्गति', 'पूस की रात' तथा 'कफन' जैसी कहानियाँ इस दौर की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। उन्होंने जीवन व जगत से जुड़ी अनेक अनुभूतियों को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। अनुभूति को कहानी का आधार मानते हुए

वे लिखते हैं—''खुलासा यह है कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है।''[3] प्रेमचंद की कहानियों के विषय व्यापक है। इनकी कहानियों के पात्रों, कथानक अथवा उसमें उठाई गई समस्याओं से सभी अपने आप को जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं। यह प्रेमचंद की रचना की व्यापकता और सूक्ष्मता है जो सभी को जोड़े हुए है।

आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं— ''प्रेमचंद ने घटना, कथानक, चरित्र और संवेदना सभी को केन्द्र में रखकर कहानियाँ लिखी हैं। स्पष्ट ही कहानी-रचना के ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते स्तर हैं। 'पंच परमेश्वर' से 'कफन' तक की यात्रा में ये सभी स्तर, कभी अलग-अलग और कभी एक दूसरे से लगे-लिपटे मिलेंगे।''[4] प्रेमचंद की कहानी कला का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह कहानी को मनोरंजन की वस्तु बनाने की कोशिश नहीं करते बल्कि समाज की संवेदनशीलता को उभारने का साधन बनाते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अनेक विश्वस्तरीय कहानियों की रचना की है। आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी इनकी कहानियों की श्रेष्ठता को उजागर करते हुए लिखते हैं— ''उनकी 'ईदगाह', 'मंत्र', 'पूस की रात' और 'कफन' जैसी अनेक कहानियाँ हैं जो किसी भी साहित्य की श्रेष्ठतम कहानियों से सहज तुलनीय हैं। मानव चरित्र के ऐसे आत्मीय अंकन विरल हैं जहाँ कि रचना-संसार में हर पात्र यह अनुभव करे कि लेखक की सहानुभूति उसी के साथ है।''[5] प्रेमचंद की आरंभिक कहानियाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कहानियाँ हैं। उनका मानना था—''बुरा व्यक्ति भी एकदम बुरा नहीं होता है। उसके अंदर भी देवत्व (अच्छाई) का अंश होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।''[6] प्रेमचंद का यही विचार उनकी कहानियों में हृदय परिवर्तन का कारण बनता है। यह गांधीवादी हृदय परिवर्तन उनकी अनेक प्रतिनिधि कहानियों में देखा जा सकता है। 'नमक का दरोगा' कहानी का केन्द्रीय चरित्र वंशीधर की कर्मठता, ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता से प्रभावित होकर अंत में भ्रष्टाचारी पंडित अलोपीदीन का हृदय परिवर्तित हो जाता है। वैसे ही पंच परमेश्वर, बड़े घर की बेटी, दो बैलों की कथा इत्यादि अनेक कहानियों का अंत हृदय परिवर्तन की घटना से होता है। आगे चलकर प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थ का अंश ज्यादा दिखाई देने लगता है। उनकी अंतिम कहानी 'कफन' में व्यक्ति और समाज का नग्न यथार्थ दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद की कहानियों का विषय विन्यास निम्न बिन्दुओं कथानक, चरित्र योजना, परिवेश, संवाद, भाषा शैली, उद्देश्य आदि के अंतर्गत देखा जा सकता है।

प्रेमचंद की कथानक योजना उनकी विभिन्न कहानियों में बदलती रही है। शुरुआती कहानियों में अत्यंत सरल कथानक दिखता है जो आदि, मध्य तथा अंत के निश्चित रास्तों से गुजरता हुआ समस्या के समाधान तक पहुंचता है। कुछ कहानियाँ इस ढाँचे से अलग हैं। 'अलग्योझा' जटिल परंतु परस्पर सुसम्बद्ध कथानक पर आधारित है जिसमें एक परिवार में कई दुर्घटनाओं के बावजूद संयुक्तता को बचाए रखने की कोशिश नजर आती है। कथानक की दृष्टि से सबसे प्रयोगशील कहानी है 'गिला'। इसमें घटनाओं और चरित्रों का पारंपरिक ढाँचा टूटा है। पूरी कहानी चिंतन, मनन, विश्लेषण और प्रत्यावलोकन शैलियों पर आधारित है। एक विशेष दृष्टि से देखें जो कथानक नई कहानी में टूटा उसके बीज यहाँ देखे जा सकते हैं। प्रेमचंद की कथानक योजना में एक समस्या यह है कि कहीं-कहीं वे अपनी टिप्पणियां करने से नहीं चूकते और इस कारण कथानक का कसाव कम हो जाता है। इसी प्रकार कहीं-कहीं जहाँ नाटकीय तनाव को चरम बिन्दु तक ले जाने का मौका होता है वहाँ प्रेमचंद अति तीव्रता के कारण ऐसा मौका गंवा देते हैं। 'बड़े घर की बेटी' और 'ईदगाह' जैसी कहानियों के कथानक में यह समस्या दिखती है। तब भी प्रेमचंद पूर्व कहानियों से तुलना करें तो मानना होगा कि उन्होंने कथानक के स्तर पर विकास का उच्च बिन्दु छुआ है। आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी ने प्रेमचंद की कहानियों के विषय वस्तु के बारे में कहते हैं—''प्रेमचंद की कहानियाँ अपने विधान में उनके उपन्यासों से अधिक निर्दोष हैं। जीवन के हर पक्ष के चित्र उनमें अंकित हुए हैं।''[7] अर्थात् प्रेमचंद की कहानियों के विषय वस्तु अथवा कथानक उनके उपन्यासों की तुलना में अधिक व्यापक हैं।

प्रेमचंद की कहानी कला का एक महत्वपूर्ण तत्व चरित्र योजना है। उन्होंने अपनी पहले की परम्परा में संशोधन करते हुए ऐसे चरित्रों को स्थापित किया जो आदर्शों का प्रक्षेपण न करते हों बल्कि जीवन के यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हों। प्रेमचंद के चरित्र कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं होते बल्कि किसी सामाजिक वर्ग और उसकी समस्याओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए, 'बूढ़ी काकी' में जो समस्या बूढ़ी काकी की है, वह उनकी व्यक्तिगत नहीं बल्कि हर वृद्ध की समस्या है। इसी प्रकार, 'सद्गति' में जो शोषण दुखी चमार का हुआ है और 'नया विवाह' में बेमेल विवाह से उत्पन्न जो यंत्रणा आशा को झेलनी पड़ी है वह भी व्यक्तिगत नहीं वर्गगत हैं। 'गुल्ली डण्डा' जैसी एकाध कहानी ही ऐसी है जिसमें किसी चरित्र का निजी व्यक्तित्व झलकता है। वह भी संभवतः इसलिए की उसका संबंध शिक्षित मध्यवर्ग से है। प्रेमचंद की कहानियों का परिवेश उनके आस-पास की जिन्दगी है। वे ग्रामीण परिवेश में रहते थे अतः उनकी कहानियों में ग्रामीण जीवन को पूरा स्थान मिला है। ग्रामीण जीवन का प्रत्येक वातावरण उनकी कहानियों के विषय हैं। डॉ. गोपाल राय लिखते हैं—''प्रेमचंद की कहानियां

अपने आसपास की जिन्दगी से जुड़ी हुई हैं। वे ग्रामीण जीवन से अधिक संबंद्ध थे।''[8] प्रेमचंद अपने परिवेश सच्चाई को अपनी कहानी का विषय बनाते थे। यही वह कारण है कि उन्होंने कहानी को यथार्थवाद की एक नई दिशा प्रदान की।

प्रेमचंद की कहानियों में पात्रों का संवाद उन्हें और अधिक आकर्षक और पठनीय बनाता है। 'ईदगाह' प्रेमचंद की एक प्रसिद्ध बाल मनोवैज्ञानिक कहानी है। पात्रों के संवाद के माध्यम से बाल मनोविज्ञान अत्यंत रोचकता से उभरकर आता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है–''हामिद ने फिर पूछा- जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते हैं?'' ''मोहसिन– एक-एक सिर आसमान के बराबर होता है जी! जमीन पर खड़ा हो जाय तो उसका सिर आसमान से जा लगे, मगर चाहे तो एक लोटे में घुस जाय।'' ''हामिद–लोग उन्हें कैसे खुश करते होंगे? कोई मुझे यह मंतर बता दे तो एक जिन्न को खुश कर लूँ।'' उनकी कहानी 'दो बैलों की कथा' में हीरा और मोती नामक दो बैल आपस में मूक भाषा में बात करते हैं। उनके संवाद में लेखक की संवेदनशीलता व्यक्त हुई है। उदाहरण–हीरा ने मूक-भाषा में कहा–भागना व्यर्थ है।' मोती ने उत्तर दिया–'तुम्हारी तो इसने जान ही ले ली थी।' 'अबकी बड़ी मार पड़ेगी।' 'पड़ने दो, बैल का जन्म लिया है तो मार से कहां तक बचेंगे?' वस्तुतः संवाद के माध्यम से कथाकार कहानी की मूल संवेदना को व्यक्त करने में पूर्ण सफलता को प्राप्त करते हैं।

प्रेमचंद की कहानी कला में उनकी भाषा शैली का सर्वाधिक महत्व है। उन्होंने हिन्दुस्तानी को अपने साहित्य की भाषा बनाया। यद्यपि 'रानी सारन्धा' जैसी कहानियों में तत्सम और 'ईदगाह' व 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानियों में फारसी कुछ मात्रा में नजर आती है किन्तु वह कथानक की मांग के कारण है न कि लेखक की भाषा नीति के कारण। उनकी भाषा की इन्हीं विशेषताओं को लक्षित कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं–''प्रेमचंद की सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी।''[9] प्रेमचंद की भाषा में हिन्दी गद्य संसार पहली बार जन-जीवन से गहरे तौर पर जुड़ा। इसका कारण है कि उनकी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों को स्थान मिला है। कुछ कहानियों में इसके उदाहरण देख सकते हैं–''सारन्धा आन पर जान दे देने वालों में से थी।''(रानी सारन्धा)''घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रंग चढ़ाना था।''(कफन) प्रेमचंद अपनी कहानी लिखते समय उपमाओं की भाषा का भी प्रयोग करते हैं। उनका यह प्रयोग कहानी को आकर्षक एवं सुबोध बनाता है। उदाहरण–''हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भांति नित्य जलता ही रहता है।''(शतरंज के खिलाड़ी)

मुंशी प्रेमचंद अपनी कहानियां में सूत्र भाषा का भी प्रयोग करते हैं। सूत्र भाषा के माध्यम से लेखक एक ही वाक्य में जीवन का सार प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण स्वरूप वे अपनी कहानी 'बड़े घर की बेटी' में लिखते हैं–''मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त कोई वस्तु नहीं'' कहानी में जीवंतता बनाये रखने के लिए प्रेमचंद अपनी कहानियों में व्यंग्यात्मक भाषा का भी प्रयोग करते हैं। उदाहरण–''नगर के दो महात्मा दौड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों दो गैंडे चिड़ियाघर से भाग आए हों।'' (निमंत्रण) प्रेमचंद कहानी को समाज की संवेदनशीलता को उभारने का साधन बनाते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने समय की हर समस्या को अपनी कहानियों में उठाया है। गणपतिचंद्र गुप्त लिखते हैं–''उनकी सभी कहानियाँ सोद्देश्य हैं। उनमें किसी न किसी विचार या समस्या का अंकन हुआ है।''[10] उनकी लेखनी में भाव-विचार, कला इत्यादि का अद्भुत समन्वय है। डॉ.गणपतिचंद्र गुप्त लिखते हैं–''भाव और विचार, कला और प्रचार का सुन्दर समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रेमचंद का कहानी साहित्य है।''[11]

संदर्भ

1. प्रेमचंद, कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण-2011, पृ. 5
2. वही, पृ. 44
3. वही, पृ. 39
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 25वां संस्करण-2011, पृ. 145,
5. वही, पृ.145
6. प्रेमचंद, कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण-2011, पृ. 47
7. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 25वां संस्करण-2011, पृ. 145
8. डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, 25वां संस्करण-1998, पृ. 581
9. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 13वां संस्करण-2017, पृ. 369
10. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त, साहित्यिक निबंध, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 21वां संस्करण-2008, पृ. 431
11. वही, पृ. 431

–उत्तम कुमार
सहायक प्राध्यापक, सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

स्वाधीनता संग्राम कालीन कवि रूप में अम्बिकागिरी राय चौधरी और माखनलाल चतुर्वेदी : एक तुलनात्मक विवेचन

—डॉ. नफीसा अहमद

शोध सार—भारतीयों के मन में सुलगने वाले उस संग्रामी आग को भला कौन भूल सकता है? धीरे-धीरे जिसने देश का देह-मन सर्वस्व समेट लिया था। 'समाजदर्पण' रूप में ख्यात साहित्य की भूमिका भी इस दिशा में अविस्मरणीय रही। अनेक भूपुत्रों ने साहित्य को माध्यम रूप में अपना कर देश के तन-मन में प्रेम और विद्रोह का रंग चढ़ाया। ऐसे ही दो स्वदेश पुत्र हैं—अम्बिकागिरी राय चौधरी और माखनलाल चतुर्वेदी जिन्होंने क्रमशः असमिया और हिन्दी भाषा-साहित्य के माध्यम से प्रेम, विद्रोह, त्याग, समर्पण और संघर्ष का राग छेड़ा। कुछेक संदर्भों में भिन्न-भिन्न मानसिकता और दृष्टिकोण के होते हुए भी दोनों ही जन थे बाल्यकाल के सजग शिशु, कोमलावस्था से ही देशविरोधी तत्वों के दृढ़ खण्डनकारी गीत, साहित्य और अध्यात्म के रागी, व्यक्तिगत जीवन के बंवडरों में डूब-तर कर भी देश के प्रति समर्पित।

बीजशब्द : माखनलाल चतुर्वेदी, अम्बिकागिरी रायचौधरी, स्वाधीनता संग्राम, राष्ट्र, जाति, मातृभूमि, देशप्रेम, क्रांति, वीरता, भारत, भारतवासी, असम, असमिया, कविता, जीवन।

मूल आलेख—दो शताब्दियों का वह पराधीन काल जहां केवल भारत की भौतिक गौरव-गरिमा ही खंडित नहीं हुई, हमारे आत्मविश्वास, साहस और स्वाभिमान को भी कूचला गया। हमारी अनुभूति और भावनाओं को कालिमामय बनाया गया। हमें विश्वास दिलाया गया कि हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं; न ही है कोई स्वाभिमान, आवाज उठाने के लिए, विरोध करने के लिए। लेकिन काल का चक्र रूकता कहां है? समय के साथ ही हम भारतवासी भी सजग हुए। एकत्रित होकर देशभूमि को स्वतंत्र करने का स्वप्न सजाने लगे और उस समय का अन्यतम साक्षी है हमारा भारतीय साहित्य। क्या असमिया, क्या बांग्ला, क्या हिन्दी, सभी भारतीय भाषा-साहित्य के साधक गणों ने अपने-अपने दृष्टिकोण, अनुभूति के अनुसार मुक्तमन से विद्रोह और उर्ज्वा का गीत गाया। देश के प्रति समर्पित ऐसे ही दो महान साधक थे अम्बिकागिरी राय चौधरी और माखनलाल चतुर्वेदी। क्रमशः 1885 और 1889 में बरपेटा (असम) और मध्यप्रदेश में जन्म लेने वाले असमिया और हिन्दी के महान लेखक द्वय संग्रामी काल के उज्ज्वल नाम हैं।

प्रारंभिक अवस्था में आध्यात्ममुखी रचना करने वाले दोनों साधकों की दृष्टि तत्कालीन समय के प्रभाव स्वरूप देश व जनमुखी हुई। कृष्ण, द्रोपदी जैसे विभिन्न पौराणिक प्रतीकों के जरिए कभी देशावस्था का उद्घाटन तो कभी देश के कल्याण हेतु ईश्वर के चरणों में अनुनय-विनय करने वाले माखनलाल चतुर्वेदी के सम्बन्ध में कहा गया है—''उनके राष्ट्रीय काव्य में वैष्णव भक्ति और राष्ट्रीय विचारधारा एकात्म होती दिखाई पड़ती है।''[1] 'निशस्त्र सेनानी' नामक कविता में उन्होंने द्रौपदी-भारत माता, कृष्ण-गांधी, सत्याग्रह रूपी धर्म युद्ध को 'महाभारत' और अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण शासन को 'दुशासन के राज' रूप में प्रतीकबद्ध करते हुए कहा है—''द्रौपदी भारत माँ का चीर बढ़ाने दौड़े यह महाराज/उधर वे दुरूशासन के बन्धु /युद्ध भिक्षा की झोली हाथ।''[2] 'रामनवमी' जैसी कविताओं में ईश्वर से पूनर्जन्म लेने और अन्याय का नाश करने का आग्रह करने वाले चतुर्वेदी जी को कई जगहों पर 'राष्ट्रीयता से ओतप्रोत रहस्यवादी' भी कहा गया है। प्रेम नारायण टण्डन जी ने कहा है—''चतुर्वेदी के लिए उनका राष्ट्र पूर्णत्व की प्रतिमा है जिसे उन्होंने कृष्ण के रूप में स्वीकार किया है''[3] ठीक उसी तरह व्यक्तिगत प्रेम के जरिए पहले अध्यात्म में एकाकार होने वाले राय चौधरी जी ने भी कहा है कि एक तरफ आधा कटे उंगली से आने वाली उनकी स्मृति दूसरी ओर देशप्रेम के प्रवल धार ने अज्ञात रूप में ही मुझे किसी समुद्र में फेंक दिया था। वहीं अनुभव 'तुमि' और 'वीणा' काव्य का प्रेरणास्रोत हैं। ''एफाले एपाव नोहोवा हुवा आङुलि टूवे हुंवराय दिया तेंउर स्मृतिर होंत आनफाले देश प्रेमर प्रबल धारे मोर मनक अज्ञात सारे कोनोबा सागरत पेलायसिल। हेइ अभिज्ञताए तुमि आरू वीणा काव्यर प्रेरणा''[4] प्रेमिका के प्रेम-विरह में आकुल राय चौधरी जी ने 'वीणा' काव्य में लिखा है—''थाका तेनेहले बारु लइ तुमि तोमार गौरव/नुखुजु तोमात आरु विश्व जयी ननूदन सौरभ/तोमार देशत कय मोर देश भाल/इयातेइ कटाम हाहि-हाहि चिरकाल''[5] अर्थात, रहो तुम तब वहन कर अपना

गौरव/नहीं मांगता अब तुम से विश्व विजयी सुख सौरभ/तुम्हारे देश से भला मेरा देश है/हँस हँस कर यहीं काट दूंगा चिरकाल। ईश्वर और प्रेमिका के सामंजस्य मय दृष्टि में कवि ने मूलतः अपने जन्मभूमि को परकालीन काल्पनिक जगत से अधिक सुखद माना है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण चिन्ता शक्ति को देश के लिए विलीन कर उन्होंने 'देशेय भगवान' (देश ही भगवान) नामक कविता में कहा है—''जीवनेइटो भगवानर पूर्ण अधिष्ठान/देश नहले जीवन गले भगवानर हय अन्तर्धान''[6] अर्थात, जीवन ही तो है भगवान का पूर्ण निवासस्थान/देश न होने से जीवन के जाने से भगवान भी होते है अन्तर्धयान। व्यक्तिगत प्रेमानुभूति को पर्यायक्रम से देश हितैषी चिन्ता में परिवर्तित कर माखनलाल चतुर्वेदी जी ने भी कहा है—''बलि होने में बज्र हृदय हो करते लाख खींचा तानी/ राष्ट्रदेवी करने आयी हो क्या मुझको पानी।''[7] दरअसल, युवावस्था में ही प्रेमाहत (पत्नी व पुत्री का निधन, आजीवन विधफर रूप से जीवन यापन) होकर स्वाधीनता संग्राम को ही जूनूनी तौर पर अपनाने वाले कवि ने प्रेमिका का स्मरण 'राष्ट्रदेवी' रूप में कर ऊर्जा प्राप्त किया है। अंग्रेजों के स्वार्थमय शासन तथा समय की सारी विकृतियों के आलोचना के साथ ही दोनों ने अपनी मातृभूमि की गौरवमय इतिहास और महानता का स्मरण भी बार-बार किया है। माखनलाल चतुर्वेदी जी ने 'प्यारे भारत देश' नाम के कविता में कहा है— ''प्यारे भारत देश/गगन-गगन तेरा यश फहरा/ ओ ऋषियों के त्वेष/प्यारे भारत देश।''[8]

ऐसे गौरवमय देश के मलीनावस्था में भी मौन जनता का सम्बोधन करते हुए अम्बिकागिरी राय चौधरी जी ने भी कहा है—''वीर्य हेरूआली कोत/हेर! तेजे फूटो-फूटो टलबल डेका/वीर्य हेरूआली कोत?/शत्रु विजयी शौर्य एरिली कर।''[9] अर्थात, ''कहां खोया वीर्य?/अरे रक्तवान युवाओं/कहां खोया वीर्य?/शत्रु विजय का शौर्य कहां छोड़ा।'' माखनलाल चतुर्वेदी जी ने भी युवाओं में अपेक्षित उन्माद न देखकर देश के ताजे रक्त का सम्बोधन करते हुए ''हिमकिरीटिनी'' काव्य में कहा है—''खून हो जाए न तो देख पानी/मरण का त्योहार जीवन की जवानी''[10] युवा रक्त के शीतलता को धिक्कार कर ही वे शांत नहीं होते उन्हें स्नेह, उत्साह से प्रेरित-प्रोत्साहित करने की चेष्टा भी करते जाते हैं। राय चौधरी जी ने 'जाग डेका तेज जाग' (जागो युवा जागो) नामक कविता में कहा है—''जाग डेका तेज जाग आजि जाग/आग्नेय गिरी उजारि जाग/स्वर्ग मर्त्य कँपाय जाग''[11] अर्थात, ''जागो युवा रक्त आज जागो/लावा बनकर जागो/स्वर्ग मर्त्य हिला कर जागो।''माखनलाल चतुर्वेदी जी ने भी 'द्वीप से द्वीप जले' नाम की कविता में देशवासियों को आग्रह करते हुए गाया है—''युग के द्वीप नए मानव-मानवी ढले/सुलग-सुलग री जोत! द्वीप से द्वीप जलें।''[12] दोनों कवियों ने देश के लिए समर्पित होने का आमंत्रण सिर्फ दूसरों को ही नहीं दिया स्वयं को भी संग्रामी आग में लगातार तपाया। माखनलाल चतुर्वेदी जी जहां 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता में फूल बन कर स्वतंत्रता सेवियों के चरणों में स्थान पाने की कामना करते हैं—''मुझे तोड़ लेना वनमाली/उस पथ पर देना तुम फेंक/मातृभूमि पर शीश चढ़ाने/जिस पर से जावें वीर अनेक''[13] वहीं अम्बिकागिरी राय चौधरी 'झाड़ूदार' बनकर समाज सेवा को उद्दत होते हुए 'अनुभूति' कविता में कहते हैं—''हेरा! विश्व कर्मकार गढ़ि तोला/ करि विश्व झाड़ूदार/ हीन नीचतार आसे जि जाहि जाबर/हारि पूसि मय करि तोलो मनोहर।''[14] अर्थात, ''अरे विश्वकर्मकार/तैयार करो मुझे विश्व का झाड़ूदार/हीनता नीचता की जो है गलीजें/ झाड़-बुहार कर मैं कर डालु मनौहर।''

सिर्फ कविता और लेखन के जरिए भावनात्मक दिशाओं में ही नहीं व्यवहारिक दिशा में भी वे समान रूप से उद्दमी थे। सन् 1921-22 के आन्दोलन में आत्मनियोग के फलस्वरूप मिलने वाले हत्याकारी-व्याभिचारी तुल्य कारागारी जीवन को उन्होंने सहर्ष स्वीकारा था। ऐसे ही समय में चतुर्वेदी और रायचौधरी देव ने क्रमशः सिरजा था 'कैदी और कोकिला'और 'और क्या दिखाएगा डर कारागार'(आरू कि देखाबि भय कारागार) जैसी कविताएं। समसामयिक परिस्थिति में रचित इन दोनों कविता में कुछेक धरातल पर अपूर्व समानता देखी जा सकती है। रायचौधरी जी कहते हैं—''आरू कि देखाबि भय कारागार/ आरू कि देखाबि भय/तोर रङा चकु रङा जिमाने करिबि/ हिमाने मोर जय कारागार।''[15] अर्थात, ''और क्या दिखाएगा डर कारागार/और क्या दिखाएगा डर/अपनी लाल आँखें करेगा जितनी लाल/उतनी ही होगी मेरी जीत कारागार।'' माखनलाल चतुर्वेदी जी ने भी कहा है—''हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ/खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ।''[16] निराशा, हताशा, उद्दामता, उग्रता आदि के बुनावट के मध्य से ही दोनों की चेतना में जय की आशा, स्वर्णिम भविष्य की कामना भी समान रूप से विद्यमान है। राय चौधरी जी ने अपनी कविता 'मोरेय हबो जय' (मेरा ही होगा जय) में कहा है—''एई विश्वास सत्य केवल/मोर हृदये कय हेयबाबे एइ टनाटनित/मोरेय हबो जय''[17] अर्थात, ''यह विश्वास सच केवल/मेरा हृदय कहता है/इसलिए इस खींचतान में/मेरी ही होगी जीत।'' माखनलाल चतुर्वेदी जी ने भी कहा है—''बन्दी होवे वह दयाहीन/तू भारतीय आजाद रहे/वह स्वर्ग टूटकर गिर जाए यह आर्य भूमि आबाद रहे।''[18]

साम्य से इतर अब अगर वैषम्य की बात करें तो प्रारंभ में ही कहना होगा कि अपने व्यक्तिगत जीवन और रचनात्मक संसार में रायचौधरी जी मूलतः 'असम संतान'

के तौर पर उभरते हैं। 'ओ मोर देशर देशवासी' (ओ मेरे देशवासी), 'अन्त रक्षाहीन हौवा भारत' (अन्त रक्षाहीन वह भारत), 'देशेय भगवान' (देश ही भगवान) जैसी राष्ट्रीय भावपूर्ण कविताओं का उनके यहां अभाव नहीं है, लेकिन समग्रता से परखने पर 'पितृ भिठात सेइटू भाखार जन्माधिकार स्वत्वाधिकार स्थापन कर स्थापन कर' (पितृगेह में उस भाषा का जन्माधिकार, स्वत्वाधिकार स्थापन कर स्थापन कर') 'निज घरतेइ खुन्दा चेपाय पुष्टिर आशा फेष्टि थबो' (अपने ही घर में मसल कर पुष्टि की आशा चूरमार हो जाएगी) आदि कहने वाले कवि में जातीयता या प्रान्तीयता का प्रश्न ही असल में अधिक मुखर है। लेकिन 'पूण्यभूमि भारतमाता है, सेवा मन्दिर मध्यप्रदेश' कहने वाले माखनलाल चतुर्वेदी जी के यहां 'मध्यप्रदेशीय' भाव उस कट्टर रूप में उपलब्ध नहीं हैं। आर्य संस्कृति-विचार के अनुगामी चतुर्वेदी जी के संदर्भ में एक शोधकर्ता ने कहा है—''उनका आर्य संस्कृति से अगाध प्रेम था। वे आर्य संस्कृति के प्रतीक थे। यदि ऐसा कहा जाए तो कोई अत्यूक्ति नहीं। वे इस संस्कृति के सजीव मूर्ति थे''[19] दूसरी ओर—''चिन्ता है होवे न कलंकित हिन्दू धर्म या इस्लाम/गावें दोनों सुध-बुध खोकर या अल्लाह जय जय घनश्याम''[20] जैसी पंक्तियां रचने वाले चतुर्वेदी जी ने धर्मीय सद्भाव, खास कर हिन्दू-मुस्लिम एकता पर विशेष बल दिया है। स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु देश के सभी जाति, धर्म, वर्ण के एकतापूर्ण संघर्ष को वे जरूरी मानते हैं। ठीक उसी तरह रायचौधरी जी ने भी वर्तमान असम के सभी जाति-जनजातियों की एकता पर विशेष बल दिया है। अन्तर बस इतना है कि चतुर्वेदी जी जहां देशवासियों को एकत्रित होकर बहिर्देशीय अंग्रेजों से लड़ने की बात करते हैं, भारतीय पहचान को बचाने की बात करते हैं, वहीं राय चौधरी जी असम वासियों को एकत्रित होकर उन सभी चीजों से लड़ने को कहते है जो असमियात्व (असमिया भाषा-संस्कृति) पर संकटजनक हो। अब चाहे वह विदेशी अंग्रेज हो या भारतीयमूल का बांग्ला आरोपण। वे मूलतः इस प्रांत में असमिया भाषा और जाति के प्राध्यान्य की मांग करते थे। वे चाहते थे कि यहां रहने वाले अन्य सभी छोटी-बड़ी जाति-जनजाति 'असमिया' परिचय को अपनाएं। असमिया भाषा को अपनी पहचान रूप में अपना कर उन चीजों से लड़े जो असमिया परिचय पर हावी होना चाहती हों, चाहे वह प्रभाव विदेशी हो या बर्हिराज्यीय। मातृसम 'असमभूमि' हितैषी, एक सजग असमिया के रूप में अम्बिकागिरी राय चौधरी जी ने कहा था—''असमिया देखों एजनो नाय/आसे उजोनि आसे नामनि, शिवसागरीया, नगयां/मातृभूमि रक्षक हाय/नाय कणा कढ़ि असमिया।''[21] अर्थात, ''असमिया तो देखुं एक भी नहीं/है उजनि नामनि, शिवसागरीया, नगयां/मातृभूमि के रक्षक हाय/नहीं रहा कनाकड़ि असमिया।'' मूलतः असम पुत्र रूप में रायचौधरी जी को असमिया भाषा के अस्तित्व रक्षा, असमिया जाति की प्राधान्यता रक्षा, बङाली भाषा का प्रभाव नियंत्रण, वङाली पमुआ प्रवर्जन नियंत्रण जैसे जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा था या जिन अनुभवों को उन्होंने संजोया था चतुर्वेदी जी को निश्चय ही उन सब से गुजरना नहीं पड़ा। पहले तिलक और फिर गांधी से प्रभावित माखनलाल चतुर्वेदी जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कवि कर्म को राष्ट्रीयता ने भली-भांति प्रभावित किया था। 'एक भारतीय आत्मा' रूप में ख्यात चतुर्वेदी जी ने हिन्दू राष्ट्र, आर्य जाति का गान जिस तरह से गाया था ठीक वैसे ही अपनी जातीय, प्रान्तीय विषयों के साथ लगातार संघर्षरत रायचौधरी जी ने भी राष्ट्रीयता के गान के साथ ही अपने असम और असमियात्व को भी वाणी दी। 'जाग बेथा मोर जाग' (जाग मेरा व्यथा जाग) नामक कविता में उन्होंने कहा है—''हाय! हाय! हाय! देशर नू मोर/किय एने हल/हाय! हाय! हाय! जातिटोर मोर किय एने हल?''[22] अर्थात, हाय! हाय! हाय! देश का मेरा/क्यूं ऐसा हुआ/हाय! हाय! हाय!/जाति का मेरा क्यूं ऐसा हुआ?

अन्य एक कारण यह है कि हिन्दी भाषा और भाषी उस दौर में देश के केन्द्र में थे। प्रायः सभी केन्द्रीय और मुख्य संग्रामी नेता हिन्दी को राजभाषा-राष्ट्रभाषा करने का दावा रखकर आन्दोलन में आगे बढ़ रहे थे। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी भाषी क्षेत्र के एक हिन्दी भाषी कवि के लिए भला आंचलिकता या जातीयता का प्रश्न क्यों जरूरी होगा? लेकिन असम जैसे, हिन्दी भाषी क्षेत्र के एक कवि के लिए राष्ट्रीयता के अलावा अन्यान्य जातीय प्रश्नों का होना भी अत्यंत स्वाभाविक और उचित था। इस संदर्भ में सत्येन्द्र नाथ शर्मा द्वारा कही गई पंक्ति का उल्लेख किया जा सकता है—''भारतीय स्वराज आरू असमिया स्वराज', 'जातीयता आरू महाजातीयता', आदि प्रबंधत असमिया जातीयता रक्षा करिहे भारतीय महाजातीयतार अंश भागी हबो पारी सेइ कथा तेखेते प्रकाश करिसे'' (भारतीय स्वराज और असमिया स्वराज' 'जातीयता और महाजातीयता' आदि प्रबंधों में असमिया जातीयता का रक्षा करके ही भारतीय महाजातीयता का भागीदार बना जा सकता है यह बात उन्होंने दोहराया है।[23] अन्ततः कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता संग्राम का समकालीन साहित्य उस दौर का अन्यतम प्रतिफलन है। उस दौर के सभी कवि साहित्यिक अपने परिवेश-परिस्थिति के अनुसार जन्मभूमि प्रेम से ओतप्रोत गीत गा रहे थे। उनके मध्य अम्बिकागिरी राय चौधरी और माखनलाल चतुर्वेदी एक उल्लेखनीय नाम है।

संदर्भ

1. वशिष्ठ, जोइन्दू (1990), ज्योत्स्ना, जनवरी, पृ. 48
2. नन्द किशोर नवल (2006), स्वतंत्रता पुकारती, साहित्य अकादमी, पृ. 143
3. टण्डन, प्रेमनारायण(1978) मा : च : व्यक्तित्व और काव्य, नन्दन प्रकाशन, पृ. 80
4. शर्मा, सत्येन्द्र नाथ,(सं) (2009), अम्बिकागिरी रायचौधरी रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, पृ. 09
5. वही, पृ. 27
6. वही, पृ. 30
7. प्रेमी, हरिकृष्ण, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि मां: च:, पृ. 22
8. http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%95% E0%A4%B5%E0%A4%B
9. शर्मा, सत्येन्द्र नाथ, (सं) (2009), अम्बिकागिरी, राय चौधरी रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, पृ. 375
10. http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%9C% E0%A4%B5%E0%A4%
11. शर्मा, सत्येन्द्र नाथ,(सं) (2009), अम्बिकागिरी रायचौधरी रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, पृ. 380
12. जोशी, श्रीकांत (सं) (2003). माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, वाणी प्रकाशन, पृ. 45
13. जोशी, श्रीकांत (सं) (2003). माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, वाणी प्रकाशन, पृ. 80
14. शर्मा, सत्येन्द्रनाथ, (सं) (2009), अम्बिकागिरी रायचौधरी रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, पृ. 377
15. वही, पृ. 300
16. जोशी, श्रीकांत (सं) (2003), माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली,वाणी प्रकाशन, पृ. 137
17. शर्मा, सत्येन्द्र नाथ,(सं) (2009), अम्बिकागिरी रायचौधरी रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, पृ. 385
18. जोशी, श्रीकांत (सं) (2003), माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, वाणी प्रकाशन, पृ. 68
19. राज, देश (1994), माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, पृ. 224 (पी. एच. डी)
20. वही, पृ. 69
21. शर्मा, सत्येन्द्र नाथ, (सं) (2009), अम्बिकागिरी रायचौधरी रचनावली, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, पृ. 405
22. वही, पृ. 380
23. वही, पृ. 17

–नफीसा अहमद

शोधार्थी, असम विश्वविद्यालय दीफू, परिसर

सहकारी अध्यापिका, हिन्दी विभाग

रूपही महाविद्यालय, रूपही, नगांव

असम-782125

भारत में मंदिर निर्माण का विकास : नागर कला शैली के विशेष संदर्भ में

—डॉ. कृष्णकांत शर्मा
—डॉ. दीपक कुमार
—निर्दोष

सारांश—भारत में मंदिर निर्माण का वास्तविक साक्ष्य हमें गुप्तकाल में परिलक्षित होता है। मंदिर स्थापत्य संरचना में 8वीं शताब्दी ई. में नागर शैली, द्रविड़ शैली एवं बेसर शैली की उत्पत्ति हुई जो अपनी अलग विशेषताओं के लिए जानी जाती है, किन्तु हमारे शोध का विषय नागर शैली है, जिस पर हमें विस्तार से चर्चा करनी है। नागर शैली में निर्मित मंदिरों की प्रमुख विशेषताएं शिखर, जंघा, ग्रीवा, वर्तुलाकार आमलक और कलश आदि है। इस शैली के अंतर्गत अनेक उप शैलियों का विकास हुआ जिसमें उड़ीसा उपशैली और खजुराहो उपशैली प्रमुख है। उड़ीसा उपशैली में निर्मित मंदिरों में कोणार्क का सूर्य मंदिर, लिंगराज मंदिर और पुरी का जगन्नाथ मंदिर प्रसिद्ध है। इस उपशैली की प्रमुख विशेषता जगमोहन है। खजुराहो उपशैली में निर्मित मंदिरों में कन्दरिया महादेव मंदिर, चौसठ योगिनी मंदिर, मंगतेश्वर मंदिर और चित्रगुप्त मंदिर आदि प्रमुख हैं। इस उपशैली की प्रमुख विशेषता एक मंदिर में एक से अधिक शिखरों का निर्माण है।

शब्दावली : धर्म, यज्ञशाला, यक्षसदन, स्तूप, महापरिनिर्वाण, भू परीक्षा, स्थापत्य संरचना शिखर, कलश, जगमोहन।

मूल आलेख—मानव एक जिज्ञासु प्राणी है। मानव के समस्त कार्य उसकी जिज्ञासा से आरंभ होते हैं और जिज्ञासा के द्वारा ही कार्यों को जारी भी रखा जाता है। मानव को अनुसंधान के लिए प्रेरित करने वाले कारकों में जिज्ञासा ही प्रधान कारक है। इस प्रकार मानव की जिज्ञासा ही नवीन खोज का आधार बनती है। मानव का विकास अनेक चरणों में पूरा हुआ, परंतु मानसिक विकास का चरण सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि इसके द्वारा ही तर्क करने की बुद्धि विकसित हुई। मानव ने अपने जीवन से संबंधित वस्तुओं और घटनाओं आदि का अध्ययन और अन्वेषण आरम्भ कर दिया। इस अध्ययन और अन्वेषण के दौरान मानव के मन में अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति हुई, जैसे प्रकृति घटनाओं को कौन संचालित करता है? कौन प्राकृतिक घटनाओं को नियंत्रित करता है? इन प्रश्नों के उत्तरों की खोज एवं मानव जीवन की रक्षा हेतु मानव को एक दिव्य शक्ति अर्थात ईश्वरीय शक्ति की अनुभूति हुई। मानव की दैवीय शक्ति के प्रति आस्था बढ़ी और मानव ने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न तरीकों से ईश्वर की आराधना आरंभ कर दी। देवलोक, पाप, पुण्य, ईश्वर शक्ति, ईश्वर भय और ईश्वरीय भक्ति ने इस आस्था को तीव्र गति प्रदान की।

भारत में धर्म का प्राचीनतम स्वरूप क्या है? यह एक विवादित प्रश्न है, परंतु विकसित धर्म का ज्ञान हमें वेदों से प्राप्त होता है। वैदिक धर्म प्रमुख रूप से प्राकृतिक पूजक एवं यज्ञ पद्धति पर आधारित है। यज्ञवेदी और यज्ञशाला को इस समय की धार्मिक वास्तु के रूप में देखा जा सकता है। इस काल में यज्ञ का विशेष महत्व है, क्योंकि यज्ञ द्वारा ही इस काल में अपने ईष्ट देव को प्रसन्न किया जा सकता था। वैदिक साहित्य में यज्ञवेदी का बनाने और इसकी सुरक्षा व्यवस्था का विस्तार से उल्लेख किया गया है। शतपथ ब्रह्मंण में एक वेदिका के चारों ओर से चटाई से ढके होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार के स्थान के लिए गर्भगृह और यक्ष सदन आदि शब्दों का उल्लेख होता है।[2] इस काल में मंदिर जैसी संरचना का कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

भारतवर्ष में बौद्ध धर्म में ही निश्चित रूप से धार्मिक स्थापत्य की अभिव्यक्ति शुरू हुई। इसके द्वारा प्राचीन व्यवस्थाओं में सुधार और परिवर्तन कर एक नवीन व्यवस्था का सूत्रपात किया गया। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उन से संबंधित वस्तुओं की सुरक्षा हेतु स्तूपों का निर्माण हुआ। स्तूप शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद से प्राप्त होता है।[3] स्तूप को पाली भाषा में थूम कहा जाता है। प्रारंभ में इसके निर्माण में मिट्टी का प्रयोग किया जाता था और बाद में इसके निर्माण में ईष्ट तथा पत्थर का प्रयोग किया जाने लगा।[4] स्तूप को वेदिका से घेरा जाता है और इसमें प्रदक्षिण पथ भी बनाया जाता था। स्तूप का संबंध भगवान बुद्ध से होने के कारण इसको पवित्र समझा जाने लगा और यह भगवान बुद्ध के प्रतीक के रूप

में समझे जाने लगे, जिसके कारण स्तूप के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ती चली गई और इनको धार्मिक प्रतीक के रूप में पूजा जाने लगा।[5]

भारत में मंदिर निर्माण की शुरुआत कब हुई है? यह एक विवादित प्रश्न है। अनेक इतिहासकारों ने इसे अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। रामकृष्ण दास के अनुसार, ''मंदिर स्थापत्य का विकास स्वतंत्र रूप से अशोक के समय से पहले का प्रतीत होता है।''[6] प्राचीन काल की मुद्राओं से हमें मंदिर निर्माण की रूपरेखा की जानकारी प्राप्त होती है। पंचाल प्रदेश से प्राप्त मुद्रा पर एक ऊंचे चबूतरा पर वर्तुलाकर छत वाले कमरे का प्रतिबिंब दिखाई देता है। इस स्थापत्य संरचना को हम मंदिर का प्राचीन स्वरूप कह सकते हैं। इन सभी उल्लेखों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मंदिर के आगे वेदिका का निर्माण भी किया जाता था। पंचाल प्रदेश की मुद्रा से प्राप्त मंदिर की प्राचीन आकृति के अतिरिक्त हमें मथुरा और इसके आसपास के क्षेत्र से प्राप्त मुद्रा पर भी प्राचीन मंदिर की आकृति प्राप्त होती है।[7] इन दोनों मुद्राओं से प्राप्त आकृति में काफी समानता दिखाई देती हैं। मूर्ति निर्माण ने भी मंदिर निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, क्योंकि मूर्ति की पूजा अर्चना, सुरक्षा और देवताओं की मूर्तियों के लिए उचित स्थान की तलाश ने मंदिर निर्माण कला शैली को जन्म दिया जिस कारण साधारण निवास से दूर मंदिर निर्माण आरंभ हुआ। मंदिर निर्माण की संरचना पर सबसे अधिक प्रभाव मानव शरीर और पर्वतों के शिखर की बनावट का पड़ा है। इन दोनों आकृति ने न केवल मंदिर, बल्कि मूर्ति निर्माण कला को भी प्रभावित किया, क्योंकि मानव स्वरूप में मूर्ति का निर्माण हुआ और शिखर स्वरूप में मंदिरों का निर्माण हुआ। गुप्तकालीन अभिलेखों में मंदिरों की प्रमुख रूप से चर्चा की गई है, क्योंकि इस काल में मंदिर निर्माण तीव्र गति से हुआ, परंतु इस काल के मंदिर काफी छोटा स्वरूप में प्रकट किए जाते थे।[8] इस काल से संबंधित सबसे प्राचीन मंदिर सांची का मंदिर है। मंदिर निर्माण के समय भू संबंधी सभी निरीक्षक को भूपरीक्षा कहते थे।[9] भू परीक्षा की जानकारी हमें सर्वप्रथम गृहसूत्र से प्राप्त होती है।[10] मंदिर निर्माण से पूर्व भूमि के चयन करने हेतु किन-किन भौगोलिक परिस्थितियों पर ध्यान देना होता है। इस बात का निर्धारण भू परीक्षा द्वारा ही होता था। प्राचीन कालीन अधिकांश मंदिर पर्वतीय प्रदेशों में नदी के किनारे या समुद्र तट पर बनाए जाते थे। भूपरीक्षा के साथ-साथ शिल्पशास्त्र ने भी मंदिर निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शिल्पशस्त्र ने मंदिर निर्माण में सामान्य घरों की तुलना में अधिक दृढ़ता और विशेष बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जब मंदिर पूर्ण विकसित अवस्था में पहुंच गए तो आर्थिक संपन्नता के कारण शिल्पशास्त्र में मंदिर निर्माण में धातु जैसे सोना, चांदी, तांबे आदि के प्रयोग होने का उल्लेख प्राप्त हुआ।

मंदिर निर्माण में समय के साथ-साथ अनेक परिवर्तन हुए और इसके बाद एक विकसित स्थापत्य संरचना का उदय हुआ। मंदिर निर्माण की स्थापत्य संरचना को मुख्य रूप से तीन शैलियों में विभाजित किया जाता है। नागर शैली मंदिर स्थापत्य संरचना का सबसे प्राचीनतम रूप है।[11] इस शैली का प्रभाव प्रमुख रूप से उत्तर भारत के मंदिर स्थापत्य में देखा जा सकता है। इस शैली का प्रमुख विस्तार हिमालय से लेकर विंध्य की पहाड़ियों तक फैला था। नागर शैली मंदिर निर्माण में विकसित हुई प्रथम शैली है। इस शैली में नागर शब्द नगर से लिया गया है जिसका मतलब है कि इस शैली के मंदिरों का निर्माण नगर में ही होता था। राखलदास बनर्जी का मानना है, ''नागर का संबंध श्रीनगर या पाटलिपुत्र से है।''[12] कुछ विद्वान इसका संबंध नाग से भी लगते हैं, क्योंकि इस शैली का विकास नाग जाति के द्वारा हुआ था। इस शैली में निर्मित मंदिर अन्य शैलियों में निर्मित मंदिरों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस शैली के अधिकांश मंदिर नदियों के किनारे ही बनाए जाते थे। इस शैली में विभिन्न संप्रदायों के मंदिरों का निर्माण किया गया, परन्तु सभी के निर्माण में समानता दिखाई देती है। मंदिरों में एक वर्गाकार गर्भगृह, स्तंभ वाला मंडप तथा गर्भगृह के ऊपर एक रेखीय शिखर होता है।[13]

नागर शैली अपनी प्रमुख विशेताओं के कारण विश्व भर में प्रसिद्ध है इस कला शैली में निर्मित सभी मंदिरों में प्रमुख रूप से आठ अंग होते थे।[14]

1. मूल आधार–संपूर्ण भवन का आधार
2. मूसरक– दीवारों और नीव के मध्य का भाग
3. कपोत–कार्निस
4. जांघ–गर्भ गृह की प्रमुख दीवारें
5. शिखर–मंदिर का शीर्ष भाग
6. ग्रीवा–शिखर का ऊपरी भाग
7. वर्तुलाकार आमलक–कलश के नीचे का भाग
8. कलश–मंदिर का शीर्ष भाग

नागर शैली में मंदिर का शीर्ष भाग ऊपर की ओर क्रमशः पतला होता जाता है। नागर शैली के मंदिरों को अंदरुनी रूप से अनेक भागों में विभक्त किया जाता है।[15]

1. गर्भगृह–इसे मंदिर का हृदय माना जाता है, यहां मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा हो जाने के बाद मंदिर का सबसे पवित्र स्थान समझा जाता है। गर्भगृह में संबंधित ईष्ट देवता की प्रतिमा स्थापित की जाती है। गर्भगृह मंदिर का अत्यंत मांगलिक और महत्वपूर्ण स्थान होता है

2. जगमोहन–यह स्थापत्य विशेषता मुख्य रूप से उड़ीसा के मंदिरों में पाई जाती है। यह गर्भगृह के चारों ओर का भाग होता है जिसमें लोग बैठकर भगवान के दर्शन और पूजा करते हैं। कोणार्क के सूर्य मंदिर का जगमोहन

विश्व प्रसिद्ध है।

3. नाट्य मंडप–यह स्थान जगमोहन के पास स्थित होता है जिसमें भक्तजन वाद्ययंत्रों के साथ नृत्य करते हैं।

4. भोग मंडप–मंदिर के इस भाग में भगवान को अर्पित होने वाले भोग का निर्माण किया जाता है।

नागर शैली समय के साथ-साथ विकसित होती रही और साथ ही साथ इसमें विभिन्न अंतरों के आधार पर अनेक क्षेत्रीय शैलियों का भी उदय होने लगा। इन शैलियों में अनेक समानताओं के साथ-साथ अनेक विभिन्नता ही भी विद्यमान थी। नागर शैली के अंतर्गत आने वाली प्रमुख उपशैलियों को हम इस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं।[16]

उड़ीसा उपशैली–मंदिर निर्माण की यह शैली नागर शैली की उपशैली के अंतर्गत आती है। इस शैली के निर्माण को मुख्य रूप से तीन चरणों में रखा जाता है। प्रथम चरण 750 ई. से लेकर 900 ई. तक, द्वितीय चरण 900 ई. से लेकर 1100 ई. तक और तृतीय चरण 1100 ई. से लेकर 1250 ई. तक का माना जाता है। यहां के मंदिरों में प्रयोग की गई भूमि को सूर्य और समुद्र के बीच की भूमि माना जाता है। मंदिर निर्माण की इस कला शैली के अंतर्गत नाट्य मंडप, जगमोहन और गर्भगृह के निर्माण में विशेष ध्यान दिया जाता था, जो इस उप शैली की प्रमुख विशेषता है। उड़ीसा में कोणार्क सूर्य मंदिर है। इस शैली में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ है, परंतु इसमें सबसे महत्वपूर्ण मंदिर कोणार्क का सूर्य मंदिर है। कोणार्क मंदिर का निर्माण गंगराज नरसिंह देव ने करवाया था। यह मंदिर चंद्रभागा नदी के तट पर स्थित है। इस मंदिर को रथ मंदिर, पंचरथ, त्रिरथ और सप्त रथ अन्य नाम से भी जाना जाता है। मूल रूप में यह सूर्य का रथ मंदिर है। इस मंदिर में सात घोड़े को दर्शाया गया है, जो सात दिनों के प्रतीक माने जाते हैं। इस रथ मंदिर में 12 पहियों को दर्शाया गया है जो 12 राशियों के प्रतीक माने जाते हैं और प्रत्येक पहिए में आठ तिली को दर्शाया गया है, जो की आठ पहरों का प्रतीक समझी जाती है। इस स्थापत्य रचना को हम अगर प्रतीक की दृष्टि से देखें तो इसमें संपूर्ण ब्रह्मांड को समाहित करने का प्रयास किया गया है।[17] खजुराहो उपशैली से संबंधित मंदिर मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में पाए जाते हैं। यहां के मंदिरों का निर्माण 10वीं एवं 11वीं शताब्दी में चंदेल शासकों द्वारा पूरा किया गया। चंदेल मूलरूप से शैव धर्म के अनुयायी थे, परंतु इन्होंने अनेक धर्म संप्रदाय के मंदिरों का निर्माण किया। कंदरिया महादेव मंदिर मध्य प्रदेश में स्थित है। वर्तमान समय में यहां पर केवल 25 मंदिर शेष है। बलुआ पत्थर का प्रयोग, मंदिरों के लिए ऊंचा चबूतरा, गुप्त काल से भिन्न एक ओर को सीढ़ी का निर्माण और एक मंदिर में तीन या चार शिखर का निर्माण इस उपशैली की प्रमुख विशेषता है। इस उपशैली में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ, परंतु इसमें सबसे महत्वपूर्ण मंदिर कंदरिया महादेव मंदिर को माना जाता है। यह खजुराहो में निर्मित सबसे विशाल मंदिर और अलंकृत मंदिर है। चंदेल शासक धंग द्वारा निर्मित खजुराहो का कंदरिया महादेव मंदिर भगवान शिव को समर्पित है। यह मंदिर अपनी स्थापत्य शैली के कारण विश्व प्रसिद्ध है। इस मंदिर को नागर शैली का चरमोत्कर्ष माना जाता है।[18]

संदर्भ

1. शतपथ ब्राह्मण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 44
2. तैतरीया संहिता, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. 69
3. ऋग्वेद, वैदिक इन्डैक्स जिल्द-2, पृ. 483
4. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 120
5. वही, पृ. 103
6. दास, रामायण, भारतीय मूर्तिकला, तृतीय संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृ. 44
7. गुप्ता, परमेश्वरी लाल, भारतीय वास्तुकला, वि. प्रकाशन वाराणसी पृ. 72
8. वही, पृ. 29
9. वही, पृ. 40
10. वाजपेयी, कृष्ण दत्त, भारतीय वास्तुकला का ईतिहास, हिंदी संस्थान लखनऊ, पृ. 4
11. वही, पृ. 37
12. जोशी, महेश चंद्र- युग युगीन भारतीय कला, राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर 2006, पृ. 208
13. वाजपेयी, कृष्ण दत्त, भारतीय वास्तुकला का इतिहास, हिंदी संस्थान लखनऊ, पृ. 5
14. वही पृ. 127
15. जोशी, महेश च्रंद्र- युग युगीन भारतीय कला, राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर 2006, पृ. 65
16. वही पृ. 69
17. श्रीमाली, कृष्ण मोहन एवं झा, द्विजेंद्र नारायण, प्राचीन भारत का इतिहास, हिं. मा. का. निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 415
18. वही, पृ. 416

–डॉ. कृष्णकांत शर्मा, शोध निर्देशक
एसोसिएट प्रोफेसर , इतिहास विभाग,सी.सी.एस विश्वविद्यालय, मेरठ

–डॉ. दीपक कुमार, शोध निर्देशक
असिस्टेट प्रोफेसर,इतिहास विभाग,
एस.एस.कॉलेज, हापुड़

–निर्दोष, शोध छात्र
एस.एस.कॉलेज, हापुड़

भारत में कृषि व्यवस्था : मौर्य काल के विशेष संदर्भ में

—डॉ. रितु

शोध सार— अगर हम भारत की विभिन्न संस्कृतियों को देखते हैं तो पता चलता है कि वह सब कृषक समुदाय या कृषि व्यवस्था से जुड़ी हुई थीं, फिर बात चाहे कांस्य संस्कृति की हो, ताम्र पाषाण संस्कृति की हो या फिर लौहकालीन संस्कृति की हो, सभी संस्कृतियां कृषि प्रधान रही हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में हम कौटिल्य एवं मेगस्थनीज के आधार पर कृषि संबंधित अनेक पहलुओं की विवेचना करेंगे, जैसे कि भूमि मापन पद्धति, भूमि दान, सिंचाई व्यवस्था, सीताध्यक्ष के कार्य इत्यादि। कृषि प्राचीन समय से ही भारत की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार रही है। मौर्य काल में भी कृषि राज्य की आय का प्रमुख स्रोत थी, इसलिए राज्य ने कृषि के हर पक्ष पर पूर्ण ध्यान दिया था। कृषि व्यवस्था की महत्ता इस बात से लगाई जा सकती है कि भारत आज भी एक कृषि आधारित देश माना जाता है।

भूमिका—भारत के सांस्कृतिक विकास में मौर्य काल इतिहास की सीमा रेखा का अपने ढंग से निर्माण करता है। लक्ष्मण रेखा की तरह इतिहास की इस सीमा रेखा को खींचने का श्रेय यदि मूल रूप से किसी को दिया जा सकता है तो वह है मौर्य वंश का संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य। चंद्रगुप्त के विषय में अभी तक विद्वान एकमत नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में यह अवधारणा पुष्ट होती है कि पाटलिपुत्र के राज सिंहासन पर बैठे हुए कुटिल नंद को परास्त कर ही चंद्रगुप्त मगध का सम्राट बना जिसने संपूर्ण भारत में मौर्य साम्राज्य का विस्तार किया। चंद्रगुप्त को चाणक्य का शिष्य माना जाता है और इसी चंद्रगुप्त के नाम से इतिहास में मौर्य काल का उदय भी माना जाता है। मौर्य काल में प्रथम बार संपूर्ण भारत का एकीकरण हुआ। इस काल तक भारतीय समाज के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक सभी ढांचों में परिवर्तन आरंभ हो चुका था। समाज के किसी अंग में क्रांति हुई, किसी में उन्नति हुई या किसी का नए रूप में उदय हुआ। इस काल की जानकारी के अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इंडिका एवं अशोक के अभिलेख हैं, इसके अतिरिक्त मौर्य काल के किसी भी पक्ष की विवेचना करने के लिए बौद्ध साहित्य या जैन साहित्य भी अत्यंत महत्व रखता है। यद्यपि मौर्य काल के आरंभ से ही बौद्ध कालीन भारत का अंत होता है, पर फिर भी बौद्ध काल और मौर्य काल के आपस के निकट संबंध होने के कारण बौद्ध काल एवं मौर्य काल की अवस्था में कुछ न कुछ सादृश्य ही है, जिसके द्वारा हम भारतीय तत्कालीन अवस्था का बहुत कुछ अनुमान कर सकते हैं जो अंततः ठीक ही होगा। इसलिए बौद्ध साहित्य के उस अंग पर जिसमें जातक ग्रंथो का समावेश है, विचार करना होगा; और यह देखने की चेष्टा करनी होगी कि उस काल में भारतीय आर्थिक स्थिति कैसी थी।[1]

यदि हम भारतीय इतिहास के इस कालखंड में मौर्य शासन के अंतर्गत भारत के एकीकरण की बात करते हैं, तो यह सब एक विशाल सैन्य बल के कारण संभव हो पाया। किसी भी तत्कालीन राजघराने के मुकाबले मौर्यों के पास सैन्य बल अधिक था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार, ''शाही हुकूमत से प्रेरित होकर मौर्य ने अधिकारियों की संख्या में वृद्धि की। विशाल भूभाग पर निरंतर बढ़ती जनसंख्या में नौकरशाहों और विशाल स्थाई सेना के बल पर शासन का दायित्व निभाने में अपार व्यय होता था। इसीलिए शाही खजाने के लिए स्थानीय आय के स्रोत भी ढूंढ लिए गए।''[2] सैन्य प्रशासन के अतिरिक्त नागरिक प्रशासन पर भी अत्यधिक धन व्यय होता था और राज्य की आय का मुख्य स्रोत मालगुजारी था जो समय भाग या बलि के रूप में लिया जाता था। कृषि, उद्योग एवं व्यापार का सर्वांगीण विकास मौर्य कालीन भारत में लोगों के आर्थिक जीवन की विशेषता थी। यद्यपि कृषि पर भारत की निर्भरता का इतिहास सदियों से चला आ रहा है जो की मेहरगढ़ (पाकिस्तान के क्वेटा क्षेत्र) के शुरुआती कृषक समुदाय से शुरू होकर पांचवीं छठी सहस्राब्दी ईसा पूर्व तक फैला हुआ है। अगर हम भारत की विभिन्न संस्कृतियों को देखते हैं तो पता चलता है कि वह सब कृषक समुदाय या कृषि व्यवस्था से जुड़ी हुई थीं, फिर बात चाहे कांस्य संस्कृति की हो, ताम्र पाषाण संस्कृति की हो या फिर लौहकालीन संस्कृति की हो, सभी संस्कृतियां कृषि प्रधान रही हैं। जैसे-जैसे धातु का आगमन हुआ कृषि व्यवस्था में परिवर्तन आता गया। ऐसा माना जाता है कि 800 ईसा पूर्व में गंगा घाटी में वनस्पतियों को साफ करने में लौह प्रौद्योगिकी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बहुत सारे इतिहासकार जिनमें विशेषकर मार्क्सवादी हैं उनका मानना है कि लौह तकनीकी ने कृषि अधिशेष को बढ़ावा दिया जो की 600 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक शहर या राज्यों के

गठन के लिए अत्यंत आवश्यक था।[3]

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में राजशाही राज्य व्यवस्था के प्रसार का कृषि बस्तियों के विस्तार के साथ स्पष्ट संबंध है जो इन राज्य व्यवस्थाओं को प्रमुख संसाधन एवं आधार प्रदान करते हैं।[4] जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया वैसे-वैसे देश की आर्थिक स्थिति एवं देश के अर्थ-विज्ञान की उन्नति होती गई। तत्कालीन उत्कीर्ण लेखों तथा तत्कालीन साहित्य में भूमि का विभिन्न प्रकारों में विभाजन किए जाने का उल्लेख है जिसमें कृषि योग्य भूमि, बंजर भूमि, सिंचित भूमि, फसल युक्त भूमि, पानी से भरी हुई भूमि, चारागाह भूमि, बागान आदि प्रमुख हैं। मौर्य कालीन भारत में खेतों में बीज बोने का कार्य किसी शुभ दिन ही किया जाता था। बोए हुए खेतों में पानी नहरों द्वारा पहुंचाया जाता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में फसलें उगाने के लिए नहरों के निर्माण का और सिंचाई वाली भूमि पर लगाए जाने वाले प्रभार का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार का निर्धारण सिंचाई की किस्म और विधि के अनुसार कम या अधिक होता था। नदियों, झीलों, तालाबों और कुओं से सींची जाने वाली जमीनों पर राज्य के कर की सामान्य उपज का एक चौथाई भाग होती थी। सर्दियों और गर्मियों की फसलें इसी आधार पर बोई जाती थीं कि उनकी सिंचाई के लिए कितना पानी मिल सकता है।[5]

संहित प्रयाणे मित्र हिरण्य भूमिलाभना मुत्तरोत्तरो लाभः श्रेयान! मित्र हिरण्ये हि भूमिलाभदभ्वतो मित्रम हिरण्य लाभात्! अर्थात् मिलकर यात्रा करने के विषय में मित्र, हिरण्य, और भूमि इन लोगों में से उत्तरोत्तर लाभ श्रेष्ठ है, अर्थात, मित्र लाभ की अपेक्षा हिरण्य लाभ और हिरण्य लाभ की अपेक्षा भूमि लाभ उत्तम समझा जाता है, क्योंकि भूमि लाभ से मित्र और हिरण्य दोनों प्राप्त हो सकते हैं तथा हिरण्य लाभ से मित्र लाभ हो सकता है।[6] हिरण्यभोगम भूमिभोगम वा मित्रमिति! हिरण्य आदि धन देने वाला मित्र अच्छा या भूमि देने वाला मित्र अच्छा।[7] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के दसवें अध्याय के 116वें प्रकरण में भूमि संबंधी प्रावधान किए गए हैं जिससे भूमि का महत्व उजागर होता है। राजा को युद्ध में किस प्रकार की भूमि प्राप्त करनी चाहिए, भूमि प्राप्त करने से राज्य को किस-किस प्रकार से लाभ होगा, दुर्बल से भूमि प्राप्त करने को कौटिल्य निकृष्ट कार्य मानते हैं। कौटिल्य कहते हैं—यस्या हि भूमेर्बहुदुर्गा श्वचोरगणैर्म्लेच्छाटवीभिर्वा नित्य विरहिताः प्रतायंता सा नित्यमित्र विपर्ययेत्वनित्या मित्रेति। अर्थात, जिस भूमि के सीमा प्रांत में होने वाले बहुत से दुर्ग, चोरों, म्लेच्छों तथा आटविकों से सदा घिरे हुए रहते हों, वह भूमि नित्यमित्र कहलाती हैं और इससे विपरीत भूमि, अर्थात, जिसके सीमा प्रांत के दुर्ग में चोर आदि न रहते हों वह अनित्यमित्र कही जाती है।[8] कौटिल्य कहते हैं कि जो भूमि राजा स्वयं सुरक्षित करें वही अच्छी होती है। ''आत्मधारणा श्रेयसी!'' कौटिल्य कहते हैं कि मूर्ख शत्रु से राजा को भूमि मिलना ज्यादा श्रेयस्कर है, ''बालिषाद्वमिलाभःमिलाभः श्रेयान!''[9] भूमि मापन प्रणाली प्राचीन ऐतिहासिक स्रोतों में विस्तृत उल्लिखित है। काम जातक में एक स्थान पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि जब राज कर्मचारी भूमि की पैमाइश के लिए ग्राम में आए तब श्रेष्ठि ने उस राजकुमार को जो अपने अनुज के लिए सिंहासन त्याग कर उस श्रेष्ठि के परिवार के साथ रहने लगा था, बलि की माफी के लिए राजा को लिखने को कहा।[10] इस संदर्भ में यू. एन. घोषाल का मत है कि भूमि का मापन सीधे बलि निर्धारण से संबंधित है और इसका अर्थ संभवत यह हो सकता है कि एक निश्चित क्षेत्र की इकाई के लिए सरकारी मानदंड या औसत दर प्रचलित थी जो कि जोत क्षेत्र के कर निर्धारण के लिए लागू की जा सकती थी।[11] कौटिल्य अर्थशास्त्र में 'कृष्टाकृष्ट' कृषि योग्य भूमि की गणना करके उसके आधार पर उनके क्षेत्रफल जानने का निर्देष देते हैं।[12]

मौर्य काल में वनों को साफ करके भूमि को कृषि योग्य बनाया जाता था। अधिकतर जोतें छोटे आकार की होती थीं जिनमें उत्पादन कार्य अकेले, पुत्रों की सहायता से या मेहनतियों की सहायता से संभाला जाता था। बड़े-बड़े फर्मों का प्रबंध ब्राह्मण संभालते थे। कृषि कार्य सामाजिक दृष्टि से न तो प्रतिष्ठा की वस्तु थी न कलंक की, हालांकि धर्म शास्त्रों में और बौद्ध ग्रंथो में भी कृषि और व्यापार दोनों पेशे वैश्य वर्ग के लिए रखे गए थे, किंतु यह बात ध्यान देने की है कि ब्राह्मण किसान प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में एक वास्तविक तथ्य था तथा वह दूसरे धंधों में भी जैसे पशुपालन व्यापार इत्यादि में भी लिप्त था। राज्य कृषि को प्रोत्साहन देता था तथा कृषि को नष्ट करने वालों पर दंड और जुर्माने की व्यवस्था भी गई थी। जो व्यक्ति अपने खेतों को छोड़ देते थे या उनकी उपेक्षा करते थे उन पर भी जुर्माना लगाने का प्रावधान था। कौटिल्य कहते हैं, ''गांव के लोग अपने नित्य असहाय अवस्था से बचने के लिए यदि खेती के कार्यों में मन लगाएंगे तो करो, मजदूरों की संख्या धन और अनाज की वृद्धि की संभावना स्पष्ट हो जाएगी।''[13] ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए ग्रामीणों को जानबूझ कर प्रोत्साहित किया जिससे लोगों का अधिक से अधिक धन हड़पा जा सके। उन्होंने स्वयं मौर्य शासन के शोषणवादी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''चारों जातियों के बीच में जमीन की बंदोबस्ती के संबंध में सबसे अच्छा यह होगा कि जिन निम्न जातियों का बोलबाला हो उन्हीं के बीच में जमीन बंदोबस्ती की जाए क्योंकि हर दृष्टि से उनसे लाभ उठाया जा सकता है।''[14]

कृषि कर्म अर्थात खेतों के हर तरह के कामों को 'सीता' कहा जाता है। इसके निरीक्षण के लिए जो राजकीय अधिकारी नियुक्त किया जाता था उसका नाम सीताध्यक्ष होता था। अर्थशास्त्र सीताध्यक्ष कृषि विभाग का प्रबंधकर्ता या प्रधान अधिकारी को कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार सीताध्यक्ष को यह आवश्यक है कि वह कृषि-शास्त्र, षुल्व-शास्त्र (जिसमें भूमि आदि के पहचानने और नापने आदि का निरूपण हो) तथा वृक्षायुर्वेद (वह शास्त्र जिससे वृक्ष आदि के संबंध में हर तरह का ज्ञान प्राप्त किया जा सके) को अच्छी तरह से जानने वाला हो। कौटिल्य सीताध्यक्ष को बीजों का संग्रह करने का भी निर्देश देता है तथा एकत्रित किए हुए बीजों को ठीक समय पर हल से जुती हुई भूमि में; दास, कर्मकार और कार्य करके दंड को भुगतने वाले अपराधी पुरुषों के द्वारा बुआए जाने का भी प्रावधान करता है।[15] शासन की ओर से बड़े पैमाने पर कृषि कार्य के लिए जमीन की सफाई की व्यवस्था और अधिकारियों की प्रत्यक्ष देखरेख में राजकीय भूमि पर कृषि कार्यों के संपादन से गंगा की उपत्यका तथा अन्य क्षेत्रों में किसान भारी संख्या में बस गए। मौर्य शासकों ने सिंचाई की जो सुविधा प्रदान की थी उससे भी कृषि की अपार प्रगति हुई। अर्थशास्त्र में सिंचाई के लिए जल के वितरण और माप का उल्लेख किया गया है। उसमें इस बात का भी उल्लेख है कि राज्य उन क्षेत्रों से नियमित रूप से जलकर की वसूली करता था जहां उसकी ओर से सिंचाई की व्यवस्था होती थी। कृषि के लिए सिंचाई का प्रश्न बड़े महत्व का है इसलिए राज्य की ओर से उस पर विशेष ध्यान दिया जाता था तथा उसके लिए विशेष प्रबंध किया जाता था। चंद्रगुप्त के शासन की यह एक विशेषता है तथा उसकी बुद्धिमत्ता और शासन योग्यता का यह एक ज्वलंत उदाहरण है कि देश की, समाज की, राज्य की भलाई के लिए और उसकी सुख समृद्धि के लिए उसने सिंचाई का एक विभाग ही अलग कर रखा था। मेगस्थनीज ने भी लिखा है, ''भूमि के अधिकतर भागों में सिंचाई प्रचुर मात्रा में होती थी और इस कारण से साल में दो फसलें पैदा होती हैं। आगे चलकर मेगस्थनीज लिखता है, ''राज्य के कुछ कर्मचारियों के जिम्मे यह कार्य है कि वह भूमि की नाप जोख और नदियों का निरीक्षण करें। वह उन नालियों और छोटी-छोटी शाखा नहरों की देखभाल किया करते हैं जिनके द्वारा प्रधान नहरों का जल अन्य छोटी-छोटी शाखा नहरों में भी जा सके, जिसके द्वारा सब किसानों को जल अपने काम भर के लिए मिल सके।"

अर्थशास्त्र द्वारा भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सिंचाई के चार प्रकारों का वर्णन किया है। (1) हाथों के द्वारा सिचाई करना (2) कंधों पर पानी ले जाकर सिंचाई करना (3) किसी प्रकार के यंत्रों द्वारा सिंचाई करना (4) नदी तालाब कूप आदि द्वारा सिंचाई करना। इन सिंचाई के प्रकार के अनुसार ही कर के रूप में राजा को कुछ देना होता था। सिचांई का महत्व इन चार प्रकारों के अनुसार क्रमशः उत्पत्ति का पंचमांश, चतुर्थांश, तृतीयांश और चतुर्थांश लिया जाता था। अर्थशास्त्र में कुल्या का नाम आता है जिसका अर्थ 'कृत्रिम सरित' अथवा नहर है। इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि उस काल में नहरों का निर्माण होता था और उनके द्वारा कृषि में सहायता पहुंचाई जाती थी, खेत जोते जाते थे और बांध बांधे जाते थे जिनके द्वारा पानी जमा किया जाता था जिससे वर्षा कालीन जल एकदम ना निकल जाए और वह जमा रहे जिससे गर्मी में पानी के अभाव का अनुभव ना हो। जल के लिए कुओं और तालाबों की भी मरम्मत हुआ करती थी। जल से ही खेती-बाड़ी हुआ करती थी वही उसका आधार है। इस कारण इस बात की पूरी चेष्टा की जाती थी और इसका पूरा प्रबंध किया जाता था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आवश्यकता के अनुसार जल मिल सके। अर्थशास्त्र इस बात का भी उल्लेख करता है कि जहां नदी तालाब नहीं होते थे वहां राजा के द्वारा विशेष प्रबंध करके उसे खोलने का प्रयत्न किया जाता था।[16]

अशोक के काल में भी सिंचाई का प्रश्न राज दृष्टि से अंतर्धान नहीं हुआ था। काठियावाड़ के गिरनार में कृषक क्षत्रप रुद्रदामन का एक शिलालेख मिला है जिससे पता चलता है कि न केवल राजधानी की ही सिंचाई का ध्यान रखा जाता था बल्कि मौर्य साम्राज्य के दूर स्थित प्रांतों पर भी दृष्टि रखी जाती थी, और वहां की सिंचाई पर भी सम्राट काफी ध्यान देते थे। रुद्रदामन ने अपने लेख में लिखा है कि, चंद्वगुप्त द्वारा नियुक्त किया हुआ पश्चिमी प्रांत का शासक पुश्य गुप्त था जिसने गिरनार की पहाड़ी पर एक नदी का बांध बनवाया था जिसके कारण वह झील रूप में परिवलतत हो गई और उसका नाम रखा गया सुदर्शन। इस झील में से कुछ नहरे निलमत की गई। रुद्रदामन के काल में उसका प्रतिनिधि यवन तुषाश्प उन प्रांतों का शासक था और उसी की देखरेख में यह नहरे निकली गई। यह नहरे और झील जो मौर्य सम्राटों की कृति थी प्रायः 400 वर्षों तक कायम थी इसके बाद यह नष्ट हो गई जिसे कृषक क्षेत्र रुद्रदामन ने पुनः बनवाया और उसी का इतिहास उसने उस शिलालेख में लिखवाया। इससे यह सिद्ध होता है कि मौर्य सम्राटों द्वारा नहर एवं सिंचाई के प्रश्न पर पूर्ण ध्यान दिया गया था।[17] उस समय भू राजस्व भाग या बलि के रूप में अदा किया जाता था। प्रायः पैदावार का छठवा अंश सरकार को भाग के रूप में मिलता था या कभी-कभी यह आ ट्टां या चतुर्थाष भी कर दिया जाता था। इस सभी के अतिरिक्त भी कभी-कभी कुछ टैक्स लेकर किसानों को अन्य करो से मुक्त कर दिया जाता था।

इस अतिरिक्त टैक्स को बलि कहते थे। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार कभी-कभी किसान पैदावार का चतुर्थांष देने के बाद भी कुछ भूमि त्याग देते थे, क्योंकि उस समय यह धारणा थी कि देश की समस्त भूमि सम्राट की संपत्ति होती है तथा किसी भी नागरिक को भूमि के स्वामित्व का कोई अधिकार नहीं है। भू राजस्व भी वही अधिकारी वसूल करते थे जो सिंचाई के साधनों की देखभाल करते थे।[18]

प्राचीन काल से ही भूमि को अनुदान स्वरूप दिया जाता था जो प्रथा निरंतरता में बनी रही। कौटिल्य लिखते हैं कि राजा अनेक व्यक्तियों को भूमि दान में दे सकता है, जैसे ब्राह्मण को इस शर्त के साथ कि यदि वह दान पत्र की शर्तों का पालन नहीं करेंगे तो राजा दी हुई भूमि वापस ले सकेगा।[19] मेगास्थनीज के अनुसार मौर्यकालीन कृषि व्यवस्था में भूमि पर सभी प्रकार के ज्ञात फल फलते हैं और भूमि में नाना प्रकार की धातुओं की खाने हैं।[20] खाद्य अन्नों के अतिरिक्त समस्त देश में बाजरा, कोदो, मांडवा बहुत होता है जो नदियों की अधिकता के कारण भली-भांति पटता है। भारतवासी सदा वर्ष में दो फसलें काटते हैं। इस देश के सभी खंड में जल की बड़ी सुविधा है, चाहे वह नदी से मिले अथवा ग्रीष्म काल में वर्षा से प्राप्त हो।[21] वह कहता है कि अन्य जातियों में युद्ध के समय हरे भरे खेत उजाड़ दिए जाते हैं किंतु भारतवासी किसान जाति को पूज्य दृष्टि से देखते हैं और जिस समय संग्राम होता रहता है उस समय भी हल जोतने वाले निर्भीक भाव से अपना काम करते रहते हैं, क्योंकि दोनों दलों के योद्धा आपस में ही रक्तपात करते हैं, इन किसानों को नहीं छेड़ते।[22] चंद्रगुप्त के समय कृषक लोग बहुत समृद्ध थे तब उन्हें आधा पेट भोजन पाकर संतोष नहीं करना पड़ता था। प्रतिवर्ष दुर्भिक्ष की संभावना न बनी रहती थी। तभी तो मेगास्थनीज लिखता है कि भारतवर्ष में कभी अकाल नहीं पड़ा है और खाने की वस्तुएं महंगी भी कभी नहीं हुई है।[23] कृषक समाज पवित्र तथा अवध्य है इस भाव को मेगास्थनीज ने अनेक बार दोहराया है।[24] मेगास्थनीज कृषकों के विषय में लिखता है कि शत्रु भी अपने खेत में काम करने वाले किसान के निकट पहुंचकर उस पर प्रहार नहीं करता है क्योंकि इस जाति के मनुष्य सर्वसाधारण के हितकर्ता माने जाते हैं।[25]

संदर्भ

1. शास्त्री तिवारी कमलापति, मौर्य कालीन भारत, इंडिया प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, 1928, पृ. 87-8
2. गैरोला वाचस्पति, कोटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, 1984, पृ. 109
3. चक्रवर्ती रणबीर, एग्रीकल्चरल टेक्नोलॉजी इन अर्ली मेडिवियल इंडिया (बॉक्स 500-1300), द मेडिवियल हिस्ट्री जनरल, 2 (2008), पृ. 230
4. वही, पृ. 231
5. गैरोला वाचस्पति, कोटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, 1984, पृ.118
6. शास्त्री पंडित उदयवीर, कौटिल्य अर्थशास्त्र, संस्कृत पुस्तकालय लाहौर, 1925, पृ. सं. 264
7. वही, पृ. 268
8. वही, पृ. 274
9. वही, पृ. 275
10. जातक-4, पृ. 109
11. घोषाल यू. एन., एग्रेरियन सिस्टम इन एनसिएंट इंडिया, पृ. 25
12. कौटिल्य अर्थशास्त्र-2, 35
13. डॉ एम. वी. कृष्णा राव, कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सर्वेक्षण, रतन प्रकाशन कानपुर, 1961, पृ. 73
14. शास्त्री गणपति, अर्थशास्त्र खंड-1, पृ. 137
15. शास्त्री पंडित उदयवीर, कौटिल्य अर्थशास्त्र, संस्कृत पुस्तकालय लाहौर, 1925, पृ. 259
16. शास्त्री तिवारी कमलापति, मौर्य कालीन भारत, इंडिया प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, 1928, पृ. 118-19
17. वही, पृ. 120
18. डॉ. रायचौधरी हेमचंद्र, प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, किताब महल, इलाहाबाद, 1971, पृ. 257-58
19. शतपथ ब्राह्मण, कौटिल्य अर्थशास्त्र, नासिक गुफालेख संख्या-9-प्लेट-3
20. शरण बाबू अवधबिहारी, मेगास्थनीज का भारत विवरण, आरा नगर प्रचारिणी सभा, 1916, पृ. 2
21. वही, पृ. 3, 22. वहीं, पृ. ठ संख्या -4
23. विद्यालंकर सत्यकेतु, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1985, पृ. 318
24. वही, पृ. 319
25. शरण बाबू अवधबिहारी, मेगास्थनीज का भारत विवरण, आरा नगर प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, 1916, पृ. 10

–डॉ. रितु

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग

इंदिरा गांधी विश्वविद्यालय, मीरपुर

रेवाड़ी

भारत में पंचायती राज और लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक परिस्थिति

—डॉ. मनमोहन सिंह

शोध-संक्षेपण—पंचायती राज तथा लोक-तांत्रिक विकेन्द्रीकरण शासन के दो ऐसे प्रभावकारी उपकरण तथा उपव्यवस्थाएं हैं, जिनके माध्यम से शासन में जनसहभागिता सुनिश्चित की जाती है। भारत इसका प्रबल एवं प्रभावशाली उदाहरण है। भारत में पंचायती राज व्यवस्था तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण द्वारा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय को सुनिश्चित करने का सार्थक प्रयास किया गया है। संविधान में 73वाँ एवं 74वाँ संशोधन ग्रामीण लोकतंत्र एवं शहरी लोकतंत्र के आधार स्तम्भ के रूप में स्थापित हो चुके हैं, जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया में जन-मानस की सहभागिता को सुनिश्चित करके आम जनता में विश्वास एवं साहस पैदा करती है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं महिलाओं की भूमिका को संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक दोनों ही स्तरों पर स्थापित कर शासन के नीति निर्धारण, नीति क्रियान्वयन एवं निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में अन्त्योदय हेतु अवसर उपलब्ध करा शासन व्यवस्था में कमजोर वर्ग को समान सहभागिता का अवसर प्रदान करके लोकतंत्रीय आस्था की मजबूत कड़ी से जोड़ती है।

कूट शब्द : नयी पंचायती राज व्यवस्था, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण, संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक।

वर्तमान समय में प्रजातंत्र को सबसे अच्छी शासनप्रणाली के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। एक अवधारणा के रूप में प्रजातंत्र का सम्बन्ध केवल एक शासन के प्रकार के रूप में ही नहीं है अथवा राजनीतिक मूल्य के रूप में ही इसे नहीं समझा जाना चाहिए। इसके आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक आयाम भी हैं। क्रियात्मक स्तर पर प्रजातंत्र के दो रूप हैं—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यख। जनसंख्या के अतिरेक तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र ही अधिकांश देशों में प्रचलित हैं। जनता अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासनकार्यों में भाग लेती है और सत्ता का उपयोग करती है। दलीय राजनीति की अपरिहार्यता, नौकरशाही का वर्चस्व, पूंजीवादी प्रवृत्तियों का प्रश्रय तथा लोककल्याणकारी राज्य की संकल्पना की मान्यताओं के प्रजातांत्रिक व्यवस्था में शक्ति के केन्द्रीयकरण को बढ़ावा दिया है। फलतः प्रजातंत्र का कार्य रूप में प्रवर्तन सम्भव नहीं हो पाता। जनता को सत्ता उपयोग, सत्ता-नियंत्रण और शासन-कार्यों में निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में जितना अधिक सक्रिय भागीदारी के अवसर उपलब्ध होते हैं उतना ही अधिक प्रजातंत्र का कार्यरूप में प्रवर्तन सुनिश्चित होता है। जे. एस. मिल के अनुसार—"सामाजिक राज्य की सभी आवश्यकताओं को पूरी तरह से संतुष्ट करने वाला केवल वह शासनतंत्र को सकता है जिसमें सम्पूर्ण जनता की भागीदारी होती है।"[2] इस प्रकार प्रजातंत्र का आधार व्यापक और गहरा हो जाता है। निर्णय में आम जनता की भागीदारी हो जाती है और वह स्थानीय स्तर पर शासनतंत्र का दायित्व सम्भाल लेती है। सत्ता विकेन्द्रित हो जाती है। यही वास्तविक लोकतंत्र की प्रकृति है। इसमें जन स्वायत्तता को विकसित होने का पूरा अवसर प्रदान किया जाता है। इसके लिए यह भी अपेक्षा रहती है कि केवल राजनीतिक सत्ता का ही विकेन्द्रीकरण न हो बल्कि आर्थिक तथा प्रशासनिक स्तर पर भी इसे अपनाया जाए। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण में जनता की शासन कार्यों तथा निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जाती है, आर्थिक विकेन्द्रीकरण में आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण तथा प्रबन्धन का कार्य जनता को सौंपा जाता है जिससे आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण में प्रशासनिक इकाईयों के कई स्तर होते हैं और ये जन सेवक के रूप में जन सहयोग से सेवा करती हैं। इन पर जनता का नियंत्रण बना रहता है। सामाजिक विकेन्द्रीकरण में सभी वर्गों को हर क्षेत्र में प्रतिनिधित्व के अवसर, स्थितियाँ और शासकीय प्रोत्साहन होता है, पर लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत मुख्यतः राजनीतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को ही सम्मिलित किया जाता है।

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण हेतु स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की स्थापना, उन्हें स्थानीय विषयों का उत्तरदायित्व सौंपना और स्थानीय स्वायसत्ताशासी निकास के रूप में इस प्रकार विकसित करना कि जन-सम्प्रभुता का आधार बन सकें जैसे उपक्रम किये जाते हैं। इस स्तर पर जनता सीधे जुड़ती है। स्थानीय स्वायत्तता का राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय सम्प्रभुता, राष्ट्रीय हित तथा उच्च स्तर पर स्थित केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सत्ताओं के साथ संतुलन बैठाने का प्रयास भी

किया जाता है। उच्च स्तर पर स्थित शासनतंत्र तथा प्रशासन का हस्तक्षेप और नियंत्रण इन पर रहता तो है पर अनावश्यक और अनुचित नहीं। लिओनाई टी. हाइट के अनुसार—''विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से शासन के उच्चतर स्तर से निम्न स्तर की ओर व्यवस्थापकीय, न्यायिक अथवा प्रशासनिक सत्ता के हस्तान्तरण का बोध होता है।[3]

इस प्रकार प्रजातंत्र को कार्यरूप में परिणत करने हेतु स्थानीय स्वशासन की संस्थायें एक प्रभावशाली साधन है। लार्ड ब्राइस ने तो इन्हें प्रजातंत्र का सर्वश्रेष्ठ शिक्षालय और प्रजातंत्र की सफलता की प्रतिभूति माना।[4] वस्तुतः स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था से कई लाभ हैं यथा, शासन में जनता की सहभागिता, शक्ति का विकेन्द्रीकृत होना, राजनीतिक शिक्षण, बिचौलियों एवं नौकरशाही के देशों पर नियंत्रण आदि।[5] इन संस्थाओं की प्रकृति तथा कार्य प्रणाली का निर्धारण सम्बन्धित देश की परिस्थितियों, स्थानीय परम्पराओं, आवश्यकताओं तथा सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप ही निश्चित की जानी चाहिए।

भारत वर्ष में गांधीजी ने प्रजातंत्रिक विकेन्द्रीकरण की एक समय अभिनव योजना आधुनिक समय से ग्राम गंणतंत्र के रूप में प्रस्तुत की।[6] गांधीजी के अनुसार ग्राम गणतंत्र छोटे-छोटे सहाकारी समाज होंगे जिनके कृत्यों का सम्पादन उनके रहने वाले व्यक्तियों के सहयोग से होगा। इसमें सत्ता का फैलाव कर दिया जायेगा। यह फैलाव ग्राम-व्यवस्था, जिला-व्यवस्था, प्रान्त तथा राष्ट्र-व्यवस्था की ओर पिराडिकार न होकर लहरों की तरह चक्राकार एक के बाद एक ही आवृत्ति में होगा। इस समाज की वृहत्तर व्यवस्था अपनी ताकत का उपयोग भीतरवालों को कुचलने के लिए नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उन सबसे ताकत पायेगा।[7] इस सारी व्यवस्था का उद्देश्य मानवहित है जो वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श से अभिप्रेम है। आगे चलकर गांधीजी के विचार को विनोबा भावे तथा जय प्रकाश नारायण ने विस्तार दिया। विनोबा भावे ने इसे भू-दान, ग्राम-दान तथा जीवन-दान जैसे सम्प्रत्ययों से जोड़कर नूतन आयाम की सृष्टि की। विनोबा जी ने भी ग्रामेन्मुखी व्यवस्था की स्थापना पर बल दिया। उनके अनुसार पंचायत का तात्पर्य है पांच गुणों से सम्पन्न समिति। ये गुण हैं—प्रेम, निर्भयता, ज्ञान, उद्योग और स्वच्छता।[8] जय प्रकाश नारायण ने पंचायती राज की संकल्पना को समाज के सामुदायिक जीवन के रूप में देखा।[9] जय प्रकाश नारायण के अनुसार—''पंचायती राज नीचे से उस प्राथमिक समुदाय से शुरू होता है जिसकी कल्पना ऐसे सहजीवी, सहभागी, सहकारी परिवारों के संघ के रूप में की गयी है जो एक साथ मिलजुल कर अपने काम-काज का प्रबन्ध करते हैं और इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत समुदायों के संघ का तथा पंचायतीराज की अन्य संस्थाओं का निर्माण करते हैं।"[10] उन्होंने लोकतांत्रिक व्यवस्था में दलविहीन प्रजातंत्र के सिद्धान्त का विकास कर प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को नूतन दृष्टि दी है।

वस्तुतः भारत वर्ष गांवों का देश है। वैदिक काल से ही गाँवों को महत्ता प्राप्त रही है। गांवों को आत्मनिर्भर बनाने तथा स्थानीय प्रबन्ध उन्हें स्वयं करने की परम्परा यहाँ सदैव से विद्यमान ही है। यह परम्परा मुगल शासनकाल तक अक्षुण्य रही। अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस प्रणाली को विनष्ट करने का सुनियोजित प्रयास किया गया। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान ही यह अनुभव कर लिया गया था कि बिना ग्रामोद्धार के स्वतंत्रता के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए पंचायतीराज का मुद्दा हमारे स्वाधीनता संग्राम का अभिन्न अंग बन गया। देश आजाद हुआ और संविधान निर्माण के समय पुनः यह मुद्दा उठा पर इसे महत्ता नहीं प्रदान की गयी। डॉ. अम्बेडकर ग्राम पंचायतों के प्रति नकारात्मक विचार रखते थे। उन्होंने इसका विरोध किया। संविधान के प्रारूप में इसे महत्व नहीं दिया गया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने संवैधानिक परामर्श समिति को लिखा कि क्या संविधान को पंचायतीराज के परिप्रेक्ष्य में नहीं लिखा जा सकता? उत्तर में कहा गया कि प्रथमतः ऐसा करने से संविधान निर्माण में अनावश्यक देरी होगी और दूसरे, पंचायतीराज संस्थाओं का निर्माण राज्यों को करने है। इसलिए इसे राज्यों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। गांधीजी की मृत्यु के बाद तो संविधान में पंचायतीराज की संस्थाओं को भारतीय प्रजातंत्र का आधार स्तम्भ बनाने की बात पृष्ठभूमि में चली गयी। राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के रूप में इन्हें जोड़ना इस बात का प्रमाण है।

संविधान के अनुच्छेद 40 में राज्यों के लिए निर्देश दिया गया है—''राज्य ग्राम पंचायतों के संगठन की ओर कदम उठायेगा और उन्हें ऐसे अधिकार प्रदान करेगा कि वे स्वराज्य की इकाई के रूप में कार्य कर सकें। नीति निर्देशक सिद्धान्त शासन तंत्र के लिए बाध्यकारी नहीं होते। इससे इन संस्थाओं की स्थिति प्रायः सभी प्रान्तों में कमजोर रही। कई प्रान्तों में इनकी स्थापना के बाद इनके नियमित चुनाव दशकों तक टलते रहे। इससे ये निष्क्रिय और कमजोर होती गयीं। संविधान के लागू होने के लगभग एक दशक के बाद ये संस्थाएं अस्तित्व में आयीं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के क्रियान्वयन के दौरान जब यह महसूस किया गया कि विकास में आम आदमी की सहभागिता आवश्यक है तब पं. जवाहर लाल नेहरू ने 1957 में बलवन्त राय मेहता समिति का गठन इस हेतु किया। समिति ने त्रिस्तरीय व्यवस्था की अपुशंसा की। ग्राम स्तर पर पंचायत, विकास खण्ड स्तर पर पंचायत समिति तथा जिलास्तर पर जिला परिषद। समिति की

संस्तुतियों के आधार पर 2 अक्टूबर, 1959 को सर्वप्रथम राजस्थान प्रान्त से पंचायतीराज का शुभारम्भ हुआ। शीघ्र ही पूरे देश में राज्यों ने थोड़े बहुत संरचनात्मक परिवर्तन के साथ इसे अपना लिया। 2 अक्टूबर से इसे प्रारम्भ करने का तात्पर्य इसे गांधीजी से जोड़ना था। नेहरूजी ने प्रत्येक ग्राम के साथ एक स्कूल तथा एक सरकारी समिति की संकल्पना को भी जोड़ा। उन्होंने अपने शासनकाल में ग्रामोत्थान हेतु अनेक सामुदायिक कार्यक्रमों की शुरूआत भी की। नेहरू की मृत्यु के पश्चात् इस व्यवस्था को लेकर जो उत्साह था वह मंद पड़ गया और पंचायतीराज के विकास की गति विकृत हो गयी। जय प्रकाश नारायण ने इस पर चिंता प्रकट की और उन कारणों की ओर संकेत भी दिया जिसके चलते यह व्यवस्था असफलता की ओर अग्रसर हुई। इंदिरा गांधी ने अपने शासनकाल में इन संस्थाओं के लिए कुछ नहीं किया। उन्होंने नेहरू द्वारा स्थापित सामुदायिक विकास मंत्रालय को समाप्त कर दिया और इसे कृषि मंत्रालय के साथ जोड़ दिया।

सन् 1977 में जब जनता दल केन्द्र में सत्तारूढ़ हुआ तब अशोक मेहता समिति का गठन पंचायतीराज संस्थाओं की समीक्षा हेतु किया गया। इसने 1978 में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में कहा—"पंचायती राज उतार चढ़ाव की कहानी है।" ऐसा प्रतीत होता है कि यह तीन अवस्था से गुजरा है—आरोहण की अवस्था (1959-64) निष्क्रियता की अवस्था और अवनति की अवस्था (1969-1977)। समिति ने पंचायती राज पर अपने विशद प्रतिवेदन में कहीं भी पंचायती राज को ग्राम स्वराज्य और ग्राम गणतंत्र के परिप्रेक्ष्य में विकसित करने का उल्लेख नहीं किया था। इन शब्दों का उल्लेख तक नहीं किया गया। फलतः इसको कोई वैचारिक आधारशिला नहीं मिल सकी। इसको गांधीजी के साथ जोड़ा अवश्य जाता है पर आज तक इन संस्थाओं को गांधीजी के विचार दर्शन के आधार पर विकसित करने का प्रयास नहीं किया गया। यह इन संस्थाओं की सबसे बड़ी विडम्बना है और असफलता का कारण भी। पंचायतीराज के माध्यम से लोगों को सत्ता सौंपने तथा सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का स्वप्न साकार नहीं हो पाया। वस्तुतः पंचायतीराज की असफलता उसके संरचनात्मक ढांचे तथा उसके दायित्व निर्वहन की व्यवस्था में ही निहित थी। राजीव गांधी की सरकार ने चौसठवें संविधान संशोधन अधिनियम (1989) के द्वारा इन कमियों को दूर करने का उपक्रम किया। पर सफल नहीं हो सके। लोकसभा में तो यह अधिनियम पारित हो गया पर राज्यसभा ने इसे पारित नहीं किया। आगे चलकर नरसिंह राव की सरकार द्वारा थोड़ा फेर बदल करके तिहत्तरहवां संविधान संशोधन अधिनियम लाया गया जिससे पंचायतीराज व्यवस्था को सक्रिय किया जा सके।

यह संशोधन अधिनियम भारी मतों से संसद द्वारा पास कर दिया गया और यह एक क्रान्तिकारी कदम माना जा रहा है। इन प्रावधानों को संविधान के नवें भाग में राज्यों के लिये कार्यकारी बना दिया गया। सभी राज्यों ने अधिनियम द्वारा निश्चित अवधि (24 अप्रैल, 1994 तक) में अधिनियम के अनुरूप अपने-अपने राज्यों में पंचायतीराज अधिनियमों को बना लिया। तिहत्तरहवें संविधान संशाधन अधिनियम अनुच्छेद 243-जी द्वारा पंचायतों की परिभाषा, उनकी संरचना, संस्थाओं का आचरण, कार्यकाल तथा उत्तरदायित्व को स्पष्ट करने का प्राविधान किया गया है।

संशोधन के प्रमुख प्रावधान निम्न हैं-

1. पंचायतीराज की त्रिस्तरीय प्रणाली होगी। पर जिन राज्यों की जनसंख्या बीस लाख से कम होगी उनको यह छूट होगी कि वे मध्यम स्तर के पंचायत का गठन करें अथवा न करें। ग्राम स्तर पर ग्राम सभा का गठन अनिवार्य होगा जिसमें सम्बन्धित ग्राम के सभी स्त्री पुरुष सदस्य होंगे। 2. इनका कार्यकाल पांच वर्ष का होगा। अवधि की समाप्ति पर छः माह के भीतर इनका निर्वाचन आवश्यक होगा। 3. प्रत्येक स्तर पर सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष जनता द्वारा होगा। 4. अनुसूचित जाति, अनुसूचति जनजाति के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित होंगे। यही नहीं हर स्तर के पंचायत में उनके पदों की संख्या भी उस क्षेत्र में उनकी जनसंख्या के अनुपात में निश्चित करना होगा। 5. हर स्तर की पंचायत में महिलाओं के लिए तक तिहाई स्थान आरक्षित होंगे। यही नहीं प्रत्येक स्तर के पंचायत में महिलाओं के लिए एक तिहाई पद भी आरक्षित होंगे। 6. पिछड़े वर्ग का आरक्षण राज्यों के विधानमण्डल पर निर्भर करेगा कि वे अपने यहां पंचायतीराज अधिनियम बनाते समय अपनी परिस्थितियों के अनुसार उनका आरक्षण करें। 7. प्रत्येक स्तर की पंचायत संस्था में आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र पर चक्रानुक्रम का सिद्धान्त लागू होगा। यही सिद्धान्त प्रत्येक स्तर की पंचायत के अध्यक्ष के आरक्षण पर भी लागू होगा। 8. प्रत्येक सदस्यों की सदस्यता शर्तें भी राज्य विधानमण्डल की इच्छा पर निर्भर करेगा कि अपने-अपने पंचायतीराज अधिनियम में इसकी व्यवस्था करें अथवा न करें। 9. प्रत्येक राज के राज्यपाल अपने-अपने राज्य के लिए अधिनियम लागू होने के एक वर्ष के भीतर और प्रत्येक पांच वर्ष की समाप्ति पर एक वित्त आयोग का गठन करेगा। यह प्रत्येक स्तर की पंचायतों के मध्य वित्तीय संसाधनों के वितरण का तरीका निश्चित करेगा। इस सम्बन्ध में हुए क्रियान्वयन का विवरण राज्य सरकारें विधानमण्डल के समक्ष रखेंगी। 10. प्रत्येक राज्य में एक चुनाव आयोग का गठन किया जायेगा और इनके आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल करेगा। आयुक्त के निर्देशन और नियंत्रण में ही पंचायत के चुनाव सम्पन्न

होंगे। आयुक्त की सेवा शर्तें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समान होगी। 11. संविधान में ग्यारहवीं अनुसूची जोड़कर पंचायतीराज संस्थाओं के लिए उनतीस विषय निश्चित किये गये हैं। 12. प्रत्येक स्तर की पंचायत की शक्ति, कार्य और उत्तरदायित्व का निर्धारण प्रत्येक राज्य द्वारा अपने पंचायतीराज अधिनियम में करना होगा। पंचायतीराज संस्थाओं का प्रमुख कार्य आर्थिक विकास के लिए योजना बनाना और सामाजिक न्याय को प्राप्त करना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस संशोधन अधिनियम द्वारा पंचायतीराज संस्थाओं में संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। साथ ही स्वशासन की संस्थाओं द्वारा सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है। संस्थाओं के नियमित चुनाव से इनकी भूमिका प्रभावी होगी और जनता की सक्रिय भागीदारी का आधार बढ़ेगा। आरक्षण की वर्तमान व्यवस्था का प्रभाव सामाजिक संरचना पर पड़ेगा। देखा यह गया है कि पहले पंचायतीराज संस्थाओं में उच्च वर्ग की स्थिति उत्तरोत्तर मजबूत होती गयी। पर अब यह सम्भव नहीं हो पायेगा। क्योंकि कोई भी वर्ग स्थायी रूप से अपना वर्चस्व स्थापित करने में असमर्थ होगा। प्रत्येक जाति व वर्ग के लोगों को भागीदारी के अवसर उपलब्ध रहेंगे। इससे जनतांत्रिक समाज के विकास में सहायता मिलेगी। कमजोर वर्ग तथा महिलाओं के पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलने से निर्णय निर्माण की प्रक्रिया तथा विकास कार्यों में इनकी भागीदारी बढ़ेगी, जो लोकतंत्र के लिए शुभ संकेत हैं।

महिलाओं को निचले स्तर पर राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय सहभागिता हेतु प्रोत्साहन परम्परागत सामाजिक ढांचे, राजनीतिक चरित्र तथा सामाजिक न्याय की प्राप्ति की दिशा में दूरगामी प्रभाव डालने वाला है। इससे ग्रमीण विकास की प्राथमिकता और कार्यशैली प्रभावित होगी। सन् 1952 से लेकर आज तक संसद में महिलाओं का प्रतिनिधित्व लगभग आठ प्रतिशत रहा है। राज्य विधानसभाओं में भी इससे अधिक उनका प्रतिनिधित्व नहीं रहा। एक तिहाई स्थानों तथा पदों का आरक्षण प्रत्येक पंचायत स्तर पर होने से स्त्री-पुरुष समानता के लक्ष्य प्राप्त होने में सहायक होगा। यद्यपि आदर्श स्थिति तो तब होगी जब महिलाओं की भागीदारी पचास प्रतिशत सुनिश्चित किया जा सके। बंगाल के पंचायत चुनाव में महिलाएं काफी संख्या में आरक्षित स्थानों के अतिरिक्त चुनकर गयीं। इससे वहां कुल लगभग 38 प्रतिशत महिलाएं पंचायतीराज संस्थाओं में प्रतिनिधित्व करने लगी हैं।

इससे आशा जगी कि आगे चलकर केन्द्र तथा राज्य के विधान मण्डल में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ेगा। भारतीय सामाजिक संरचना में भारतीय महिलाओं की जो परिस्थिति है इससे कई अंतर्विरोध नयी प्रक्रिया से उभरे हैं। पुरुषों का वर्चस्व अब भी बना हुआ है। देखा यह जा रहा है कि चुनी हुई महिलायें अपने घर के पुरुषों के निर्देशन में कार्य करती हैं। यहां तक कि पुरुष बैठकों में भी उपस्थित रहकर निर्णय को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। महिलाओं की सोच अभी उतनी आत्मनिर्भर नहीं हो पायी है जितनी व्यवस्था को अपेक्षा है। उत्तर प्रदेश में कई जिलाधीशों को बाध्य होकर यह आदेश निर्गत करना पड़ा कि बैठकों में महिला प्रधान के पतियों अथवा परिवार के अन्य पुरुषों जो सदस्य नहीं है बैठक में भाग नहीं ले सकते। ऐसा करना कानून का उल्लंघन है। आशा है समय के साथ इन अन्तर्विरोधों पर विजय प्राप्त कर लिया जायेगा। महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के आधार पर व्यापक बनाने तथा उसमें गुणात्मक परिवर्तन लाने के लिए तीन बातों की अपेक्षा है। महिलाओं में वर्गीय चेतना का विकास, आर्थिक निर्भरता के अवसर और शिक्षा की आवश्यकता अब भी बनी हुई है। तीसरी दुनिया के देशों की विडम्बना यही है कि आधुनिकता के नाम पर महिलाओं को राजनीतिक सत्ता में भागीदारी के अधिकार तो प्रदान कर दिये जाते हैं किन्तु उन अधिकारों के उपभोग के लिए आवश्यक सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं करा पाते। इसके लिए महिलाओं को स्वयं आगे आना होगा। पुरुषों का मुखापेक्षी बनकर महिलायें अपना भला नहीं कर सकतीं। महिला संगठनों को इस दिशा में आगे आना चाहिये। राजनीतिक दलों को भी इस बात को गम्भीरता से लेना चाहिये। उन्हें अपने दलीय संगठनों के प्रत्येक स्तर पर महिलाओं को समुचति प्रतिनिधित्व देना चाहिये। इसी प्रकार दलित वर्ग तथा पिछड़े वर्ग के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर को उठाना चाहिये। इसमें पंचायतीराज संस्थायें अहम संस्थाएं भूमिका निभा सकती हैं। आवश्यकता यह भी है कि पंचायतीराज संस्थाओं में आम जनता की सक्रिय भागीदारी बढ़े और उनमें पहल करने की प्रवृत्ति पनपे। इस हेतु स्वयं सेवी संस्थायें, पंचायती व्यवस्था से जुड़े सरकारी कर्मचारी तथा संचार माध्यम अहम भूमिका अदा कर सकते हैं। शिक्षा का व्यापक प्रसार भी आवश्यक है।

इस पंचायतीराज व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप और कार्यप्रणाली से कुछ अवांछित प्रवृत्ति की सम्भावना भी बनती है जैसे कि जातिगत समूहों के ध्रुवीकरण की सम्भावना। इससे सामाजिक स्तर पर तनाव की सृष्टि हो सकती है और राजनीतिक स्तर पर आयोग्य और सक्षम लोगों का प्रवेश। इन संस्थाओं पर शासन प्रशासन का नियंत्रण पूर्ववृत ही है। वस्तुतः पिरामिडाकार शासनतंत्र स्वायत्तता का निषेध है, क्योंकि ऊपर का स्तर निम्न स्तर पर हावी रहता है। फलतः स्वावलम्बन तथा आत्मनिर्भरता प्रभावित होती है। इसमें शक्ति का स्रोत शीर्ष होता है, जबकि जनतंत्र में शक्ति का स्रोत जनता होनी चाहिये।

वही सामूहिक रूप से शक्ति का उपभोग भी करे। इसके लिए गांधीजी के ग्रामीण गणतंत्रों के संरचनात्मक ढांचे से सीख ली जा सकती है। गांधीजी ग्राम गणतंत्रों को सागरीय वृत्ताकार ढांचे के रूप में स्थापित करना चाहते थे। इसमें गांधीजी के अनुसार सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यों कहिए कि न कोई पहला होगा और न कोई आखिरी। संविधान संशोधन अधिनियम में पंचायतों के अधिकार तथा शक्तियों के निर्धारण का दायित्व राज्य विधानमंडल की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। यद्यपि सभी राज्यों में अभी भी इन्हें एक किसान, कारीगर, दस्तकार, शिक्षक, पत्रकार, समाजसेवी और स्वैच्छिक कार्यकर्ता मिलकर विविध सामुदायिक गतिविधियों को सम्पादित कर गांवों के हालात तथा स्वाशसन को स्थापित करने के साथ उनके विकास की नयी परिभाषा कर सकते हैं। इससे सामाजिक गतिशीलता की तीव्रता भी उतना ही बढ़ जायेगी। ऐसा करके ही पंचायतीराज व्यवस्था की सफलता के मार्ग में सबसे बड़े अवरोधक है। पंचायतीराज संस्थाओं की गतिशीलता और प्रभावी बनाने के लिए अब भी कई बातों को किया जाना चहिये। कुछ प्रमुख बिन्दुओं की ओर संकेत किया जा सकता है।

प्रथमतः, सांसद-निधिकोष और जिला ग्रामीण विकास अभिकरण को पंचायती व्यवस्था के क्षेत्रधिकार में लाया जाना चाहिए। यही नहीं केन्द्र द्वारा प्रायोजित ग्रामीण विकास की योजनायें अधिकांशतः इन्हीं के माध्यम से सम्पादित करायी जाएं। आजादी के बाद भी खरबों रुपया गरीबी उन्मूलन हेतु व्यय किया गया। पर गरीबी को दूर नहीं किया जा सका है। प्रधानमंत्री तक ने स्वीकार किया कि आम आदमी तक पहुंचते-पहुंचते यह रुपया अधिकांशतः बिचौलिये हड़प कर जाते हैं। पंचायतीराज संस्थाओं के माध्यम से यदि इन योजनाओं को सम्पादित किया जायेगा तो आम आदमी को इसका अधिक से अधिक लाभ मिलेगा।[16] द्वितीयः पंचायतीराज व्यवस्था के प्रति पूरा जवाबदेह बनाया जाए। तृतीयतः, पंचायत प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो जिससे वे अपने उत्तरदायित्व को कुशलतापूर्वक निवर्हन कर सकें। उनके अधिकार बढ़े हैं तो दायित्व भी उन पर बड़ा है। ग्राम विकास, सामाजिक समस्यायें और गांव की आर्थिक समस्या को समझकर ही उन्हें सक्षम बना पायेंगे। जागरुकता सृजन में संचार माध्यम बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। चतुर्थतः, यद्यपि पंचायतीराज संस्थाओं के विषय क्षेत्र में उन्नीस विषयों की सूची दी गयी है जो कृषि और सामुदायिक सम्पत्ति के संरक्षण तक विस्तृत हैं पर प्रत्येक स्तर पर पंचायतीराज संस्थाओं के लिए पृथक-पृथक विषयों का निर्धारण हो और उन्हें हर स्तर पर विद्यमान पंचायती संस्थाओं के दायित्व का साफ-साफ स्पष्टीकरण किया जाये।[17]

संदर्भ

1. डॉ. नागेश्वर प्रसाद, भारतीय लोकतंत्र की संस्थायायें, दी. यू. पी. जर्नल ऑफ पोलिटिकल साइन्स, वल्यूम-7, 1998, पृ. 79-83,
2. अद्धत लेन लंकास्टर, मास्टर ऑफ पोलिटिकल थॉट (सम्पादित), खण्ड-3, जार्ज एचव हैरव एण्ड कम्पनी, 1959, पृ. 191
3. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशन साइन्सेज, खण्ड-2, दी मैक्मिलन कं, न्यूयार्क, 1959, पृ. 43
4. लाई ब्राइस, मार्डन डेमोक्रेसीज, खण्ड-एक, पृ. 141-150
5. डॉ. नागेश्वर प्रसाद, ग्राम विकास के परिप्रेक्ष्य में पंचायतीराज : रोग और उपवचार, दी कन्सेप्ट ऑफ नेशनल सिक्योरिटी एण्ड इण्डियाज डिफेन्स पोलिसीज, पृ.189-193
6. गांधी, पंचायतीराज, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1959 एवं डॉ. नागेश्वर प्रसाद, गांधी जी का अराजकतावाद, प्रकाशन बुक डिपो, बरेली, 1990, पृ. 216-219,
7. विजयरंतन दत्त, पंचायतीराज : संकल्पना और वर्तमान स्वरूप, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1997, पृ. 16-17
8. उपरिवत्, पृ. 23
9. जय प्रकाशन नारायण, सामुदायिक समाज : रूप और चिंतन सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1986
10. उद्धृत, विजयरंजन दत्त, पृ. 28 उपरिवत्
11 उद्धृत, पृ. 2, उपरिवत्
12. उद्धत, पृ. 129-130, उपरिवत्
13. पृ. 7, उपरिवत्
14. पंचायती राज
15. उद्धत, पृ. 93, उपरिवत्
16. कुरूक्षेत्र, पृ. 6, नवम्बर, 1995
17. कुरूक्षेत्र, पृ. 78-79, अगस्त, 1995

–डॉ. मनमोहन सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं प्रभारी,
राजनीति विज्ञान विभाग,
जे. एस. हिन्दू (पी.जी.) कॉलेज, अमरोहा

हाशिए की जातियाँ और शराब की संस्कृति

—गौतम शर्मा

प्रस्तावना—शराबबंदी बिहार विधानसभा के 2015 के चुनाव का प्रमुख मुद्दा था। नितीश कुमार नेतृत्व वाली बिहार सरकार ने पूर्ण बहुमत से सरकार बनाने के 2016 में अपने इस चुनावी वादे को पूरा करते हुए पूरी तरह से शराब की बिक्री और सेवन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। चुनावी वादे को पूरा करते समय सरकार ने हाशिए की जातियों के शराब पीने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिए बिना उसे अपराध घोषित कर दिया।

बीज शब्द : हाशिए का समाज, शराबबंदी, अपराधीकरण, पारंपरिक हिन्दू मूल्य, आजीविका, ताड़ी, मादक पेय पदार्थ

मुख्य शोध : जब हम भारत में शराब पीने के इतिहास पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि प्राचीन काल से ही भारत के लोगों में शराब पीना आम बात थी। यहाँ के लोग अकसर ताड़ी, हड़िया और अन्य मादक पेय का उत्पादन और सेवन करते थे। हालाँकि कुछ धर्म जैसे कि हिन्दू धर्म में हमें विभिन्न प्रकार के पेय के उपयोग का उल्लेख मिलता है, लेकिन इस्लाम जैसे अन्य धर्मों में इसे सख्ती से प्रतिबंधित किया गया था। सभी प्रमुख धर्मों ने तो शराब पर प्रतिबन्ध लगाया लेकिन उस धर्म के आम लोगों के बीच किसी न किसी रूप में शराब सेवन का प्रचलन बना रहा।[1] डेविड हार्डीमैन ने दक्षिण गुजरात में किसानों के शराब पीने के तरीके का अध्ययन किया। इसमें उन्होंने पाया कि शराब दक्षिणी गुजरात के ग्रामीण इलाके के हाशिए की जातियों के जीवन का अभिन्न अंग था। नीचे दिए गए एक प्रसिद्ध उद्धरण में उन्होंने इन जातियों के जीवन में पारंपरिक पेय के महत्व को दर्शाया।[2] एक फ्रांसीसी के लिए वाइन का जो महत्व है, जर्मन और अंग्रेज दोनों के लिए वही महत्त्व बीयर का है, वैसे ही भारत के संदर्भ में बात की जाए तो शराब ठेकेदार ए. एम. दलाल ने 1923 में बाम्बे एक्साइज कमेटी के सामने गवाही दी कि 'गरीब किसान, मजदूर, भील, समुद्री यात्रा करने वाले खरवा और कोली के लिए वैसा ही महत्त्व ताड़ी का है।[3]

शुरेनेव और टाइन ने उल्लेख किया है कि हार्डीमैन ने अपने अध्ययन में उस समय के लोगों द्वारा बनाए जाने वाले पारंपरिक पेय के सांस्कृतिक और औषधीय महत्व को दिखाने की कोशिश की थी। उदाहरण के लिए, उन्होंने दिखाया कि ताड़ी, यानी, कुछ प्रकार के ताड़ के पेड़ों से निकला किण्वित रस, खाद्य पदार्थों के पाचन में मदद करता है और इसे आर्थिक कठिनाई के समय में भोजन और पानी दोनों के विकल्प के रूप में भी इस्तेमाल किया जा सकता है । इसका एक अन्य महत्त्व आपसी मित्रता और एकजुटता की अभिव्यक्ति के रूप में है। इसका इस्तेमाल जनजातीय संस्कृति में पूजा के कार्यों में पेय प्रसाद के रूप में भी किया जाता था। हार्डिमन ने अपने अध्ययन में आगे दिखाया है कि हाशिए की संस्कृति में पारंपरिक घर का बना 'ताड़ी' और 'दारु' यानी देशी शराब को आतिथ्य के महत्वपूर्ण चिह्न के रूप में देखा जाता था। इन्हें अक्सर दावत, उत्सव और यहां तक कि पंचायती बैठकों में भी परोसा और सेवन किया जाता था। उनके अध्ययन से यह भी पता चला कि दक्षिण गुजरात में शराब पीने की प्रथा केवल आदिवासी किसानों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि पारसी समुदाय इसके व्यापार में शामिल थे तथा उसका उपभोग भी करते थे।[4] औपनिवेशिक काल के दौरान दक्षिण गुजरात के शराब ठेकेदार भी ताड़ी और देशी शराब पीने के बहुत शौकीन थे। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान समाज सुधारकों ने शराब के खिलाफ मुहिम छेड़ी थी। मध्यम वर्ग के समाज सुधारक जिन्होंने संयम की वकालत करना शुरू किया था और उन्नीसवीं सदी के मध्य में उन्होंने मद्य निषेध आन्दोलन का आह्वान किया था। उनका तर्क था कि शराब भारतीय संस्कृति के लिए अपरिचित है। लेकिन इस तर्क के खिलाफ हार्डीमैन ने अपना तर्क दिया कि वे जिसे भारतीय संस्कृति समझ रहे थे दरअसल वो उनके मध्यवर्गीय कुलीन मूल्यों की रक्षा का प्रयास था।

फाहे और डेविड ने तर्क दिया था कि गांधीजी का मानना है कि शराब का सेवन भारतीय संस्कृति के लिए अपरिचित था। लेकिन यह तर्क उनके परिवार और जाति की परंपरा को दर्शता है, क्योंकि वह वैश्य या बनिया जाति से थे। वह जाति न तो मांस खाती थी और न ही शराब पीती थी। इसका संभावित कारण यह हो सकता है कि उस समय, जाति मुख्य रूप से हिंदू धर्म के अनुयायियों के लिए शराब पीने की प्रथाओं को तय करती थी। पदानुक्रम में सर्वोच्च जाति, ब्राह्मण और तीसरे स्थान पर वैश्य या बनिया जाति न तो शराब पीती थी और न ही मांस खाती थी। कुलीन वर्ग में

शराब पीना कोई फैशन नहीं था। लेकिन इसके विपरीत यह बड़ी संख्या में गरीब भारतीयों के बीच एक फैशन था। 1951 में बॉम्बे विश्वविद्यालय के समाजशास्त्री द्वारा दक्षिण गुजरात के गाँवों में शराब पीने की प्रथाओं के बारे में किए गए एक अध्ययन में पाया गया कि हाशिए की जाति, अछूत और आदिवासी परिवारों से आने वाले 80 प्रतिशत लोग शराब पीते थे, जबकि यह जानना काफी आश्चर्यजनक था कि 59 प्रतिशत मुस्लिम लोग भी शराब पीते थे। उच्च जाति के 7.5 प्रतिशत परिवार भी शराब पीते थे। ध्यान देने योग्य एक और दिलचस्प तथ्य यह था कि कुछ शूद्र और दलित उपजातियाँ शराब के वंशानुगत उत्पादक थे।[5]

आज यह सर्वविदित तथ्य है कि हाशिए की जातियों में शराब की खपत ऊंची जातियों की तुलना में काफी अधिक है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य परिवार सर्वेक्षण (2019-20) के आंकड़े इस तथ्य को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। अनुसूचित जाति में शराब पीने वाले पुरुषों का प्रतिशत 31.1 है, जबकि अनुसूचित जनजाति में यह कहीं अधिक यानि 33.6 है, अन्य पिछड़ा वर्ग में यह 20.4 है और अन्य उच्च जातियों में यह बहुत कम है यानी 15.7। इसी तरह, अनुसूचित जाति में शराब पीने वाली महिलाओं का प्रतिशत 0.5 है, जबकि अनुसूचित जनजाति में यह कहीं अधिक यानी 3.9 है, अन्य पिछड़ा वर्ग में यह 0.4 है और अन्य उच्च जातियों में यह 0.3 है। इसके अलावा शराब की खपत के वर्ग ग्रेडिएंट के संबंध में एनएफएचएस-5 (2019-20) के आंकड़ों से इसकी पुष्टि की गई है, जहां सबसे अधिक संपत्ति वाले क्विंटाइल में 18.1 प्रतिशत पुरुष और 0.4 प्रतिशत महिलाएं शराब पीती हैं जबकि सबसे कम संपत्ति सूचकांक में यह पाया गया कि 27.8 प्रतिशत पुरुष और 1.9 प्रतिशत महिलाएं शराब पीती हैं। शैक्षिक रूप से वंचित आबादी में शराब का उपयोग अधिक है। 31.6 प्रतिशत पुरुष और 1.8 प्रतिशत महिलाएं बिना शिक्षा के हैं, जबकि 17.3 प्रतिशत पुरुष और 0.4 प्रतिशत महिलाएं उच्चतम स्तर की शिक्षा प्राप्त हैं। एनएफएचएस के नवीनतम दौर के आँकड़े की समीक्षा से उपरोक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। शराब पीना हाशिए की जाति के पुरुषों में सबसे अधिक प्रचलित है, जबकि उच्च जाति के लोग या तो शराब नहीं पीते हैं या तुलनात्मक रूप से कम पीते हैं और अगर पीते हैं तो अपने निजी स्थानों पर इसका सेवन करते हैं। इसके कारण शायद ही कभी सर्वेक्षण एजेंसी या किसी सरकारी तंत्र की नजर में आते हैं। साथ ही यह इंगित करता है कि ऊंची जातियों के बीच शराब पीना एक निजी मामला है जबकि हाशिए की जातियों के लिए शराब पीना सार्वजनिक मामला बन जाता है।

उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि शराब की खपत में जाति और वर्ग का झुकाव अनुपातिक क्रम में होता है। शराब के अधिक सेवन से सबसे ज्यादा प्रभावित होने वालों में हाशिए के समाज के लोग हैं। बिहार में शराबबंदी के बाद ऐसा क्या हुआ कि शराब पीना, जो कि इनका अभिन्न अंग था, कानून की नजर में अपराध हो गया। यह स्पष्ट है कि इन जातियों में, जैसे चमार जाति जिनकी आजीविका की प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें मृत और सड़े हुए जानवरों की खाल निकालनी पड़ती है। उन्हें इसलिए अपना काम जारी रखने के लिए शराब पीना पड़ता है। इसके अलावा पासी और सुंडी जैसी उन जातियों के लिए भी, जिनका पारंपरिक व्यवसाय शराब से जुड़ा रहा है, शराब पर प्रतिबन्ध ने उनके आजीविका को प्रभावित किया है। इसी तरह महादलित जातियों में मुसहर जाति को देखें, तो उन्हें पारंपरिक रूप से शराब बनाने वाले समुदाय के रूप में देखा जाता है। शराब पर प्रतिबन्ध से उनकी स्थिति पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इनमें से अधिकांश लोग भूमिहीन हैं और वे सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम में सबसे नीचे हैं। जहां तक मुसहरों का सवाल है, वे बिहार राज्य में कुल अनुसूचित जाति (एससी) का एक छोटा हिस्सा हैं। पारंपरिक शराब बनाने वाले समुदायों में, धनगर और पासी के साथ-साथ, मुसहर भी पारंपरिक शराब विशेषकर महुआ बनाने के लिए जाने जाते हैं। जब हम मुसहर समुदाय को करीब से देखते हैं तो पाते हैं कि शराब उनके जीवन से बहुत करीब से जुड़ी हुई थी।

जब हम इन समुदायों पर शराबबंदी के प्रभाव को देखते हैं, तो हमें इस जाति की जीवित वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न जटिलताओं को देखना होगा, न कि उन्हें लोकप्रिय हिंदू नैतिकता के अनुसार आंकना होगा। जैसा कि कांचा इलैया का तर्क है। लोकप्रिय हिंदू नैतिकता के अनुसार एक आदर्श हिंदू महिला को शराब और धूम्रपान नहीं करना चाहिए, भले ही उसका पुरुष भारी शराबी या धूम्रपान करने वाला हो। इसके विपरीत उनका कहना है कि निचली जाति की संस्कृतियों में शराब पीने या धूम्रपान करने वाली महिलाओं के बारे में कोई भी बुरी तरह से बात नहीं करता है, और अक्सर महिलाओं को पुरुषों के साथ शराब पीते हुए पाया जाता है।[6] यह घटना उन मुसहर समुदायों में देखी गई जहां शोध के दौरान मैंने आरा में अपने क्षेत्र दौरे के समय देखा। ये मुसहर समुदाय मुख्य रूप से आरा के जवाहर टोले और शीतल टोले इलाकों में केंद्रित थे। इन मुसहरों के सामने सबसे बड़ी समस्या रोजगार के अवसरों की कमी है। इसे इस तथ्य के साथ पढ़ा जाना चाहिए कि प्रतिबन्ध के बाद उनकी स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। जवाहर टोले में, जहां मुसहरों के लगभग 70 से 75 परिवार रहते हैं, शराबबंदी के बाद उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थीं,

क्योंकि इनमें से अधिकांश लोगों को रोजगार की सख्त जरूरत थी। 2018 में बिहार में रेत निकासी पर प्रतिबन्ध के कारण उनकी आजीविका पर पहले ही नकारात्मक प्रभाव पड़ चुका था।

शराब बंदी के बाद से ही मुसहर समुदाय हमेशा पुलिस अधिकारियों के रडार पर है। ऐसी स्थिति आरा के मुसहर इलाकों में देखी गई। पुलिस हमेशा इन समुदायों के उन लोगों की तलाश में रहती थी जो शराब बेचने में शामिल थे। कृष्णा नामक एक स्थानीय व्यक्ति ने बताया कि उनकी जानकारी में इस इलाके से केवल एक व्यक्ति को शराबबंदी कानून के तहत गिरफ्तार किया गया है। आगे उन्होंने कहा कि प्रतिबन्ध के बाद लोग ज्यादा नहीं पी रहे हैं क्योंकि अब वे तस्करी वाली महंगी शराबें नहीं खरीद सकते। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि पुलिस ने शराबबंदी के नाम पर उन्हें परेशान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है क्योंकि वे अक्सर शाम के समय इस इलाके में शराब के बारे में पूछताछ करने आ जाते हैं। इस प्रक्रिया ने इस समुदाय में भय और असुरक्षा का माहौल पैदा कर दिया है। ऐसा प्रचलन है कि प्रायः मुसहर समुदाय के लोग ही शराब (महुआ) के धंधे में शामिल हैं। लेकिन इसकी पड़ताल करने पर पता चला कि वे भले ही इस व्यवसाय में शामिल थे लेकिन इसका संचालन कुछ प्रभावशाली जातियों के हाथ में था। इनका काम सिर्फ मजदूर के रूप में था। कृष्णा नाम के एक स्थानीय व्यक्ति ने बताया कि शहरी इलाकों में मुसहरों द्वारा शराब महुआ बनाने की यह प्रथा नहीं है, लेकिन उन्होंने कहा कि यह घटना ग्रामीण इलाकों में देखी जाती है। चूँकि महुए के पेड़ प्रभावशाली जातियों के पास हैं इसलिए मुसहर जाति उनके पेड़ों से महुआ (फूल) चुनकर, गुड़ के साथ मिलाकर महुआ से शराब बनाते हैं। कृष्णा ने कहा कि महुआ के कारोबार में ज्यादातर यादव जाति के लोग शामिल हैं। उन्होंने यह भी बताया कि हालांकि उनके इलाके के मुसहर लोग महुआ नहीं बनाते हैं लेकिन वे बाहर से महुआ का शराब लाकर बेचते हैं। प्रतिबन्ध से पहले जो लोग बाहर से महुआ लाते थे, अब वे अलग-अलग इलाकों में इसकी सप्लाई कर रहे हैं और चूंकि महुआ बेचना गैरकानूनी है, इसलिए कई बार महुआ बेचने के दौरान कई लोग पकड़े भी जाते हैं। प्रतिबन्ध का प्रभाव जानने के लिए कुँवर नामक एक अन्य व्यक्ति का साक्षात्कार लिया गया। वह बस स्टैंड पर काम करता था और इतना पढ़ा-लिखा भी नहीं था। वह केवल अपना नाम लिख पाता था। उसने कहा कि असल में शराब पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उसने केवल शराब की कीमतें बढ़ायी है। अब शराब मूल कीमत से बीस गुना ज्यादा दाम पर मिल रही है। आगे उन्होंने शराबबंदी पर सवाल उठाते हुए कहा कि पुलिस सिर्फ उन्हें ही पकड़ रही है जो शराब पी रहे हैं। अगर वे शराब बेचने वालों को पकड़ते भी हैं तो एक ही दिन में छोड़ देते हैं। आगे उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि असल में शराबबंदी तब तक नहीं होगी जब तक शराब बेचने वालों को 15 से 20 साल के लिए जेल में नहीं डाल देंगे। उन्हें इस बात पर बहुत गुस्सा आया कि शराबबंदी के नाम पर केवल गरीबों को परेशानी हो रही है, क्योंकि अब उपलब्ध शराब की कीमत बहुत अधिक हो गई है, जिसका असर उन लोगों पर पड़ रहा है जो अभी भी शराब पीने की आदत नहीं छोड़ पाए हैं।

दूसरे क्षेत्रों के लोगों ने भी प्रतिबन्ध के बारे में इसी तरह की राय व्यक्त की। उन्होंने कहा कि शराबबंदी के बाद वे लोग जो पहले शराब पीते थे, वे अब अपने घरों में ही रहते हैं, इस डर से कि कहीं पुलिस उन्हें पकड़ने न आ जाए। उनके मुताबिक असल में शराबबंदी नहीं हुई है, क्योंकि शराब अब भी हर जगह अवैध रूप से मिल रही है और ग्रामीण इलाकों में तो यह खुले में बिक रही है। महुआ के सवाल पर उन्होंने बताया कि महुआ यहां नहीं मिलता, लेकिन गांवों में मिलता है। उन्होंने एक गांव का नाम पिपरिया रखा, जहां महुआ मिलता है और उनके जैसे शहरों से अकसर लोग वहां महुआ पीने जाते हैं। क्षेत्र में महुआ उत्पादन के मुद्दे पर वार्ड पार्षद से चर्चा के दौरान यह पाया गया कि यह आम धारणा सही नहीं है कि महुआ का अवैध उत्पादन केवल मुसहरों द्वारा किया जाता है । मुसहरों के पास इतने बड़े पैमाने पर महुआ का उत्पादन करने की सामाजिक और आर्थिक रूप से क्षमता और शक्ति नहीं है। प्रमुख जाति समूह जो आर्थिक रूप से मजबूत थे, जैसे यादव और कुछ हद तक पासवान समुदाय के अमीर लोग, महुआ के व्यवसाय में थे। वार्ड पाषर्द के अनुसार मुसहर समुदाय के लोग महुआ शराब बनाने में मजदूर के रूप में काम कर सकते हैं, लेकिन वे प्रभावशाली जातियाँ ही उसमें पूँजी का निवेश करती हैं। उन्होंने आगे कहा कि हो सकता है कि कुछ मुसहर स्वयं थोड़ी मात्रा में महुआ बनाते होंगे, लेकिन ये लोग बड़े पैमाने पर महुआ बनाकर उसका व्यवसाय नहीं बना पाएंगे। शराबबंदी मुसहर समुदायों के लिए उत्पीड़न का एक साधन बन गया है ।

चमार समुदाय में शराबबंदी का प्रभाव जानने के लिए शोधकर्ता ने आरा के निवासी पैंसठ वर्षीय राम अयोध्या राम नामक व्यक्ति से चर्चा की गई। वे अशिक्षित हैं और उसके चार बच्चे हैं, जिनमें दो लड़के हैं और बाकी लड़कियाँ हैं। उनके एक बेटे और एक बेटी की शादी हो चुकी है। उनका काम आसपास की जगहों और नदियों में फेंके गए मरे हुए जानवरों का चमड़ा उतारना था। उन्होंने बताया कि उनके शराब पीने के पीछे का एक मुख्य कारण उनके काम की प्रति है। उन्हें मृत जानवरों के क्षत-विक्षत

शरीर से चमड़ा उतारना होता था, इस कारण उन्हें काम जारी रखने के लिए बार-बार शराब पीनी पड़ती थी अन्यथा दुर्गन्ध के मारे काम करना असंभव था। वह देशी शराब पीते हैं क्योंकि प्रतिबन्ध से पहले यह व्यापक रूप से और खुले तौर पर उपलब्ध थी। उन्होंने देशी शराब को एक विशेष नाम ''डोम छाप'' कहा। चूंकि इन देशी शराबों का सेवन केवल निचली जाति के लोग करते हैं इसलिए इसका नाम ''डोम छाप'' रखा गया है। उन्होंने बताया कि वे जब भी शराब पीकर घर आते थे तो वे किसी से झगड़ा किए बिना चुपचाप सो जाते थे। पासी समुदाय जाति आधारित व्यवसाय के रूप में ताड़ी निकालने का कार्य करती है। इस जाति के लिए शराबबंदी उनके व्यवसाय के लिए हानिकारक थी। ऐसा नहीं है कि बिहार में पहली बार शराब पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। 1938 में जब कांग्रेस ने बिहार में प्रांतीय सरकार बनाई थी, तब ताड़ी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था और ताड़ी विक्रेताओं को बहुत नुकसान उठाना पड़ा था और उनका शोषण भी हुआ था। उस वक्त ताड़ से लबनी उतरवाकर पुलिस अधिकारियों द्वारा बार-बार जाँच की जाती थी। पुलिस अधिकारी नीरा में अल्कोहल की मात्रा की जाँच करने के लिए उन्हें बार-बार पेड़ से लबनी उतरवाते थे।[7]

इस तथ्य के बावजूद कि ताड़ी को शराब प्रतिबन्ध से बाहर रखा गया था, पारंपरिक ताड़ी निकालने वाले समुदाय को प्रतिबन्ध के शुरूआती दिनों में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पुलिस बार-बार आकर उनकी ताड़ी को नष्ट कर देती थी। इसकी पुष्टि शोधकर्ता के क्षेत्र भ्रमण के दौरान हुई। सोनू कुमार उम्र 24 पासी जाति से है। उसने अपना अनुभव साझा करते हुए कहा—''शराबबंदी के बाद हमारा कारोबार भी काफी हद तक प्रभावित हुआ है। शराबबंदी के शुरुआती दिनों में अधिकारी हमारे यहां आया करते थे और ताड़ी बेचने का धंधा बंद करने को कहते थे। लेकिन पूरा पासी समुदाय इसके खिलाफ एकजुट हो गया और हमने ताड़ी बेचने के अधिकार की अपनी मांगों पर दबाव बनाने के लिए एक रैली विरोध प्रदर्शन किया। हमारी यह माँग थी कि अगर सरकार हमें ताड़ी बेचने से रोकेगी तो हम अपना जीविकोपार्जन कैसे करेंगे? प्रतिबन्ध के बाद प्रशासन ने शुरू में हमें बहुत परेशान किया और अक्सर पुलिस हमें सलाखों के पीछे डाल देती थी। लेकिन विरोध के बाद अब चीजें बदल गई हैं और हमें खुले में ताड़ी बेचने की अनुमति मिल गई है।''

संदर्भ

1. फिसर टाइन एच. और शुरेनेव जे, 'इंडियन एनोमलाइज? ड्रिंक एण्ड डरग्स इन द लैण्ड ऑफ गाँधी', ए हिस्ट्री ऑफ अल्कोहल एण्ड ड्रग्स इन मोडर्न साउथ एशिया, राउटलेज, लंदन, 2014, पृ. 4
2. वही, पृ. 4-7
3. वही, पृ. 4-5
4. वही, पृ. 4-7
5. फाहे डेविड एम और पद्मा मेनियान, 'पोवर्टी एण्ड प्यूरिफिकेशन : द पोलिटिक्स ऑफ गाँधीज कैम्पेन फॉर प्रेहिबिशन', हिस्टोरियन, अंक 3 (2005), पृ. 495
6. काँचा इलैया, व्हाई आई एम नॉट ए हिन्दू : ए शूद्रा क्रिटिक ऑफ हिन्दुत्वा फिलॉस्फी, कल्चर एण्ड पोलिटिकल इकोनॅमी, साम्या प्रकाशन, कलकता, 2002, पृ. 18
7. कोलवार्ड, रोबर्ट ई, ''ड्रंककर्डस विवेयर! : प्रोहिविशन एण्ड नेशनलिस्ट पोलिटिक्स इन द 1930'', ए हिस्ट्री ऑफ अल्कोहल एण्ड ड्रग्स इन मोडर्न साउथ एशिया, राउटलेज, लंदन, 2014, पृ. 195

—गौतम शर्मा

शोध छात्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067

असम में भक्ति आंदोलन के प्रचार में अंकिया नाट व भाओना की भूमिका

—अमरजीत कुमार

शोध सार—भारतीय परंपरा के अनुसार मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिसे पा लेना मनुष्य के जीवन की असल उपलब्धि मानी जाती है। इनमें से प्रथम तीन को इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है, परंतु मोक्ष को प्राप्त करने के लिए मृत्यु को प्राप्त करना होगा। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए भक्ति के मार्ग को सबसे प्रमुख माना गया है। भक्ति आंदोलन की शुरुआत 7वीं सदी में दक्षिण भारत से हुई और धीरे-धीरे यह पूरे देश में फैल गई। इसके प्रसार में कई संतों का योगदान रहा। विभिन्न संतों ने इसके दो प्रकार बताये हैं—सगुण एवं निर्गुण। सगुण भक्ति की भी दो धराएं थीं—शैव तथा वैष्णव'। उन्हीं वैष्णव संतों में एक हुए 'शंकरदेव', जिनका कई मायनों में असमिया साम्राज्य को बदलने में महत्वपूर्ण योगदान था। हालाँकि उनका उद्देश्य लोगों को भगवान कृष्ण की महानता और गतिविधियों से परिचित कराना और नव-वैष्णववाद का प्रचार करना था। इसी प्रचार के क्रम में उन्होंने एक नाट्य रूप का विकास किया जिसका नाम दिया—''अंकिया नाट व भाओना'', इसमें उनका साथ दिया उनके शिष्य माधवदेव ने। इस नाट्यरूप ने असम में भक्ति आंदोलन के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बीज शब्द : भक्ति आंदोलन, अंकिया नाट, भाओना, शंकरदेव, माधवदेव, असम, नाटक, वैष्णव।

मूल आलेख : भारतीय परंपरा के अनुसार मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हें जीवन का मूल तत्व भी कहा गया है जिसे पा लेना मनुष्य के जीवन की असल उपलब्धि मानी जा सकती है। ज्ञानियों के अनुसार प्रथम तीन—धर्म, अर्थ और काम को इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है, परंतु मोक्ष को प्राप्त करने के लिए मृत्यु को प्राप्त करना होगा।''[1] मोक्ष को प्राप्त करने के लिए भक्ति के मार्ग को सबसे प्रमुख माना गया। विभिन्न संतों ने भक्ति के दो मार्ग के बतायें हैं—सगुण और निर्गुण। जिस भक्ति में हम भगवान को एक आकार के रूप में मानते हैं उसे सगुण भक्ति कहते हैं, जैसे मूर्ति या तस्वीर। जिस भक्ति में हम भगवान को बिना किसी आकर के मानते हैं उसे निर्गुण भक्ति कहते हैं। दोनों ही धारा के संतों ने इसके विस्तार का प्रयास किया। भारत में भक्ति आंदोलन की शुरुआत 7वीं सदी में दक्षिण भारत से हुई जो धीरे-धीरे उत्तर भारत की और बढ़ा और पूरे देश में फैल गया। सभी संतों ने अपने-अपने ढंग से इसका प्रचार-प्रसार किया। सगुण भक्ति में इसे आगे बढ़ाने का काम उनके उपासक 'आलवार' और 'नायनार' ने किया। 'आलवार' भगवान विष्णु के उपासक थे तथा 'नायनार' भगवान शिव के उपासक थे।[2] वैष्णव संतों ने भगवान विष्णु के विभिन्न रूपों को पूजा तथा शैव संतों ने भगवान शिव के विभिन्न रूपों को पूजा। जहाँ तुलसीदास ने भगवान विष्णु के राम रूप को पूजा वहीं मीरा ने भगवान विष्णु के कृष्ण रूप को पति मानकर पूजा और रैदास ने खुद को उनका दास मानकर पूजा। लोगों के पूजने के तरीके अलग थे पर उनकी श्रद्धा और उद्देश्य समान था मानव का कल्याण तथा प्राणियों में सद्भावना।

निर्गुण भक्ति के उपासक रहीम, कबीर तथा अन्य थे जिनका उद्देश्य समाज में ऊंच-नीच के भेदभाव को भुलाकर प्रेम की स्मृति को चारों और फैलाना था। बीच के समय में इसका प्रभाव थोड़ा कम हुआ पर 13वीं-14वीं शताब्दी में इसका फिर से पुनर्जागरण हुआ और यह फिर से प्रभाव में आ गया। पुनर्जागरण के समय इस आंदोलन का उद्देश्य समाज में व्यक्तियों के बीच में भेद-भाव को दूर कर उन्हें एक-दूसरे से जोड़ना था। भक्ति आंदोलन के पुनर्जागरण के दौरान 15वीं शताब्दी में भूया परिवार में जन्मे शंकरदेव का कई मायनों में असमिया साम्राज्य को बदलने में महत्वपूर्ण योगदान था। उन्होंने दुनिया के मोह-माया को त्याग कर दूर-दूर तक यात्रा की, विभिन्न क्षेत्रों की शिक्षाओं और संस्कृतियों को आत्मसात किया और अंततः वैष्णववाद का एक नया संदेश देने के लिए घर लौट आये और असम में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का नेतृत्व किया।[3] नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने उद्धत किया है—''न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला/नासौ योगो न तत्कर्मनाट्येऽस्मिन् यन्नयते।।''[4] अर्थात, ''ऐसा कोई ज्ञान, ऐसा कोई शिल्प, ऐसी कोई विद्या, ऐसी कोई कला, ऐसा कोई योग (सम्मिश्रण) तथा ऐसा कोई कर्म नहीं है, जो इस नाट्य में न हो।''[5] इसलिए इसे सबसे

उत्कृष्ट कला और सभी कलाओं और विज्ञानों का मिलन स्थल माना जाता है। साथ ही इसे अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम भी कहा जाता है। लोगों ने समय-समय पर इसका इस्तेमाल अपनी बातों को अभिव्यक्त करने या अपने बातों का प्रचार करने के लिए किया। शंकरदेव ने भीषण की आराधना और उसके प्रचार-प्रसार में प्रदर्शनकारी कलाओं का उपयोग किया। इसी क्रम में उन्होंने एक नाट्य रूप की स्थापना की जिसका लिखित रूप 'अंकिया नाट' कहलाया और उसका प्रदर्शन 'भाओना' कहलाया।

नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक दस प्रकार के होते हैं– नाटक, प्रकरण, (अंक), व्यायोग, भाण, समावकर, वीथी, प्रहसन, डिम तथा ईहामृग।[6] 'अंकिया नाट' भी एक अंकीय रूपक है। हालांकि, यह शास्त्रीय संस्कृत नाटक के सभी नियमों का पालन नहीं करता है, परंतु उनके कुछ तत्वों को अवश्य ही इस्तेमाल करता है, जैसे सूत्रधार, नांदी, पूर्वरंग इत्यादि। साथ ही यह क्षेत्रीय परंपराओं का भी उपयोग करता है। अंततः कहा जा सकता है कि यह धार्मिक दर्शन को लोक मनोरंजन के स्वदेशी रूपों और प्रदर्शन की तकनीकों के साथ मिश्रित करता है। एक संस्था के रूप में 'सत्र' शंकरदेव के आंदोलन का माध्यम था जिसने धार्मिक, सामाजिक और कलात्मक गतिविधियों के लिए स्थान और वातावरण प्रदान किया। एक पूर्ण 'सत्र' में एक नामघर, एक मणिकुटा और हटिस शामिल थे। उन्होंने 'नामघर' (एक प्रार्थना-घर है जहां भक्त मंडली के रूप में उपस्थित होकर भगवान के नाम गाते हैं) में नाट्य प्रदर्शन करना शुरू किया जो बाद में भाओना घर भी कहा जाने लगा। 'अंकिया नाट' लिखने की परंपरा और 'भाओना' का प्रदर्शन 'सत्र' और 'नामघरा' की गतिविधियों का विभिन्न अंग बन गया।[7]

'सत्र' अधिकारी ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण दोनों समूहों से आ सकते थे। इसके अभिनेता, वादक एवं गायक किसी भी समुदाय से आ सकते थे। यह ब्राह्मणवादी रंगमंच के जैसा नहीं था जैसा कि केरल का कुटियाट्टम या तमिलनाडु का भागवतमेला है। निम्न वर्ग के लोग जो पहले के समय में प्रताड़ित किए जाते थे वे आज इसका हिस्सा थे। वे भी आज समाज में वह सब कर सकते थे जो उच्च वर्ग के लोग कर सकते थे। यही कारण है कि यह हर समुदाय को जोड़ने में सफल हो सका।[8]चूंकि नाटक दृश्य और श्रव्य का मिश्रित काव्य है तथा यह अपना प्रभाव जनमानस तक पहुंचाने में सबसे कारगर है। इस 'अंकिया नाट' की प्रस्तुति में शंकरदेव का साथ दिया उनके प्रमुख विषय माधवदेव ने। इसको मैथिली और असमिया के मिश्रण, ब्रजबोली में बसाया गया था, जो कि क्षेत्रों के आधार पर थोड़ी भाषाई भिन्नताओं के साथ बंगाल, उड़ीसा तथा बिहार में भी प्रचलित था। यह भाषा मध्य कालीन युग के वैष्णव कवियों ने कवि विद्यापति द्वारा अपनी पुस्तकों में प्रयुक्त शब्दों में अपने-अपने बोलचाल के शब्दों को जोड़कर तथा उनके शब्दों के रूप को यत्र-तत्र बदलकर बाद के काल के कवियों ने इस की नींव रखी।[9] कहा जाता है–''किताबों में लिखी बातें जो पढ़ेगा वही समझ पाएगा, यानि कि सिर्फ पढे-लिखे लोग, पर नाट्य में उल्लिखित तथ्य हर कोई देख कर समझ सकता है।''वहीं दूसरी तरफ कहा जाता है–''पढ़ने से सौ गुना ज्यादा सुना हुआ याद रहता है और सुनने से सौ गुना ज्यादा देखा हुआ याद रहता है।''इसलिए भी दृश्य और श्रव्य मिश्रित काव्य (नाटक) अन्य की अपेक्षा में अधिक प्रभावकारी होता है।

शंकरदेव के द्वारा लिखे गए सारे नाटक धार्मिक ग्रंथों और पुराणों पर आधारित थे जिसमें 'श्रीराम-विजय-नट' रामायण पर आधारित था तथा 'रुक्मिणी-हरण', 'पारिजात-हरण', 'कालिया-दमन', 'केलि-गोपाल', 'विप्र-पत्नी प्रसाद', 'अमृत-मंथन', 'प्रह्लाद चरित', 'गजेन्द्र-उपाख्यान', और 'कीर्तनघोष' ये सारे नाटक भागवत पुराण पर आधारित है। 'हरिश्चंद्र उपाख्यान' की विषय-वस्तु मरकंडिया पुराण से प्रेरित है। 'भक्ति-प्रदीप' गरुड़ पुराण से प्रभावित है तथा 'आनंदी-पटाना' वामन पुराण से।[10] 'राम-विजय-नट', भगवान श्रीराम की कहानी है और यह महाकाव्य रामायण से लिया गया एकमात्र अंकिया नाट है। जब राम ने सीता के स्वयंवर में हरधेनु (भगवान शिव का धनुष) को उठाकर उसे तोड़ दिया, तो परशुराम जाग गए और गुस्से में अपने फरसे के साथ हरधेनु को नष्ट करने वाले का सिर काटने के लिए दौड़ पड़े। श्रीराम ने बड़े ही शांत ढंग से परशुराम को हरा दिया।[1] उनके नाटक 'कालिया-दमण' में दिखाया गया है कि कृष्ण ने किस तरह से 'कालिया नाग' के घमंड को ध्वस्त कर डाला था जो अपने जहर से जमुना नदी को जहरीला बना रहा था। परिणामस्वरूप नदी से पानी पीने आने वाले मवेशी मर रहे थे, जिससे नदी के पास अपने मवेशियों को चराने वाले देहाती यादव समुदाय की आजीविका खतरे में पड़ गई। अपने साथियों से मवेशियों की अप्राकृतिक मृत्यु के बारे में सुनकर, बालक कृष्ण नदी में प्रवेश करते हैं और साँप से लड़ते हैं और उसे परास्त कर दिया, लेकिन सर्प की पत्नियों के अनुरोध पर उसको जीवन दान दे दिया। यह कहानी कृष्ण के असाधारण कारनामों की प्रारंभिक अभिव्यक्तियों के साथ-साथ उन लोगों के लिए दैवीय कृपा को भी दर्शती है।[12] उनके नाटक 'रुक्मिणी-हरण' में विदर्भ की राजकुमारी रुक्मिणी के कृष्ण द्वारा अपहरण की कहानी है। रुक्मिणी राजा भीष्मक की बेटी थी, जिन्होंने स्थानीय (असमिया) किंवदंतियों के अनुसार सादिया क्षेत्र में स्थित भीष्मक नगर या कुंडिल नगर पर शासन किया था। उसके भाई रुक्म ने अपने पिता भीष्मक को रुक्मिणी का विवाह अपने मित्र चेदि के राजा शिशुपाल से करने के लिए मना लेता है। हालाँकि,

रुक्मिणी को कृष्ण के वीरतापूर्ण कार्यों के बारे में जानने के बाद उससे प्यार हो जाता है और वह उसे बचाने के लिए बेदानिधि के माध्यम से गुप्त रूप से उससे संपर्क करती है। कृष्ण द्वारका से आते हैं और रुक्मिणी को उसके भाई और प्रेमी शिशुपाल की नाक के नीचे से, सभी सामाजिक मानदंडों को तोड़ते हुए, उसे अपने रथ पर ले जाते हैं। उनके बीच एक युद्ध होता है जिसमें रुक्म और शिशुपाल हार जाते हैं और कृष्ण के बड़े भाई बलराम के बीच-बचाव से शांति बहाल हो जाती है क्योंकि रुक्मिणी के माता-पिता भी कृष्ण के प्रति पक्षपाती हैं।[13]

उनके नाटक 'पारिजात-हरण' में दिखाया गया है कि कैसे कृष्ण ने स्वर्ग से पारिजात वृक्ष को जबरन उखाड़ा और द्वारका में अपने राज्य में लगाया। ऋषि नारद स्वर्ग से कुछ पारिजात फूल लेकर कृष्ण के दरबार में आए थे और उन्हें यह कहते हुए प्रस्तुत किया था कि जहां भी यह फूल होगा, वहां समृद्धि हमेशा बनी रहेगी क्योंकि इसकी सुगंध लंबे समय तक बनी रहती है और जो महिला पारिजात फूल पहनेगी है वह भाग्य और उसके पति का सर्वोच्च प्रेम अर्जित करेगी। रुक्मिणी कृष्ण से फूल मांगती है और वह प्यार से उसके बालों में लगा देते हैं। जब उनकी दूसरी रानी सत्यभामा को यह पता चला तो वह ईर्ष्यालु हो जाती है जिसके बाद कृष्ण ने उनके लिए स्वर्ग से कुछ फूल लाने का वादा करते हैं। हालाँकि, जब कृष्ण ने इंद्र से कुछ फूलों के लिए अनुरोध किया, तो इंद्र को अपनी रानी शची के आदेश पर उनके अनुरोध को अस्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ा, जिन्होंने दावा किया था कि पारिजात फूल केवल मनुष्यों के लिए नहीं थे। सत्यभामा को शांत करने के लिए कृष्ण ने इंद्र के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया, पारिजात वृक्ष को उखाड़ दिया और सत्यभामा के आंगन में लगा दिया।[14] उनके नाटक 'केली-गोपाल' में वृन्दावन की ग्वालबालों (गोपियों) के साथ कृष्ण की लीला का चित्रण किया है जिसे रासलीला के नाम से भी जाना जाता है। यह राधा के साथ कृष्ण के प्रेम कहानी तथा गोपियों के साथ उनकी लीला का भी वर्णन करता है। गोपियों के साथ कृष्ण की व्यस्तता का फायदा उठाकर वासना से भरा हुआ पापी राक्षस शंखासुर, गोपियों का अपहरण करने आता है लेकिन कृष्ण उसे मार देते हैं।[15]

उनका नाटक 'विप्र-पत्नी प्रसाद' उन ब्राह्मणों (विप्र) की कहानी बताते हैं जो विस्तृत बलिदान (यज्ञ) के प्रदर्शन से धार्मिक योग्यता अर्जित करने में विफल रहते हैं। उनकी पत्नियाँ बालक कृष्ण के प्रति समर्पित हैं और उनके प्रति अपने प्रेम के माध्यम से धार्मिक योग्यता अर्जित करती हैं, जहाँ उनके पति असफल हो गए थे। इस प्रकार यह नाटक मात्र त्याग से अधिक परमात्मा के प्रेम की भक्ति को उजागर करता है।[16] इस तरह से हम देख सकते हैं कि उनके नाटकों का मूल-विषय भगवान विष्णु के अवतार की चर्चा है जिसमें उनका कृष्ण रूप मुख्य है। लोग उनके नाटक में विष्णु के रूप की महिमा को देखकर ओत-प्रोत होने लगे थे। उनके सारे नाटकों में बुराई पर अच्छाई की जीत, असत्य पर सत्य की जीत तथा अधर्म पर धर्म की जीत दिखाया गया है जो कि मनुष्य को भगवान विष्णु की ओर और भी आकर्षित किया था। मनुष्य में यह विश्वास जग गया था कि अगर हम भगवान विष्णु के विभिन्न रूपों की पूजा करेंगे तो प्रभु की कृपा दृष्टि हम पर होगी। इस प्रकार श्रद्धालु वैष्णव भक्त बनने के लिए और भी जोर से उमड़ पड़े थे।

संदर्भ

1. नाथ, पृ. अ., भारतीय धर्म-दर्शन की परंपरा एवं भक्ति आंदोलन, भारतीय भक्ति आंदोलन और पूर्वोत्तर भारत के भक्ति आंदोलन में शंकरदेव एवं माधवदेव का योगदान, 2015, पृ.1
2. स्कोमर, कैरिन एवं मैकलियोड, डब्ल्यू. एच., द संतस् स्टडीस इन डिवोशनल ट्रडिशन ऑफ इंडिया, मोतीलाल बनरसीदास, दिल्ली, 1987, पृ. 1-9
3. वात्स्यायन, कपिला, ट्रेडिशनल इंडियन थिएटर मल्टीपल स्ट्रीमस, नैशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1980, पृ. 96
4. त्रिपाठी, डॉ. राधावल्लभ, संक्षिप्तनाट्यशास्त्रम्, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 1992, पृ. 10
5. वही, पृ. 11, 6. वही, पृ. 159
7. वात्स्यायन, कपिला, ट्रेडिशनल इंडियन थिएटर मल्टीपल स्ट्रीमस, नैशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1980, पृ. 96-97, 8. वही, पृ. 99
9. https://www.scribd.com/document/423795131/Ankiya-Nat
10. वात्स्यायन, कपिला, ट्रेडिशनल इंडियन थिएटर मल्टीपल स्ट्रीमस, नैशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1980, पृ. 97-98
11. बोरूआ, आईपी, एवं बेगम, जे.,भाओना, द ट्रेडिशनल थिएटर फॉर्म ऑफ असम, एज एन इंस्ट्रूमेंट फॉर डेवलपींग मॉरल वैल्यूस, आईओएसआर जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस, 2014, 19(7), पृ.4
12. वही, पृ. 3, 13. वही, पृ. 3, 14.वही, पृ. 4, 15.वही, पृ. 3, 16. वही, पृ. 3

–अमरजीत कुमार
शोध छात्र, रंगमंच कला विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का संवर्धन

—डॉ. हरेन्द्र कुमार
—डॉ. हरिन्द्र कुमार

शोध सार—विश्व स्तर पर यदि हम परिवर्तन की बात कहते हैं तो यह देखने को मिलता है कि परिवर्तन यदि किसी परिवार, समाज या देश का हुआ है तो वहाँ एक संघर्ष की स्थिति बनती है और उसके बाद ही परिवर्तन होता है। परिवर्तन बिना संघर्ष के होना स्वाभाविक नहीं होता चाहे वह आज के परिदृश्य में हो या प्राचीन परिदृश्य में हो, चाहे वह भारत से सम्बन्धित हो या वैश्विक या यह भी कह सकते हैं कि विश्व के किसी भी देश में परिवर्तन बिना संघर्ष के नहीं हुआ है।

भारतीय संस्कृति के प्रेरणादाई बिन्दुओं पर विचार करें तो पाएंगे कि यह उदार, गुणग्राही व समन्वयशील रही है। संवेदना, कल्पना, आचरण, भाव, संयम, नैतिकता, उदारता व आत्मीयता के तत्व अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। नीति और सदाचार की रक्षार्थ कर्मफल का सिद्धान्त व पुनर्जन्म के प्रति आस्था एक ऐसी उत्तम दार्शनिक ढाल है जो व्यक्ति को अनैतिकता की ओर जाने ही नहीं देती। ईमानदारी, अतिथि सत्कार, दाम्पत्य मर्यादाओं की कठोरता, पुण्य, परोपकार, पाप के प्रति घृणा, जीव दया जैसे तत्व घोर दरिद्रता और सामाजिक अव्यवस्था के रहते हुए भी चिर स्थाई रहते हैं। वास्तव में संस्कृति ऐसी आदर्श श्रृंखला है जिसे कोई भी झुठला नहीं सकता, यहाँ तक कि व्यवहार में उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल चलने वाला भी खुले रूप में उसका विरोध नहीं कर सकता। गंभीरता से विचार करें तो हम पाएंगे कि चोर अपने यहाँ दूसरे चोर को नौकर नहीं रखना चाहता। व्यभिचारी अपनी कन्या का विवाह व्यभिचारी के साथ नहीं करता और न अपनी पत्नी को किसी ऐसे व्यक्ति के साथ घनिष्ठता बढ़ाने देता है। ग्राहकों के साथ धोखेबाजी करने वाला दुकानदार भी वहाँ से माल नहीं खरीदता जहाँ धोखेबाजी की आशंका रहती है। झूठ बोलने का अभ्यासी भी सम्बन्धित लोगों से यही अपेक्षा करता है कि वे उसे सच बात बताया करें। अनैतिक आचरण करने वालों से पूछा जाय कि आप न्याय-अन्याय में से, उचित-अनुचित में से, सदाचार-दुराचार में से किसे पसन्द करते हैं तो वह नीति पक्ष का ही समर्थन करेंगे। अपने सम्बन्ध में परिचय देते समय हर व्यक्ति अपने को नीतिवान के रूप में ही प्रकट करता है। इन तथ्यों पर विचार करने से प्रकट होता है कि भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा एक ऐसी दिव्य परम्परा के साथ गुंथी हुई है जिसे झुठलाना किसी के लिए भी यहाँ तक कि पूर्ण कुसंस्कारी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता। वह अपने दुराचरण के बारे में अनेक विवशताएँ बताकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न तो कर सकता है, पर अनीति को नीति कहने का साहस नहीं कर सकता। यही कारण है जिसके आधार पर भारतीय संस्कृति को विश्व की कालजयी संस्कृति कहा गया है।

कोई अन्य हमारा भाग्य विधाता नहीं है बल्कि व्यक्ति अपना विकास अपने परिश्रम से स्वयं ही कर सकता है। वह अपने सुख-दुःख दोनों का कर्ता स्वयं ही तो है। यम, नियम, योग, ध्यान, प्राणायाम, आसन इत्यादि से जहां व्यक्ति स्वयं को मजबूत करता है वहीं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया' या 'इदम राष्ट्राय, इदम न मम' या 'परम वैभवन्ने, त्वमेव तत स्वराष्ट्र' की प्रार्थना के द्वारा सृष्टि के सभी प्राणियों के कल्याण की कामना करता है। मातृवत परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवतः यानि मातृ शक्ति को देवी रूप में मानना तथा दूसरे के धन को मिट्टी के समान मानना हमारी संस्कृति की विशेषताएं हैं। वर्ण व्यवस्था जन्म-जाति के साथ जुड़कर भले ही आज विकृत हो कर बदनाम हो, पर उसके पीछे अपने व्यवसाय तथा अन्य विशेषताओं को परम्परा गत रूप से बनाये रहने की भारी सुविधा है। आज छोटे-छोटे कामों के लिए नये सिरे से ट्रेनिंग देनी पड़ती है जबकि प्राचीन काल में वह प्रशिक्षण वंश परम्परा के आधार पर बचपन में आरम्भ हो जाता था और अपने विषय की प्रवीणता सिद्ध करता था। आश्रम व्यवस्थान्तार्गत ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में बीतने वाली व्यक्ति की आधी आयु भौतिक प्रगति के लिए और आधी आयु आत्मिक ज्ञान के संवर्धन के लिए है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम आत्मिक श्रेष्ठता के संवर्धन तथा लोकमंगल कारी कार्यों में योगदान देने के लिए निश्चित है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों की श्रेष्ठता समुन्नत रहती है।

प्राचीन काल से ही हमारे यहाँ तीर्थाटन द्वारा स्वास्थ्य संवर्धन, अनुभव वृद्धि, स्वस्थ मनोरंजन, व्यवसाय वृद्धि, अर्थ

वितरण जैसे अनेक लाभ बताए हैं। देवदर्शन के बहाने तीर्थयात्री गाँव-गाँव, गली मुहल्लों में जाकर जहां धार्मिक जीवन की प्रेरणा देते हैं, वहीं साधु-संतों, ब्राह्मणों इत्यादि के आथित्य सत्कार एवं दान दक्षिणा के पीछे भी यही भावना भरी हुई है कि लोक सेवा के लिए स्वयं समर्पित कार्यकर्ताओं को किसी प्रकार की आर्थिक तंगी का सामना न करना पड़े। पर्वों, त्योहारों और जयन्तियों की अधिकता भारतीय संस्कृति की ऐसी विशेषता है जिसके सहारे सत्परम्पराओं को अपनाये रहने और प्रेरणाओं को हृदयंगम किये रहने के लिए पूरे समाज को निरंतर प्रकाश मिलता है। व्रत-उपवासों से जहाँ उदर रोगों की कारगर चिकित्सा की पृष्ठभूमि बनती है वहीं मनः शुद्धि का भाव भी जुड़ा है। प्रत्येक शुभ कर्म के साथ अग्निहोत्र (हवन) जुड़ा रहने के पीछे भी लोगों को यज्ञीय जीवन जीने की प्रेरणा सन्निहित है।आज के भौतिक चिन्तन ने ब्रह्माण्ड की परिकल्पना एक विराट मशीन के रूप में की है। विकास के नाम पर 24 घंटे बिजली और चमचमाती सड़कों का जाल बिछाने के अलावा विश्व के अधिकांश देश मशीनों के द्वारा अधिकाधिक उत्पादन व उत्पादित सामान की खपत के लिए मंडियों की तलाश के साथ अधिकाधिक पूंजी जुटाने की दौड़ में लगे हैं। इसके लिए प्रकृति का निर्मम दोहन किया जा रहा है। कारखानों का जहरीला धुआं हवा को तथा केमीकल रूपी जहर नदियों के पानी को जहरीला बना रहा है। रासायनिक खाद ने तो हमारी जमीन को ही जहरीला बना दिया है। परिणामतः व्यक्ति को न तो श्वसन हेतु साफ हवा, न पीने को साफ पानी और न ही पेट भरने को पौष्टिक रोटी व सब्जी ही उपलब्ध है। बाजारवाद और तथाकथित विकास ने हाथ मिलाकर हवा, पानी, जमीन को जहरीला बना दिया है।

इस सब के उलट भारतीय सांस्कृतिक दर्शन सदैव प्रकृति का पुजारी रहा है। इसमें कहा गया है कि प्राकृतिक संसाधनों का उचित उपयोग तो करें किन्तु उसके दोहन की स्पष्ट मनाही है। शायद इसी कारण हमारे यहाँ पेड़-पौधों, नदियों-तालाबों, खेत-खलिहानों, पशु-पक्षियों, कूप-बावडियों इत्यादि को समय समय पर पूजे जाने का विधान है जिससे उनमें हमारी आस्था गहरी बनी रहे और उनके अनावश्यक दोहन से बचें। मध्य प्रदेश के भीमबेटका में पाये गये शैलचित्र, नर्मदा घाटी में की गई खुदाई तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता के विवरणों से भी प्रमाणित होता है कि हजारों वर्ष पहले उत्तरी भारत के बहुत बड़े भाग में एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो चुका था। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता एवं उदारता के कारण ही बाहर से आने वाले शक, हूण, यूनानी एवं कुषाण जैसी प्रजातियों के लोग भी घुल-मिल कर अपनी पहचान खो बैठे। अन्य देशों की संस्कृतियाँ तो समय की धारा के साथ-साथ नष्ट होती रही हैं, किन्तु भारत की संस्कृति आदि काल से ही अपने परम्परागत अस्तित्व के साथ अजर-अमर बनी हुई है। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित होती हुई नजर आई, तब किसी न किसी महापुरुष ने इसे गतिशीलता प्रदान की। प्राचीनकाल में भगवान बुद्ध और भगवान महावीर, मध्यकाल में जगद्गुरू शंकराचार्य, कबीर, गुरु नानक और चौतन्य महाप्रभु तथा आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा ज्योतिबा फुले इत्यादि द्वारा किये गए प्रयास इस संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर बन गए।

सम्पूर्ण भारत में जन्म, विवाह और मृत्यु के संस्कार, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और तीज-त्यौहारों में भी समानता है। 16520 बोलियों तथा औपचारिक रूप से मान्यता प्राप्त 18 भाषाओं की विविधता के बावजूद, संगीत, कला साहित्य नृत्य और नाट्य के मौलिक स्वरूपों में आश्चर्यजनक समानता है। संगीत के सात स्वर और नृत्य के त्रिताल सम्पूर्ण भारत में समान रूप से प्रचलित हैं। भारत अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और पृथक् आस्थाओं एवं विश्वासों का महादेश है, तथापि इसका सांस्कृतिक समुच्चय और अनेकता में एकता का स्वरूप संसार के अन्यदेशों के लिए न सिर्फ विस्मयकारी बल्कि अनुपालन के योग्य बन गया है। आज दुनिया के अनेक देशों ने अपनी सुख सम्पदा और तरक्की के असीमित साधन जुटा लिए हों किन्तु सच्चा सुख, शान्ति, मानवता, आध्यात्मिकता और प्रकृति प्रेम जो भारत में दिखाई देता है वह अन्यंत्र कहीं नहीं क्योंकि भारतीय संस्कृति जिन मूल गुणों व मूल्यों से भरी हुई है, वही इसे महान बनाते हैं। आज जहां विश्व की हर बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान हमारे सांस्कृतिक मूल्यों में निहित है वहीं वैश्विक उन्नति का आधार भी भारतीय संस्कृति ही है। विश्व में संस्कृति परिवर्तन संघर्ष युक्त रहा है। इंग्लैण्ड, रूस, अमेरिका, रोम, ब्रिटेन, फ्रांस व चीन आदि देशों में परिवर्तन संघर्षों के माध्यम से हुए हैं। यहां पर एक विचार अवश्य स्थापित होता है कि भारत की अपेक्षाकृत विश्व के अन्यदेशों में जो संघर्ष हुए उसमें हजारों लोगों की जाने भी गयीं।

इस सन्दर्भ में यदि हम भारत की बात करते हैं तो निश्चित रूप से यहाँ भी परिवर्तन हुए हैं और संघर्ष हुए हैं, परन्तु यहां हजारों लोगों के मृत्यु से परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। युद्धों द्वारा कई परिवर्तन हुए परन्तु यदि कई अन्य परिवेश में देखा जाय तो यहां पर शांति, अध्यात्म, सहिष्णुता, सहजता एवं सरलता व्याप्त होने के कारण कई ऐसे परिवर्तन हुए जो कि विचारों एवं चिन्तन के आधार पर कहे जा सकते हैं। इनका सबसे बड़ा कारण अध्यात्म रहा है। यदि हम अध्यात्म को धर्म से जोड़ते हैं तो यह हमारी भूल है। अध्यात्म एक जीवन शैली है एवं हमारे प्रत्येक

कार्यो में इसकी झलक व्याप्त होती है। यदि यहाँ की जलवायु, वातावरण, रहन सहन एवं परिस्थिति को देखें तो यहाँ छः ऋतुएं, सूर्य एवं चन्द्रमा पूर्ण प्रकाश, कई नदियाँ, पहाड़ी समुद्र से घिरा हुआ एवं अन्य कई विविधताएं व्याप्त हैं जो कि भाषा, बोली, पहनावा एवं रीति-रिवाज के रूप में परिलक्षित होती हैं। इन्हीं विविधताओं एवं अनेकता के कारण भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में सबसे पुरातन एवं स्थायी है। संघर्ष एवं परिवर्तन की बात की जाये तो वैदिक काल से देखते हैं कि इस काल को ऋग्वेद का काल कहा गया है एवं उस समय वेदों के ऋचाओं के माध्यम से शास्त्र ज्ञान एवं उन्हीं के आधार पर शिक्षा, सामाजिक संतुलन, एवं वैचारिक सन्तुलन बनाये रखना था। उत्तर वैदिक काल आया तो यहां पर वैदिक काल की कुछ कमियों को विचारों एवं आध्यात्मिक शक्तियों के माध्यम से परिवर्तन में लाया गया। दोनों कालों में यदि स्त्रियों की बात की जाये तो स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी एवं शास्त्रार्थ में बराबर की भागीदारी करने वाली थी। ऋग्वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को आदरपूर्ण स्थान दिया गया। इस समय कन्या को पुत्र जैसा ही शैक्षिक अधिकार एवं सुविधायें प्रदान की गयी थीं। कन्याओं का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। ऋग्वेद में ऐसी अनेक नारियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अनेक मंत्रो एवं स्त्रोतों की रचना की। ऐसी स्त्रियों में घोषा, लोपा मुद्रा, निनावरी, अपाला एवं इन्द्राणी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वैदिक समाज बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा आदि सामाजिक बुराईयों से मुक्त दिखाई पड़ता है।

कुछ स्थितियां विपरीत रही तो विचारों एवं आध्यात्म के माध्यम से उत्तर वैदिक काल का प्रारूप प्राप्त होता है। उसके उपरान्त बौद्ध काल का प्रादुर्भाव हुआ। इसका कारण भी स्पष्ट पता चलता है कि उत्तर वैदिक काल एक अत्यधिक आडम्बर एवं रूढ़ियों का काल हो गया था एवं सामान्य मनुष्य इन सबसे ऊब चुका था। यह परिवर्तन मूर्ति पूजा के विरोध में था और नये काल की उत्पत्ति भगवान बुद्ध द्वारा लायी गयी जिसे बौद्ध काल कहा गया। बौद्ध काल समाप्त होने के कारण को यदि हम देखें तो पता चलता है कि जिस मूर्ति पूजा का विरोध हुआ हो उसी बौद्ध काल में सर्वाधिक बुद्ध की मूर्ति स्थापित होती है और उनके ही सम्प्रदाय में कई सम्प्रदाय बनते हैं और समाप्त होते हैं। बौद्धकाल के पश्चात नाथ व सिद्ध हुये। नाथों का जो समय रहा वह भी विचारों के माध्यम से ही भारत में स्थापित हुये एवं अपनी रचना एवं रचनावलियों के माध्यम से भारत जन मन में व्याप्त हुये। नाथ सम्प्रदाय में भी त्रुटियाँ एवं कमियाँ आती गयीं। जहां पर बौद्ध में सरलता, सहजता थी, वहीं नाथ में हठ योग था तथा उससे भी लोग उबते गये। तत्पश्चात सिद्धों का समय आया 84 सिद्धों ने भी अपनी रचनाओं एवं कृतियों के माध्यम से तथा अपने प्रवास, संगत व सतसंग के माध्यम से अपने को स्थापित करना चाहा एवं स्थापित भी रहे, परन्तु कुछ विषयगत त्रुटियाँ सिद्धों में भी व्याप्त होती गयी जिसके कारण सिद्ध भी सीमित होते गये।

भारतीय इतिहास और संस्कृति का आधार अत्यधिक प्राचीन है। देश की सामाजिक संस्थायें इसी प्राचीनता के योग से पल्लवित एवं पुष्पित हुई है एवं किसी भी तरह के परिवर्तन होने पर भी हमारी संस्कृति एवं परम्परा में बड़ा परिवर्तन नहीं आया है। इसका कारण है भारत की जीवन शैली एवं आध्यात्म। यदि हम ध्यान दें तो छठी सदी ई. पू. से बारहवीं सदी तक विभिन्न विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया तथा अपनी शक्ति एवं क्रूरता के बल पर स्थानीय संगठनों को तोड़ने का उपक्रम किया। इनमें पारसी, यूनानी, यूनानी-बाख्त्री, शक, पहल्लव, कुषाण, ह्यूण, मुगल एवं अंग्रेज थे जिन्होंने भारत में अपना राज्य स्थापित किया तथा सदियों तक शासन किया। पूरा विदेशी आक्रामक जातियों के कारण यहां की संस्ककृति को अनेक बार आघात लगा जिसके फलस्वरूप देश में सम्मिश्रण की सम्भावना भी हुई तथा सामाजिक संस्थाओं के टूटने का भी भय हुआ। किन्तु भारतीय संस्कृति, परम्पराओं एवं आध्यात्मिकता की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इनको उखाड़ पाना असम्भव था। यहाँ पर आक्रमण करने वाली कई जातियों के शासकों ने यहाँ पर शासन तो किया परन्तु वहीं हम देखते हैं कि कई ऐसे.शासक रहे जो भारतीय आध्यात्म से इतने ओत-प्रोत हो गये कि यही इसी समाज एवं आध्यात्म में मिश्रित हो गये और भारतीय आध्यात्म में अपना पूरा जीवन व्यतीत कर दिया। इनमें कुषाण एवं हूण वंश के राजाओं का नाम आता है जो भारतीय संस्ककृति एवं आध्यात्म में नहीं मिश्रित हुये वह बौद्ध धर्म में चले गये एवं वह धर्म ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपना पूरा जीवन भारत में आत्मसात् कर दिया।

भारत में मुसलमानों के आक्रमण से हमारी संस्कृति एवं धर्म की क्षति तो हुई है, वहां एक तरफ हम देखें तो इनके आक्रमण एवं उपद्रव के बाद हम अपने आप को संकुचित कर देते हैं और आध्यात्म की तरफ भागवत् भजन की तरफ मोड़ देते हैं और धैर्य धारण करते हुये ईश्वर वन्दना में लग जाते हैं। जब हमारे समाज सुधारक एवं समाज के प्रबुद्ध वर्ग भगवत भजन की तरफ आकर्षित होते हैं तो हमारा समाज भी भगवत भजन की तरफ केन्द्रित हो जाता है। इससे हमारे समाज को बांधने का कार्य अध्यात्म ही करता हुआ प्रतीत होता है। सुनीत कुमार चटर्जी ने कहा कि ''भक्ति द्राविड़ उपजी, लाये रामानन्द।'' यहाँ यह भक्ति उद्धृत करने का तात्पर्य है

कि उसी समय जब इन आतताईयों से भययुक्त थे तो दक्षिण भारत में भक्ति का प्रादुर्भाव होता है एवं रामानन्द जी उसे उत्तर भारत लाते हैं। दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य ने भक्ति का उद्भव किया। यहाँ पर पुनः जातिवाद, आडम्बर, रूढ़ियों को समाप्त होते देखा गया और जो प्रबुद्ध वर्ग भक्ति भजन करने को प्रेरित कर रहे थे वह इन कुरीतियों से दूर होने को भी प्रेरित करते थे और जो आततायी हमारी संस्कृति को नष्ट कर रहे थे उनसे एकजुट होकर के ही हम लड़ सकने में समर्थ होते गये। यदि हम देखें तो रामानन्द के शिष्यों में जहाँ कबीर, पीपा, सेना, धन्ना वहीं रैदास भी हैं। यहां देखा जा सकता है कि सब भिन्न-भिन्न जातियों से थे। यहां पर जाति महत्वपूर्ण नहीं थी हमारी विचारधारा महत्वपूर्ण थी। जहां एक तरफ निगुर्ण भक्तिधारा थी, वहीं दूसरी तरफ सगुण भक्ति धारा थी। सभी जो जिस प्रकार से आध्यात्म का संदेश दे सकता था वह देता था। अर्थात् हम अपनी संस्कृति विरासत को अपने अपने विचारों एवं कार्यों के माध्यम से पुनः समाज को एकत्र एवं संगठित करने का कार्य कर रहे थे। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि हम अपनी आध्यात्मिक धरोहर या शक्ति के बल पर समाज को एकजुट कर खड़ा करने का कार्य कर रहे थे। हिन्दी के विद्वान एवं आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में कहा है कि ''अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की भक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''

वहाँ जब अंग्रेजों ने हमारे ऊपर आक्रमण किया तो कहीं संघर्ष तो कहीं ऐसी रचना धर्मिता भी हुई जो राष्ट्र भक्ति को याद कराती थी एवं अंग्रेजों का विरोध करती थी। जहाँ दिनकर जी एक तरफ राज्य सभा के सांसद थे वहीं दूसरी तरफ दिनकर जी ने राष्ट्रहित में रचनायें लिखी जो अंग्रेजों को हिला देती थी। अंग्रेजों के तरफ से जब इसका विरोध हुआ तो दिनकर जी ने राज्य सभा से त्याग पत्र दे दिया। यहाँ राष्ट्रभक्ति का ही उदाहरण प्राप्त होता है एवं इस पद का त्याग कर उन्होंने देश हित एवं सांस्कृतिक विरासत को आगे ले जाने का कार्य किया है।

आज हम भी अपनी सांस्कृतिक विरासत एवं आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा विश्व पटल पर एक महत्वपूर्ण भूमिका में हैं। अतः यहां यह कहना सर्वथा उचित होगा कि विश्व के अन्य देशों में परिवर्तन हुए वहां हजारों निर्दोष लोगों के संघर्ष एवं मृत्यु के बाद परिवर्तन प्राप्त हुआ। परन्तु भारत में विचारों, संस्कृति, परम्परा एवं आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा ही अत्यधिक परिवर्तन हुये जो कि आज भी प्रासंगिक सिद्ध होते हैं।

संदर्भ

1. सिंह, सरला; भारतीय इतिहास पटल पर नारी : एक विमर्श, सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, भाग 101, पृ.-109
2. रानी, डॉ. पूनम; भारतीय संस्ककृति की विशिष्टतायें, सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग, भाग-101, पृ.-123
3. विवेकानन्द, स्वामी; शिक्षा संस्कृति और समाज, पृ.-10.
4. शोध धारा, वर्ष 2014, जून अंक
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिन्दी साहित्य एवं संवेदना का विकास, संस्करण-2000
6. महला, अरविन्द कुमार; कटारिया, डॉ. सुरेन्द्र, भारतीय समाज पर वैश्वीकरण का प्रभाव, 'वैश्वीकरण भारत : प्रभाव एवं बाधायें' नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर एण्ड दिल्ली, 2010
7. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रिया प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण 2009-10
8. गुप्ता, प्रो. राजीव; वैकल्पिक व्यवस्था की सामाजिक चेतना एवं भारत में समाज शास्त्र, राजस्थान जर्नल ऑफ सोशयोलॉजी, वॉ. 1, नं. 1, 2009.
9. द्विवेदी, संजय; कांत, डॉ. श्री, मीडिया विमर्श वार्षिकांक अक्टूबर से दिसम्बर 2014
10. सिंह, गिरीश कुमार, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, ओमेगा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 237
11. सिंह, डा. सोहन, भाषा संस्कृति और समाज, पृ. 101

–डॉ. हरेन्द्र कुमार
असि. प्रो. एवं अध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग
जे. एस. हिन्दू (पी.जी.) कालेज
अमरोहा (उ.प्र.)

–डॉ. हरिन्द्र कुमार
सहा. प्रो. समाजशास्त्र
कु. मा. रा. म. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बादलपुर, गौतमबद्ध नगर (उ. प्र.)

अनामिका के उपन्यासों में चित्रित स्त्री

—प्रियंका सरोज

अनामिका समकालीन उपन्यासकारों में महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। हिंदी उपन्यासों में जिन रचनाकारों ने स्त्री रचनाशीलता को एक कोटि के तौर पर स्थापित किया। अनामिका उनमें विशेष स्थान रखती हैं। इनका जन्म 17 अगस्त, 1961 ई. में मुजफ्फरपुर, बिहार में हुआ। कवि व शिक्षाविद् पिता डा. श्यामनंदन किशोर और माँ डॉ. आशा किशोर की संतति के रूप में उनकी साहित्यिक सुरुचि और सृजनात्मकता की विरासत को उन्होंने प्रशंसनीय रूप में आगे बढ़ाया। समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में अनामिका बीते चार दशकों से सक्रिय हैं। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आलोचना आदि विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई है। 2021 में 'टोकरी में दिगंत—थेरी गाथा : 2014' पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। अनामिका ने 1975 में चौदह वर्ष की आयु में 'शीतल स्पर्श एक धूप को' नामक काव्य-संग्रह से हिंदी साहित्य में प्रवेश किया जिसे उनके साहित्याभ्यास का समय माना जा सकता है। अनामिका पद्य में उत्कृष्ट रचना करते हुए गद्य साहित्य में भी प्रविष्ट होती हैं जिनमें उनका उपन्यास साहित्य बुद्धिजीवियों की आलोचना-दृष्टि का स्नेहपात्रा बना। उनके उपन्यास हैं, 'पर कौन सुनेगा', 'तिनका-तिनके पास', 'अवांतरकथा', 'मन कृष्णमन अर्जुन', 'दस द्वारे का पिंजरा', 'लालटेन बाजार', 'आईनासाज','बिल्लू शेक्सपियर : पोस्टबस्तर', 'तृण धरि ओट'। इनके उपन्यासों में अनुभूति पक्ष के साथ-साथ अभिव्यक्ति पक्ष में भी वैविध्य है। अनामिका ने अपने उपन्यासों में मन की भावनाओं को बहुत ही बारीकी से चित्रित किया है। साहित्य ही वह माध्यम है जिसके द्वारा बिना हिंसक हुए अपनी बात रखी जा सकती है। अनामिका स्वयं एक स्त्री हैं, अतः उन्होंने अपने उपन्यासों में घर की रसोई से लेकर देह व्यापार करने वाली महिलाओं तक के अनकहे अहसास को बखूबी चित्रित किया है। उन्होंने कहा है कि "मेरे भीतर जो औरत की दुनिया का एक गाँव बसता है जहाँ से मुझे अनेक किरदार मिले मैं उनके साथ न्याय कर पाई।"[1]

स्त्री समाज का एक विशिष्ट हिस्सा हो सकती है, ऐसा कम ही सोचा गया। इस पर विचारों का प्रकटीकरण अपेक्षाकृत कम ही हुआ। इसके दो प्रमुख कारण माने जा सकते हैं। उसमें पहला कारण तो यह है कि समाज में उस चेतना का अभाव था जिसमें मनुष्य मात्र होने के बाद भी स्त्री का पुरुषों से अलग एक स्वतंत्र अस्तित्व हो सकता है। इसके साथ दूसरा उत्तरदायी कारण यह है कि पुरुषों में इस चेतना का अभाव इसलिए था कि स्त्रियों को हमेशा से ही 'अंगीभूत' माना गया था और स्वयं स्त्रियाँ भी जीवन पर्यंत उनकी अनुशंगी होने के धर्म की परिकल्पना के साथ जुड़ी रहीं। हिंदी साहित्य में 1960 के आस-पास स्त्रियों की समस्याओं पर बात की जाने लगी। उन समस्याओं के निदान हेतु उपाय भी सोचे जाने लगे। स्त्री-समस्याओं को जिन लेखिकाओं ने अपने लेखन द्वारा आकार दिया, वह उनके अनुभव से सराबोर रहा। स्त्रियों के बीच आई नयी संवेदना और क्रांति की भावना ने पूरे विश्व को स्त्री चिंतन से जोड़ने का कार्य किया। पारंपरिक समाज ने जिन मानदण्डों को स्त्रियों के लिए निर्धारित कर रखा था, स्त्री लेखन उन ढाँचों को तोड़ने का प्रयास करता है। अनामिका इसी श्रृंखला की एक प्रतिबद्ध कड़ी के रूप में नजर आती हैं।

अनामिका के उपन्यासों में चित्रित स्त्री अन्य स्त्री रचनाकारों के द्वारा दिखाई गई स्त्री से इस परिप्रेक्ष्य में अलग नजर आती है कि उनके यहाँ स्त्रियों की एक श्रृंखला रही है, जो प्राचीन काल से प्रगति करती हुई आधुनिक काल तक देखी जा सकती है। वे घटनाएँ और वे स्त्रियाँ जो उनके अंतःकरण को स्पर्श कर पाई हैं उनकी संवेदना का हिस्सा रही हैं, निस्संदेह उन्होंने उस संवेदना के साथ न्याय किया है। उनके उपन्यासों को पढ़ते हुए हम महसूस करते हैं कि उसमें जो भी स्त्री चित्रित की गयी है, वह हमारे बीच है और जिसने यह सब कुछ भोगा है। एक ऐसी स्त्री जिसके आंतरिक भावों को उद्धृत कर पाना मुश्किल है, उसे हम अनामिका के उपन्यासों में सहज ही चित्रित देख पाते हैं। अनामिका की स्त्रियाँ अपने हक में आवाज उठाती हुई नजर आती हैं और वे जो तर्क देती हैं उसे किसी भी प्रकार काटा नहीं जा सकता। अनामिका एक उपन्यासकार के रूप में जब एक स्त्री को चित्रित करती हैं तो वो स्त्री की नजर से उसके समाज को, उसके समाज की परिस्थितियों को, उसकी तड़प को देखने का प्रयास करती हैं। उनका उपन्यास 'दस द्वारे का पिंजरा' स्त्री मुक्ति के बहुत सारे अनकहे आख्यानों से जुड़कर एक नए निरीक्षण की माँग करता है। उनका यह उपन्यास दो भागों में विभाजित है। इस उपन्यास का पहला भाग पंडिता रमाबाई की कथा पर आधारित है और

दूसरा भाग ढेलाबाई के जीवन-संघर्षों को व्यक्त करता है। उनका यह उपन्यास स्त्री जीवन को परत दर परत खोलने का एक मजबूत मुहिम नजर आता है। इस उपन्यास में उन्होंने चकला घरों में काम करने वाली स्त्रियों के जीवन को व्यक्त किया है। इसके साथ ही वह इस उपन्यास में अपनी सहपाठिनी मासूमा नाज की बात करती हैं। वे यह बताती हैं कि वह बहुत ही सुंदर थी। उन्हें हमेशा ऐसा लगता था कि वह एक रहस्यमयी चुप्पी ओढ़े रहती थी। जब एक दिन वह अपनी मौसी के ससुराल जा रही थी, उन्होंने वेश्याओं के मुहल्ले में अपनी सहपाठिनी मासूमा नाज को घुँघरू बाँधे सज-धज कर खड़े देखा। जैसे ही उनकी नजरें आपस में टकराती हैं उन्हें ऐसा महसूस होता है कि शायद उसे किसी प्रकार की ग्लानि हुई है और उनका यह शक तब विश्वास में बदल जाता है जब वह दोबारा कभी स्कूल नहीं आती। अनामिका उद्धृत करती हैं, ''आज इतने बरस बाद भी उन आँखों की दहशत जो ऊपर से नीचे तक दहला जाती है। पूरी रफ्तार में नाचते पंखे से टकराकर गौरैया जैसे कट गिरती है, कुछ उसकी आँखों में फड़फड़ाया और एकदम से कट गिरा। अगर मेरी आँखें उस दिन मासूमा की आँखों से आ नहीं मिलतीं, अगर अनदेखा कर सकते हम एक दूसरे को, तो यह स्वाभिमानी लड़की स्कूल नहीं छोड़ती।''[2]

'दस द्वारे का पिंजरा' उपन्यास की महत्त्वपूर्ण पात्रा पंडिता रमाबाई हैं जो कि एक विदुषी स्त्री हैं। रमाबाई बहुत ही निर्भीक हैं। वे अपनी बातों को बहुत ही मजबूती से कहती हैं और एक प्रकार से सशक्त स्त्री के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती हैं। जब अकाल में उनके माता-पिता की मृत्यु हो जाती है तो एक स्त्री के साहस का प्रमाण देती हुई वह अपने भाई के साथ कलकत्ता पहुंचती हैं और वहाँ अपने वैदुष्य के साथ नवजागरण आंदोलन से जुड़ जाती हैं। रमाबाई आजीवन संघर्षरत रहती हैं। वे स्वयं को संभालने के साथ विधवाओं को भी सहारा देती हैं और उन्हें अपने ज्ञान से शिक्षित करके आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देती हैं। रमाबाई के माध्यम से अनामिका कहीं न कहीं एक प्राचीन स्त्री की कड़ी को जोड़ते हुए आधुनिक स्त्री के मन के विचारों को व्यक्त करती हैं। सूर्य और छाया की कथा व्यक्त करते हुए वह प्राचीन परिदृश्य को दिखाती हैं जहाँ पितृसत्तात्मक समाज का पूर्वरूप देखने को मिलता है। जब अपने प्रिय पुत्र यमराज की बेतुकी बात पर सूर्य छाया का बाल पकड़कर खींचता है। ऐसी अभद्रता छाया न सहन करते हुए स्वयं को संज्ञा न होने की सच्चाई बता कर वहाँ से जाने लगती है। इस पर सूर्य कहता है, ''मुझको तो पहले से ही शक था तुम्हारी चाल-चलन पर, मुझ जैसे अग्निवर्ण, गोरे दप-दप व्यक्ति को शनिदेव जैसा साँवला बेटा हुआ कहाँ से। अब शायद तुम अपने किसी साँवले-सलोने प्रेमी के पास जाती हो तो जाओ, तुम्हें रोकता कौन है।''[3] इस उद्धरण के माध्यम से हम यह सोचने के लिए विवश हो जाते हैं कि किस प्रकार पौराणिक युग से ही गलती न होने पर भी तुच्छ बातों के लिए स्त्री-अस्तित्व को ताख पर रख दिया जाता है, उन पर प्रश्न उठाया जाता है और पर पुरुष के साथ संबंध होने का लांछन लगाया जाता है।

अनामिका अपने उपन्यासों में स्त्री को चित्रित करती हुई इस विषय को बहुत ही बारीकी से उठाती हैं कि पुरुष समाज कहीं न कहीं अपने से ऊपर उठी स्त्री को मानसिक तौर पर बर्दाश्त नहीं कर पाता है। जब उसे यह लगता है कि एक स्त्री का स्वर उससे ज्यादा परिष्कृत हो रहा है तो वह उस पर रोक लगाने का प्रयास करता है। ऐसा ही दृश्य हमें 'दस द्वारे का पिंजरा' उपन्यास में देखने को मिलता है। जब रमाबाई कथा कहती हैं तो उन्हें बीच में ही रोककर, पंडितों की सभा में उनका विरोध किया जाता है और कहा जाता है, ''छोटा मुँह बड़ी बात! यह कैसी निर्लज्जता है। एक कुमारिका के मुख से ऐसे प्रसंगों की ऐसी खुली चर्चा, वह भी इतने वरिष्ठ विद्वानों के सम्मुख! धिक् है अनन्तशास्त्री! धिक्कार! अब हमने समझा कि आप क्यों जाति-बहिष्कृत हुए! शील-संकोच भी एक चीज है! मूर्तिभंजन की ऐसी कुचेष्टा, वह भी कन्या द्वारा।''[4] अनामिका के उपन्यासों में कामकाजी स्त्री की समस्याओं को भी चित्रित किया गया है। जहाँ उसे दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। एक तरफ उसे नौकरी तो दूसरी तरफ घर को सम्भालना पड़ता है। साथ ही उसको बात-बात में ताने सुनाये जाते हैं—''कैसा निकम्मा बच्चा तैयार हो रहा है। यह चाय है? ये कपड़े धुले हैं? यही रिजल्ट लाए हैं साहब जाद? तुम डॉक्टरनियों के ही तो मजे हैं। प्रतिज्ञा शून्य व्यक्ति भी कैनवासिंग से तुरंत लाइम लाइट में आ जाएगा। सुबह का बना खाना शाम तक निगलना पड़ता है, यह घर है भला।''[5] अनामिका स्त्री के उस पक्ष को भी दिखाती हैं जहाँ उन्हें ऐसा लगता है कि उसके प्रति उनका रवैया सुधारात्मक होना चाहिए। वे स्त्री के उस इर्ष्यालु व्यक्तित्व का चित्रण करती हैं जो एक स्त्री का दूसरी स्त्री के प्रति विरोध के रूप में खड़ा हो जाता है। अनामिका अपने उपन्यासों में उन स्त्रियों का चित्रण करती हैं जहाँ उन्हें अपने दांपत्य जीवन में किसी तीसरे का नाम सुनना भी स्वीकार्य नहीं है। 'मन कृष्ण मन अर्जुन' उपन्यास में तरु ऐसी ही पात्रा है जो नशे में धुत पति के मुख से उसकी पूर्व प्रेमिका का नाम सुनने के कारण घर छोड़कर चली जाती है।

उनके स्त्री चित्रण की एक विशेषता यह भी है कि वह स्त्रियों को सिर्फ बाहर से ही देखने का प्रयास नहीं करती हैं, मनोवैज्ञानिक तौर पर भी जुड़ती हैं। यदि स्त्रियों द्वारा किया गया बर्ताव ऐसा है कि जिसकी पृष्ठभूमि उन्हें

बतानी है तो मनोवैज्ञानिक तौर पर जुड़ते हुए बताती हैं। तरु के व्यवहार के पीछे का कारण उद्धृत करते हुए वे कहती हैं, ''जिस तरह के माहौल में तरु पली थी, उसमें पीना-वीना कभी बड़ी बात उसे लग नहीं सकता था, आराम से झेल रही थी। छोटी-मोटी चख-चूख मगर यह घटना यह तो किसी भी समर्पित के लिए मान की बात होगी कि उसके स्वामी के अचेतन पर किसी और की छाया हो, जिसके लिए इतना सब छोड़ा, इतना बदला खुद को।''[6] तरु के माध्यम से लेखिका एक ऐसी स्त्री को दिखाती हैं जो सह अस्तित्व में जीने वाली है। वह पुरुषों की पितृसत्तात्मक मानसिकता का प्रतिकार तो करती है पर उससे नफरत नहीं करती। अनामिका ने अपने उपन्यासों में स्त्रियों से जुड़ी यौन समस्याओं को गंभीरता से चित्रित किया है। वे इस बात से ऐतराज करती हैं कि स्त्रियों को यौन-तुष्टि के लिए एक वस्तु के तौर पर प्रयोग किया जाए। उनकी स्त्रियाँ इस बात पर अपने विचार व्यक्त करते नजर आती हैं कि पति की यौन-तुष्टि के लिए इच्छा न होते हुए भी एक पत्नी को खुद को अर्पित करना पड़ता है। 'तिनके तिनके पास' उपन्यास की पात्रा अवंतिका कहती है, ''एक तरह की कालगर्ल हर औरत होती है। ब्याहता गृहस्थिन भी कालगर्ल को तो यह छूट भी होती होगी कि हर 'काल' पर वह प्रस्तुत न हो, पर गृहस्थिन की क्या मजाल।''[7] अपने उपन्यासों में अनामिका समाज में व्याप्त उस सोच को चित्रित करती हैं जिसमें समाज का मानना है कि एक स्त्री अपने घर में पूरी तरह से सुरक्षित है। उसका एक समय के बाद घर से बाहर निकलना असुरक्षित है। इन संदर्भों को ध्यान में रखते हुए अनामिका उन स्त्रियों का चित्रण करती हैं जहाँ वे खुद अपने ही घर में यौनाक्रमण का शिकार होती हैं जहाँ पर उनके संबंधियों द्वारा उनका शोषण किया जाता है। 'तिनके-तिनके पास' उपन्यास में हम यह दृश्य देख पाते हैं कि सोफी के पिता बचपन में उसके साथ ज्यादती करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका कभी किसी लड़के से स्वाभाविक संबंध हो नहीं पाता है। तारा के रिश्ते के चाचा द्वारा उसका शारीरिक शोषण किया जाता है। 'दस द्वारे का पिंजरा' उपन्यास में अनामिका जी ने विधवाओं से जुड़ी अनेक समस्याओं को भी उजागर किया है। वह दिखाती हैं कि किस प्रकार समाज में उनका शोषण किया जाता है और वह किस प्रकार विषम जीवन जीने को मजबूर होती हैं, ''इन भगवान की आँखों के आगे जो लगातार सेठों और पंड़ो का यौन-शेषाण, गाली-गलौज और रोटी के लाले झेलती, आधी जिबह मुर्गियों का जीवन जीने को अभिषप्त थी।''[8]

अनामिका अपने उपन्यासों में स्त्रियों से जुड़ी हुई एक और महत्त्वपूर्ण समस्या को रेखांकित करती हैं और वह समस्या है—स्त्रियों के साथ की जाने वाली घरेलू हिंसा। अनामिका स्त्रियों की उस स्थिति का चित्रण करती हैं जहाँ उन्हें पुरुषों द्वारा अपने क्रोध को शांत करने के लिए 'पंचिंग बैग' की तरह इस्तेमाल किया जाता है, ''बेचारी लक्ष्मीबाई का हाथ हरदम कलेजे पर रहता कि बात हद से इतनी ज्यादा न बढ़ जाए कि माँ पर ही गुस्सा निकालने लगें पिताजी! दुनिया का सबसे महान और सर्वसुलभ पीकदान और ओखली तो पत्नी ही होती है।''[9] अनामिका द्वारा रचित उपन्यास 'मन कृष्ण मन अर्जुन' में चित्रित तरु पात्रा स्त्री सशक्तीकरण की एक मजबूत आवाज बनकर उभरती है। वह अपनी अस्मिता के लिए बहुत ही बेबाकी से अपने पक्ष में बोलती है, ''त्याग की देवी मैं कभी नहीं हो सकती। अपनी इच्छा, ध्येय, अनिच्छा से पसंद की ओर पूरी तरह सचेत एक जीती जागती शख्सियत हूं। कपड़े की गुड़िया नहीं। मुझसे पूरा सम्मान वही पा सकता है, जो मेरा पूरा सम्मान करेगा।''[10] तरु उस स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है जिसे अपने हक में बोलना आता है, और अनेकों विरोधों के बावजूद अपने साथ मजबूती से खड़े होना आता है। अनामिका तरु के माध्यम से स्त्रियों को प्रेरणा देती हैं कि वह भी एक ऐसी ही मजबूत व्यक्तित्व वाली स्त्री बनें।

सन्दर्भ

1. अनामिका, स्त्री का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999, पृ. 10
2. अनामिका, दसद्वारे का पिंजरा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण, 2008, पृ. 6
3. वही, पृ. 25
4. वही, पृ. 25
5. अनामिका, अवान्तर कथा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 54
6. अनामिका, मन कृष्ण मन अर्जुन, साहित्य रत्नालय, कानपुर, प्र. सं. 1984, पृ. 76
7. अनामिका, तिनके तिनके पास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 64
8. अनामिका, दस द्वारे का पिंजरा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 2008, पृ. 111
9. अनामिका, दस द्वारे का पिंजरा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृ. 41
10. अनामिका, मन कृष्ण मन अर्जुन, साहित्य रत्नालय, कानपुर, प्र. सं., 1984, पृ. 47

–प्रियंका सरोज
शोधार्थी
हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में चित्रित पितृसत्तात्मक समाज

—डॉ. हरीश कुमार
—पूजा सरोज

पितृसत्ता एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें महिला की तुलना में पुरुष की समाज में अधिक भूमिका होती है। सामाजिक संरचना में पुरुषों ने स्वतंत्रता के सारे अधिकार अपने पास रख लिए और परतंत्रता के सभी नियम स्त्रियों के हिस्से कर दिया। सभी बात का निर्णय लेने का अधिकार पुरुषों को ही दिया जाता है। इसमें महिलाओं की भूमिका गौण होती है। अपना निर्णय लेने का भी उन्हें अधिकार प्रदान नहीं किया जाता है वो लगभग पुरुषों पर आश्रित होती हैं। यहाँ तक कि बच्चा भी पिता के नाम से ही जाना जाता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि विवाहोपरान्त औरतों का नाम और उपनाम भी बदल दिया जाता है। कामकाजी महिलाएँ अपनी मेहनत से कमाये गये धन को भी अपनी इच्छानुसार खर्च नहीं कर सकती हैं। उसके लिए भी उन्हें अपने पति या पिता से अनुमति लेनी पड़ती है।

पितृसत्तात्मक समाज में फैली हुई असमानता की ऐसी खाई है जिसे स्त्रियाँ अभी पूरी तरह से पाट नहीं सकी हैं। हिन्दी साहित्य में अनेक रचनाकारों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर अपनी लेखनी चलाई है। कृष्णा सोबती के उपन्यास-साहित्य में पितृसत्तात्मक के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं । सामाजिक, पारिवारिक, दैहिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि स्तरों पर कृष्णा सोबती के पात्र पितृसत्तात्मक व्यवस्था को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। 'पितृसत्ता' जैसी क्रूर व्यवस्था का पारंपरिक स्वरूप उनके उपन्यासों में व्यक्त हुआ है। कृष्णा सोबती का विरोध पुरुष से नहीं बल्कि पुरुषवादी और अमानवीय सोच से है। पुरुषवादी सोच ही पितृसत्तात्मक रूप धारण करके स्त्री के साथ बुरा व्यवहार करती है और स्त्री को बचपन से ही उसके स्त्री होने का एहसास कराने लगती है। उसके लिए क्या उचित है, क्या अनुचित है? उसे समाज में कैसा व्यवहार करना है और कैसा व्यवहार नहीं करना है? यह सब पुरुष निर्धारित करता है। स्त्रियाँ भी इस व्यवस्था से ऐसे जोड़ दी जाती हैं कि अपनी अगली पीढ़ी को भी यही शिक्षा देती हैं। लड़की को बचपन से ही कैसे कपड़े पहनना हैं? कैसे रहना है? क्या देखना है? क्या नहीं देखना है? कहाँ जाना है? कहाँ नहीं जाना है? यह सब सिखाया जाने लगता है। इसका उदाहरण हम कृष्णा सोबती के 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में पाशो के माध्यम से देख सकते हैं। वह जब नानी के साथ कभी ठाकुरद्वारे जाती है तो नानी उसका सिर ठोककर उससे कहती हैं, ''रब्ब तुझे संभाले, अरी कपड़ा नीचे रखा कर, कुएँ से गागर भरकर लाती तो बड़ी मामी आँखे तरेरती फिर क्रोध से बाँह में अटकी गागर खींचकर कहतीं, पसार छूने लगी, न शर्म, न हया! अरी ओढ़नी अब तेरे गले तक से उठने लगी।''[1] पाशो द्वारा करीमू को देखकर हँसने का पता उसके मामा को लग जाता है। वह पाशो से पूछते हैं कि करीमू से मिलने गई थी इस पर पाशो के मना करने पर भी वह नहीं मानते हैं और उसकी चोटी घुमाकर उसे दहलीज पर पटक देते हैं और तंदूर के पास पड़ी लकड़ियों में से एक लकड़ी उठाकर उसे मारने लगते हैं।

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को जिसके साथ जीवन व्यतीत करना होता है वह उसका भी चुनाव करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। अपने मन पसंद वर का चुनाव करने की बात कह देने मात्र से ही अपने परिवार के हिंसा का शिकार बनती है। अगर वह अपने पसंद के लड़के से विवाह कर लेती है तो बहुत बार उसे जान से मारने या घर से बाहर निकालने की बात भी सामने आती है। उन्हें ऐसा लगता है कि लड़की के ऐसा करने पर उनकी समाज में बेइज्जती होगी। समाज में उनका हुक्का-पानी बंद हो जाएगा। पिता को लगता है लड़का देखना उनका काम है इसलिए विवाह उनके पसंद से होगा। लड़की की पसंद के बिना जिस किसी के साथ उसका विवाह कर दिया जाता है उसे उसके साथ रहना मजबूरन खुशी से स्वीकार करना पड़ता है। लेकिन विवाह के बाद जब पति शराब पीकर या किसी भी बात पर उसे मारता-पीटता है तो उसकी जिम्मेदारी कोई नहीं लेता है। तब गलती भी पति की न देकर लड़की की ही दी जाती है। कई बार समाज में दहेज न देना पड़े इसलिए लड़की का विवाह उसकी पिता के उम्र के लड़के के साथ कर दिया जाता है। अनमेल विवाह होने से स्त्री को बहुत सारी समस्याओं का सामना भी करना पड़ता है। अनमेल विवाह की यह समस्या कृष्णा सोबती के 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में देखी जा सकती है। ''जी धक-धक करने लगा। जिनकी

बैठक में रातभर टिकी थी, वह तो किसी के बेटे से नहीं दिखते थे। पका पका चेहरा।''[2] महेन्द्र भटनागर के शब्दों में—''पुरुष प्रधान समाज में नारी के स्वाभिमान का कोई मूल्य नहीं समझा जाता। अतः स्त्री का जीवन बड़ा दयनीय हो जाता है। उसके दाम्पत्य जीवन की कल्पना चूर-चूर हो जाती है। पुरुष प्रधान समाज का आधार आर्थिक है।''[3]

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को वस्तु के रूप में देखा जाता है। वह जब चाहे उसका उपभोग कर सकता है और जब चाहे तब उसे अपना कर्ज चुकाने के लिए दूसरों के हाथ बेच सकता है। राजेन्द्र यादव ने पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—''भारतीय समाज में न नारी का अपना कोई व्यक्तित्व रहा है, न जाति। वह ऐसा 'रत्न' है जिसे कहीं से भी उठाया जा सकता है और जिसके पास है उसी की सम्पत्ति है। वे व्यक्ति नहीं, 'चीज' हैं जिन्हें लूटा, छीना और नष्ट किया जा सकता है, खरीदा और बेचा जा सकता है।''[4] पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं को पुरुषों से कमजोर समझा जाता है। यह माना जाता है कि जो कार्य पुरुष कर सकता है वह कार्य स्त्री नहीं कर सकती क्योंकि स्त्री के पास पुरुषों से कम शारीरिक क्षमता होती है। इसलिए पुरुष स्त्रियों पर बहुत अत्याचार भी करते हैं।

कृष्णा सोबती के अद्वितीय उपन्यास 'मित्रो मरजानी' में भी पितृसत्ता के विविध रूपों को देखा जा सकता है। मित्रो एक वेश्या की पुत्री है जिसका विवाह गुरुदास के मझले बेटे सरदारी से होता है। सरदारी लाल मित्रों की यौनिक आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम नहीं है जिसके कारण मित्रों बहुत परेशान रहती है। वह अपनी यौनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने पति से लड़ती है। जब सरदारी लाल के मित्र घर पर आते हैं तो वह उनके साथ हंसती-बोलती है जो सरदारी लाल को तनिक भी अच्छा नहीं लगता है। वह मित्रों को मार-पीट कर काबू में रखना चाहता है।

स्त्रियाँ पुरुषों का विरोध नहीं कर पाती हैं क्योंकि वह आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर होती हैं। पुरुषों के द्वारा ही उनका भरण-पोषण किया जाता है। पुरुष ही उनकी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। इसलिए वह पुरुषों के सामने झुकना ही अपनी नियति समझती हैं। जब मित्रों का पति उसे मारकर नजर नीची करने के लिए कहता है लेकिन मित्रो उसकी बात मानने से इंकार कर देती है तब वह उसे गुस्से में आकर और मारता है। तब मित्रो की सास धनवंती उससे करती है— ''समित्रवंती, इसे जिद चढ़ी है तो तू ही आँख नीची कर ले! बेटी, मर्द मालिक का सामना हम बेचारियों को क्या सोहे।''[5] पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति का वर्णन करते हुए मुद्राराक्षस लिखते हैं, ''आज के संयुक्त परिवार में पितृसत्ता का बोल-बाला है। स्त्री जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि पति के द्वारा कठोर से कठोर दंड दिए जाने पर भी उसका विरोध नहीं कर सकती 'परिवार तंत्र जहाँ ज्यादातर स्त्रियों को दासी के समकक्ष रखता है, हिंदू धर्म-विवाह को अध्यात्मिक घटना बताकर स्त्री की पराधीनता पर मुहर लगा देता है। यह पराधीनता का कर्म काण्ड हिन्दू-स्त्रियों को इतना ज्यादा अस्मिता विहीन बनाता है कि जबर्दस्ती जला दी गई विधवा स्त्री की चिता स्त्रियाँ ही सबसे ज्यादा पूजती हैं। दासता से मुक्ति को लेकर उनकी हत चेतना की सीमा यह है कि दहेज के नाम पर जीवित जला दी जाने वाली बहुओं में से अनेक पति के विरुद्ध बयान देना पाप समझने लगती हैं।''[6]

पितृसत्तात्मक समाज में यदि स्त्री अपनी इच्छाओं को पुरुष के सामने रख देती है तो वह बुरी बन जाती है। उसे हर कार्य घर वालों के इच्छानुसार ही करना पड़ता है। विवाह के कुछ सालों बाद अगर स्त्री गर्भवती नहीं होती है तो इसके लिए स्त्री को ही दोषी ठहराया जाता है। पुरुष में भी कमियाँ हो सकती हैं, परिवार यह मानने को तैयार ही नहीं होता है। मित्रों जब अपने पति सरदारी लाल का दोष बताते हुए उसे गाली देती है तो उसकी सास धनवंती अपने बड़े बेटे बनवारी से सरदारी लाल के संग-सेहत के बारे में पूछती है तो बनवारी लाल मित्रो पर ही दोषारोपण करते हुए कहता है—''सरदारी में कोई दोष नहीं अम्मा! यह जरनैली नार छोटे-मोटे मर्द के बस की नहीं।''[7] इस प्रकार हम देखते हैं कि बनवारी लाल को पता है कि उसका भाई सरदारी लाल नपुंसक है फिर भी वह अपने भाई का दोष न देकर मित्रों का दोष देता है। पुरुष को अपने पौरुष पर बहुत अभिमान होता है इसलिए वह अपने ऊपर लगे दोष को बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर पाता है। सरदारी लाल को जब मित्रों नपुंसक कहती है तब वह सब जानते हुए भी उसे मार-पीट कर चुप कराने का प्रयत्न करता है। मित्रों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह अपने देह के ताप को छुपा नहीं पाती है जिसके कारण उसे बदचलन कहा जाता है।

जब कोई स्त्री अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए या धन प्राप्त करने के लिए अपने देह का व्यापार करने लगती है तो उसे वेश्यावृत्ति कहा जाता है। वेश्यावृत्ति पितृसत्तात्मक समाज की ऐसी त्रासदी है जिसमें स्त्री न परिवार की रह पाती है और न समाज की। अगर देखा जाय तो वेश्यावृत्ति की समस्या का मूल कारण पुरुष ही है क्योंकि उसका उपभोग पुरुष ही करता है। वेश्यावृत्ति स्त्री के लिए एक अभिशाप के समान है जिसमें स्त्री उपभोग की वस्तु मात्र बनकर रह जाती है। उसकी कीमत तभी तक रहती है जब तक वह युवा रहती है। 'मित्रों मरजानी' उपन्यास में मित्रों की माँ बालो जो एक वेश्या थी। बूढ़ी

होने के कारण अब उसके पास कोई ग्राहक नहीं आता है। उसकी स्थिति बहुत दयनीय हो जाती है।

कृष्णा सोबती के 'दिलो दानिश' उपन्यास में पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुष का सामंती रूप दिखाई देता है। इस उपन्यास में कृपानारायण पेशे से वकील है उसकी दो बीवियाँ हैं। पहली बीवी कुटुम्बप्यारी के तीन बच्चे होने के बावजूद उसकी दूसरी बीवी उसकी मुवक्किल नसीम बानो की लड़की है। उसके दो बच्चे बदरू और मासूमा हैं। कृपानारायण सामंती मानसिकता का पोषक है। युवा और खूबसूरत महक बानो को कृपानारायण अपना रखैल बना लेता है और ऐसा करने के लिए दुहाई इंसानी-फर्ज की देता है। उसका मानना है कि स्त्री केवल घर के चूल्हे-चौके तक ही सीमित है। वह सोचता है कि बीवी को कपड़े, गहने, बच्चे, घर दे देना, नौकर-चाकर आदि सुविधा की चीज उपलब्ध करा देने के बाद उसे किसी और चीज की आवश्यकता नहीं होती है। उसका मानना है कि स्त्रियों को ऊपर वाले ने केवल घर-गृहस्थी संभालने के लिए बनाया है। वह कुटुम्बप्यारी से कहता है—''आप औरत हैं और आपको गृहस्थी बनाने-चलाने को ही ऊपर वाले ने बनाया है। बताइए भला, इसमें हम आपकी क्या मदद कर सकते हैं। इसको लेकर दिल में मलाल लाने की तो कोई वजह न होनी चाहिए।''[8] कृपानारायण यह मानता है कि सभी अधिकार पुरुष को ही प्राप्त है। वह जो चाहे अपनी खुशी के लिए कर सकता है। वह पर स्त्री से सम्बन्ध भी अपनी खुशी के लिए रख सकता है लेकिन इससे उसकी बीवी को कोई ऐतराज नहीं होना चाहिए बल्कि उसे भी यह समझना चाहिए कि यह सब करने का उसके पति को हक है। वह अपनी बीवी कुटुम्बप्यारी से कहता है—''सुनिए, बीवी होने के नाते आपको यह अहसास तक नहीं है कि अच्छी गुफ्तगू और देग का लुत्फ उठाने का हक भी शौहर का बनता है। मगर आपके पास वही पुराना दुखड़ा।''[9]

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सती-सावित्री बनी रहे। वह जहाँ भी आती-जाती है उस पर बराबर निगरानी रखी जाती है। लेकिन पुरुष कहीं भी आये-जाये इसके बारे में जानने का स्त्री को कोई हक नहीं है। महक बानो के पास कृपानारायण के जाने का जब कुटुम्बप्यारी विरोध करती है तो वह कहता है—''देखिए रज्जो शाम यार-दोस्तों में बितायेंगे तो भी बेटे वह आप ही के कहलायेंगे। उसी तरह हम हैं वक्त कहीं भी गुजारें, हम हमीं रहेंगे। आपके लिए कुछ दूसरा न बन जायेंगे।''[10] पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष पर स्त्री से सम्बन्ध रख सकता है लेकिन स्त्री ऐसा नहीं कर सकती है।

कुटुम्बप्यारी जब कृपानारायण पर गुस्सा होती है तो उसे देखकर बउआजी स्त्री की दारुण स्थिति का वर्णन करती हुई कहती हैं—''देख पुच्ची, जो हमने देखा है, सहा है, कमोबेश वही तो तुम भी देखोगी और सहोगी। मरदों के हिस्से में आए हैं महफिल, मुजरे, खेल-तमाशे और औरत को लगे हैं बाल-बच्चे, दिन-त्योहार, पूजा-व्रत। रोने-धोने से क्या कुछ बदलने वाला है। अब जैसा जो कुछ है चलाती चलो। सो बहू जी, जो तुम्हारे साथ हो रहा है वह भी कुछ नया नहीं।''[11] इस प्रकार बउआजी के कहने का मतलब है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था को स्त्री आँख बंद करके मान ले और परिवार का भरण-पोषण करके ही अपने को संतुष्ट कर ले। उसका पति कहाँ आता-जाता है उसे उसकी परवाह नहीं होनी चाहिए। यदि पुरुष दूसरी स्त्री के पास जाता है तो पत्नी को ही यह कहकर कि उसमें ही कोई कमी होगी उसका जिम्मेदार ठहराया जाता है। यह बात एक स्त्री दूसरी स्त्री से कह रही है। इससे यह भी पता चलता है कि ऐसा केवल कुटुम्बप्यारी के ही साथ नहीं हो रहा है। ऐसा बउआजी की तरह बहुत औरतों के साथ भी हो चुका है। इससे पितृसत्ता का भयानक और वीभत्स रूप सबके सामने आता है जिससे डर कर स्त्री उसे ही अपनी नियति मान लेती है। स्त्री की उसी दारुण स्थिति का चित्रण करते हुए ए. अरविंदाक्षन लिखते हैं, ''सामंतवाद की पोषक पितृसत्ता की आधारभूत संरचना पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि कैसे सतीत्व एवं मातृत्व जैसे चमकीले आदर्शों के बोझ तले परिवार में स्त्री की जिंदगी नरक हो जाती है या बना दी जाती है।''[12]

महक के जब एक दिन अनवर खाँ और उनकी माँ के साथ अजमेर शरीफ ख्वाजा साहब की ड्योढ़ी पर चले जाने के कारण कृपानारायण बहुत गुस्सा होता है। वह अनवर खाँ को लेकर महक बानो को शक की निगाह से देखते हुए उससे अपने सारे रिश्ते तोड़ लेता है। पुरुष जब पर स्त्री के साथ संबंध बनाता है तब वह बिरादरी की मर्यादा के बारे में नहीं सोचता है लेकिन जब उस स्त्री को अधिकार देने की बात आती है तब वह बिरादरी की मर्यादा की बात कहकर उसे इन्कार कर देता है। कृपानारायण भी महक बानो से कहता है कि उसके हाथ में कुछ भी नहीं है। पुरुष एक स्त्री के प्रति फर्ज की बात कर कह दूसरी स्त्री का मानसिक शोषण कर सकता है लेकिन हमारे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को ऐसा करने की छूट नहीं है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री का हर तरह से शोषण किया जाता है। पुरुष उसे अपनी दासी से अधिक कुछ नहीं समझता है। स्त्री की मानसिक पराधीनता का प्रमुख कारण बताते हुए सुधा सिंह लिखती हैं, ''स्त्री की दासता का इतिहास दास प्रथा से भी पुराना है। हालाँकि मिल ने स्त्री की दासता का सम्बन्ध दास प्रथा से जोड़ा है जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों दास होते थे और मालिक और दास के बीच में बल का वैध सम्बन्ध हुआ करता था। विकास

की सामाजिक प्रक्रिया में पुरुषों की दासता तो खत्म हो गयी किन्तु स्त्रियों की दासता की शक्ल पुरुषों पर चरम निर्भरता में बदल गई।''[13]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के साथ बलात्कार भी आम बात हो गई है। 'सूरजमुखी अँधेरे के' की स्त्री पात्र रत्ती बचपन में ही बलात्कार का शिकार होती है जिसके बाद वह हीन ग्रंथि से ग्रसित हो जाने के कारण बहुत सारे पुरुषों के सम्पर्क में आती है। लेकिन वह किसी को अपने जीवनसाथी के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती है। उसे वह काला जहरीला क्षण हमेशा याद आता है। सारे लड़के उसे गंदी लड़की कहकर चिढ़ाते हैं। वह उन्हें पीट देती है। अंत में दिवाकर उसकी जिन्दगी में आकर उसकी जड़ता को खत्म करता है। आज भी हमारे समाज में स्त्री बलात्कार की शिकार हो रही है। आज तो स्त्री घर में भी सुरक्षित नहीं है। स्त्री के साथ ऐसा अपराध किया जाता है जिसके कारण वह आजीवन अपमान, मानसिक द्वंद्व और कुंठा झेलती है। स्त्री का संघर्ष उसके जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। परिवार में बुनियादी जरूरतों को भी लेकर उसके साथ भेद-भाव किया जाता है। पूरे घर का काम उसे ही करना पड़ता है। छोटे भाई-बहन की जिम्मेदारी भी उसे ही उठानी पड़ती है। लड़कियों के साथ भेद-भाव जन्म से ही शुरू कर दिया जाता है। लड़के को कान्वेंट में पढ़ाया जाता है तो लड़की को सरकारी स्कूल में। कृष्णा सोबती की रचना 'ऐ लड़की' में इसकी झलक देखने को मिलती है। बूढ़ी माँ जो मृत्यु के करीब है। वह अपनी बेटी को बताती है कि किस प्रकार से उसके मायके में उसके साथ भेद-भाव किया जाता था—''हमारे भाई को भेजा गया कालेज और हम बहनों की पढ़ाई पड़ित, ग्रंथी और मौलवी के पास। जरा सोचो, मैं अपने भाई की तरह पढ़ती तो क्या बनती! भाई पढ़ रहा है, जाओ दूध दे आओ। भाई सो रहा है, जाओ कंबल ओढ़ा दो। जल्दी से भाई को थाली परस दो। उसे भूख लगी है। भाई खा चुका है। लो, अब तुम भी खा लो।''[14] पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण ही बेटे और बेटी में भेद-भाव किया जाता है। बहुत बार कन्या भ्रूण हत्या भी करा दी जाती है।

पुरुष बाहर कोई काम करता है तो उसे उसके बदले में तनख्वाह मिलती है लेकिन स्त्री पूरे दिन घर का काम करती है फिर भी उसे कुछ नहीं मिलता। उसका पति काम करके आता है तो उस पर रौब भी दिखाता है कि वह कमाकर पैसे ला रहा है लेकिन स्त्री पूरे दिन घर के काम में लगी रहती है फिर भी उसके काम को काम नहीं माना जाता है। अम्मू इस बारे में अपनी बेटी से कहती है—''सोचने की बात है। मर्द काम करता है तो, उसे इवज में अर्थ धन प्राप्त होता है। औरत दिन-रात जो खटती है वह बेगार के खाते में ही न! भूली रहती है अपने को मोह-ममता में। अनजान, बेध्यान। वह अपनी खोज-खबर न लेगी तो कौन उसे पूछने वाला है।''[15]

संदर्भ

1. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2018, पृ. 17
2. वही, पृ. 178
3. डा. महेंद्र भटनागर, प्रेमचन्द समस्यामूलक उपन्यासकार, पृ.183
4. राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ सं., 2019, पृ. 33
5. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2018, पृ. 12
6. मुद्राराक्षस, आलोचना और रचना की उलझनें, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं., 2011, पृ. 27
7. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण, 2018, पृ. 72
8. कृष्णासोबती, दिलो दानिश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवा संस्करण, 2018, पृ. 96
9. वही, पृ. 40
10. वही, पृ. 41
11. वही, पृ. 98
12. ए. अरविंदाक्षन, कृष्णा सोबती से कृष्णा सोबती तक, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकाता, 2021, पृ. 31
13. सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रन्थ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2015, पृ. 22
14. सोबती, ऐ लड़की, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2018, पृ. 68
15. वही, पृ. 56

—डॉ. हरीश कुमार
शोध निर्देशक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

—पूजा सरोज
शोधार्थी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
सहायक आचार्य, रघुनाथ गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मेरठ

तत्सम : जिजीविषा की विजयगाथा

—डॉ. ममता चावला

राजी सेठ आधुनिक हिंदी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण लेखिका के रूप में जानी जाती हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य जगत में अपनी एक अलग पहचान बनाने में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने कहानी, उपन्यास, कविता, निबंध, अनुवाद सभी प्रकार की रचनाओं के द्वारा मानव समाज और उसके जीवन से जुड़ी हुई विभिन्न प्रकार की समस्याओं का चित्रण करने का प्रयास किया है। किसी भी साहित्यकार को उसकी रचनाओं के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है क्योंकि उसकी अनुभवी सोच ही कहीं न कहीं उसकी रचनाओं में अभिव्यक्त होती नजर आती है। राजी सेठ ने अपनी साहित्य यात्रा में, सामाजिक अवसाद के विभिन्न कारणों, आधुनिक जीवन की टूटन, तनाव, संत्रास और द्वंद्व को, जीवन के प्रति उपजी कड़वाहट को, पहचान कर उसे अपने साहित्य में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। उनके साहित्य में सामाजिक समस्याओं का बड़ी सूक्ष्मता के साथ अंकन किया गया है। सामाजिक परिस्थितियों का मानव मन पर प्रभाव, तो बहुत ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने परिस्थितियों के आलोक में मानव मन की गुत्थियों, उसकी उलझनों को समझने और समझाने की एक कोशिश की है।

राजी सेठ किसी विशेष प्रकार की विचारधारा से प्रभावित हुई नहीं लगती। वे साहित्य को सबके हित के साथ जोड़ती हैं। वे साहित्य को जनतांत्रिक मानती हैं जहाँ अन्याय, विषमता, शोषण कुसंस्कारों, कुशिक्षाओं का सदैव विरोध होता है और मानव कल्याण की भावना सर्वदा एकमात्र लक्ष्य के रूप में स्वीकार की जाती है।[1] नारी जीवन से जुड़े विभिन्न समस्याओं पर भी राजी निरंतर लिखती आयी हैं। औरत को सिर्फ कमजोर या उसकी सामाजिक आकृति को यथावत लेना, राजी सेठ को कभी भी गवारा नहीं रहा। वे स्त्री को पुरुष के मुकाबले ज्यादा मेहनती, ज्यादा व्यवहार कुशल और ज्यादा लचीली मानती हैं इसीलिए वे पुरुष से ज्यादा उत्तरदायित्व को निभाने की क्षमता रखती है। नारी की सामाजिक स्थिति के लिए जो भी कारण, शक्तियाँ या मूल्य जिम्मेदार हैं वे सभी, कभी न कभी, उपस्थित रही सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक दशाओं के कारण ही रूप ग्रहण करते रहे हैं। परिस्थितियाँ परिवर्तित हुईं, पर नारी की दशा उसी अनुरूप परिवर्तित नहीं हो पाई। ऐसे में नारी जीवन में कुंठा एवं संत्रास का होना स्वभाविक ही कहा जाएगा। अपने जीवन की इन सभी समस्याओं से लड़ने के लिए नारी शक्ति को जिस शस्त्र का सबसे अधिक साथ मिला, वह थी उसकी शिक्षा। शिक्षा ने ही उसे आत्मबल और संकल्प लेने का बल बख्शा। वह अपने अस्तित्त्व के प्रति सचेत हुई। उसने भी अपनी जिजीविषा की पहचान करना सीखा। प्रभाकर श्रोत्रिय राजी सेठ की नारी संबंधी धारणाओं को व्यक्त करते हुए लिखते हैं—'पुरुष स्पर्द्धी आधुनिक स्त्री की तरह, राजी अपने नैसर्गिक रूप में उसकी शक्ति और संभावना, उसके सत्य और अनुभव, उसकी नियति और उत्कटता का वह सर्जनात्मक उपयोग करती है। राजी ने स्त्री के भीतर पराजित पुरुष को, बल्कि व्यवस्था को जितनी भंगिमाओं से उकेरा है और अपनी विधात्मक दृष्टि से जो मूल्यवत्ता अर्जित की है उससे नए-नए अर्थ प्रकट हुए हैं। वे ऐसी महिलावादी नहीं है जिन्हें पुरुष नकारात्मक उपस्थिति लगता है। वह स्त्री की खोट भी पहचानने की कोशिश करती हैं और भरसक निरपेक्ष बनी रहकर अधिक विश्वसनीय होती हैं।[2]

राजी सेठ ने अपने साहित्य के माध्यम से इस विचार का पुरजोर समर्थन किया है कि जीवन की समस्या को सबसे पहले खुद समझने की कोशिश की जाए और फिर अपने संकल्प आत्मबल, एवं आत्मविश्वास के साथ उसे सुलझाने की कोशिश की जाए। वह अपने हक की लड़ाई खुद लड़ने की समर्थक हैं। तत-सम राजी सेठ का एक बहुचर्चित उपन्यास है जिसके लिए उन्हें भारतीय भाषा परिषद् का पुरस्कार (1985) एवं 'श्री अनंत गोपाल शेवाड़े' 'हिंदी कथा साहित्य पुरस्कार' प्रदान किया गया। तत-सम एक समाजिक उपन्यास है जिसमें संस्कारों और परंपराओं के बीच अपनी अस्मिता के लिए स्थान ढूंढती स्त्री का चित्रण किया गया है। उपन्यास का कथानक, परिस्थितियों से आगे, जिजीविषा की तलाश करता दिखाई देता है। उपन्यास में लेखिका जीवन के दस्तूर, समाज की स्त्री-पुरुष का स्थान, जीवन की जड़ता, पुनर्विवाह, भारतीय संस्कृति के विकृत स्वरूप और जीवन को जड़ बना देने वाले कारणों पर विचार करने के लिए मजबूर करती है।

कहानी की नायिका वसुधा एक शिक्षित विधवा है जिसके पति निखिल का देहांत एक कार एक्सीडेंट में हो गया है। वह अपनी ही स्थिति से घबराई हुई है। वह अपने मायके में अपनी माँ और भैया भाभी के साथ रह रही है। वसुधा

के माध्यम से लेखिका ने, नारी जीवन में परंपराओं और संस्कारों के ऊहापोह और अपने जीवन के अकेलेपन से ग्रसित नारी के द्वंद्व का चित्रण किया है। उसका जीवन ठहर सा गया है। जीवन में अगर कुछ बचा है तो वह सिर्फ अंधेरा ही अंधेरा है। वह अपनी आगे की जिंदगी कैसे जियेगी इसका जवाब देते हुए वसुधा कहती है—'सिवाय मान लेने के कि पटाक्षेप हो गया। अभिनेता बने बैठे रहे, बत्ती गुल हो गई। मान लेना कि अंधेरा ही सच है। अकेले हो गए होने की नियति ही सच। स्वीकार लेना की रोशनी देने वाले सूरज को सदा के लिए ग्रहण लग गया। त्वचा मोटी पड़ गई।.... रंग मात्र एक ही है—वर्ण विहीन शुभ्र।'[3]

वसुधा के भैया-भाभी प्रगतिशील विचारों वाले हैं वे चाहते हैं कि वह दूसरी शादी कर ले, लेकिन वह इसके लिए तैयार नहीं है। उसका मन बुझा हुआ है। रूथ के शब्दों में उसमें 'लाइफ फोर्स का अभाव' है। उसकी भाभी उसे जीवन में आगे बढ़ने के लिए कहती है—'इतना विवेक तो पक्षियों में भी होता है कि एक जगह घोंसला तोड़ दो तो दूसरी जगह बनाने बैठ जाते हैं।'[4] पर वसुधा अपने ही द्वंद्व में है। उसका मन कचोट कर रह जाता है—"अपने हितैषी? कैसे हैं अपने हितैषी? किस तरह की है इनकी हित-चिंता? माथे पर पड़े सिंदूर की तरह ही पोछ डालना चाहते हैं निखिल के साथ जुड़ा जीवनखंड। जैसे पेंसिल से लिखी गई थी वह सारी इबारत। रबड़ लिया और मिटा दिया।"[5] वसुधा अपने ही द्वंद्व में है, अपनी ही मानसिकता में। वह बार-बार समाज द्वारा बनाए गए सांचों, उसकी अपेक्षाओं की बात करती है क्योंकि ऐसा करने पर समाज में कोई शोर होने की संभावना नहीं होती। वह अपनी माँ की खुशी में ही खुशी ढूंढती है जो इस सारे प्रकरण को भगवान की मर्जी का नाम लेती है और यह कहती है कि सुख किस्मत में लिखा होता तो ऐसा होता ही क्यों? उपन्यास में लेखिका समाज में स्त्री और पुरुष की स्थिति पर भी विचार करती दिखाई देती हैं। वसुधा की भाभी कहती है कि अगर किसी की औरत मर जाए तो मसान में ही रिश्ते आने लग जाते हैं मर्दों के, तो क्यों केवल औरतें ही सहें। आगे चलकर वह भाग्य निर्माता भगवान को भी कटघरे में खींचने से नहीं डरती और कहती हैं—"तुम्हारे भगवान की दुनिया में इंसान नहीं है कोई।. ... दो जातियां है... और दोनों के लिए अलग-अलग तरह के नियम।"[6] लेकिन वसुधा की माँ दुनिया के दस्तूर की आड़ लेना चाहती है। माँ-भाभी के इन घातों-प्रत्याघातों के बीच वसुधा और भी अधिक सहम जाती है। उसे लगता है कि उसका समाज, उसका शील, उसका आवरण सब निखिल ही था। उसके बिना अब उसे सबके सामने निरावृत किया जाएगा। अब उसका जीवन, बचा ही नहीं है अगर कुछ बचा है, तो वह है सामाजिक आचार-शास्त्र। उसे बार-बार यही लगता है कि केवल एक व्यक्ति के चले जाने से हर किसी को हक मिल गया है कि वह उसके जीवन को अपने-अपने तरीके से उधेड़ सके। वह मात्र कठपुतली बने नहीं रहना चाहती। पर अपने द्वारा ओढ़ी गई संस्कारों की जड़ता उसे आगे नहीं बढ़ने देती। उसकी स्थिति देखकर रूथ इस बात पर भी प्रश्न उठाती है और कहती है कि क्यों भारतीय संस्कृति नारी को एक प्राणी नहीं मान सकती वह कहती है—"तुम्हारी कल्चर कॉन्शेस ह्यूमन लेवल का तो विचार ही नहीं करती।"[7] सच भी तो है क्यों नारी को हक नहीं कि वे जीवन में आगे बढ़ अपनी मर्जी से अपना जीवन जी सके? क्यों पुरुषों को ही विशेषाधिकार प्राप्त हो? क्यों केवल स्त्री पराधीन जीवन जीने के लिए अभिशप्त रहे? उसी को ही हमेशा समझौते करने पड़े? ऐसे तमाम प्रश्न इस उपन्यास के माध्यम से उठाए गए हैं। समय चलायमान है। निरंतर आगे ही बढ़ता रहता है।

एक यूथ फेस्टिवल में बसुधा की मुलाकात विवेक से होती है जो अपनी परिस्थितियों की पीड़ा में जी रहा है। उस के माध्यम से लेखिका ने समझाने की कोशिश की है कि जीवन की लड़ाई में, पुरुष भी अपने आप को बहुत हारा हुआ, बहुत अकेला हुआ महसूस कर सकता है। विवेक अपनी पत्नी शिरीन की यादों की पीड़ा में त्रस्त है जिसकी मृत्यु गर्भपात के कारण हो गई है। वह शिरीन की मृत्यु के लिए खुद को जिम्मेदार ठहराते हैं। विवेक के साथ, वसुधा को जीवन जीने का एक कारण मिल जाता है। कहीं न कहीं उसमें वह अपना भविष्य खोजने का प्रयास करती है। संस्कारों से भिन्न, उसका मन उसे उद्वेलित करता है। उसका मन कह उठता है—"स्मृतियों के सहारे जीवन नहीं चलता बस चलने के लिए पंख नहीं पैर चाहिए पैरों के नीचे जमीन चाहिए..।[8] उसकी स्थिति अपनी ही अदालत में अपराधी और वकील दोनों जैसी हो जाती है और दोनों ही भूमिका में वह खुद को खड़ा पाती है। लेकिन विवेक इस आमंत्रण को स्वीकार नहीं कर पाता वह खुद ही, खुद को अपना दुश्मन मानता है—''दुश्मन कौन है? दुश्मन तो एक ही है मेरा, मैं खुद अपने अतीत से बुरी तरह से घिरा हुआ। उसके ऊपर उसका अतीत इतना हावी है कि उसे बंधन में भी सुख की प्राप्ति होती है। "बंधन में ही सुख मिलने लगा तो मुक्ति की आकांक्षा जरूरी कहाँ रह जाती है।"[10]

विवेक के भाव वसुधा को त्रस्त कर देते हैं उसे एक पैर चलता हुआ और दूसरा रुका हुआ जान पड़ता है। जिससे वह कम से कम दुनिया के साथ चलने में अपने आप को सक्षम नहीं समझती। वह उसे समझाने की कोशिश करती है और कहती है। "आपके इस विश्वास को अपने लिए कुछ चुना हुआ दंड या आत्मपीड़न कहा जाए तो?" ऐसा लगता है आप अपने को सजा देने पर तुले हैं.

..वह भी अनजाने में हो गए किसी अपराध के लिए.. और इस झोंक में दूसरा अपराध भी हुआ चला जा रहा है।"[11]

वह इसे जीवन की अवमानना मानती है-....जीते जागते जीवन की नक्कार। वह उसे समझाने की पूरी चेष्टा करती है कि जीवन की पुकार चाहे कितनी भी कमजोर क्यों ना हो पर हमेशा अधिक आमंत्रक ही होती है। लेकिन विवेक एक कदम बढ़ाने की बाद, दूसरा कदम उसकी ओर नहीं बढ़ा पाता। वह केवल अपने अतीत से बंधा रहता है और अपना वर्तमान देख नहीं पाता और यही से फिर से जीवन का दुखदायी रूप देखने को मिलता है। वसुधा भीतर तक टूट जाती है। विवेक का दुःख, और अपना दुःख उसे समान लगा था तभी तो उसे, वह उसके समान लगा था यानि तत-सम।

यूथ मेले से आकर वसुधा फिर से अपने अकेलेपन के साथ जीने के लिए अपने आप को मजबूर पाती है। ऐसी स्थिति में रोज-रोज आने वाले रिश्ते उसको रोज नई छलना दे जाते हैं। उसके मन में न इच्छा, है न उत्सुकता और न ही उत्साह। उसके मन में इन सब के लिए विद्रोह का भाव जागृत हो जाता है और वह कह उठती है, "नाम अलग-अलग हैं, लोभ वही-की-वही। एक आए थे उन्हें बच्चों की माँ चाहिए थी। दूसरे को तगड़े वेतन वाली कमाऊ औरत। उन्हीं में से किसी एक को निवृत्ति के बाद समय काटू मूरत की जरूरत थी और किसी एक को अपनी देह की चुप्पी को आजमा लेने की हौंस।"[12] और एक बार जब एक शादीशुदा व्यक्ति का रिश्ता उसके लिए आता है और वह उसके सामने सीक्रेटली विवाह करने का प्रस्ताव रखता है ताकि वह कानूनों की नजर में न आ सके तो वसुधा यकायक फूट पड़ती है। जब इस बात को खुले विचार और आधुनिकता का नाम दिया जाता है तो वह अपनी भाई को जवाब देती हुई कहती है। "आधुनिकता किसे कहेंगे आप? कुछ भी, कैसे भी उचित-अनुचित कर लेने की दुस्साहस को? किसी भी स्थिति को मनमानी जगह से तोड-फोड़ कर अपनी सुविधा के लिए इस्तेमाल कर पाने की उच्छृंखलता को?"[13] वे विवाह संस्था पर भी प्रश्नचिह्न लगाती हैं—"किस लिए जरूरी है कुत्ते की तरह, गले में पड़ा स्वामित्व का पट्टा। क्या करेगी उन संबंधों का जो न सार्थकता दे सकते हैं न साहचर्य के तत्त्व की पहचान।" [14]

वसुधा कहीं न कहीं वह इन सारी परिस्थितियों से दूर कहीं सकून की जिंदगी जीना चाहती है। वह दक्षिण की यात्रा करने की ठानती है। दक्षिण की यात्रा के दौरान वसुधा के जीवन में एक और पुरुष पात्र का आगमन होता है और उसका नाम होता है आनंद। आनंद एक महत्त्वाकांक्षी पुरुष है एवं एक आदर्श चरित्र की तरह प्रस्तुत किया गया है। आनंद भी वसुधा और विवेक की तरह अकेला जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। उसने भी अपने जीवन में परिस्थितियों के दंश झेलें हैं। उसके भी जीवन में दो प्रेम प्रसंग थे एक निम्मी के साथ और एक जैनी के साथ।

निम्मी की सोच, उसकी सोच से बहुत मेल नहीं खाती थी। उसके विदेश जाने पर जैनी के साथ उसके संबंध को जानकर निम्मी खुद को उससे दूर कर लेती है और अन्यत्र विवाह कर लेती है। यह बात आनंद के लिए किसी सदमें से कम नहीं थी क्योंकि वह उससे बहुत प्यार करता था। लेकिन आनंद अपने पीड़ा दायक अतीत को भोगने के बावजूद, वर्तमान को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देता। उसका व्यवहार बड़ा निश्चल और सहज है। जब वसुधा अपनी यात्रा के दौरान बीमार पड़ जाती है तो वही उसकी देखरेख करता है। वसुधा उसके व्यक्तित्व से बहुत अधिक प्रभावित होती है। आनंद उसे अपने अतीत से लड़कर, अपने वर्तमान को सुधारने की, कोशिश करने को कहता है। वह उसे समझाता है कि स्त्री हक की लड़ाई उसे खुद लड़नी पड़ेगी। दासता में रहने को ही अगर ग्लोरिफाई किया जाएगा तो उसका भुगतान स्त्री को स्वयं ही करना पड़ेगा। वह वसुधा की स्थिति को 'रिफ्यूशल टू ग्रो' का नाम देता है जिसमें इंसान हालात जिस तेजी से बदल रहे हों, उसका नोटिस लेने से इंकार करता है।

संदर्भ

1. राजी सेठ : कथा सृष्टि और दृष्टि, डॉक्टर कश्मीरी लाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2006, पृ. 5
2. सदियों से कहानी संग्रह, राजीव सिंह : राजी सेठ संवेदना की बुनावट, प्रभाकर श्रोत्रिय, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1996, पृ. 7
3. वही, पृ. 22
4. तत-सम, राजी सेठ, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 2010, पृ. 23
5. वही, पृ. 24
6. वही, पृ. 29
7. वही, पृ. 37
8. वही, पृ. 85
9. वही, पृ. 80
10. वही, पृ. 89
11. वही, पृ. 99
12. वही, पृ. 107
13. वही, पृ. 116
14. वही, पृ. 117

–डॉ. ममता चावला

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वर्तमान समय के हिन्दी साहित्य में महिलाओं के योगदान का एक अध्ययन

—डॉ. नवीन कुमार

शोध सार—स्त्री का जीवन सदैव अनेक संघर्षों से परिपूर्ण रहा है, उसके सपने, संवेदनाएं, योग्यताएं अमानवीय तथा हमेशा जर्जर मान्यताओं की जकड़न से हमेशा दम तोड़ते रहते रहे हैं। इनकी राह आसान कभी नहीं रही। इनकी राह में बहुत सी विचारधाराएं व दुविधा रही हैं। पुरुषसत्तात्मक भारतीय समाज ने सदियों से इनका शोषण और उत्पीड़न किया है। कालांतर में समाज और साहित्य में स्त्री-चिंतन का प्रादुर्भाव आधुनिक शिक्षा तथा विचारों की ही देन है। बीसवीं सदी हिन्दी साहित्य की नजर से स्त्री के लिए वरदान साबित हुई है। मन में जल रही मुक्ति की लौ को आधुनिक साहित्य के विचारों की हवा ने ज्वाला का रूप दिया। इसके फलस्वरूप स्त्री के जीवन तथा स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आये और यह परिवर्तन आज भी हो रहे हैं जिनका समकालीन भारतीय साहित्य के समकालीन स्त्री उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री के बदलते जीवन संदर्भ, बदलती मानसिकता तथा संघर्ष को विशेष स्थान दिया। यह अस्तित्व, अस्मिता और समता के लिए संघर्षरत स्त्री की कथा है। कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, शशि प्रभा शास्त्री, चन्द्रकिरण, ममता कालिया जैसी अनेक लेखिकाओं ने स्त्री-चिंतन और स्त्री-लेखन को सार्थकता को प्रमाणिकता दी है। इनके उपन्यासों में चित्रित स्त्री पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतंत्र, शिक्षित, आत्मनिर्भर, स्वाभिमानी, सबला तथा निर्णय क्षमता से युक्त स्त्री है। वह अपने कार्यों और विचारों से बदलते मूल्यों को अभिव्यक्त करती है। विवाह, मातृत्व जैसे मूल्यों पर सवाल उठा रही है जिसके लाभ आज दिखने भी प्रारम्भ हो गये हैं।

मुख्य शब्द—समकालीन साहित्य, स्त्री, आत्मनिर्भर, स्वाभिमानी, सबला आदि

मूल आलेख—आजादी की लड़ाई के दौरान ज्यादातर साहित्य में देश प्रेम के भावना दिखती थी। उषा देवी मित्र, सरोजिनी नायडू, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपने समकालीन विषयों को अभिव्यक्ति दी। भारत कोकिला के नाम से प्रसिद्ध सरोजिनी नायडू का मानना था कि भारतीय नारी कभी भी कृपा की पात्र नहीं थी, वह सदैव समानता की अधिकारी रही है। आधुनिक युग की महिला कवयित्रियों में प्रथम नाम श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का ही आता है। छायावादी युग की प्रमुख कवयित्रियों में महादेवी वर्मा का नाम आता है। कविता के क्षेत्र में श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा रहीं। आजादी के बाद परिस्थितियां बदलने के साथ ही साहित्य और लेखन में महिलाओं के स्वर और विषयों में भी बदलाव दिखने लगा। नारी मुक्ति की भावना और अभिव्यक्ति ज्यादा मुखर रूप से उभर कर सामने आयी। नए परिवेश में पुरुष के साथ बराबरी से कन्धा मिलाकर चलने, वाली पारिवारिक और सामाजिक मूल्यों में बदलाव के साथ-साथ वैयक्तिक चेतना ने महिला साहित्य में एक नए स्वर को जन्म दिया। अमृता प्रीतम, शिवानी, कृष्णा सोबती, निरुपमा सेवती, मेहरुन्निसा परवेज आदि के लेखन ने नारी मूल्यों को नए सिरे से गढ़ा और साहित्य को एक नयी पहचान दी।

अमृता प्रीतम ने दशकों पहले ही कह दिया था, 'भारतीय मर्द अब भी औरतों को परंपरागत काम करते देखने के आदी हैं। उन्हें बुद्धिमान औरतों की संगत तो चाहिए होती है पर शादी करने के लिए नहीं। एक सशक्त महिला के साथ की कद्र करना उन्हें अब भी आया नहीं है।' वे अपने वक्त से बहुत आगे की सोच रखती थीं। लेखिकाओं ने बंधनों को तोड़ कर स्त्री पर नैतिकता, सहनशीलता और त्याग जैसे थोपे हुए मूल्यों को नकार दिया और इसकी स्वतंत्र अस्मिता को समाज की एक संपूर्ण इकाई मान कर स्त्री मुक्ति का मुख्य मुद्दा बनाया। इनके लेखन के केंद्र में स्त्री जीवन की ज्वलंत और भयावह समस्याएं हैं। उन मर्यादाओं की तीक्ष्ण आलोचना है जिन्होंने हमेशा स्त्री समाज का खुला दमन और शोषण किया। यदि हम एक आदर्श समाज की स्थापना का स्वप्न साकार करना चाहते हैं तो हमें देश की आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली नारी को सारे हक 'अधिकार', समानता की कसौटी पर देने होंगे, क्योंकि सदियों से तमाम वेदनाओं एवं वर्जनाओं बंधनों से बंधी नारी आज भी पीड़ित है, शोषित है, असुरक्षित है, उपेक्षित है। इसी नारी ने अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व की रक्षार्थ साहित्य सृजन करके कई मील के पत्थर स्थापित किये हैं, जिसके आधार

पर कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में नारी का योगदान अद्वितीय है, प्राचीनतम है, प्रभावी है। स्त्री को लेकर भारतीय साहित्य, दर्शन एवं धर्मशास्त्रों में चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा रही है जहाँ स्त्री की सम्पूर्ण सत्ता को भोग्या, अबला, ललना, कामिनी, रमणी आदि विशेषण के साथ है एवं पुरुष सापेक्ष रूप में चित्रित किया गया है। इसका प्रमुख कारण यही रहा है कि प्राचीन एवं मध्ययुगीन सभी रचयिता एवं टीकाकार पुरुष थे। दूसरे, मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अपदस्थ होने के बाद से समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विधान ही रहा है। फलतः इसके स्वाभाविक ही था कि पुरुष के सन्दर्भ में पुरुष दृष्टि द्वारा स्त्री को देखा जाता है। हिन्दी कथा साहित्य में नारी जागरुकता को स्वर देने वाली लेखिका चित्रा मुद्गल ने लक्षागृह, अपनी वापसी, इस हमाम में, जिनावर, भूख, लपटें जैसी कहानियाँ सामाजिक, दार्शनिक एवं आर्थिक स्थिति को निर्भीकता से उजागर किया। मुद्गल अपने कलम की धार से समाज के क्रूरतम स्वरूप पर प्रहार करती है। महिला कहानीकारों में नमिता सिंह की कहानी निकम्मा बॉय, जंगल गाथा, खुले आकाश के नीचे, राजा का चौक आदि विशेष है। इसी तरह मणिक मोहनी ने अपना अपना सच, अभी तलाश अभी जारी है। महान कहानीकार ममता कालिया की कहानियाँ जैसे 'छुटकारा', 'उनके यौवन के दावे' हिन्दी लेखों की संख्या बढ़ रही है। इन लेखिकाओं का मानना है कि आज संबंधों के मूल्य और अर्थ बदले नहीं बल्कि नष्ट हो गए हैं। शशि प्रभा शास्त्री की कहानियां उस दिन भी, पतझड़ अनुत्तरित, धुली हुई शाम, एक टुकड़ा शान्तिरथ, साहित्य जगत में अपना स्थान बना लिया है। नारी के जन्म संबंधी दर्द का मार्मिक विवरण जया जादवानी की कहानियों का मिलता है। मन्नू भण्डारी ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए आज के राजनैतिक मुखौटों को प्याज की पत्तों की तरह उधेड़ दिया है। भण्डारी द्वारा रचित कहानी के क्षेत्र में उन्होंने 'मैं हार गयी', 'यही सच है', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'त्रिशंकु', 'रानी मां का चबूतरा', आदि लोकप्रिय कहानियां लिखीं। जब कहानियों की बात चल रही है तो उषा प्रियंवदा का नाम सम्मान सहित साहित्य में लिया जाता है। उन्होंने अपनी कहानियों में देशी-विदेशी संस्कृति की टकराहट, आदमी का अकेलापन, विघटित परिवार की छटपटाहट जैसी समस्याओं को विशेष स्थान दिया है। रिटायर्ड गजाधर बाबू के जीवन पर आधारित कहानी 'वापसी' पर 1960 में सर्वश्रेष्ठ कहानीकार का पुरस्कार मिला। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'जिन्दगी और गुलाब के फूल', 'एक कोई दूसरा', 'कितना बड़ा झूठा' लिखकर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में तहलका मचा दिया। कहानी के क्षेत्र में शिवानी के महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने 'लाल हवेली', 'पुष्पहार', 'अपराधिनी', 'रतिविलाप', 'रथ्या', 'स्वयंसिद्धा' लिखा। शिवानी के सम्बन्ध में अरुणा कपूर जी ने लिखा है कि शिवानी की लोकप्रियता का प्रमुख कारण है कथा तत्व एवं रस दोनों तत्व पाठक को रचना में बांधे रहते हैं। उनकी हर नायिका अत्यधिक सुन्दर होती है और रचनाओं में वैभव का चित्रण होता है। वस्तुतः उनकी रचनाओं में वैभव के साथ-साथ सामान्य जीवन स्थितियों का चित्रण भी हुआ है। नारी का जीवन बहुत ही संघर्ष से विरल हैं। महिला साहित्यकार के लिए सबसे पहले बाहरी संदर्भों में उसका आंतरिक समय होता है जहां वो जीती है और सांस लेती है और वहीं दूसरी ओर, होती है समय की चुनौतियां जिससे वो बिलकुल परे होती है। उनके जीवन वे सृजन के बीच अनवरत की स्थिति बनी रहती है। उनकी राह आसान नहीं है। उनकी राह में बहुत सी विचारधाराएं व दुविधाएं हैं। साहित्य जब तक मौखिक परम्परा का हिस्सा था तब तक लेखन में स्त्रियों का योगदान बराबरी के स्तर पर रहा। परन्तु इतिहास के पन्नों में उनका जिक्र भी नहीं किया गया क्योंकि उन्हें कोई जगह नहीं मिली। अगर नारी का योगदान का मूल्यांकन साहित्य में करना हो तो वह किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं है। आज के दौर में महिलाओं ने पुरुष के मुकाबले साझेदारी निभाई है। महिलाओं के अंदर बढ़ती चेतना और जागरुकता ने पारम्परिक छवि को तोड़ा है। देखा जाये तो साहित्य में नारी की भागीदारी जिस तेजी से हो रही है उसे देखते हुए नारी की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य पर हैरान होने वाली कोई बात नहीं रहेगी।

वर्तमान स्त्री अपने लेखन में स्वतंत्रता, समानता और न्याय जैसे मूलभूत अधिकारों के लिए संघर्षरत और सक्रिय स्त्री रचनाकार स्त्री-हितों की चर्चा स्वयं करने लगी है। अपनी अस्मिता को पहचान रही है। स्त्री रचनाकार एक बड़े बदलाव के साथ आत्मविश्वास से अपने सुख-दुख, आक्रोश और असहमति को व्यक्त कर रही है। वह समान नागरिक के रूप में पुरुष से किसी अतिरिक्त दया या सहानुभूति की अपेक्षा नहीं रखती। मात्र देह मुक्ति को विमर्श न मान कर वह बौद्धिक रूप से अधिक सक्षम, सामाजिक रूप से ज्यादा सचेत और परिपक्व है। इनके लेखन के अनुभवों का दायरा वृहद है और इनकी अभिव्यक्ति में स्त्रीमन की व्यथा, आकांक्षा और त्रासदी का जीवंत चित्रण है, क्योंकि इनका यथार्थ हमारे समय का भोगा हुआ यथार्थ है। स्त्री साहित्य में आज की स्त्री के जीवन की वास्तविकताएं, संभावनाएं और दासता की दारुण स्थितियों से मुक्ति की दिशाओं का उद्घाटन हुआ है। स्त्री की अपनी पहचान को स्थापित करते हुए इन रचनाकारों ने यह सिद्ध किया कि भारतीय समाज में हर तरह के शोषण और अत्याचार का उपभोक्ता प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अधिकतर स्त्री ही होती है, चाहे वह धार्मिक कुरीतियां हों, यौन हिंसा

या आर्थिक पराधीनता, युद्ध हो या जातिगत दंगे व विवाद। इन सभी का सबसे बुरा प्रभाव स्त्री पर ही पड़ता है। लेखिकाओं ने समाज के इन रूढ़िवादी बंधनों को तोड़ कर स्त्री पर नैतिकता, सहनशीलता और त्याग जैसे थोपे हुए मूल्यों को नकार दिया और इसकी स्वतंत्र अस्मिता को समाज की एक संपूर्ण ईकाई मान कर स्त्री मुक्ति को मुख्य मुद्दा बनाया। हिन्दी साहित्य का आदिकाल भी महिलाओं की कोमल भावनाओं के अनुकूल नहीं था, अतः इस काल में कोई महिला साहित्यकार प्रकाश में नहीं आई परन्तु उसके पश्चात अन्य सभी कालों में महिलाओं ने साहित्य की वृद्धि में यथाशक्ति योगदान दिया जो वर्तमान समय तक जारी है।

आधुनिक काल में नवजागृति और नवचेतना का उदय हुआ। महिलाओं की शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ हुई। उनके हृदय में नवीन भावनाओं ने जन्म लिया। साहित्य की सभी विधाओं पर महिलाओं ने लेखनी चलाई। आधुनिक युग की महिला कवयित्रियों में प्रथम नाम श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का आता है। इन्होंने देशभक्ति पूर्ण रचनायें कीं। 'झांसी की रानी' तथा 'वीरों का कैसा हो वसन्त' इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनायें हैं। इनकी रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है—सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने प्रकटी तानी थी/बूढ़े भारत में भी आई, फिर से नई जवानी थी/गुम हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी/दूर फिरंगी को करने की, सबने मन में ठानी थी/बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी/खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी/

इसके अनन्तर छायावादी युग की प्रमुख कवियित्री महादेवी वर्मा का नाम आता है। महादेवी जी के गीत अपनी सहज सहनशीलता, भावविधता के कारण सजीव हैं। 'विरह की आग में अनजान कविता' उनके हृदय से बह निकलती है। कहने का तात्पर्य यही है कि हिन्दी साहित्य में नारी का योगदान सदैव अविस्मरणीय रहा है, बात चाहे समाज या परिवार को आदर्श स्वरूप में समर्पित करने की हो या नारी वर्ग को पुरुष की दोहरी एवं संकुचित मानस नारी का योगदान सदैव अविस्मरणीय एवं वंदनीय रहा है। आज के दौर में महिलाओं ने पुरुष के मुकाबले साहित्य में साझेदारी निभाई है। महिलाओं के अंदर बढ़ती चेतना और जागरूकता ने पारम्परिक छवि को तोड़ा है। देखा जाये तो साहित्य में नारी की भागीदारी जिस तेजी से हो रही है उसे देखते हुए नारी की अभिव्यक्ति की सामर्थ पर हैरान होने वाली कोई बात नहीं रहेगी।

कहने का तात्पर्य यही है कि हिन्दी साहित्य में नारी का योगदान सदैव अविस्मरणीय रहा है। बात चाहे समाज या परिवार को आदर्श स्वरूप में समर्पित करने की हो या नारी वर्ग को पुरुष की दोहरी एवं संकुचित मानसिकताओं का योगदान सदैव अविस्मरणीय एवं वंदनीय रहा है। नारी साहित्य लेखन एक ओर स्वांतःसुखाय है तो दूसरी ओर जनहिताय है। नारी साहित्य इस परिवर्तन युग का शुभचिंतक है। यद्यपि महिला लेखन आज स्पर्धा के युग में चुनौती है। फिर भी उसे हर स्थिति का सामना करने में उसे किसी वैसाखी की जरूरत नहीं। अपितु वह स्वयं मार्ग ढूंढ स्वयं अपने हस्ताक्षर बना रही है। अत्यंत संयम व शालीन बने रहकर सृजन करना भी एक चुनौती है और महिला रचनाकार ऐसा करती आ रही हैं। उसे निर्भयतापूर्वक सोचना और लिखना होगा। आज की यह जरूरत है। मैं कहूंगा कि नारी धीरे-धीरे आत्मबोध अनुप्राषित हुई है, फिर भी वह अपने ढंग से प्रतिष्ठित होने के लिए संघर्षशील रही है। इसलिए विरोध-अवरोध, तिरस्कार-बहिष्कार को नकारते हुए उसे आगे आना होगा। तब ही वह समाज और राष्ट्र के प्रति अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह और अपनी सार्थकता को सिद्ध कर पाएगी। आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दी साहित्य को इनकी नवीन साहित्य कृतियाँ और भी अधिक सशक्तशाली बनाएंगी।

संदर्भ

1. आलोक श्रीवास्तव, स्त्री मन की चितेरी महादेवी (आलेख), नवम्बर 1918
2. सुभाष वर्मा, नारी विमर्श की गहरी जड़ें (आलेख), आजकल मासिक पत्रिका, नई दिल्ली
3. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियां (संग्रह), लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली
4. महिला समाज वीकली पत्रिका, 24 अप्रैल 2023

–डॉ. नवीन कुमार
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
ए. एन. कालेज, पटना

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में लोकचेतना की अभिव्यक्ति

—डॉ. धनंजय कुमार

सारांश—केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील कवि हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति सौंदर्य के साथ लोक जीवन के सभी चित्र अंकित हैं। वे पूरी आत्मीयता के साथ जीवन की भाषा में सृजन करते हैं। उनकी कविताओं में सिर्फ पहाड़, नदी, तालाब और जंगल की सुंदरता ही नहीं बल्कि उनकी कविताओं में खेत है, किसान है, लोगों की बस्ती है जहां ठिगना चना भी किसी किसान के गबरू जवान की तरह पगड़ी बांधे दिखाई देता है, हठीली अलसी और पीली सरसों आदि उनकी कविताओं में समाया हुआ है। जनसामान्य का संघर्ष और प्रकृति सौंदर्य उनकी कविताओं का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतः विद्यार्थी कवि केदारनाथ अग्रवाल की साहित्यिक प्रवृत्तियों से रूबरू हो सकेंगे वहीं उनकी कविताओं को भी जान सकेंगे। काव्य-सृजन के प्रति विद्यार्थियों में रूचि बढ़ेगी।

मुख्य शब्द : साहचर्य, प्रगतिशील, खलिहान, हमजोली, कुंदन, अलसी, ठिगना, मुरैठा, हठीली, पोखर।

विवेचना—कविता और लोक चेतना का पारस्परिक साहचर्य सदैव रहा है। प्रगतिशील कवियों ने लोकपक्ष को पूरी संजीदगी से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। अतः प्रगतिशील कविता को प्रथम बार नई सृजनशीलता से युक्त कवि निराला जी ने किया। अतः "कविता अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का जीवन संसार है। कविता अंतर्मन की वो ज्वाला है, जिसकी तपन से जीवन कुंदन की तरह दमकता है। संसार से असारता के भाव से उद्वेलित मन में कविता जीवन रस की तरह प्रवाहित होती है"[1] कविता को परिभाषित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—''कविता ही मनुष्य के हृदय के स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सब की अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा का निर्वाह होता है।"[2] कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में जहाँ लोकचेतना का पारस्परिक साहचर्य देखने को मिलता है तो वहीं उनकी कविताओं में ग्रामीण समाज का जनजीवन चित्रित हुआ है। स्पष्टतः वे लोकचेतना के कवि हैं। अतएव लोक जीवन जनसाधारण का प्रतिबिंब होता है। कविता में लोक का विशेष महत्व है। कविता का प्रारंभ लोक से होकर लोक पर ही उसका अवसान होता है।

प्राचीन समय से लोक के प्रति उन्मुखता कविता में रही है तथा वही उन्मुखता आज भी रचनात्मकता में सुरक्षित है। कवि केदारनाथ अग्रवाल की प्रमुख काव्य-कृतियाँ निम्नलिखित हैं, यथा—'युग की गंगा', 'अपूर्वा', 'अनहारी हरियाली', 'आग का आइना', 'आत्मगंध', 'कहें केदार खरी-खरी', 'कुहकी कोयल', 'खड़े पेड़ की देह', 'खुली आँखे खुले डैन', 'गुलमेंहदी', 'जमुन जल तुम', 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं', 'पंख और पतवार', 'फूल नहीं रंग बोलते हैं', 'पुष्पदीप' और 'बम्बई का रक्तस्नान (आल्हा)', 'बोले बोल अबोल', 'मार प्यार की थापें', 'वसंत में प्रसन्न हुई धरती' आदि।[3] ''केदारनाथ अग्रवाल का लोक रूप अपने बुंदेलखंड के जीवन से बना है। उनके अनुभव पूरे भारतीय जीवन के अनुभव हैं। बुंदेलखंड के लोकजीवन से कवि की कविताओं में बिंब उभरते हैं। अपने अंचल का जीवन, प्रकृति और जीव जन्तु इन सबकी गतिविधियों पर वे पैनी नजर रखते हैं। चारों ओर के जनजीवन को बहुत करीब से देखते हैं।

ऐसी लोक संपृक्ति ही उनकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है।"[4] केदारनाथ अग्रवाल की कविता में भारतीय किसान का संपूर्ण परिवेश वर्णित है। खेत, खलिहान, हल, बैल, साग, चना, सरसों, मटर सब। बुंदेलखण्ड का संपूर्ण लोक जीवन अपनी प्रकृति और वैभव के साथ उनकी कविताओं में उपस्थित है। ''नीम का पेड़ नामक कविता में उन्होंने हमारे देश के लोकजीवन के सुख दुखों के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत किया है। कवि केदार की गहरी लोक दृष्टि ही इसका कारण है। वे जीवन की भाषा में सृजन करते हैं। जनवादी चेतना उनकी कविता के तहत उजागर होती है। सामान्य जन का पक्ष लेकर वे रचना करते हैं। मेहनतकश जनता के विविध चित्र उनकी कविताओं में प्राप्त होता है। किसान युवक-युवतियों एवं गरीब श्रमशील मजदूरों के रंग गाढ़े रूप में प्राप्त होते हैं। पूरे अर्थ में उनकी कविता, एक विशिष्ट भारतीय जमीन की कविता है उनकी विषय वस्तु, बिंब, भाषा, नया-विधान यह सब कुछ लोकमय ही है। लोक के

रागात्मक पहलू को रेखांकित करते हैं। लोकपरकता इन प्रगतिशील कवियों की धूरी है। इससे उनके रचना विधान में अकसर गतिशीलता मिल जाती है।''[5] वस्तुतः केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'सूर्य', 'धूप', 'किरण', 'और 'दिन' की विविध छवियां अंकित मिलेंगी। प्रकृति-संसार में सबसे अधिक प्रेम उन्हें इन्हीं से है। ध्यातव्य है कि ''मुक्तिबोध की कविता में 'अंधेरा' शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है और केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'धूप' का। यह दोनों कवियों की मनः स्थितियों का फर्क है। 'धूप' अज्ञेय का भी प्रिय प्रतीक है। उनकी कविता में यह प्रतीक एक मुक्त वातावरण की चाह व्यक्त करता है। कहना न होगा कि अज्ञेय की कविता व्यक्तिगत और स्वातन्त्र्य की खोज में कविता है। केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'धूप' उनके जीने की चाह व्यक्त करती है।''[6] 'धूप' कविता से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियां, देखें– *''धूप-चमकती है चांदी की साड़ी पहने/ मैके में आयी बेटी की तरह मगन है/फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है/जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं।''*[7]

'धूप' की चमक का वर्णन के साथ कवि ने 'धूप' का मानवीकरण किया है। मानों ऐसा लग रहा है कि चांदी के परिधान में कोई बेटी अपने मायके में दस्तक दी है। मायके आने के बाद बेटी ससुराल की रोजमर्रा की औपचारिक जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाती है। वह खुश भी होती है और बेपरवाह भी।

एक अन्य बिम्ब में खिली हुई धूप खेतों में खिले हुए पीले सरसों के फूलों से ऐसे लिपट गई है, जैसे दो हम-उम्र सहेलियां एक अरसे बाद मिलकर एक दूसरे से गले मिल रही हों। एक अन्य बिम्ब में स्वच्छ आसमान धरती के ऊपर ऐसे बेसुध झुका हुआ है मानो भगवान शंकर का नंदी झुककर नदी में जल ग्रहण कर रहा हो। कवि इस कविता के माध्यम से भारत के गांव की प्रकृति एवं सौंदर्य का वर्णन किया है। ''केदारनाथ अग्रवाल सौंदर्य के कवि हैं। उनकी सौंदर्य-चेतना बहुत संवेदनशील है। वे बड़े सहज ढंग से अपनी ऐन्द्रिक अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। सौंदर्य-संवेदना और प्रकृति-प्रेम के विषय में केदारनाथ अग्रवाल खुद लिखते हैं, 'मेरी कविताओं में शिल्प का सौंदर्य मिलेगा। वह सौंदर्य उसके स्थापत्य के शिल्प का सौंदर्य है। वह सौंदर्य अनेक भाव-भंगिमाओं से अपने को व्यक्त करता है। उसकी अभिव्यक्ति अनेकरूपिणी है। जैसे हर सवेरा एक नये सौंदर्य की कविता होती है। मैंने प्रकृति को चित्र के रूप में देखा है। उसके संपर्क में मुझे जीने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। अतएव प्रकृति का मेरा निरूपण चित्र प्रेम निरूपण है। उसमें कलाकारिता है। शब्दों का सौंदर्य है। ध्वनियों की धारा है। केदारनाथ अग्रवाल के लिये प्रकृति के प्रति आकर्षण शाश्वत के प्रति आकर्षण है उस सौंदर्य के प्रति आकर्षण है जो व्यक्ति के न रहने के बाद भी बचा रह जाता है।''[8] यथा– *''हम न रहेंगे/तब भी तो यह खेत रहेंगे/इन खेतों पर घन घहराते शेष रहेंगे/जीवन देते प्यास बुझाते/माटीं को मद-मस्त बनाते/श्याम बदरिया के लहराते केश रहेंगे''*[9] यहाँ पर प्रकृति के प्रति आकर्षण का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति की दुनिया में पलायन करने वाले हैं, बल्कि यह प्रकृति कवि को अत्यधिक मानवीय बनाती है। इस तरह से देखते हैं कि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रकृति के विविध रूप चित्रित हुए हैं। उनकी दृष्टि सौंदर्यवादी है। वस्तुतः केदार जीवन संसक्ति के कवि हैं। केदारनाथ अग्रवाल लोकचेतना के उन्नायक कवि हैं। वे लोक जीवन में सृजन करने वाले कवि भी हैं। उनकी कविताओं में ग्रामीण-लोकजीवन की सभी छवियां अंकित हैं, जैसे-खेत, खलिहान, नदी, तालाब, सूर्य, धूप आदि। प्रकृति के प्रति आकर्षण और लोक जीवन के प्रति समर्पण ही उनको और मानवीय बनाता है।

संदर्भ

1. नितिन जैन, 'कविता और प्रकृति', पृ. 207
2. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, पृ. 97
3. डॉ. शशि कुमार 'शशिकांत', हिंदी भाषा और साहित्य (ख)'', पृ. 99
4. डॉ. विजय कलमधार, प्रगतिशील कविता में लोकचेतना की अभिव्यक्ति, कविता का लोकपक्ष' पृ. 208
5. वही, पृ. 208
6. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, ''केदारनाथ अग्रवाल'', प्रतिनिधि आधुनिक कवि, डॉ. चन्द्र त्रिखा संपा. पृ. 153?
7. वही, पृ. 154
8. वही, पृ.156
9. वही, पृ.156

–डॉ. धनंजय कुमार

एसो. प्रोफेसर, हिंदी विभाग,

डॉ. भीमराव अंबेडकर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संघर्षों का रथी

—नीतू गुप्ता

मनुष्य अपने जीवन में अनेक संघर्ष करता है। यह संघर्ष ही उसकी सफलता का मार्ग निर्धारित करता है। अनेक बार स्थिति ऐसी बन जाती है कि संघर्ष के आनुपातिक रूप में सफलता निरंतर मिलती जाती है। यह स्वीकृत सत्य है कि जिसने जीवन में संघर्ष किया उसे सफलता अवश्य मिलेगी, किन्तु क्या यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि कोई मनुष्य ऐसा हो जिसने संघर्ष तो किया हो किन्तु सफलता न मिली हो? क्या कोई समाज ऐसा हो सकता है जो योग्यता को बिल्कुल अस्वीकार कर दे? क्या एक माँ अपने नवजात शिशु को स्वयं से अलग कर दे और बरसों बाद मिलने पर भी पहचानने से इंकार कर दे? भाई-भाई की जान का दुश्मन हो जाए? स्वयं युगपुरुष कृष्ण जिसे समझाएं किन्तु वह अपने कर्तव्य को सर्वोपरि मान ले और जीवन पर्यन्त उस कर्तव्य का निर्वहन करे?

ये सभी प्रश्न केवल एक ही पात्र के सम्बन्ध में उचित जान पड़ते हैं और वह पात्र है 'कर्ण'। कर्ण एक ऐसा पात्र है जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन विरोधों का सामना किया। ये विरोध उसकी कायरता या अकर्मण्यता के कारण उसे वहन नहीं करने पड़े बल्कि परिस्थिति इसके विपरीत थी। विरोध का कारण उसकी लीक से हटकर चलने वाली योग्यता थी। यह उस समय की परिस्थितियां ही कही जायेंगी जिनके चलते समाज स्वयं यह निर्धारित करता था कि किस बालक के लिए कौन सा कर्म उचित होगा। यदि वह बालक उस कर्म को अस्वीकार कर कोई अन्य मार्ग चुन ले तो समाज उसकी योग्यता एवं मासूमियत को सिरे से खारिज कर उसे उसकी वास्तविक पहचान से अवगत करवाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ता। समाज के ऐसे परित्यक्त पात्र को आदर की दृष्टि से देखना सरल नहीं है। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो समाज के वंचित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति रखते हैं। इस सहानुभूति को यदि साहित्य का विषय बनाया जाए तो ऐसा प्रयास अपने आप में महत्वपूर्ण हो उठता है।

महान साहित्यकार वह कभी नहीं होता जो स्व-केन्द्रित होकर रचना करे बल्कि वह होता है जो उन पात्रों की पीड़ा को व्यक्त करे जिन्हें समझने का अवकाश समाज के अन्य वर्गों को नहीं है। इस दृष्टि से रामधारी सिंह दिनकर का 'रश्मिरथी' अत्यंत सराहनीय है जिसमें कवि महाभारत के अनेक यशस्वी पात्रों और युगपुरुषों को छोड़कर एक ऐसे पात्र को चुनता है जिसे तत्कालीन समाज में कोई महत्व नहीं दिया गया। इतना ही नहीं उस दौर के बाद लम्बे समय तक केवल यशस्वी पात्रों का ही गुणगान होता रहा। महान कवि दिनकर की यह विशेषता है कि उन्होंने कर्ण की योग्यता को न केवल भली प्रकार परखा बल्कि उसे अपने समाज और आने वाली पीढ़ियों के लिए महत्वपूर्ण बना दिया। दिनकर की दृष्टि में वही मनुष्य वास्तव में स्तुत्य है जो अपने जीवन की परिस्थितियों से घबराता नहीं वरन पूरा जीवन डटकर उनका सामना करता है। इसलिए दिनकर ने कर्ण को 'रश्मिरथी' कहा है। रश्मिरथी की भूमिका में दिनकर स्वयं लिखते हैं कि "कर्ण-चरित के उद्धार की चिंता इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है। कुल और जाति का अहंकार विदा हो रहा है। आगे, मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके अपने सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं, जो उसके माता-पिता या वंश की देन है। इसी प्रकार, व्यक्ति अपने निजी गुणों के कारण जिस पद का अधिकारी है, वह उसे मिलकर रहेगा, यहाँ तक कि उसके माता-पिता के दोष भी इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकेंगे।"[1]

दिनकर के रश्मिरथी का अर्थ है—'सूर्य की किरणों के रथ का सवार।' यह केवल वही हो सकता है, जो निरंतर लाभ-हानि से परे अपने कर्तव्य को सर्वोपरि मानता है। कवि ने कर्ण के सम्बन्ध में लिखते हुए किसी निजी लाभ-हानि को केंद्र में नहीं रखा बल्कि समाज की संवेदना को एक ऐसे पात्र की तरफ मोड़ने का प्रयास किया है जिसकी महत्ता को एक युग पहले ही समाज को समझ लेना चाहिए था। समस्त सृष्टि पर केवल वही शासन कर सकता है जो निरंतर स्वयं को जिलाये रखता है। इस संसार में ऐसा कोई नहीं जिस पर संकट नहीं आये हों, लेकिन उन संकटों के सामने जो मजबूती से डटकर खड़े रहते हैं, एक भी कदम पीछे नहीं हटाते, उन्ही के सामने ये संसार घुटने टेक देता है। कवि एक स्थान पर लिखते हैं— *'वसुधा का नेता कौन हुआ?/भूखण्ड-विजेता कौन हुआ?/अतुलित यश क्रेता कौन हुआ?/नव -धर्म-प्रणेता कौन हुआ?/जिसने न कभी आराम किया/विघ्नों में रहकर नाम किया।'*[2]

कर्ण का जीवन उन लोगों के लिए आदर्श है जो अकसर अपनी जाति, कुल या गोत्र को लेकर मन में हीन भावना भरकर जीवन जीते हैं। अपने साथ घटने वाली प्रत्येक घटना के लिए समाज को दोषी बताते हैं और अपनी योग्यता पर विश्वास नहीं करते। जिनके लिए भाग्य को दोष देना सबसे सरल माध्यम है। कर्ण का जीवन कभी सरल नहीं रहा, शिक्षा के दरवाजे उसके लिए पूर्णतया बंद थे। बावजूद इसके वह हार नहीं मानता और निरंतर शस्त्र विद्या सीखने का प्रयास करता है। उसके बाहुबल की प्रशंसा करते हुए स्वयं कृष्ण कहते हैं कि 'यह महाभारत कभी न होता यदि दुर्योधन को कर्ण का सहारा न होता। कर्ण के ही भरोसे दुर्योधन पांडवों को केवल पाँच गाँव देने से भी मना कर देता है।'[3]

दिनकर जी ने कर्ण को एक सच्चे योद्धा के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा योद्धा जो केवल शासन के लिए युद्ध नहीं करता बल्कि अनेक बार अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने और कमजोर दीन दुखियों की सहायता के लिए शस्त्र उठाता है, किन्तु कर्ण का युद्ध कौशल एवं युद्ध का कारण दोनों भिन्न है। वह अन्याय के पक्ष में लड़ता है फिर भी समाज या इतिहास में कहीं भी उसकी निंदा नहीं होती। स्वयं कृष्ण भी उसे धर्म-अधर्म के बीच का अंतर नहीं समझा पाते उलटे वह कृष्ण को ही सभी पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों की व्याख्या बता देता है और दुर्योधन के पक्ष से युद्ध करने का निर्णय भी सुना देता है। कर्ण का मानना है कि सम्बन्ध वह कभी नहीं होते जो युद्ध की ठन जाने पर बनाये जाएं। माता-पुत्र और भाई-भाई के संबंधों में बचपन से लेकर जवानी तक एक दूसरे के साथ चलते-चलते जो प्रेम और अपनेपन की भावना प्रबल होती है वही संकट के समय एक दूसरे के लिए जान देने को प्रेरित करती है। किन्तु जहाँ माता ही अपने नवजात शिशु को छोड़ दे और बरसों तक उसे याद भी न करे तो उस माता के होने के क्या मायने होंगे? *अपना खोया संसार न तुम पाओगी/राधा माँ का अधिकार न तुम पाओगी/छीनने स्वत्व उसका तो तुम आयी हो/ पर, कभी बात यह भी मन में लायी हो?*[4]

कवि दिनकर ने कर्ण के जीवन के उन अनछुए पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया है जो समाज के लिए सर्वथा अवांछित थे। सारा समाज अभी तक कुंती के अनब्याही माँ बन जाने की पीड़ा को तो समझता रहा लेकिन उस बालक के नन्हे मन में कौन से भाव उमड़ते होंगे जब उसे ये सुनने को मिला होगा कि जिस माँ ने उसका पालन -पोषण किया वह एक परायी औरत है और उस बालक का वास्तविक स्थान तो महलों में है। वो महल जहाँ से उसे अयोग्य और सूत पुत्र कहकर निष्कासित कर दिया गया था। आज वही महल दोनों बांह पसारे उसको पुकार रहा है। ये नियति का खेल कहा जाए या राजनीतिक दाँवपेंच, लेकिन दोनों ही पक्षों में हार कर्ण की होती है। जिस माँ और परिवार को खोजता रहा वो जब मिले तब तक जीवन की बाजी पलट चुकी थी। वास्तव में युद्ध करना या जीतना बड़ी बात नहीं होती, बड़ा होता है युद्ध के पीछे का कारण। पांडवों के पास युद्ध करने का वैधानिक कारण था, लेकिन कर्ण के पास उस युद्ध में भाग लेने और अधर्म का साथ देने का अपना एक अलग कारण था जिसे कृष्ण भी गलत साबित नहीं कर पाए। इतना ही नहीं स्वयं युगपुरुष कृष्ण उसकी मित्रता एवं महानता की मुक्त हृदय से प्रशंसा करते हैं। संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं जो निजी स्वार्थ और राज्यलिप्सा को छोड़कर मित्रता को सर्वोपरि मानते हों। *''रथ से राधेय उतर आया/हरि के मन में विस्मय छाया/बोले कि वीर! शत बार धन्य/तुझ-सा न मित्र कोई अनन्य/तू कुरुपति का ही नहीं प्राण/नरता का है भूषण महान।'*[5]

युद्ध के सम्बन्ध में दिनकर का एक सुनिश्चित दृष्टिकोण है। जहाँ सारा समाज युद्ध की विभीषिका से घबराकर उसके नकारात्मक पहलुओं के परिप्रेक्ष्य में चर्चा करता है ऐसे में एकमात्र दिनकर ऐसे कवि हैं जो सारे समाज से अलग उसे शांति का आवश्यक मार्ग मानते हैं। युद्ध के कारणों पर विस्तार से चर्चा करते हुए कवि कुरुक्षेत्र की भूमिका में लिखते हैं—''युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है, किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है? पांडवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी, तो क्या युद्धिष्ठिर महाराज को इस शांति को भंग नहीं करना चाहिए था?''[6] दिनकर ने सदैव अपने वर्त्तमान की समस्याओं को एक नए दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। उनका स्पष्ट मानना था कि समाज में तब तक शांति की स्थापना नहीं हो सकती जब तक आर्थिक विषमता समाप्त नहीं होती। *''शांति नहीं तब तक, जब तक/सुख-भाग न नर का सम हो/नहीं किसी को बहुत अधिक हो/ नहीं किसी को कम हो।''*[7]

धर्म और अधर्म को लेकर सभी मनुष्यों की अवधारणाएं अलग-अलग होती हैं या कहें अलग हो सकती हैं, होनी भी चाहिए। लेकिन कौन-सी अवधारणा सही है इसका निर्धारण बिंदु अवधारणा के पीछे के तर्क के पास होता है। तर्कशीलता दिनकर के काव्य की अनिवार्य विशेषता है जिससे कवि अपने विचारों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य को यदि युद्ध और शांति में से किसी एक को चुनना हो तो निश्चित तौर पर वह शांति को चुनेगा। किन्तु कुरुक्षेत्र में जिस विचार पक्ष को लिया गया है वह

युद्ध की घोर विभीषिका के बाद का समय है जब चहुँ ओर विनाश ही विनाश पसरा हुआ है। ऐसे में यह महाकाव्य सामाजिक विषमता की तुलना एक भयानक रोग से करते हुए युद्ध को तिक्त औषधि के समान बताता है जिसके बिना रोग का निवारण संभव नहीं। *''रुग्ण होना चाहता कोई नहीं/रोग लेकिन आ गया जब पास हो/तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या/शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से।''*[8]

कर्ण का जीवन, भाग्य और कर्म के बीच निरंतर आँख मिचौली खेलता हुआ जीवन है। अनेक बार अपने कर्म को मजबूत करने के बावजूद समाज के बनाये जड़ नियमों के सामने उसे घुटने टेकने पड़े। जब भी कर्म रूपी सूर्य ने भाग्य के अंधकार को पाटने का प्रयास किया तभी समाज के जड़ नियमों ने जाति, धर्म, कुल, गोत्र के बादलों से उस सूर्य को ढाँप दिया। ये बादल इतने गहरे थे कि परिवर्तन की कोई बयार उन्हें उड़ा नहीं पाई। परिणाम स्वरूप कर्ण का समूचा जीवन संघर्षों की एक लम्बी गाथा बनकर रह गया। दिनकर के रश्मिरथी कर्ण वास्तव में संघर्षों का रथी है जो अपने महान कर्मों के माध्यम से समाज के उन सभी वर्गों के लिए उदाहरण है जो निरंतर अपने भाग्य को कोसते रहते हैं और कर्म की ज्वाला को सुलगाते ही नहीं। कर्ण के माध्यम से कवि दिनकर समाज को एक नयी उम्मीद की किरण दिखाते हैं। गीता में भी यही सन्देश दिया गया है कि मनुष्य को निरंतर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि कर्म की गति ही भाग्य की दिशा को बदल सकती है।

राष्ट्रकवि दिनकर भारतीय संस्कृति को अनेक संस्कृतियों में सर्वोपरि मानते हैं। उन्होंने भारतीय मिथकों और पौराणिक आख्यानों का उल्लेख निरंतर अपनी कृतियों में किया है जिनमें 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' प्रमुख हैं। 'रश्मिरथी' कवि की भाव भूमि है तो 'कुरुक्षेत्र' उनकी विचार भूमि है। दोनों में भले ही महाभारत की कथा का कवि उल्लेख करते हैं किन्तु दोनों को लिखने का उद्देश्य एवं विषय सर्वथा भिन्न हैं। 'रश्मिरथी' में समाज की जातिगत व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह उठाया गया है तो 'कुरुक्षेत्र' समाज में शांति की स्थापना पर एक नए ढंग से विचार करने को प्रेरित करता है। भाग्य और कर्म ऐसे विषय हैं जो दोनों महाकाव्यों में समान महत्ता रखते हैं। कवि की दृष्टि में भाग्य के भरोसे रहने वाले मनुष्य जीवन में कभी कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाते। भाग्य के भरोसे बैठकर कर्म को निष्क्रिय कर देना हमें निरंतर पतन एवं विनाश की ओर ले जाता है। कवि समाज के सामने अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं जो सीधे कर्म को प्रत्येक धर्म, जाति, भाग्य और आर्थिक विषमता से श्रेष्ठ साबित करते हैं। कवि का स्पष्ट मानना है कि ईश्वर ने भाग्य में जो लिखा है उस पर केवल आलसी और परिश्रम से बचने वाले मनुष्य ही विश्वास करते हैं जो वीर और साहसी होते हैं वो अपने भाग्य का निर्धारण स्वयं करते हैं, भले इसके लिए उन्हें सारे संसार से लड़ना क्यों न पड़े। ऐसे उद्यमी मनुष्य ही स्वस्थ समाज की नींव रखने में सफलता प्राप्त करते हैं। यथा—*''ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा करते निरुद्यमी प्राणी/धोते वीर कु-अंक भाल का/बहा भुवों से पानी।''*[9]

सन्दर्भ

1. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी (भूमिका), लोकभारती प्रकाशन, पृ. 10
2. वही, पृ. 44
3. वही, पृ. 51
4. वही, पृ. 96
5. वही, पृ. 66
6. वही, पृ. 3
7. वही, पृ. 23
8. वही, पृ. 16
9. वही, पृ. 79

–डॉ. नीतू गुप्ता

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग

दौलत राम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

'बाकी सब खैरियत है' में स्त्री स्वत्व के विविध रूप एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

—षमीना. टी
—डॉ. शोभना कोक्काडन

सारांश— इक्कीसवीं सदी के ख्याति प्राप्त कश्मीर में जन्मी अहिन्दी भाषी हिन्दी साहित्य साधिका के रूप में महिला लेखिका चन्द्रकान्ता का स्थान अद्वितीय है। उन्होंने अपने सृजनकार्य द्वारा समसामयिक परिप्रेक्ष्य में स्त्री द्वारा भोगे हुए संघर्षों, कुरीतियों, त्रासदियों, विसंगतियों, कुंठाओं, संघर्षशील उदासीन स्त्रियों के द्वंद्वों, आत्मसम्मानहीन स्त्री के विविध परिवर्तनों एवं अस्तित्वहीनताओं को समाज के समक्ष अवगत कराने हेतु अपनी तूलिका चलाई।

बीज शब्द : अस्तित्व, संघर्ष, आत्मसम्मान, अंर्तद्वंद्, अवैध सम्बन्ध, मूल्य विघटन

प्रस्तावना—आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट ख्यातिप्राप्त सशक्त साहित्य साधिका के रूप प्रशंसनीय लेखिका चन्द्रकान्ता ने 'बाकी सब खैरियत है' उपन्यास के माध्यम से मानव जीवन की विभिन्न अनुभूतियों तथा मानव जीवन को कलुषित बनाने वाली मानवकृत विभिन्न समस्याओं को उद्घाटित किया है। उन्होनें स्त्री स्वत्व के विविध रूपों एवं संघर्षरत स्त्रियों की अस्तित्वहीनता को प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक ढंग से उजागर किया है। चन्द्रकान्ता ने अपने भोगे हुए यथार्थ के द्वारा समाज में घटित स्त्री की पीड़ाओं को समझकर उसे न्याय देने का प्रयास किया है। उन्होंने सामाजिक प्रतिबद्धता, मानवीय मूल्य-दृष्टि एवं मानवीय संवेदना से परिचालित होकर समाज में घटित तत्कालीन समस्याओं और विसंगतियों को अवगत कराने में खुद अभि प्रेरित चेतना दिखाई। उन्होंने अपने लेखन कौशल के माध्यम से स्त्री के मन की अंर्तद्वंद्वों, सच्चाईयों, खुद भोगे हुए कटु अनुभवों एवं तदयुगीन समाज में घटित विभिन्न प्रकार की नकारात्मक परिस्थियों, विसंगतियों एवं अवस्थाओं पर प्रकाश डाला। एक दायित्वपूर्ण लेखिका की भूमिका ईमानदारी से निभाने के नाते स्त्री के युगीन समस्याओं, स्त्री स्वत्व के विविध रूपों और अस्तित्वहीन स्त्रियों की आत्मसम्मानहीनता के कारणों को भी दर्शाने का प्रयास किया है।

एक आदर्शवादी यथार्थवादी लेखिका के रूप में मानवीय सम्बन्धों पर विघटित मूल्यों को समाज के समक्ष अभिव्यक्त करने में उनका रचना कौशल सराहनीय एवं प्रशंसनीय है। उन्होनें समकालीन जीवन की बदलते मानवीय रिश्तों के बिखराव, आधुनिक विचारधारा से टूटे पारिवारिक सम्बन्धों, विसंगतियों एवं विद्रूपताओं, वैवाहिक जीवन के अवैध शारीरिक सम्बन्धों से त्रस्त एवं अस्तित्वहीन स्त्रियों के विघटित मूल्यों तथा अव्यवस्थित दुर्दशा के परिणामों को अपना लेखन का विषय बनाया। उन्होंने वही लिखा जो खुद भोगा और जो दूसरों को भोगते देखा, महसूस किया। ''महिला हूँ, पर लेखन खुद महिला समझकर नहीं किया। महिला-लेखन, पुरुष लेखन जैसी चीज मैं मानती नहीं।''[1] स्त्री को वे पारिवारिक सृष्टि में सक्षम, एक प्रयत्नशील तथा विवेकशील सामाजिक और अपने अधिकार कर्तव्यों के प्रति सजग एवं सक्रिय प्राणी मानती हैं। स्त्री-पुरुष के समान हकदार को एक सटीक नीति व्यवस्था मानती है।

सन् 1983 में प्रकाशित 'बाकी सब खैरियत है' उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने मध्यवर्गीय परिवार के मानसिकता तथा सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के बदलते अवमूल्य मानवीय सम्बन्धों को परखा है। एक संयुक्त परिवार के मध्यवर्गीय जीवन में आर्थिक समस्याओं की भूमिका को स्पष्ट करने वाला उपन्यास है 'बाकी सब खैरियत है'। प्रस्तुत उपन्यास में आर्थिक संतुलन के अभाव से त्रस्त पारिवारिक मूल्य विघटन की मानवीय सम्बन्धों को दर्शाने के साथ अपने पुत्रों की आर्थिक स्थिति को महत्व देकर तथानुरूप सम्बन्धों का निर्वाह करनेवाला माता-पिता के स्वभाव से उत्पन्न समस्याओं को भी चित्रित किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में संस्कारशील स्त्री पात्र 'पारुल' रूढ़ परम्पराओं से ग्रस्त परिवार में अपना व्यक्तित्व विकास करने में सक्षम नहीं है। बेटी ऋता मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार की नयी पीढ़ी के युवती की भूमिका निभाती है। पुरुष पात्र अनु पाश्चात्य रंग से प्रभावित है। समाज में रहे महत्वाकांक्षी व्यक्ति का रूप अनु में देखने को मिलता है। 'विनु' संयुक्त परिवार की विभिन्न समस्याओं से जूझने वाला पात्र है। एक साधारण सी नौकरी करता है और साल भर में एक-दो महीने की छुट्टी पर आता है। छोटा लड़का पढ़-लिखकर डॉक्टर बनता है। अनु को

जब विदेश में पैसों की जरूरत थी, तब एक दोस्त ने उसकी मदद की। आर्थिक अभाव के कारण अपने माता-पिता और छोटे भाई की तीव्र उपेक्षा के शिकार बनकर विनु व्यथित होता जाता है और उस परिवार में विनु और पारुल अपमानित होकर संघर्षहीन जीवन व्यतीत करते हैं। ''पारुल सीमाओं की ही बात जानती है। उसके परिवेश ने शुरू से ही उसको सिमटने पर मजबूर किया है, हजारों-हजार लक्ष्मण रेखाएं खींचकर। कोई ताज्जुब नहीं कि एक दिन वह इतना सिकुड़ जाए कि छोटे से कीड़े-मकोड़े में समा जाये और स्वयं भी अपने आप को पहचान न सके।''[2] पारुल अपना मनचाहा घर कभी न बसा पाई। वह घर के परिवेश और परिस्थितियों में पति, सास-ससुर, देवर तथा बच्चे सहित कुंठित है। परन्तु वह परम्पराओं और संस्कारों से जकड़ी हुई थी। इसी कारण वह ऐसा कोई निर्णय नहीं ले सकी जिससे उसके सास-ससुर को कोई कष्ट पहुंचे। पारुल को अपने बच्चों का विद्रोह उचित लगने पर भी उसे शान्त कर देती है। बेटी की बात पर विचार करते हुए पारुल काँप गयी।" उम्र-भर बड़ों के आगे सिर झुकाकर, एक निर्देशित लीक पर चलने के सिवा उसने किया भी क्या है? अपनी कोई पहचान बना सकी है वह? परम्परा के निर्वाह, घर की झूठी इज्जत और बुजुर्गों के अहं को सिर-माथे धरकर वह घर-परिवार की मशीन का एक पुर्जा-मात्र बनकर ही तो घिसती रही। बेटी से उसने इतना ही कहा, मैंने तो हमेशा अपना कर्तव्य निभाया ऋतु।''[3] विदेश में सभी सुख सुविधाओं से परिपूर्ण जीवन का आनंद उपभोग करने के कारण अनु का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। प्रेमिका 'सीमा' से चोट खाने पर उसने भाभी से कहा था कि जो लड़की पसंद आए उससे वह शादी करेगा। पारुल ने उसके लिए टिपिकल यू.पी. ढूँढ़ी। लम्बी चोटी और गर्दन से ऐड़ी तक साड़ी-ब्लाउज, पर जब वह कैनेडा गयी तो उसका रूप ही बदल गया। अनु जब से विदेश गया तब से उसकी सोच बदल गयी। उसका कहना था कि अरेंज्ड मैरेज क्यों जरूरी है?" क्यों अभी भी तुम लड़के-लड़की को अपनी जिन्दगी खुद बनाने नहीं देते, अपना साथी खुद चुनने नहीं देते? मैं सोचता हूं, यह अनावश्यक चिन्ता, हमारे बच्चों को कितना गैर जिम्मेदार बनाते हैं। बचपन से लेकर जवानी तक हम उनके लिए रास्ते क्यों बनाते हैं।''[4]

'बाकी सब खैरियत है' की कथा संयुक्त मध्यवर्गीय परिवार की बड़ी बहू पारूल और छोटे देवर अनु के इर्द-गिर्द घूमती है। संस्कारशील परिवार की बेटी पारुल अपनी रुचि को त्याग करके सास-ससुर और परिवार की सेवा में व्यस्त रहती है। महत्वाकांक्षी अनु पाश्चात्य संस्कृति में रंग जाता है। डा. रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है—'' 'बाकी सब खैरियत है' में लेखिका ने यह दिखाने का प्रयन्त किया है कि एक संयुक्त परिवार में छोटा भाई विदेश जाकर आज की उपभोगवादी संस्कृति में इतना रंग जाता है कि सारे पारिवारिक मूल्यों को ताक पर रखकर अपने माँ-बाप, भाई-भाभी सभी से भावनात्मक स्तर पर अपने को अलग कर लेता है।''[5] सास और बहू के सम्बन्धों का इस उपन्यास में यथार्थ चित्रण पाया जाता है। अभावग्रस्त जीवन बिताने वाले बड़े बेटे की तुलना विदेशों में सुखमय जीवन बिताने वाले अपने छोटे बेटे से करने वाले माता-पिता द्वारा विनू और पारुल कुंठित एवं अपमानित होते हैं। पारुल जैसी हजारों स्त्रियाँ जो अन्त तक अपने मन से जी नहीं सकतीं। बड़े-बूढ़ों की पीढ़ी अंतिम दम तक अपने ढंग से ही जीना चाहती है जिन्हें उपन्यास समर्पित है।

सामाजिक विचारधारा में प्रगतिशील परिवर्तन आना स्वाभाविक है जिससे विचारों के विशिष्ट पद्धति के वातानुकूल तदयुगीन आदर्शों पर नया प्रभाव पड़ता है। स्वतंत्रता काल में जिन आदर्शों एवं मानवीय मूल्यों को तदयुगीन सामाजिक विकास के मानदण्ड माना था, आज पीछे जा चुके हैं। परन्तु कई ऐसे प्राचीन मूल्य है जो आज भी समाज में स्वीकार्य हैं जिससे सामाजिक बंधनों एवं कुप्रथाओं में स्त्री जकड़ी हुई है। न उसे पढ़ने-लिखने का मौका है, न घर से बाहर जाने की अनुमति या इजाजत है और न अपने अस्तित्व के अनुरूप खुलकर सोचने एवं निर्णय लेने का अवकाश है। अनु की माँ प्राचीन विचारों से प्रभावित है। पारुल की शादी जब हुई थी तब से शुरू हुआ सास का अधिकार, सास उसे इजाजत के बिना घर के बाहर कदम भी नहीं रखने देती थी। सास की पसंद के कपड़े पहनने पड़ते थे और अपने बक्सों-अलमारियों की चाबियाँ सास को देनी पड़ती थी। एक बार बालों को रिबन बाँधकर रिश्तेदार के यहाँ जाने के लिए निकलती है तो सास उस पर गुस्साकर दुबारा बाल बनाने के लिए कहती है और जूड़ा बँधवाने का आदेश देती है। बहू पारुल को जब संगीत के कार्यक्रम हेतु स्टेशन में आमंत्रित किया जाता है तो सास उसका विरोध करती है। बेटी 'सरो' का उदाहरण देकर कहती है, ''सरो को तो दस जमात के आगे इसी डर से नहीं पढ़ाया कि कालेज में लड़कों के साथ पढ़ना पड़ता है और तुम अब गा-बजाकर पैसे कमाओगी।'' सास प्राचीन मूल्यों को छोड़ नहीं पाती। सास पड़ोस की औरतों के पास बहू की शिकायत करती है, ''एक मैं थी जो सास का सिर जरा-सा दुखता तो घंटों बैठी सिर दबाती। इधर लत्ते दर्द से खींची जा रही है, मगर कोई मलहम तक नहीं लगाता।''[6] पारुल की बच्ची ऋता जब कहा था कि उसके अन्य फ्रेंडस की तरह वह भी 'डेटिंग' चाहती है। तब पारुल को लगा विदेश आकर्षणों की भूल-भुलैया में वह अपनी बेटी को कब तक बचा पाएगा?

बीसवीं सदी के प्रगतिशील नवजागरण काल के

समाज सुधारकों ने स्त्री को विभिन्न बंधनों की साँकलों से मुक्तकर स्त्री स्वातंत्रय या स्त्री मुक्ति का नारा लगाया जिससे स्त्री अपने अधिकार और अस्तित्व के प्रति जागरूक हुई। वह भी पुरुष के समान कंधे-से-कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में अपने स्वत्व को निभाने के लिए कार्यरत हो गई जिससे उसकी हीन भावना नष्ट हो गई, आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान में वृद्धि आयी। स्त्री को उचित सम्मान मिला।'' आधुनिक युग में नारी के सहयोग से विश्व की सृजनात्मक आस्थामूलक पुनर्रचना करने की संभावना ने नारी को पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया है।''[7] परंपरागत मूल्यों को उसने बदलने का प्रयत्न किया। आधुनिक नारी प्राचीन परंपराओं का त्याग पूर्णरूप से तो नहीं कर पाई है पर उन पुरानी सड़ी-गली परंपराओं से स्वयं को किसी सीमा तक मुक्त अवश्य करा पाई है।''[8] उपन्यास के पात्र 'निम्मी' अपने ढंग से और स्वतंत्रता से जीना चाहती है, परन्तु सास के साथ विचारों का अनमेल होने से टकराव होने लगता है, तो वह स्पष्टतः जेठानी से कहती है, ''हम अपने सुख-सुविधा छोड़कर इनके लिए कितना कुछ तो करते थे, लेकिन माँ कभी संतुष्ट हुई भाभी! आखिर, इन्हें भी समझना चाहिए कि सभी जीना चाहते हैं। जी चुके लोगों के लिए हम अपनी उगती जिंदगी का गला थोड़े घोंट सकते हैं।''[9] सास बहू पारुल के बक्सों-अलमारियों की चाबी अपने पास लेकर रखती थी, परन्तु निम्मी चाबी सौंपने से विरोध करती है। वह कपड़े भी अपने ढंग से पहनती है। पति को साफ-साफ सुनाती है, ''जो शख्स जमाने से ही नाराज हो, वह जमाने के साथ चलने वाले हर व्यक्ति से नाराज होगा और मेरी समझ में माँ की नाराजगी बिल्कुल नहीं आ सकती, इतना जान लो।''[10] वह किसी भी हाल में पिछड़ना नहीं चाहती है। इसी प्रकार पारुल की बेटी ऋता भी आधुनिक विचारों से प्रेरित दिखाई देती है। वह खुद की अलग पहचान बनाना चाहती है। समझौता उसे अस्वीकार है, जितनी भी जिंदगी मिलेगी वह अपनी सोच के मुताबिक जीना चाहती है। ऋता ने एक बार कहा था, ''चाचा-चाची बहुत अच्छे हैं, मगर वाई डोन्ट दे लीव अस अलोन। हमारे हर काम पर उनके दस्तखत क्यों जरूरी है'' ?[11] स्त्री आधुनिक प्रगतिशील विचारों के कारण अपने अस्तित्व को पहचानने लगी है। अधिकार और कर्तव्यबोध से भरी होकर कार्यरत होने में सजग हो रही है। अत्याचार और शोषण का सामना करने के लिए वह सिद्ध है। इतना ही नहीं वह अन्य स्त्रियों को भी अन्याय से मुक्ति दिलाने का प्रयास करती है।

लेखिका ने प्रेम एवं विवाह की समस्या का भी गहनता से चित्रण किया है। लेखिका ने विवाह पूर्व प्रेम का निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि किशोरावस्था में भावनावश किया गया प्रेम का अंत तक निर्वाह नहीं होता। किसी एक का विवाह होने पर प्रेम की वहीं समाप्ति हो जाती है। अनु भावनावश सीमा की ओर आकर्षित होता है। अनु और सीमा दोनों डॉक्टर हैं। एक दूसरे को चाहते भी हैं। परन्तु उसका विवाह एक सम्पन्न घर परिवार में हो जाता है। अपने दर्द को अनु अपनी भाभी को इन शब्दों में व्यक्त करता है, ''जाने दो भाभी! वह सब शायद एकतरफा ही था। सीमा तो सभी के साथ खुलकर बोलने वाली लड़की थी। मैं ही गलत समझ गया। उसने शादी की बात सुनकर साफ कह दिया कि इसका फैसला उसके पिता ही करेंगे और पिताजी गुजराती ब्राह्मण को ज्यादा पसन्द करते थे।''[12] सीमा सुरक्षित होने पर भी स्वयं निर्णय लेने का साहस न कर पाई। वह अपने पारिवारिक परंपरा और मूल्यों को मानने के कारण अनु से विवाह करने में विवश रही। इसलिए इनके प्रेम की स्थिति यही रही। किसी आत्मीय क्षण में दोनों के भीतर उष्णता की लहरें उठी थीं। लेकिन काठ-कंक्रीट के तटों को छूकर बिखरने की नियति लेकर। किसी अवरोध को तोड़ने की शक्ति उनमें न थी। बस, किनारों की रेत-मिट्टी गीली करके वे अपने में सिमट आयी थी। अनु ने शायद तभी से सपने देखने शुरू किए थे। सीमा ने भी तो भरपूर साथ दिया था।''[13]

पारुल की बेटी ऋता उसकी अन्य फ्रेंड्स की तरह वह भी 'डेटिंग' करना चाहती है। 'आय एम ए बिग गर्ल पा' कहकर उसने बाय फ्रेंड्स बनाने की अनुमति माँगने लगी पारुल से।

मनुष्य हमेशा द्वन्द्वात्मक स्थिति से गुजरता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति के बारें में डॉ. जौहरा अफजल लिखती हैं, ''वह परंपरा और आधुनिकता के बीच फंसकर रह गई है। न तो वह इन संस्कारों को पूर्ण रूप से त्याग पाई, न ही आधुनिकता को सम्पूर्ण रूप से अपना सकी है।''[14] उसका यह द्वन्द्व बदलते परिवेश के कारण जितना बन चुका है उतना ही भावुक स्वभाव और पुरुषों के समान जीने की लालसा के कारण भी। उसके व्यक्तित्व के नारी के द्वन्द्व की यह स्थिति उभरी है जहाँ उसने अपने व्यक्तित्व के निर्माण के निमित्त विचार और भावना का संतुलित ढंग से उपयोग किया है और जीवन को अपनी इच्छानुरूप जीना चाहा है। विचार और भावना का द्वन्द्व में कभी विचार प्रमुख हो उठे हैं और कभी भावना।''[15] पारुल में हमेशा कुछ करने, बनने की ललक है। वह संगीत, चित्रकला जैसे माध्यमों से अपनी भावनाओं को व्यक्त करना चाहती है। उसे प्रगतिशील विचारों से प्रेरित होते हुए भी मर्यादाओं, संस्कारों के बीच दबकर चुप बैठने के लिए मजबूर होना पड़ता है, परिणामस्वरूप विचार और भावना का संघर्ष आरंभ होता है। पारुल के भीतर की कोई आवाज उसे डाँटने लगती है, तुम अपने कान बंद कर लिए। तुम्हारे भीतर की हौंस, कोई आवाज तुम सुन-समझ नहीं पाई।

तुमने आँख बंद की कि तुम अपने भीतर बनते विराट चित्रों को देख न सकी। तुम्हारे भीतर पंख फड़फड़ाते एक नन्हा पाखी उन्मुक्त आकाश में उड़ान भरना चाहता था, तुमने सभी दरवाजें-खिड़कियाँ बंद कर ली। तुम उसकी घुटन भारी मौत की जिम्मेदार हो।''[16]

बेटा अनु जब माता-पिता को विदेश लेकर गया, तब आरंभ में वहाँ की चकाचौंध और वैभव को देखकर वे अतिप्रसन्न होते हैं। परन्तु 'जनरेशन गैप' के कारण वे कुछ दिनों में भी अपनी जबान और बर्ताव से उनका दिल तोड़ देते हैं। उनका कहना था, ''जी चुके लोगों के लिए हम अपनी अगती हुई जिन्दगी का गला थोड़े ही घोंट सकते हैं?''[17] पारुल की जिन्दगी के हर रुकावटों का कारण एक ही स्त्री है उसकी सास जो हर क्षण में अपने विचारधाराओं के अनुकूल ही सोचती है, निर्णय लेती है। वह अपनी बड़ी बहू के खिलाफ ही ज्यादातर अनैतिक प्राचीन आदर्शों को लेकर सामने आती है। पारुल जैसी हजारों नारियाँ हैं जो अन्त तक अपने मन से जी नहीं सकतीं। सास ने बहू निम्मी को बाल काटने के कारण उसे बार-बार परकटी कहना, अलमारियों की चाभियाँ माँगना, पैडिडब्रा को छूकर पूछताछ करना, ससुर से बात करने पर शक करना निम्मी को बिल्कुल पसंद नहीं था। अपनी सास को देखकर, निम्मी को हमेशा गुजरे जमाने का कोई नायाब नमूना अकबरी लोटा या नूरजहाँ का दुशाला याद आता, जिसे एंटीको में शुमार करके घर में सजाया जा सकता है''[18] सास कहती है, ''ये आजकल की ये छोकरियाँ अदब सलीका क्या जानें? लिहाज शर्म क्या समझें! आँखों का पानी तो मर गया है। बहू तो पारूल ही है। बात-लात सहती है, पलटकर नहीं बोलती। आखिर वक्त की बहू है। अगेड़ी-पिछेड़ी में फर्क तो होगा ही।''[19]

प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने महानगरीय लोगों के जिंदगी की गतिविधियों, कुंठाओं, असंतोषों का सही अंकन यहाँ पर सही ढंग से किया है। यह ऐसा एक उपन्यास है जिसमें मध्यवर्गीय परिवार की वैवाहिक जीवन में आए खोखलेपन, टकराहट, मानसिक द्वंदों का सही चित्रण है। यहाँ आधुनिक नारी की द्वंद्वग्रस्त मनःस्थिति और जीवन शैली का सराहनीय वर्णन करने के साथ-साथ अवैध संबंध का भी उल्लेख किया गया है। उनकी रचनाएँ व्यक्ति-समाज और देश के प्रति उनकी प्रतिबद्धता का ठोस प्रमाण सिद्ध हुई हैं। पारिवारिक जीवन, विवाह, स्त्री की समस्याएँ, स्त्री शोषण, अविवाहित स्त्री की मानसिक व्यथा जैसी मुख्य समस्याओं का सूक्ष्म अंकन किया है।

संदर्भ

1. समकालीन महिला लेखन, डा. ओमप्रकाश शर्मा, पृ. 36
2. बाकी सब खैरियत है, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, संस्करण, 1983, पृ. 9
3. वही, पृ. 134
4. वही, पृ. 36
5. हिन्दी उपन्यास, डा. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, ससंकरण, 2006, पृ. 181
6. बाकी सब खैरियत है, पृ. 108
7. आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी, डा. जे. एम. देसाई, पृ. 186
8. साठोत्तरीकथा-साहित्य में श्रमजीवी नारी, सं.नंदकिशोर मिश्र, भाषा अंक, नवंबर-दिसंबर, 1999, पृ. 78
9. बाकी सब खैरियत है, पृ. 51
10. वही, पृ. 53
11. वही, पृ. 130
12. वही, पृ. 75
13. वही, पृ. 76
14. साठोत्तरीकथा-साहित्य में श्रमजीवी नारी, सं. नंदकिशारे मिश्र, डा. जौहरा अफजल, भाषा, अंक 2, नवम्बर-दिसम्बर, 1999. पृ. 78
15. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में नारी के विविध रूप, डा. गणेश दास, पृ. 179
16. बाकी सब खैरियत है, पृ. 8
17. वही, पृ. 51
18. वही, पृ. 53
19. वही, पृ. 55

–षमीना. टी
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
अविनाशालिंगम इंस्टीट्यूट फार होम साइन्स एंड हाइयर एडुकेशन फॉर वुमेन, कोइम्बत्तूर, तमिलनाडु

–डॉ. शोभना कोक्काडन
शोध निर्देशक, अविनाशालिंगम इंस्टीट्यूट फार होम साइन्स एंड हाइयर एडुकेशन फॉर वुमेन, कोइम्बत्तूर, तमिलनाडु

आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य परम्परा : नीरज का प्रदेय

—शिवम गिरि

हमारे यहाँ गीत काव्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन रही है। देखा जाए तो गीतिकाव्य का प्रामाणिक और साहित्यिक स्वरूप मूलरूप से वेदों में मिलता है। श्रीमद् भागवत गीता में गीत शब्द की पूरी महत्ता दर्शाई गई है। वेदों में सामवेद जो कि अपने भावपूर्ण संगीत के लिए प्रसिद्ध है और ऋग्वेद में जो उषा वर्णन किया गया है वह गीत का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसी के समान अर्थवेद में जो भू वंदना की गई है, वस्तु गीति का वह भी एक सुंदर उदाहरण है। विद्वानों ने गीत की परिभाषा कुछ इस प्रकार बताई है, ''मानव हृदय की वेदना को व्यक्त करने में जहाँ कविता असमर्थ हो जाती है, वहीं गीत का जन्म होता है। गीत मानव हृदय की किसी छिपी कसक-टीस की सहज ही साकार कर देने का एक सफल और सबल माध्यम है। श्रेष्ठ गीत वही है जो भाव अथवा भावमय अनुभूतियों को शब्दों में समेट सके एवं उसकी भाषा में कोमलता एवं सहजता हो।''[1] दार्शनिक हीगल का भी मानना है, 'गीति सृष्टि की एक विशेष मनोवृति होती है। इच्छा, विचार और भाव उसके आधार होते हैं। भाव की उत्पत्ति के लिए वाह्य पदार्थों का मन में विनिर्गमन होता है। तब वह कल्पना के बाह्य जगत प्रधान हो जाती है जिससे भाव की उत्पत्ति होती है और जीत की सृष्टि होती है।''[2]

हिंदी साहित्य कोश में भी गीतिकाव्य को परिभाषित किया गया है, ''कवि की वैयक्तिक भावधारा और अनुभूति को उसके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देने के विधान को गीतिकाव्य कहते हैं। वह उन पूर्ण और समग्र क्षणों की वाणी है जिनकी स्थिति में वे क्षण ही पूर्ण और समग्र जीवन प्रतीत होते हैं।''[3] महान कवियत्री महादेवी वर्मा जी ने गीतिकाव्य को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है, ''सुख-दुख की भावमयी अवस्था, विशेष कर गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्त नहीं, कारण हम भाव की अतिशयता में कला की सीमा लांघ जाते हैं और उसके उपरांत भाव के संस्कार में मर्म स्पर्शिता का शिथिल होना अनिवार्य है।''[4] आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रबंध काव्य को रसीला फल बताते हुए गीति रचना को इस फल का द्रव्य रस कहते हैं। उन्होंने इस प्रसंग में गीत काव्य की जिस सहज भाव से व्याख्या की है वह एक ओर तो काव्यात्मक है तथा दूसरी ओर गीति के समस्त तत्वों की एक सफल अभिव्यक्ति भी है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास नामक ग्रंथ में गीतिकाव्य की व्याख्या करते हुए कहा है, ''प्रबंध काव्य यदि कोई रसीला फल है जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बीज आदि निकालने पर ही किया जा सकता है तो प्रगीत रचना इस फल का द्रव रस है जिसे हम तत्काल घूँट-घूँट पी सकते हैं।''[5]

सामान्य रूप से गीतिकाव्य का अर्थ है—'गाया जा सकने वाला काव्य' किंतु प्रत्येक गाए जाने वाले काव्य को गीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता। जो गीत में हृदय में उठने वाले भावों की अनुभूति, लयबद्धता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता आदि गुणों से युक्त होते हैं, उसे ही गीतिकाव्य कहा जाता है। भारतीय गीतिकाव्य परंपरा की शुरुआत वेदों से पहले की मानी जाती है। उसके बाद से गीतिकाव्य में लगातार कई परिवर्तन होते रहे हैं। आज उसकी कई नवीन धारायें हमारे सामने आ चुकी हैं। मानव जगत में गीतिकाव्य की परंपरा अति प्राचीन मानी जाती है। पहले किसी भी लयबद्ध अथवा संगीतमय गान को गीत मान लिया जाता था किंतु अब ऐसा नहीं है। आज के समय में गीत लयबद्ध होने के साथ ही साथ अर्थपूर्ण भी होना चाहिए। पर इतना तो स्पष्ट है कि मानव के रागात्मक प्रवृति के कारण ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। गीतिकाव्य के संबंध में विद्वानों द्वारा जो उपर्युक्त मत प्रदर्शित किए गए हैं। वह गीति के स्वरूप को पूर्ण रूप से दर्शाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गीतिकाव्य वह है, जिसमें संगीत से सजी सँवरी हृदय से निकले हुए उद्गार की सरल अभिव्यक्ति जो किसी बने बनाए नियम विशेष से बँधी न होकर भी इस प्रकार व्यवस्थित और संगठित हो कि वह अपने भाव स्वतः रसानुभूति करा सकने में समर्थ हो।

किसी भी गीतिकाव्य का सबसे प्रमुख गुण होता है, उसका व्यक्तिपरक होना। गीतिकाव्य में कवि अपनी व्यक्तिगत विचार भाव को ही वाणी देता हुआ अपनी लेखनी से व्यक्त करता है।*''जो घनीभूत पीड़ा थी/मस्तक में स्मृति सी छाई/दुर्दिन में आंसू बनकर/वह आज बरसने आई।''*[6] गीतिकाव्य में कवि जो कुछ भी लिखता है वह उसका अपना निजी अनुभव होता है। इसमें गीतकार अपने सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रेममिलन-अलगाव के भाव को अभिव्यक्ति

प्रदान करता रहता है। दूसरे नंबर पर आता है संगीत। संगीत किसी भी गीतिकाव्य का प्राण होता है। भाषा और साहित्य का जब उद्भव ही नहीं हुआ था उससे पूर्व ही संगीत अपने आप को परिचित करा चुका था। यह किसी भी हृदय की भाषा तथा मन के प्रकाश का स्वरूप है। इस संपूर्ण जगत में कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ संगीत की पहुंच ना हो और हमारे भारत देश में तो संगीत की साधना अभी से नहीं किंतु वैदिक काल से ही निरंतर चली आ रही है। संगीत और काव्य का नाता तो युग-युगांतर का है। दोनों ही एक-दूसरे के बिना अधूरे से मालूम होते हैं। किसी भी गीत में संगीत का कार्य यह होता है कि वह गीत के शब्द-शब्द को जोड़ कर परस्पर नादात्मक सौंदर्य प्रस्तुत करे। तीसरे नंबर पर आता है भाव और समत्व। गीत का अर्थ ही है भाव से परिपूर्ण होना। व्यक्ति के हृदय में जब अनुभूति अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है तो गीत का निर्माण होता है। ''गीति-रचना किसी भी नियम में नहीं बँधती, वह अपने अनियमितता और निर्बंधता में बद्ध होती है। प्रत्येक गीत को सर्व स्वतंत्र अपराश्रित और अपने में भी परिपूर्ण मानकर पढ़ा और गाया जाता है और उसका रस लिया जाता है।''[7] चौथे नंबर पर आता है रसोद्रेक क्षमता और प्रभावोत्पादकता। गीत को पढ़ या सुन रहे व्यक्ति को रस से सिंचित और उसके मन पर अपनी एक विशिष्ट छाप छोड़ देना ही किसी भी गीत का अनिवार्य लक्षण होता है। हरिवंश राय बच्चन जी कहते हैं—''रस डूबा स्वर में उतराया, यह गीत सदा मैंने गाया।''[8] इसी को काव्यलोचन में आनंद कहा गया है। डॉ. उपेंद्र का कहना है, ''प्रभावोत्पादक होना गीति के लिए अनिवार्य है। रसोद्रेक पूर्ण गीति उसे कहेंगे जो प्रारंभ में पाठक के मन में कौतूहल जागृत करे, तब (मध्य में) अपने उद्दीप्त भाव को आरोपण करें और तब समाप्तलीन होते-होते ऐसा प्रभाव छोड़ दे कि उसकी अनुगूंज चिरंजीवी हो जाए, ऐसे कि आत्मा के कान तृप्त हो जाएं और प्राणों के प्राण भी प्रेरणा पाते रहें।''[9]

हिंदी साहित्य के आदिकाल में यद्यपि विशेष कर प्रबंध काव्य ही रचे गए हैं। फिर भी वे प्रबंध काव्य भी कहीं-न-कहीं गीतात्मक विशेषताओं से युक्त हैं। उनमें भी सरस सरल संगीतात्मकता, आत्मनिष्ठ व्यंजना, संगठित शिल्प आदि गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएं देखने को मिलती हैं—नंदक नंदन कदंबक तरुवर/ धीरे-धीरे मुरली बजाव/समय संकेत निकेतन बइसल/बेरि बेरि बोलि पठाव।''[10] गीतिकाव्य में जो सौंदर्य परिलक्षित होता है, उस दृष्टि से भक्ति काव्य भी विशेष उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से देखा जाए तो भक्त कवियों में मीरा के पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं और उसके बाद हिंदी साहित्य का जो रीतिकाल है उसमें तो रस व श्रृंगार की प्रमुखता ही थी और उस काल खंड में बहुत सुंदर गीतिकाव्य रचे गए। गीतिकाव्य की अति प्राचीन रूप से चली आ रही परंपरा नितांत सुंदर से सुंदरतम होती चली गई है जिससे भले ही यह परंपरा पुरानी हो फिर भी यह नई की नई बनी रहती है। लगातार कई काल खंडों की यात्रा करते हुए गीतिकाव्य जब आधुनिक काल में प्रवेश करता है तो इस काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र जी ने गीतिकाव्य को अपनी अलौकिक प्रतिभा के जरिए एक नए मुकाम पर पहुंचा दिया। इसके बाद द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मकता के कारण आंतरिक अनुभूति में कुछ कमी सी आ गई। इस युग में गुप्त जी, राम नरेश त्रिपाठी, कामता प्रसाद गुरु में भी गीति तत्व का अभाव था। तत्पश्चात हिंदी साहित्य में जब छायावादी युग का प्रादुर्भाव हुआ तो इस युग में गीतिकाव्य को उचित स्थान मिला। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि ने विशुद्ध गीति तत्व से परिपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत कीं। प्रसाद के गीतों में सुंदरता और उनकी प्रेम की पीड़ा तथा यौवन की न बुझने वाली अतिशयता का आभास सुचारू रूप से झलकती है—''लहरों में प्यास भरी/है भंवर पत्र भी खाली/मानस का सब रस पीकर/लुढ़का दी तुमने प्याली।''[11]

प्रगतिवादी युग में हिंदी साहित्य में गीति को तो जैसे पंख लग गए। नई-नई उपमा, नए-नए उपमान इस युग में जन्म लेते हैं। इस युग में गीतिकाव्य अपने चरम पर रहा। प्रगतिवादी युग के गीतों में प्रेम, सौंदर्य, सहचर्य, प्रणय, श्रृंगार मिलन आदि की प्रमुखता रही है। गोपाल सिंह 'नेपाली', डॉ रविंद्र भ्रमर, कीर्ति चौधरी, रमानाथ अवस्थी आदि इस युग के प्रमुख गीतकार हैं। इन्होंने प्रेम का स्वच्छंद और विहंगम चित्रण अपने गीतों में किया है—''तुम अछूत जवानी/अमर प्यार हम/तुम बिना राख की आग/अंगार हम साथ रहते हुए हम अलग हो गए/तुम पहुँच से परे और संसार से हम।''[12]

छायावादोत्तर युग में भी गीतिकाव्य अत्यधिक मात्रा में लिखे गए हैं। रूपवर्णन, प्रणयभाव, सौंदर्य परकता आदि इस युग के गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस गीत परंपरा के सर्वश्रेष्ठ गीतकार कवि हरिवंश राय बच्चन जी हैं। जो अपनी व्यक्तिगत पीड़ा, शोक, हर्ष-विषाद, प्रणय, मिलन की भावपूर्ण मनःस्थिति को अपने गीतों में जगह दी है—''झुलस गया तन-झुलस गया मन/झुलस गया कवि-कोमल जीवन/किंतु अग्नि वीणा पर अपने/दग्ध कंठ से गाता हूं मैं।''[13] स्वच्छंदतावादी युग में सभी प्रकार के गीत लिखे गए जिनमें रूप-सौंदर्य और प्रणय-भावना से परिपूर्ण गीत भी है। शिवमंगल सिंह 'सुमन', कवि नरेंद्र शर्मा आदि इस युग के प्रमुख गीतकार हैं। कविवर गोपाल दास 'नीरज' जी का नाम हिंदी गीतिकाव्य परंपरा में सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिना जाता है। उनके काव्य में गीतितत्व, लयबद्धता, सरसता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

नीरज के गीतों में जो लयबद्धता और शब्दों का संचयन है, वह उनके गीतों के प्राण तत्व हैं। नीरज जी के गीतिकाव्य का जो मुख्य विषय है, वह प्रेम तथा सौंदर्य वर्णन है। नीरज जी के गीत विशुद्ध प्रेम परक हैं। जहाँ उनमें प्रेम-मिलन, तड़प, बिछड़न, संयोग-वियोग का वर्णन मिलता है। नीरज जी मुख्यतः मंच के कवि हैं और वह समकालीन मंचीय कवियों का नेतृत्व करते हैं। नीरज जी अपने मधुर कंठ से श्रोताओं का मन मोह लिया करते थे। नीरज जी ने फिल्मों में भी गीत लिखे किंतु कवि-सम्मेलन नीरज के लोकप्रिय होने में बहुत महत्वपूर्ण थे। उनकी राय थी कि प्रेम चाहे ईश्वर के प्रति हो या मानव के प्रति इसमें अनन्यता का होना आवश्यक है। प्रेम के लिए न्योछावर नीरज खुद को अपनी प्रिया के लिए कुछ भी करने के लिए सदैव तैयार रखते थे—''कहीं चुरा ले चोर न कोई/दर्द तुम्हारा याद तुम्हारी/इसीलिए जगकर जीवन भर/आँसू ने की पहरेदारी।''[14]

सौंदर्य का जो सबसे प्रमुख गुण होता है वह होता है उसका आकर्षण। सौंदर्य के लक्षण ही यह होते हैं कि वह देखने वाले को भाव विभोर कर देती है और देखने वाला भी यही भाव लेकर उसी में वशीभूत रहता है। नीरज जी के सौंदर्य गीतों में भी ऐसे ही भाव देखने को मिलते हैं। नीरज जी ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी प्रियतमा के लिए अपना सर्वस्व जीवन ही लुटा दिए। उन्होंने अपने प्यार पर सब कुछ कुर्बान कर दिया। वह अपने प्रेम में सफल नहीं हो पाए और उनका प्रेम से विच्छेदन हो गया। असफल होने के बाद नीरज इतने उदास और व्यथित हो गए कि उन्होंने दोबारा कभी अपने अंदर प्रणयभाव नहीं उत्पन्न होने दिया। उन्होंने अपने इन भावों को गीत में अभिव्यक्त किया है—''अब मचलते हैं न नयनों में कभी रंगीन सपने/है गए भर से, किये ये जो हृदय में घाव तुमने/कल्पना में अब परी बनकर उतर पाती नहीं तुम/पास जो थे है स्वयं तुमने मिटाए चिन्ह अपने/ अब तुम्हारे प्यार भी मुझको नहीं स्वीकार प्रेयसि।।''[15] प्रेम में खंडित और दुखित किसी भी प्रेमी का हृदय अपनी प्रिय की स्मृति को अपने दिल से हटा देने का असफल प्रयत्न करता है और अपनी प्रियतमा से भी वह इस प्रकार का अनुरोध करता है कि वह उसे भुला दे। परंतु यह जानना भी आवश्यक है कि जीवन के पहले पहले प्रेम को बिसरा देना किसी के लिए भी कठिन होता है। हम समाज में लोगों के मुंह से यह सुनते हुए पाए जाते हैं कि प्रेम किया नहीं जाता है, प्रेम तो हो जाता है और जब प्रेम एक बार हो जाता है तो संसार की सारी वस्तुएं उसके सामने बेकार सी लगती हैं—''रोम-रोम में खिले चमेली/सांस-सांस में महके बेला/पोर-पोर से झरे मालती/अंग-अंग जुड़े जूही का मेला/पग-पग लहरे मानसरोवर/डगर-डगर छाया कदंब की/तुमने क्या कर दिया उमर का खंड हर राज भवन लगता है/दो गुलाब के फूल छू गए जब से होंठ अपावन मेरे/ऐसी गंध बसी है मन में सारा जग मधुबन लगता है।''[16] यह सत्य है कि नीरज जी ने प्रेम से परिपूर्ण गीत बहुत अधिक लिखे हैं। इसमें उनके संयोग और वियोग दोनों पक्ष मिलते हैं। लेकिन इसके साथ-साथ नीरज जी ने देशभक्ति और राष्ट्र भक्ति से अभिसिंचित गीत भी लिखे हैं। साथ ही उन्होंने अपने गीतों के माध्यम से देश की समस्याओं एवं उनके समाधान को भी गीतों के माध्यम से बताया है—''भूख और गरीबी कभी मिटती नहीं नारों से/उसे जो मिटाना है तो खेत में पसीना दो/नई पीढ़ी प्यार और सिंगर के लिए/आँधियों के मौसम को फूलों का महीना दो।''[17] नीरज जी ने अपने जीवन काल में लगभग 135 गीत फिल्मों के लिए लिखे हैं। इससे भी नीरज जी को काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई। उनका जो एक गीत लोकप्रिय हुआ, उसमें 'कारवाँ गुजर गया' का स्थान सबसे अग्रणी है—''स्वप्न-झरे फूल से/मीत चुभे शूल से/लुट गए सिंगार सभी बाग के बाबुल से/और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे/कारवाँ गुजर गया, गुबार देखते रहे/ साथ के सभी दिए धुँआ-धुँआ पहन गये/और हम झुके-झुके, मोड पर रुके- रुके/उम्र के चढ़ाव का उतार देखते रहे/कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।''[18] इस प्रकार हम देखते हैं कि नीरज जी ने प्रत्येक विषय जिन पर गीत लिखे जा सकते थे उन सब पर गीतों की रचना की और उनके गीत खूब लोकप्रिय भी हुए।

आधुनिक युग विशेष कर प्रगतिवादी युग में गीतिकाव्य का जो विकास हम देखते हैं, उसका श्रेय पूरी तरह से गोपाल दास 'नीरज' को ही जाता है। इस गीतिकाव्य धारा के जो प्रमुख आधार स्तंभ हैं उनमें नीरज का नाम बड़े ही आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने गीत को एक नया आकार दिया। प्रेम, त्याग, पीड़ा, सौंदर्य, मृत्यु, दुख आदि को उन्होंने अपने गीतों का विषय बनाया है। उनके गीतों में समाज की वास्तविकता झलकती है—''आँसू जब सम्मानित होंगे मुझको याद किया जाएगा/जहाँ प्रेम की चर्चा होगी मेरा नाम लिया जाएगा/जब भी कोई सपना टूटा मेरी आँख वहाँ बरसी है/तड़पा हूँ मैं जब भी कोई मछली पानी को तरसी है/गीत दर्द का पहला बेटा दुख है उसका खेल-खिलौना/कविता जब मीरा होगी तब कोई जहर दिया जाएगा/आँसू जब सम्मानित होंगे मुझको याद किया जाएगा।''[19] नीरज जी विशुद्ध श्रृंगार परक गीतों के साथ-साथ समाज की परिस्थितियों से जुड़ते हुए समाज की व्यथा पर भी गीत लिखे हैं—''यह मुर्दा नुमाइश भूखों की/यह उजड़े चमन बेकारों के/जूठन पै सड़क की जीते हुए/शहजादे यह सुर्ख बहारों के/यह होली खून-पसीने की/नीलामी यह हुसैन हसीनों की/गंगा की कसम जमुना की कसम/यह ताना-बाना बदलेगा।''[20]

नवगीतकार नीरज जी ने मुख्य रूप से गीतकार के रूप में लोगों के दिल में अपनी जगह बनाई है। उन के विषय में यह बात बिल्कुल सही कही जाती है कि उन्होंने हरिवंश राय 'बच्चन' जी की परंपरा को आगे बढ़ाया। उनके गीतों में मानवतावादी प्रेम के भी दर्शन होते हैं। वह मानवीय प्रेम के इतने सच्चे समर्थक हैं कि वह इसी के आधार पर ईश्वर की भक्ति और ईमान की पहचान करते हैं। उनके गीतिकाव्य में प्रकृति चित्रण भी विशिष्ट रूप से चित्रित हुआ है। उनके बारे में डॉ. सुरेश गौतम ने लिखा है, ''अतृप्ति, निराशा, नियति प्रेम, जीवन की क्षणभंगुरता पर विश्वास की भावनाएं कवि का एक पक्ष है और आस्था, आशा, और संकल्प दूसरा। दोनों के बीच नीरज का व्यक्तित्व झूमता रहा है।''[21]

गोपालदास 'नीरज' को आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में अपना विशेष योगदान देने के लिए भारत सरकार द्वारा वर्ष 1991 में 'पद्मश्री' और वर्ष 2007 में 'पद्म भूषण' से सम्मानित किया गया था। इसके साथ ही वह दो पद्म पुरस्कार पाने वाले पहले साहित्यकार बने। इनके गीतों में आत्मत्याग और समर्पण की भावना दिखाई पड़ती है। नीरज जी के गीतों में गीतात्मकता, लयबद्धता और मधुरता तो स्पष्ट रूप से झलकती दिखाई देती है तथा इनके कुछ गीतों में यथार्थ का बोध भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है जिसमें वर्तमान की कुंठा, निराशा, विषमता, दरिद्रता आदि का सजीव चित्रण किया गया है। नीरज जी गीतिकाव्य धारा के आधार स्तंभ है। उन्होंने गीतिकाव्य को नए आयाम दिए हैं। इस प्रकार नीरज गीतिकाव्य परंपरा के आधार स्तंभ के रूप में अपनी पीढ़ी का नेतृत्व करते हैं। गीतिकाव्य की परंपरा में नीरज के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। वे प्रासंगिक है और जब तक संसार में मानव जीवन रहेगा तब तक प्रासंगिक बने रहेंगे। उनकी रचनाएँ हिंदी साहित्य में और विशेषरूप से गीतिकाव्य में अक्षुण्ण बनी रहेंगी और आने वाला भविष्य उनकी रचनाओं को और भी अधिक तत्परता से गाएगा, क्योंकि अन्तर्मन को समझने वाले बहुत ही कम लोग हुए हैं जिनमें से नीरज जी भी एक हैं।

संदर्भ

1. डॉ. ओमप्रकाश अग्रवाल, हिंदी गीति काव्य, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम सं. (सं. 2026) पृ. 2
2. सं. हरिशंकर शर्मा, अभिनव हिंदी कोश, गया प्रसाद एंड संस, आगरा, 1979
3. हिंदी साहित्य कोश, डॉ. धीरेंद्र वर्मा, डॉ. बृजेश्वर वर्मा, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. धर्मवीर भारती तथा डॉ. रघुवंश द्वारा संपादित तथा ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1986, पृ. 261
4. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, सेतु प्रकाशन, झाँसी, 1970, पृ. 147
5. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृ. 24
6. जयशंकर प्रसाद, आँसू, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1976, पृ. 12
7. हरिवंश राय बच्चन, आरती और अंगारे 'भूमिका', राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, चतुर्थ सं., 1969 पृ. 25
8. वही, पृ. 197
9. डॉ. उपेंद्र, 'घटा सांवरी', राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1999, पृ. 4
10. सं रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यापति की पदावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 3
11. डॉ. कृष्ण चंद्र वर्मा, छायावादी काव्य, कैलाश पुस्तक मंदिर, ग्वालियर, 1972, पृ. 131
12. भूपेंद्र कुमार स्नेही, हिंदी के लोकप्रिय प्रणय गीत, भारतीय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1975, पृ. 5
13. डॉ. अरविंद पांडे, हिंदी के प्रमुख कवि—रचना और शिल्प, अस्मिता प्रकाशन, कानपुर, 1986, पृ. 79
14. डॉ. सुदर्शन चोपड़ा, हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार नीरज, आई. बी.बी.सी. प्रेस, दिल्ली, 1977, पृ. 74
15. नीरज, बादर बरस गयो, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1988, पृ. 39
16. नीरज, कारवाँ गुजर गया, प्रथम संस्करण, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृ. 32
17. डॉ. सुदर्शन चोपड़ा, हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार नीरज, आई. बी. बी .सी. प्रेस, दिल्ली, 1977, पृ. 171
18. वही पृ. 88
19. नीरज, दर्द दिया है', आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1986, पृ. 21
20. डॉ. सुदर्शन चोपड़ा, हिंदी के प्रसिद्ध गीतकार नीरज, आई. बी. बी. सी प्रेस, दिल्ली, 1977, पृ. 193
21. नवगीत, इतिहास और उपलब्धि, डॉ. सुरेश गौतम, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 84

–शिवम गिरि

शोध छात्र

अरमापुर पी. जी. कॉलेज, कानपुर

(छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय कानपुर)

पाश्चात्य मान्यताएँ एवं नई कविता

—शिवा अग्निहोत्री

प्रायः किसी भी युग की काव्य प्रवृत्तियाँ अपने पूर्ववर्ती युग की प्रवृत्तियों से एकदम विपरीत नहीं होतीं बल्कि अधिकांशतः अपने पूर्ववर्ती काल का ही विकसित रूप होती हैं। वह पूर्ववर्ती युगों की अनेक संभावनाओं का संस्पर्श करती हैं। जब उत्तरवर्ती काव्ययुग अथवा काव्यधारा अपनी पूर्ववर्ती काव्यधारा की अनेक अपूर्णताओं को पूर्ण कर देती है तो उसके स्वरूप में कुछ नवीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है, तब उसका स्वरूप नवीन युग की आवश्यकताओं को अपने अंदर समेटने लगता है और विकास पथ पर आगे बढ़ने लगता है और उसका स्वरूप नवीनता को प्राप्त होने लगता है। कोई भी काव्यधारा किसी नियत समय से आरंभ होकर कोई नियत समय पर समाप्त नहीं होती, उसका प्रभाव पहले से होता है और थोड़ा बहुत काव्य धारा के पश्चात तक रहता है। इसी प्रकार काव्यधारा के विकास में नई कविता का चरण आता है। नई कविता प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की सामूहिक विरासत के रूप में उपजी विविध स्वरों को अपने अंदर समेटे हुए नवीन भावभूमि प्रस्तुत करती है। नई कविता के पूर्व की काव्य धाराएं स्वाधीनता आंदोलन के समय की हैं क्योंकि तब तक भारत आजाद नहीं हुआ था परन्तु नई कविता काव्यान्दोलन के समय भारत को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी थी।

नई कविता का धरातल स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात मोहभंग की स्थितियों से निर्मित हुआ। सन् 1951-52 से नई कविता शब्द का प्रयोग प्रकाश में आने लगता है। "नई कविता भारतीय स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं को कहा गया जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प विधानों का अन्वेषण किया गया।"[1] नई कविता जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है कि कविता में नयापन, नई काव्य दृष्टि, नया भावबोध तथा नया शिल्प विधान। "नई कविता उस युग की कविता है जिस पर विज्ञान के सिद्धांतों, आविष्कारों एवं उनके प्रभावों से उत्पन्न शहरीकरण का दबाव है।"[2] वास्तव में नई कविता नई चेतना से संबद्ध कविता है जो प्रयोगवाद के गर्भ से उत्पन्न, नवीन दृष्टिकोण को स्वीकार करती हुई, यथार्थ से परिचालित हुई, समग्र अनुभूतियों को ईमानदारी से अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई, जीवन का वैविध्यमय चित्र नवीन ढंग से रूपायित कर रही है। "नई कविता की चेतना विदेशी चिंतन, दर्शन एवं अन्यान्य साहित्यिक प्रवृत्तियों से प्रभावित है।"[3] पश्चिम के कुछ काव्यशास्त्रीय चिंतनों अथवा सिद्धांतों का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आधुनिक हिंदी कविता की कुछ काव्य धाराओं पर दिखाई पड़ता है। नई कविता के कवियों द्वारा रचे गये काव्य संसार पर भी पाश्चात्य सिद्धांतों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पश्चिम में प्रचलित अनेक काव्यान्दोलनों की मान्यताओं की गूँज प्रकारांतर रूप से नई कविता में विद्यमान है।

नई कविता की शैलीगत विशेषताओं में बिंबात्मकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में टी.ए. ह्यूम को बिंबवाद का प्रवर्तक माना जाता है। बिंब कवि की कल्पना द्वारा निर्मित वे रूप होते हैं जो हमारी इंद्रियों को प्रभावित करते हैं तथा अप्रस्तुत रूप, घटना अथवा व्यक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करा देते हैं। गौरतलब है कि बिंबों से तात्पर्य शब्द चित्रों के माध्यम से भावों का अंकन है। पश्चिम से ही प्रभावित होकर नई कविता में भी बिंबों के प्रयोग का प्रचलन अधिकाधिक मात्रा में होने लगा। बिंबात्मकता की प्रवृत्ति का आधिक्य इस प्रकार हो गया कि कवि केदारनाथ सिंह ने बिंब विधान के संबंध में इस प्रकार कहा, "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिंब विधान पर। बिंब विधान का संबंध जितना काव्य की विषय वस्तु से होता है उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।"[4] बिंबों के समर्थ प्रयोग से नये कवियों ने अपनी कविता के सौंदर्य में अत्यधिक वृद्धि की। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने 'असाध्य वीणा' में, नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' में, गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'ब्रह्मराक्षस' कविता में तथा धर्मवीर भारती ने 'कनुप्रिया' में अनेक प्रकार के समर्थ बिंबों की सृष्टि की है। इन कवियों ने अनेक स्थलों पर इंद्रिय बिंब, श्रव्य बिंब, ध्वन्यात्मक बिंब, दृश्य बिंब आदि विविधवर्णी बिंबों के प्रयोग से अपनी काव्य रचनाओं में व्याप्त संवेदनाओं की तीव्रता को अत्यधिक गहराई के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। इन कवियों ने ऐसे बिंबों का प्रयोग किया जो संवेदना, ठहराव, कोमलता, कठोरता, व्यापकता आदि का चित्रण प्रभावशाली ढंग से करने में समर्थ है। "बिंब को नई कविता का प्राण कहा जा सकता है।"[5] ब्रह्मराक्षस कविता में

मुक्तिबोध ने ब्रह्मराक्षस को एक प्रभावशाली प्रतीक के रूप में चित्रित किया तो वहीं अनेक समर्थ बिंबों की सृष्टि भी प्रभावोत्पादक रूप में की। अत्यधिक सहज, संप्रेष्य बिंबों की सृष्टि नई कविता की प्रमुख विशेषता रही। अलंकृत शैली से युक्त यह दृश्य बिंब प्रातः काल होने वाली प्राकृतिक गतिविधियों को जीवंत बना रहा है—"उदयाचल से किरन-धेनुएँ/हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला/पूँछ उठाए चली आ रही/क्षितिज जंगलों से टोली/दिखा रहे पथ इस भूमा का/सारस,सुना सुना बोली।"[6] गौरतलब है कि काव्य में किरणों का प्रयोग अनेकशः कवि करते रहे हैं परंतु किरणों को धेनुओं के रूप में चित्रित करके कवि नरेश मेहता ने बिंबों की नवीन सृष्टि की। इस प्रकार नई कविता के अनेक कवियों द्वारा नवीन बिंबों की योजना ने नई कविता की काव्य शक्ति में वृद्धि की। कई कवियों ने सघन एवं जटिल बिंबों के आधिक्य से नई कविता में कुछ दुरूहता का समावेश कर दिया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भावाभिव्यंजना तथा अनुभूत कथ्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए नई कविता में जिन भांति-भांति के बिंबों के प्रयोग को प्रमुखता से अपनाया गया उसमें पश्चिमी दर्शन बिंबवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है।

पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों में टी. एस. इलियट का परंपरा एवं इतिहास बोध का सिद्धांत भी स्वयं में अत्यधिक अर्थवान है। पश्चिम में प्रचलित यह सिद्धांत पूर्ववर्ती परंपराओं के अन्धे अनुकरण पर जोर नहीं देता बल्कि परंपराओं के ज्ञान को इसलिए आवश्यक मानता है कि उसका कौन-सा भाग त्यागने योग्य है, विद्रोह करने योग्य है और कौन सा ग्रहण करने योग्य है। नई कविता के कवियों ने पौराणिकता, परंपराओं और ऐतिहासिकता को अपने ढंग से ग्रहण किया। इन कवियों ने इतिहास और पुराणों की व्याख्या नए संदर्भों में की तथा वर्तमान को परंपरा से जोड़ते हुए नया अर्थ देने का प्रयास किया। "परंपरा की इस गतिशीलता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान को अतीत के संदर्भ में और अतीत को वर्तमान के संदर्भ में देखा जाये।"[7] तीसरा सप्तक में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले कवि 'कुँवर नारायण' ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आत्मजयी' की कथा 'कठोपनिषद्' से लेकर उसे वर्तमान संदर्भों में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार 'धर्मवीर भारती', 'नरेश मेहता' आदि कवियों ने पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर उसमें नवीन अर्थ की सृष्टि करके वर्तमान जीवन का चित्रण प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। धर्मवीर भारती पौराणिक संदर्भ को अपनी कविता में वर्तमान परिस्थितियों के प्रसंग में इस प्रकार उद्घाटित करते हैं—"अंधों से शोभित था युग का सिंहासन/दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा/दोनों ही पक्षों में जीता अंधापन/अधिकारों का अंधापन जीत गया/जो कुछ सुंदर था, शुभ था/कोमलतम था वह हार गया../द्वार पर युग बीत गया।"[8]

धर्मवीर भारती की कृतियों में इतिहास और पुराण की कथाओं को नवीन संदर्भ में प्रस्तुत किया गया। "अंधों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने की आवश्यकता भारती को इसलिए पड़ी कि उन्हें अपने गहरे इतिहास बोध को विशिष्ट आकार देना था।"[9] धर्मवीर भारती के अतिरिक्त नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात', 'गिरिजा कुमार माथुर' ने 'जो बंध न सका', और 'डॉ. देवराज' ने 'इतिहास पुरुष' में पौराणिक कथाओं के द्वारा समसामयिक जीवन का चित्र उद्घाटित किया। इस प्रकार नई कविता के कुछ कवियों पर इलियट के इस सिद्धांत का प्रभाव परिलक्षित होता है। पश्चिम के इन सिद्धांतों के अतिरिक्त आधुनिक हिंदी कविता की इस काव्य धारा पर अस्तित्ववाद का प्रभाव भी दिखाई देता है। पश्चिम में अस्तित्ववादी विचारधारा हीगल के आदर्शवाद और नियतिवाद के विरोध में पनपी। अस्तित्ववाद का मूल केंद्र बिंदु वैयक्तिकता है। 'मैं क्या हूँ' इसी मैं के अस्तित्व को ही अस्तित्ववादी विचारकों ने केंद्र में रखा। पश्चिम में प्रचलित इस सिद्धांत के प्रभाव से नई कविता भी अछूती नहीं रही। नई कविता के कवियों का प्रमुख ध्येय व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना को स्वर प्रदान करना रहा। इन कवियों की कविताएं व्यक्ति चेतना, अपनी इयत्ता के लिए संघर्षरत रहीं तथा व्यक्ति के अस्तित्व की खोज जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक मानती हैं, पर व्यक्ति को समाज से अलग नहीं करती बल्कि उनका विरोध समाज की जड़ता से है।

अज्ञेय की अनेक कविताएं अस्तित्ववादी दर्शन में रंगी हैं। 'नदी के द्वीप' कविता में अज्ञेय ने व्यष्टि और समष्टि के परस्पर संबंध की व्याख्या प्रस्तुत की। व्यष्टि से ही समष्टि का निर्माण होता है। द्वीप भी नदी की धारा में उत्सर्ग करता है परंतु उसे अपने अस्तित्व की चिंता निरंतर बनी रहती है—"हम नदी के द्वीप हैं/हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय/वह हमें आकार देती है/हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल/सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं/माँ है वह! है, इसी से हम बने है।"[10] अस्तित्ववादी विचारों से प्रभावित कवि यह स्वीकार नहीं करता कि समष्टि का अंग बनकर स्वयं के अस्तित्व का नकार दिया जाए और व्यष्टि चेतना को नष्ट कर दिया जाए बल्कि अज्ञेय प्रतीकात्मक रूप में इस बात का समर्थन करते हैं कि नदी के गतिमान सहज प्रवाह को झेलते हुए द्वीप के समान अपने अस्तित्व को बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए। नदी से अलग द्वीप का अस्तित्व नहीं, लेकिन नदी में रहकर भी द्वीप अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार समाज में रहकर भी व्यक्ति अस्तित्व बोध के द्वारा अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकता है। ध्यातव्य है कि अस्तित्ववादी प्रभाव के कारण

नई कविता में व्यक्ति चेतना के स्वर तीव्र रूप से ध्वनित होते हैं। पश्चिम में प्रचलित मनो विश्लेषण वाद का प्रभाव भी नई कविता पर दिखाई देता है। मनो विश्लेषण वाद के जनक 'सिगमंड फ्रायड' की मान्यता थी कि यौन इच्छाओं के अपूर्ण रह जाने की स्थिति में मानव मस्तिष्क में विकृतियों का प्रवेश हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति में कुंठा उत्पन्न हो जाती है और अनेकानेक मानसिक विकार पनपने लगते हैं। नई कविता में मानव मन की कुंठा तथा दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति नए कवियों द्वारा की गई और व्यक्ति की मनःस्थितियों को कविता में मुख्य रूप से उकेरा गया। 'अकेली खुशी' कविता में कवि कुँवर नारायण मन की अवस्था को इस प्रकार उद्घाटित करते हैं—"जी चाहता है तुम मेरे पास होती/मेरे सिरहाने एक सह अनुभूति-एक पहचानी हुई आवाज/और हम स्वीकारते अनुगृहीत/इस प्रसन्न वनश्री का खुला हुआ आमंत्रण।"[11] "साहित्य का संबंध मानव-मन से है। साहित्य जो विभिन्न चरित्रों का निर्माण करता है, वह किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर होता है। साहित्यकार को उसका ज्ञान हो या ना हो, पर उसके चित्रणों में मानव मन के क्रियाकलाप ही यथार्थ अथवा काल्पनिक रूप में प्रतिबिंबित होते हैं। चाहे कविता हो, चाहे कथा साहित्य अथवा चित्रकला या मूर्ति कला सभी मानव मनःस्थितियों का ही चित्रण करती है।"[12] नई कविता में अचेतन मन की इच्छाओं, वासनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की गई।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों में प्रतीक वाद भी अपना विशेष महत्व रखता है। अपनी किन्हीं विशेषताओं अथवा समान गुणधर्म के कारण कोई कार्य या वस्तु का जब किन्हीं अप्रत्यक्ष अथवा अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार आदि के द्वारा संकेत या प्रतिनिधित्व किया जाता है, तब वह प्रतीक विधान कहलाता है। फ्रांस में कला व साहित्य के क्षेत्र में क्रमशः प्रभाववाद, यथार्थवाद तथा प्राकृत वाद का प्रचार-प्रसार होने की प्रतिक्रिया स्वरूप 1870 और 1885 के मध्य कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीक वादी आंदोलन ने दस्तक दी। जिसका परिणाम यह हुआ कि कवि प्रतीकात्मक संदर्भों का सहारा अपनी रचनाओं में लेने लगे। नई कविता के कवियों की रचनाओं में भी भावों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से की जाने की पद्धति दिखाई देती है। इन कवियों ने अनुभूतियों को विशिष्ट प्रतीकों के द्वारा सुसज्जित करके अभिव्यक्ति को बल प्रदान किया। अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, नरेश मेहता आदि कई नये कवियों पर इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा। इन कवियों ने प्रतीकों का माध्यम लेकर अपनी वैचारिकता तथा भावों को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। परंपरागत प्रतीकों का प्रयोग ना करके नवीन प्रतीकों से अपनी कविता का श्रृंगार करना तथा अपनी अभिव्यक्ति को बल प्रदान करना इन कवियों को अत्यधिक प्रिय लगा। सांप को प्रतीक रूप में अपनाकर अज्ञेय ने शहरी सभ्यता में संबंधों को छलने और विश्वासघात करने वालों पर व्यंग्यात्मकता के तीखे तेवर दिखाए—"सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं/शहर में रहना भी नहीं आया/एक बात पूँछूँ/डसना कहाँ से सीखा/विष कहाँ से पाया।"[13] "प्रतीकों का सहारा नई कविता वालों ने जितनी प्रचुरता और विविधता के साथ लिया है, उतना संभवतः किसी अन्य धारा के कवियों ने नहीं।

संदर्भ

1. डॉ. नगेंद्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स नोएडा, 2014, पृ. 612
2. डॉ. ऊषा कुमारी, नयी कविता की चिंतन भूमि, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ. 13
3. ऊषा कुमारी, नई कविता स्वरूप और प्रवृतियां, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, 2017, पृ. 56
4. केदारनाथ सिंह, आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब विधान, भा. ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1971, पृ. 142
5. डॉ. ऊषा कुमारी, नयी कविता की चिंतन भूमि, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ. 26
6. नरेश मेहता, चौत्या (किरन धेनुएँ), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण, 1996, पृ. 19
7. डॉ. भगीरथ मिश्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, काव्य सिद्धांत और वाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, षष्ठ संस्करण 2011, पृ. 171
8. डॉ. ऊषा कुमारी, नयी कविता की चिंतन भूमि, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ. 56,
9. वही, पृ. 56
10. डॉ. शुभा श्रीवास्तव, असाध्य वीणा एक मूल्यांकन, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011, पृ. 8-9
11. कुँवर नारायण, अपने सामने, राजकमल प्रकाशन, 13वां संस्करण 2023, पृ. 74
12. डॉ. भगीरथ मिश्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र इतिहास सिद्धांत और वाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ संस्करण, 2011, पृ. 98
13. डॉ. ऊषा कुमारी, नयी कविता की चिंतन भूमि, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ. 25

–शिवा अग्निहोत्री

शोधार्थी, डी. ए. वी. कालेज, कानपुर

सम्बद्ध, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालयए कानपुर

डिजिटल दुनिया में लघु समाचार पत्र लखनऊ में रुझान, चुनौतियां और रणनीतियाँ

—माधुरी तिवारी
—डॉ. मिली सिंह

सारांश—समकालीन डिजिटल युग में, लखनऊ में लघु समाचार पत्र तकनीकी प्रगति और पाठकों की बदलती प्राथमिकताओं के कारण हम एक परिवर्तनकारी परिदृश्य की ओर बढ़ रहे हैं। यह शोध पत्र लखनऊ में स्थानीय पत्रकारिता के भविष्य को आकार देने वाले डिजिटल रुझानों, चुनौतियों और रणनीतियों की जटिल गतिशीलता पर प्रकाश डालता है। बहुआयामी दृष्टिकोण को अपनाते हुए, यह अध्ययन लघु समाचार पत्रों के बीच बढ़ते डिजिटल अनुकूलन की पहचान करता है, जिसमें मंच के उपयोग और सामग्री रणनीतियों को शामिल किया गया है। इसके साथ ही, यह दर्शकों के विस्तार और सामग्री विविधीकरण के अवसरों के साथ-साथ तकनीकी बाधाओं और डिजिटल प्लेटफार्मों से तीव्र प्रतिस्पर्धा सहित चुनौतियों का आकलन करता है। रणनीतिक प्रतिक्रियाओं की व्यापक जांच के माध्यम से, अनुसंधान डिजिटल परिवेश में लघु समाचार पत्रों की प्रासंगिकता और पाठक संख्या पर अलग-अलग प्रभावों को स्पष्ट करता है।

बीज शब्द—लघु समाचार पत्र, डिजिटल परिवर्तन, स्थानीय पत्रकारिता, दर्शकों से जुड़ाव, मीडिया परिदृश्य।

परिचय—डिजिटल युग की शुरुआत के साथ मीडिया और पत्रकारिता परिदृश्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पारंपरिक प्रतिमानों को नया आकार दिया गया है और नई चुनौतियाँ और अवसर प्रस्तुत किए गए हैं (स्मिथ एंड जॉनसन, 2021)। इस विकसित हो रहे परिवेश में, लघु समाचार पत्र, जो अकसर स्थानीय समुदायों और संस्कृतियों के सार को समाहित करते हैं। तकनीकी प्रगति, पाठकों की बदलती प्राथमिकताओं और उभरते व्यवसाय मॉडल के बहुमुखी परस्पर क्रिया को नेविगेट कर रहे हैं। लखनऊ, अपने समृद्ध इतिहास और सांस्कृतिक विरासत के लिए प्रसिद्ध शहर, इन गतिशीलता का पता लगाने के लिए एक आकर्षक संदर्भ प्रदान करता है, जो डिजिटल युग में स्थानीय पत्रकारिता के व्यापक निहितार्थों में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है (कुमार और गुप्ता, 2022)। डिजिटल प्लेटफार्मों के प्रसार और तीव्र प्रतिस्पर्धा के बावजूद, लखनऊ में लघु समाचार पत्र स्थानीय समाचारों के प्रसार, सामुदायिक जुड़ाव को बढ़ावा देने और सांस्कृतिक आख्यानों को संरक्षित करने के लिए महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में काम करना जारी रखते हैं (शर्मा, 2023)। हालाँकि, आगे का रास्ता चुनौतियों से भरा है, जिसमें तकनीकी बाधाएं, डिजिटल अनुकूलन के लिए अनिवार्यता और दर्शकों की बदलती गतिशीलता शामिल है, जिसके लिए नवीन रणनीतियों और सहयोगात्मक पहल की आवश्यकता है (झा और पटेल, 2022)।

शोध उद्देश्य—शोध का उद्देश्य क्रम से इस प्रकार हैं—एक, लखनऊ में छोटे समाचार पत्रों के बीच डिजिटल रुझान और अनुकूलन की पहचान करना, दो, डिजिटल परिदृश्य में छोटे समाचार पत्रों के सामने आने वाली चुनौतियों और अवसरों का आकलन करना और तीन, लखनऊ में छोटे समाचार पत्रों की प्रासंगिकता और पाठक संख्या पर रणनीतियों और प्रभावों की जांच करना।

शोध परिकल्पना—लखनऊ के छोटे अखबार पाठकों की बढ़ती प्राथमिकताओं को पूरा करने के लिए तेजी से डिजिटल प्लेटफॉर्म और रणनीतियों को अपना रहे हैं। इस प्रक्रिया में इन्हें कई तकनीकी बाधाओं और प्रतिस्पर्धा जैसी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इनके समक्ष दर्शकों के विस्तार और सामग्री विविधीकरण के अवसरों को प्राप्त करने की समस्या है। लखनऊ में छोटे समाचार पत्रों द्वारा लागू की गई डिजिटल रणनीतियों की डिजिटल युग में उनकी प्रासंगिकता और पाठक संख्या बढ़ाने में अलग-अलग प्रभावशीलता है।

साहित्य की समीक्षा

1. डिजिटल युग में लघु समाचार पत्रों का विकास—अग्रवाल और शर्मा (2019): यह अध्ययन भारत में प्रिंट मीडिया

के परिवर्तन का एक व्यापक ऐतिहासिक विश्लेषण प्रदान करता है, जो डिजिटल अनुकूलन की दिशा में प्रमुख मील के पत्थर और बदलाव पर प्रकाश डालता है। देसाई और पटेल (2018) : स्थानीय समाचार पत्रों की चुनौतियों और अनुकूलन पर ध्यान केंद्रित करते हुए, यह शोध डिजिटल युग में प्रिंट मीडिया के विकसित परिदृश्य में अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। गुप्ता और कपूर (2020) : प्रिंट से डिजिटल प्लेटफार्म तक संक्रमण की खोज करते हुए, यह अध्ययन शहरी भारत में स्थानीय समाचार पत्रों के लिए रणनीतियों और निहितार्थों की जांच करता है।

2. स्थानीय पत्रकारिता में डिजिटल परिवर्तन—अय्यर और रेड्डी (2017) : एक केस स्टडी दृष्टिकोण के माध्यम से यह शोध तकनीकी प्रगति और उनके प्रभाव पर जोर देते हुए दक्षिण भारत में स्थानीय पत्रकारिता के डिजिटल परिवर्तन पर प्रकाश डालता है। जैन और शर्मा (2019) : यह अवसरों और चुनौतियों को संबोधित करते हुए, अध्ययन स्थानीय पत्रकारिता प्रथाओं को नया आकार देने में डिजिटल प्रौद्योगिकियों की परिवर्तनकारी क्षमता को स्पष्ट करता है। कृष्णन और नायर (2021) : यह शोध स्थानीय पत्रकारिता में डिजिटल नवाचारों पर प्रकाश डालता है, सामुदायिक जुड़ाव को बढ़ावा देने और दर्शकों तक पहुंच बढ़ाने के लिए उनके निहितार्थ पर जोर देता है।

3. डिजिटल परिदृश्य में चुनौतियाँ और अवसर—मेहता और चंद्रा (2018) : यह अध्ययन डिजिटल परिदृश्य को नेविगेट करने में लघु समाचार पत्रों के सामने आने वाली चुनौतियों पर अंतर्दृष्टि प्रदान करता है जिसमें रणनीतिक अनुकूलन और सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। पटेल और शाह (2019) : डिजिटल अवसरों पर ध्यान केंद्रित करते हुए, यह शोध डिजिटल युग में पनपने के लिए लघु समाचार पत्रों द्वारा अपनाई गई दर्शकों के विस्तार और सामग्री विविधीकरण रणनीतियों की पड़ताल करता है। तिवारी और वर्मा (2020) : प्रतिस्पर्धा और सहयोग की गतिशीलता को संबोधित करते हुए, यह अध्ययन भारतीय स्थानीय पत्रकारिता में विकसित डिजिटल परिदृश्य की सूक्ष्म समझ प्रदान करता है।

4. दर्शकों की सहभागिता और सामग्री रणनीतियाँ—शर्मा और सिंह (2017) : यह शोध स्थानीय समाचार पत्रों में दर्शकों की भागीदारी की रणनीतियों की जांच करता है, पाठकों की बातचीत और भागीदारी को बढ़ाने में डिजिटल प्लेटफार्मों की भूमिका पर प्रकाश डालता है। वर्मा और कपूर (2019) : डिजिटल प्लेटफार्मों के लिए तैयार की गई सामग्री रणनीतियों का विश्लेषण करते हुए, यह अध्ययन दर्शकों की सहभागिता को बढ़ावा देने में मल्टीमीडिया तत्वों और इंटरैक्टिव सुविधाओं के महत्व को रेखांकित करता है। यादव और गुप्ता (2021) : दर्शकों की व्यस्तता बढ़ाने पर ध्यान केंद्रित करते हुए, यह शोध स्थानीय समाचार पत्रों में मल्टीमीडिया और इंटरैक्टिव सुविधाओं के एकीकरण का पता लगाता है, जो पाठक अनुभव और भागीदारी को समृद्ध करने में उनकी भूमिका पर जोर देता है। डिजिटल युग में मीडिया और पत्रकारिता के उभरते परिदृश्य की विद्वानों के साहित्य में बड़े पैमाने पर जांच की गई है, जिसमें बहुमुखी परिवर्तनों और विभिन्न हितधारकों के लिए उनके निहितार्थों को स्पष्ट किया गया है (विलियम्स और ब्राउन, 2021)। इस विस्तृत चर्चा में, स्थानीय समाचार पत्रों, विशेष रूप से लघु पैमाने के प्रकाशनों की भूमिका और प्रासंगिकता ने महत्वपूर्ण ध्यान आकर्षित किया है, जो डिजिटल व्यवधानों के बीच उनके अद्वितीय योगदान और चुनौतियों को रेखांकित करता है (टेलर और क्लार्क, 2022)।

हालाँकि, चुनौतियाँ बहुत अधिक हैं, जिनमें तकनीकी बाधाएँ, संसाधन सीमाएँ और डिजिटल अनिवार्यताओं के साथ पारंपरिक पत्रकारिता मूल्यों को संतुलित करने की पहेली शामिल है (मार्टिन एंड थाम्पसन, 2022)। साहित्य स्थानीय पत्रकारिता और सामुदायिक जुड़ाव के बीच सहजीवी संबंध को स्पष्ट करता है, नागरिक प्रवचन को बढ़ावा देने, सांस्कृतिक आख्यानों को संरक्षित करने और लोकतांत्रिक भागीदारी को बढ़ाने में लघु समाचार पत्रों के आंतरिक मूल्य पर जोर देता है (किंग एंड टर्नर, 2023)। बहरहाल, उभरती गतिशीलता के लिए डिजिटल युग की जटिल रूपरेखाओं को प्रभावी ढंग से नेविगेट करने के लिए निरंतर आत्मनिरीक्षण, अनुकूलन और रणनीतिक पुनर्स्थापन की आवश्यकता होती है। संक्षेप में, साहित्य समीक्षा डिजिटल परिवर्तन, स्थानीय पत्रकारिता और उसके संगम के बहुमुखी आयामों को समाहित करती है, जो उभरते परिदृश्य को समझने और अनुसंधान प्रयास के बाद के चरणों को सूचित करने के लिए एक व्यापक आधार प्रदान करती है।

पद्धति

अनुसंधान डिजाइन—डिजिटल युग में, विशेष रूप से लखनऊ में, लघु समाचार पत्रों के विकसित परिदृश्य का पता लगाने के लिए एक मिश्रित-तरीके अनुसंधान दृष्टिकोण को नियोजित किया गया था। इस दृष्टिकोण ने गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों डेटा को एकीकृत करके एक व्यापक समझ की सुविधा प्रदान की।

प्रतिभागी

अध्ययन में दो मुख्य भागीदार समूह शामिल थे

1. पत्रकार और संपादक—लखनऊ में लघु समाचार पत्रों से पत्रकारों और संपादकों का चयन करने के लिए एक उद्देश्यपूर्ण नमूना पद्धति का उपयोग किया गया, जिससे विभिन्न प्रकाशनों और भूमिकाओं में विविध

प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जा सके।

2. पाठक संख्या– उम्र, लिंग और व्यवसाय जैसे जनसांख्यिकीय चर को ध्यान में रखते हुए, लखनऊ में लघु समाचार पत्रों के पाठकों का चयन करने के लिए एक स्तरीकृत यादृच्छिक नमूनाकरण तकनीक को नियोजित किया गया था।

आंकड़ों का विश्लेषण

1. गुणात्मक विश्लेषण– साक्षात्कार डेटा का विश्लेषण करने, लघु समाचार पत्रों में डिजिटल अनुकूलन, चुनौतियों और रणनीतियों से संबंधित प्रमुख विषयों और पैटर्न की पहचान करने के लिए विषयगत विश्लेषण को नियोजित किया गया था।

2. मात्रात्मक विश्लेषण–पाठकों की प्राथमिकताओं, जुड़ाव के स्तर और डिजिटल सामग्री के साथ बातचीत में अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए सर्वेक्षण डेटा पर वर्णनात्मक और अनुमानात्मक सांख्यिकीय विश्लेषण किए गए थे।

शोध पद्धति डिजिटल युग के संदर्भ में लखनऊ में लघु समाचार पत्रों के विकसित परिदृश्य पर अंतर्दृष्टि और दृष्टिकोण इकट्ठा करने के लिए नियोजित दृष्टिकोण को चित्रित करती है। शोध उद्देश्यों और परिकल्पनाओं के अनुरूप पाठकों और लघु समाचार पत्र हितधारकों की राय की गहन खोज की सुविधा के लिए केंद्रित समूह चर्चा (एफजीडी) पर केंद्रित एक गुणात्मक शोध डिजाइन अपनाया गया था।

अनुसंधान डिजाइन–लखनऊ में लघु समाचार पत्रों से जुड़े पाठकों और हितधारकों से विविध दृष्टिकोण, अंतर्दृष्टि और आख्यान प्राप्त करने के लिए प्राथमिक पद्धतिगत उपकरण के रूप में केंद्रित समूह चर्चा (एफजीडी) का लाभ उठाते हुए एक गुणात्मक शोध डिजाइन अपनाया गया था (क्रुएगर और केसी, 2014)। इस दृष्टिकोण ने अनुसंधान उद्देश्यों और परिकल्पनाओं के अनुरूप डिजिटल रुझानों, चुनौतियों और रणनीतियों की सूक्ष्म समझ की सुविधा प्रदान की।

डेटा संग्रहण के तरीके

1. अर्ध-संरचित साक्षात्कार–स्थानीय पत्रकारिता में डिजिटल परिवर्तन, चुनौतियों और रणनीतियों पर उनके दृष्टिकोण में अंतर्दृष्टि इकट्ठा करने के लिए पत्रकारों और संपादकों के साथ साक्षात्कार आयोजित किए गए थे।

2. सर्वेक्षण– चयनित पाठक समूह को उनकी पढ़ने की आदतों, प्राथमिकताओं और लघु समाचार पत्रों के डिजिटल प्लेटफार्मों के साथ बातचीत पर मात्रात्मक डेटा एकत्र करने के लिए सर्वेक्षण कराया गया था।

केंद्रित समूह चर्चाएँ

प्रतिभागी– विभिन्न एफजीडी का आयोजन किया गया, जिसमें लखनऊ के लघु समाचार पत्रों के पाठकों और प्रतिनिधियों सहित अलग-अलग समूहों को शामिल किया गया, जिससे विविध दृष्टिकोणों की व्यापक खोज सुनिश्चित हुई (मॉर्गन, 1997)।

प्रक्रिया– एफजीडी को अनुसंधान उद्देश्यों और परिकल्पनाओं के आसपास संरचित किया गया था, चर्चाओं को निर्देशित करने, बातचीत को बढ़ावा देने और समृद्ध अंतर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए एक अर्ध-संरचित प्रारूप को नियोजित किया गया था (क्रुएगर और केसी, 2014)।

इंस्ट्रुमेंटेशन– एक एफजीडी गाइड जिसमें ओपन-एंडेड प्रश्न और अनुसंधान उद्देश्यों के साथ जुड़े संकेत शामिल थे, का उपयोग चर्चा को सुविधाजनक बनाने और सत्रों में स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए किया गया था (स्टीवर्ट और शामदासानी, 2015)।

डेटा विश्लेषण तकनीक

विषयगत विश्लेषण– एफजीडी से प्राप्त डेटा को विषयगत विश्लेषण के अधीन किया गया था, जिसमें अनुसंधान उद्देश्यों और परिकल्पनाओं (ब्रौन और क्लार्क, 2006) से संबंधित प्रमुख विषयों, पैटर्न और अंतर्दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए कोडिंग, वर्गीकरण और व्याख्या की पुनरावृत्ति प्रक्रियाएं शामिल थीं। एक पद्धतिगत दृष्टिकोण के रूप में केंद्रित समूह चर्चाओं के उपयोग ने शोध निष्कर्षों को समृद्ध किया, जिससे डिजिटल परिवेश के भीतर लखनऊ में लघु समाचार पत्रों के विकसित परिदृश्य पर पाठकों और हितधारकों के जीवंत अनुभवों, धारणाओं और दृष्टिकोणों पर आधारित एक मजबूत आधार प्रदान किया गया।

खोज और चर्चा–लखनऊ में लघु समाचार पत्रों से जुड़े पाठकों और हितधारकों के साथ आयोजित फोकस समूह चर्चा (एफजीडी) के निष्कर्षों ने डिजिटल परिवर्तन, चुनौतियों और रणनीतिक अनिवार्यताओं की बहुमुखी गतिशीलता में सूक्ष्म अंतर्दृष्टि प्रदान की है। प्रतिभागियों ने लघु समाचार पत्रों के बीच डिजिटल प्लेटफॉर्म की ओर बढ़ते बदलाव पर जोर दिया, जो पाठकों की बढ़ती प्राथमिकताओं और तकनीकी प्रगति को दर्शाता है। उदाहरण के लिए, एक प्रतिवादी ने कहा कि हमारे अखबार ने हाल ही में एक डिजिटल संस्करण लॉन्च किया है, जिसमें मल्टीमीडिया तत्व और इंटरैक्टिव विशेषताएं शामिल हैं, जो हमारे पाठकों की बढ़ती प्राथमिकताओं को दर्शाता है। यह भावना लघु समाचार पत्रों के लिए बदलते उपभोग पैटर्न और तकनीकी परिदृश्य के जवाब में अनुकूलन और नवाचार करने की अनिवार्यता को रेखांकित करती है। चर्चाओं में स्थानीय समाचारों, सामुदायिक कार्यक्रमों और इंटरैक्टिव मल्टीमीडिया सामग्री के प्रति स्पष्ट झुकाव के साथ पाठकों के बीच विविध सामग्री प्राथमिकताओं को भी स्पष्ट किया गया है। एक प्रतिभागी ने इस बात पर प्रकाश

डाला और बताया कि हमारे स्थानीय समाचार पत्र द्वारा पाठकों के बीच जुड़ाव और जुड़ाव की भावना को बढ़ावा देने वाली स्थानीय सामग्री और समुदाय-केंद्रित पहल की सराहना करता हूं। इस तरह के विचार सामुदायिक संबधों को बढ़ावा देने और पाठक निष्ठा को बढ़ावा देने में स्थानीय पत्रकारिता के आंतरिक मूल्य को रेखांकित करते हैं। हालाँकि, स्पष्ट प्रगति के बावजूद, लखनऊ में लघु समाचार पत्रों की डिजिटल परिवर्तन यात्रा में बाधा डालने वाली कई चुनौतियों की पहचान की गई है। एक हितधारक ने टिप्पणी की, संसाधन की कमी और सीमित तकनीकी बुनियादी ढाँचा महत्वपूर्ण चुनौतियाँ पैदा करता है, जिससे टिकाऊ डिजिटल परिवर्तनों को बढ़ावा देने के लिए रणनीतिक हस्तक्षेप और सहयोगी साझेदारी की आवश्यकता होती है। ये अंतर्दृष्टि डिजिटल युग में लघु समाचार पत्रों के प्रक्षेप पथ को आकार देने वाले तकनीकी, वित्तीय और संगठनात्मक कारकों की जटिल परस्पर क्रिया पर प्रकाश डालती हैं। इसके अलावा, प्रतिभागियों ने डिजिटल परिदृश्य में अपनी प्रासंगिकता और स्थिरता बढ़ाने के लिए लघु समाचार पत्रों द्वारा अपनाई गई विभिन्न रणनीतियों को रेखांकित किया। एक पाठक ने उत्साहपूर्वक कहा, मल्टीमीडिया तत्वों के एकीकरण, दर्शकों के विभाजन और सामुदायिक जुड़ाव की पहल ने सामुदायिक संबंधों को पुनर्जीवित किया है, जिससे अखबार की प्रासंगिकता और विविध पाठक वर्ग के बीच प्रतिध्वनि बढ़ी है। इस तरह के विचार उभरते मीडिया परिदृश्य को प्रभावी ढंग से संचालित करने के लिए अनुकूलित दृष्टिकोण और निरंतर नवाचार के महत्व को रेखांकित करते हैं। कुल मिलाकर, एफजीडी के प्रत्यक्ष उद्धरणों और अंशों का एकीकरण कथा को समृद्ध करता है, जिससे लखनऊ में लघु समाचार पत्रों के डिजिटल परिवर्तन को आकार देने वाले उभरते परिदृश्य, चुनौतियों और रणनीतिक अनिवार्यताओं की सूक्ष्म समझ मिलती है। इसके विपरीत, चर्चाओं ने प्रचलित चुनौतियों को भी उजागर किया, विशेष रूप से सीमित डिजिटल बुनियादी ढांचे और संसाधन आवंटन से जुड़ी तकनीकी बाधाओं को लेकर। एक हितधारक ने टिप्पणी की, हालांकि हम डिजिटल परिवर्तन की अनिवार्यता को पहचानते हैं, संसाधन की कमी और डिजिटल साक्षरता बाधाएं हमारी प्रगति में बाधा डालती हैं, जिससे रणनीतिक हस्तक्षेप और सहयोगी भागीदारी की आवश्यकता होती है।

इसके अलावा, एफजीडी ने प्रतिस्पर्धी माहौल पर विचार-विमर्श करने और दर्शकों की गतिशीलता को विकसित करने के लिए एक उपजाऊ जमीन प्रदान की है। प्रतिभागियों ने डिजिटल प्लेटफॉर्म से बढ़ती प्रतिस्पर्धा के बारे में बताया और ऑनलाइन सामग्री उपभोग के प्रति पाठकों की प्राथमिकताओं में बदलाव को देखा है। एक अंतर्दृष्टिपूर्ण टिप्पणी ने इस भावना को व्यक्त किया, ''डिजिटल प्लेटफार्मों के प्रसार ने प्रतिस्पर्धा को तेज कर दिया है, जिससे हमें अपनी सामग्री रणनीतियों को फिर से व्यवस्थित करने और प्रासंगिकता और पाठक संख्या बनाए रखने के लिए समुदाय-केंद्रित पहल को बढ़ावा देने के लिए मजबूर होना पड़ा है।'' इस तरह के प्रतिबिंबों ने दर्शकों के विस्तार, सामग्री विविधीकरण और सामुदायिक जुड़ाव के लिए सूक्ष्म अवसरों को चित्रित किया, जो प्रतिस्पर्धा और दर्शकों की गतिशीलता से संबंधित परिकल्पनाओं के अनुरूप थे। निष्कर्षों से लखनऊ में लघु समाचार पत्रों के बीच डिजिटल प्लेटफॉर्म की ओर एक महत्वपूर्ण बदलाव का पता चलता है। भाग लेने वाले 85 प्रतिशत से अधिक समाचार पत्रों ने मल्टीमीडिया सामग्री और इंटरैक्टिव सुविधाओं पर उल्लेखनीय ध्यान देने के साथ ऑनलाइन उपस्थिति स्थापित की है। यह अनुकूलन पाठकों की बढ़ती डिजिटल प्राथमिकताओं के अनुरूप है और डिजिटल युग में स्थानीय पत्रकारिता की विकसित प्रकृति का प्रतीक है। यह अध्ययन डिजिटल परिदृश्य में अपनी प्रासंगिकता और स्थिरता बढ़ाने के लिए लघु समाचार पत्रों द्वारा अपनाई गई विभिन्न रणनीतियों को स्पष्ट करता है।

निष्कर्ष—लखनऊ में लघु समाचार पत्रों के डिजिटल परिवर्तन को आकार देने वाली बहुमुखी गतिशीलता को स्पष्ट करते हैं, जो उभरते मीडिया परिदृश्य में निहित चुनौतियों, अवसरों और रणनीतिक अनिवार्यताओं को उजागर करते हैं। अध्ययन डिजिटल युग में स्थानीय पत्रकारिता की स्थिरता और प्रासंगिकता सुनिश्चित करने के लिए अनुकूली रणनीतियों, समुदाय-केंद्रित दृष्टिकोण और निरंतर नवाचार के महत्व को रेखांकित करता है। संक्षेप में, एफजीडी के भीतर प्रतिभागियों की आवाज, अनुभवों और दृष्टिकोणों के संश्लेषण ने अनुसंधान प्रवचन को समृद्ध किया, जिससे लखनऊ में स्थानीय पत्रकारिता के विकसित डिजिटल परिदृश्य को नेविगेट करने में निहित चुनौतियों, अवसरों और रणनीतिक अनिवार्यताओं की समग्र सराहना को बढ़ावा मिला। अनुभवजन्य उदाहरणों और चिंतनशील अंतर्दृष्टि के एकीकरण ने डिजिटल युग में स्थिरता और प्रासंगिकता सुनिश्चित करने के लिए लक्षित हस्तक्षेपों, सहयोगात्मक प्रयासों और नवीन दृष्टिकोणों की वकालत करते हुए लघु समाचार पत्रों के भविष्य के प्रक्षेप पथ को आकार देने वाली जटिल रूपरेखाओं पर प्रकाश डाला। डिजिटल युग में प्रिंट अखबारों का परिदृश्य एक विरोधाभासी परिवेश प्रस्तुत करता है, जो लचीलेपन, अनुकूलन और गहन परिवर्तनों की विशेषता है। डिजिटल संक्रमण से उत्पन्न बढ़ती चुनौतियाँ, जो हाल ही में महामारी से प्रेरित संकट से और बढ़ गई हैं, ने प्रिंट पत्रकारिता के क्षेत्र में आत्मनिरीक्षण, नवाचार और रणनीति

को बढ़ावा दिया है। महामारी के प्रभाव, छटनी, प्रिंट संस्करणों का बंद होना और स्वास्थ्य संबंधी चिंताओं के कारण प्रसार में गिरावट, ने प्रिंट अखबारों के सामने मौजूद अस्तित्व संबंधी दुविधाओं को बढ़ा दिया है, जिससे समकालीन मीडिया पारिस्थितिकी तंत्र के उतार-चढ़ाव वाले इलाकों में नेविगेट करने के लिए आत्मनिरीक्षण विचार-विमर्श और पुनर्गणित रणनीतियों को मजबूर होना पड़ा है। ऐतिहासिक रूप से, प्रिंट अखबारों ने उल्लेखनीय अनुकूलनशीलता और लचीलेपन का प्रदर्शन किया है, नवीन सामग्री रणनीतियों और बढ़ती उपभोक्ता प्राथमिकताओं और तकनीकी प्रगति के बीच प्रासंगिकता और प्रतिध्वनि को बनाए रखने के लिए उन्नत पाठक जुड़ाव पहल के माध्यम से खुद को फिर से तैयार किया है। एक हितधारक ने चतुराई से कहा, ''डिजिटल युग में हमारे परिचालन ढांचे और रणनीतिक अनिवार्यताओं में एक आदर्श बदलाव की आवश्यकता है, तेजी से परस्पर जुड़े और गतिशील मीडिया परिदृश्य में स्थिरता और प्रासंगिकता सुनिश्चित करने के लिए प्रिंट विरासत और डिजिटल नवाचारों के बीच तालमेल को बढ़ावा देना चाहिए।'' इसके अलावा, क्षेत्रीय भाषा के अखबारों की बढ़ती पाठक संख्या प्रिंट अखबारों की स्थायी अपील और महत्व को रेखांकित करती है, जो विभिन्न जनसांख्यिकीय क्षेत्रों और भाषाई समुदायों में समाचार उपभोग पैटर्न को आकार देने वाली बहुमुखी गतिशीलता और विविध प्राथमिकताओं को स्पष्ट करती है। स्थानीयकृत सामग्री, समुदाय-केंद्रित पहल और पाठक जुड़ाव प्रयासों का एकीकरण प्रिंट समाचार पत्रों के आंतरिक मूल्य प्रस्ताव को बढ़ाता है, विभिन्न पाठक समूहों के साथ वफादारी, प्रतिध्वनि और स्थायी संबंधों को बढ़ावा देता है। निष्कर्ष में, जबकि समाचार उपभोग का डिजिटल भविष्य स्पष्ट है, प्रिंट अखबारों की स्थायी अपील, अनुकूलनशीलता और लचीलापन मीडिया पारिस्थितिकी तंत्र के भीतर उनके आंतरिक महत्व, स्थायी प्रासंगिकता और स्थायी भूमिका को रेखांकित करता है। जो भारत में डिजिटल युग के विकसित क्षेत्रों के बीच प्रिंट समाचार पत्रों की स्थिरता, जीवन शक्ति और स्थायी प्रासंगिकता सुनिश्चित करता है।

संदर्भ

1. एडम्स, जे., और व्हाइट, एल. (2020). मीडिया में डिजिटल व्यवधान : सामग्री और दर्शकों की सहभागिता पर प्रभाव. जर्नल ऑफ डिजिटल मीडिया स्टडीज, 16(1), 24-39.
2. ब्रौन, वी., और क्लार्क, वी. (2006). मनोविज्ञान में विषयगत विश्लेषण का उपयोग करना. मनोविज्ञान में गुणात्मक अनुसंधान, 3(2), 77-101.
3. हैरिस, आर., और लुईस, पी. (2023). डिजिटल युग में लघु समाचार पत्र : चुनौतियाँ और अवसर. जर्नल ऑफ लोकल जर्नलिज्म, 19(2), 56-72.
4. झा, ए., और पटेल, आर. (2022). स्थानीय पत्रकारिता में डिजिटल परिवर्तन : चुनौतियाँ और अवसर. जर्नल ऑफ मीडिया स्टडीज, 15(2), 45-60.
5. किंग, एस., और टर्नर, एल. (2023). स्थानीय पत्रकारिता और नागरिक जुड़ाव : एक सहजीवी संबंध. सामुदायिक मीडिया जर्नल, 21(3), 88-104.
6. क्रुएगर, आर.ए., और केसी, एम.ए. (2014). फोकस समूह : अनुप्रयुक्त अनुसंधान के लिए एक व्यावहारिक मार्गदर्शिका (5वां संस्करण). ऋषि प्रकाशन.
7. कुमार, वी., और गुप्ता, एन. (2022). डिजिटल युग में स्थानीयकृत पत्रकारिता : लखनऊ का एक केस स्टडी. मीडिया परिप्रेक्ष्य, 18(3), 112-128.
8. मार्टिन, एफ., और थॉम्पसन, ई. (2022). संतुलन परंपरा और नवाचार : डिजिटल परिदृश्य में लघु समाचार पत्र मीडिया इनोवेशन समीक्षा, 17(4), 40-55.
9. मॉर्गन, डी.एल. (1997). गुणात्मक अनुसंधान के रूप में फोकस समूह (दूसरा संस्करण). ऋषि प्रकाशन.
10. रॉबर्ट्स, ए., और मिशेल, एस. (2021). विखंडन और अभिसरण : संक्रमण में डिजिटल मीडिया परिदृश्य. जर्नल ऑफ मीडिया कन्वर्जेंस, 14(5), 112-128.
11. शर्मा, पी. (2023). लघु समाचार पत्र और सामुदायिक जुड़ाव : लखनऊ में स्थानीय पत्रकारिता की भूमिका. जर्नल ऑफ कल्चरल स्टडीज, 20(1), 33-49.
12. स्मिथ, ए., और जॉनसन, एल. (2021). मीडिया में डिजिटल व्यवधान : पत्रकारिता और समाज पर प्रभाव. जर्नल ऑफ मीडिया रिसर्च, 14(4), 78-93.
13. स्टीवर्ट, डी.डब्ल्यू., और शामदासानी, पी.एन. (2015). फोकस समूह : सिद्धांत और व्यवहार (तीसरा संस्करण). ऋषि प्रकाशन.
14. टेलर, एम., और क्लार्क, आर. (2022). डिजिटल युग में स्थानीय समाचार पत्रों की भूमिका : चुनौतियाँ और अवसर. जर्नल ऑफ मीडिया डायनेमिक्स, 18 (6), 75-90.
15. टर्नर, जे., और बेकर, एच. (2022). स्थिरता के लिए रणनीतियाँ : लघु समाचार पत्र और डिजिटल अनुकूलन. मीडिया स्ट्रैटेजी जर्नल, 20(2), 48-63.
16. विलियम्स, आर., और ब्राउन, एल. (2021). उभरते मीडिया परिदृश्य : डिजिटल परिवर्तन और पत्रकारिता के लिए निहितार्थ. जर्नल ऑफ मीडिया ट्रेंड्स, 15 (3), 30-45.

–माधुरी तिवारी
शोध छात्रा

–डॉ. मिली सिंह
शोध निर्देशिका
मीडिया अध्ययन विभाग, श्री रामस्वरूप मेमोरियल यूनिवर्सिटी, देवा रोड बाराबंकी, उत्तर प्रदेश, पिनकोड-225003

विश्वविद्यालय के छात्रों की धारणाओं और सामाजिक अंतःक्रियाओं पर सोशल मीडिया का प्रभाव : सीखने और शिक्षा पर प्रभाव

—शैलेन्द्र सिंह बिष्ट
—डॉ. मिली सिंह

सारांश—आज के डिजिटल रूप से उन्नत युग में, शिक्षा पर सोशल मीडिया के प्रभाव ने महत्वपूर्ण ध्यान आकर्षित किया है। फेसबुक, इंस्टाग्राम और ट्विटर जैसे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म ने विश्वविद्यालयों के छात्रों के सामाजिक रूप से बातचीत करने के तरीके को बदल दिया है। अपने और दूसरों के बारे में उनकी धारणाओं को बदल दिया है और महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला है। यह शोध विश्वविद्यालयों के छात्रों की धारणाओं और सामाजिक संपर्कों को आकार देने में सोशल मीडिया की भूमिका, सीखने और शिक्षा में इसके निहितार्थों पर प्रकाश डालता है। यह अध्ययन एक गुणात्मक अनुसंधान दृष्टिकोण को नियोजित करता है, जिसमें विभिन्न स्रोतों से पाठ और जानकारी के माध्यम से डेटा का विश्लेषण और व्याख्या करना शामिल है। साहित्य समीक्षा के नतीजों से पता चलता है कि सोशल मीडिया ने सामाजिक रिश्तों में नई गतिशीलता पैदा की है क्योंकि विश्वविद्यालयों के छात्र न केवल आमने-सामने संवाद करते हैं बल्कि ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के माध्यम से भी संवाद करते हैं।

कीवर्ड— सोशल मीडिया, छात्र, शिक्षा, इंटरनेट, सामाजिक अंतःक्रिया, जिम्मेदार उपयोग, विविध दृष्टिकोण, डिजिटल युग।

प्रस्तावना—सूचना और संचार प्रौद्योगिकी, विशेष रूप से इंटरनेट और सोशल मीडिया (मैत्री एट अल., 2023; सुहेरलान, 2023) के तेजी से विकास और व्यापक उपयोग ने समकालीन समाज में छात्रों के संचार और बातचीत के तरीके में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया है (कपूर एट अल., 2018)। ये प्रौद्योगिकियां केवल एकीकरण से आगे निकल गई हैं और अब छात्रों के दैनिक जीवन में गहराई से प्रवेश कर रही हैं। संचार, सूचना प्रसार और सामाजिक दृष्टिकोण को आकार देने में नए आयामों के लिए उत्प्रेरक के रूप में काम कर रही हैं। फेसबुक, ट्विटर और इंस्टाग्राम जैसे प्लेटफॉर्म छात्रों के अनुभवों के अपरिहार्य और अभिन्न अंग बन गए हैं, जो सामाजिक संपर्क की गतिशीलता को नया आकार दे रहे हैं और सामूहिक सामाजिक चेतना के विकास पर गहरा प्रभाव डाल रहे हैं (हैफरकैंप एंड नील जे. स्मेलसर,1992)। ये डिजिटल प्लेटफॉर्म जो भूमिका निभाते हैं वह महत्वपूर्ण है। वे महज उपयोगिता से आगे बढ़कर छात्रों के अनुभवों का एक अनिवार्य हिस्सा बन गए हैं। इससे छात्रों के सामाजिक संपर्क के परिदृश्य में गहरा परिवर्तन आया है। इन प्रौद्योगिकियों द्वारा सूचना साझाकरण को नया आकार दिया गया है, जिससे छात्र अब अपनी उंगलियों पर बड़ी मात्रा में जानकारी तक पहुंचने में सक्षम हैं। इससे सूचना का लोकतंत्रीकरण हुआ है, साथ ही सूचना के सत्यापन और सटीकता को लेकर नई चुनौतियाँ सामने आई हैं।

सोशल मीडिया को व्यापक रूप से अपनाने से छात्रों के खुद को और समाज में दूसरों को समझने के तरीके में महत्वपूर्ण और स्थायी परिवर्तन आया है। छात्र अब विभिन्न ऑनलाइन प्लेटफार्मों में गहराई से डूबे हुए हैं, जो उनकी आत्म-अवधारणा और सामाजिक अंतःक्रियाओं पर एक शक्तिशाली प्रभाव डालते हैं। डिजिटल युग ने उनकी सामाजिक पहुंच का विस्तार किया है और नए आयाम पेश किए हैं जिनमें उनकी आत्म-पहचान को आकार देने और ढालने की क्षमता है, जिससे सामाजिक गतिशीलता का गहन पुनर्गठन हुआ है। सोशल मीडिया छात्रों की सामाजिक धारणाओं को आकार देने में एक केंद्रीय भूमिका निभाता है, जिसमें न केवल उनकी स्वयं की छवि बल्कि दूसरों के बारे में उनकी धारणाएं भी शामिल होती हैं। इन प्लेटफार्मों पर उपभोग की जाने वाली डिजिटल सामग्री, जिसमें दृश्य कल्पना, पाठ्य अभिव्यक्तियां और इंटरैक्टिव टिप्पणियां शामिल हैं, स्व-छवि निर्माण, मूल्य प्रणाली विकास और सामाजिक मानदंड आत्मसात में शामिल बहुमुखी प्रक्रिया पर उल्लेखनीय रूप से शक्तिशाली और व्यापक प्रभाव डालती हैं। यह उपभोग न केवल व्यक्तिगत आत्म-धारणाओं को आकार देने में महत्वपूर्ण है, बल्कि उस सामूहिक ताने-बाने में भी योगदान देता

है जो जटिल सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश को बुनता है जिसमें छात्र अपनी सामाजिक पहचान और भूमिकाओं को दिशा प्रदान करते हैं।

इसके अलावा, यह पहचानना महत्वपूर्ण है कि सोशल मीडिया के व्यापक उपयोग का छात्रों पर महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। खुद की तुलना दूसरों से करना, साइबर बदमाशी और सामाजिक दबाव जटिल और विविध मनोवैज्ञानिक मुद्दों के कुछ उदाहरण हैं जो छात्रों द्वारा लगातार ऑनलाइन बातचीत से उत्पन्न हो सकते हैं (कोहेन-अल्मागोर, 2018)। इसलिए, यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सोशल मीडिया प्लेटफार्मों के व्यापक उपयोग से उत्पन्न होने वाले बहुमुखी प्रभावों की अधिक गहन और व्यापक समझ की तत्काल आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, अनुसंधान प्रयासों से इन प्रभावों का गहन विश्लेषण और सीखने और शिक्षा के क्षेत्र में सोशल मीडिया के उपयोग से उत्पन्न होने वाले कई प्रभावों की गहन जांच करने का प्रयास करना चाहिए।

सैद्धांतिक रूपरेखा सोशल मीडिया–सोशल मीडिया इंटरनेट-आधारित प्लेटफॉर्म या वेबसाइटों को संदर्भित करता है जो उपयोगकर्ताओं को ऑनलाइन जानकारी साझा करने, संचार करने, बातचीत करने और दूसरों के साथ सहयोग करने जैसी विभिन्न गतिविधियों में संलग्न होने में सक्षम बनाता है (फेरिन एट अल., 2023; तारिगन एट अल., 2023)। सोशल मीडिया व्यक्तियों और समूहों को अपने सोशल नेटवर्क में अन्य सदस्यों के साथ टेक्स्ट, चित्र, वीडियो या ऑडियो के रूप में सामग्री बनाने, संपादित करने और साझा करने की अनुमति देता है (ऑसैट, 2023; अजाकियाह, 2023)। यहां सोशल मीडिया की कुछ प्रमुख विशेषताएं दी गई हैं–(1.) उपयोगकर्ता प्रोफाइल–जो लोग सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं वे आम तौर पर व्यक्तिगत प्रोफाइल बनाते हैं जिसमें उनके बारे में जानकारी होती है, जैसे उनका नाम, फोटो, रुचियां और बहुत कुछ। ये प्रोफाइल उपयोगकर्ताओं को अपना परिचय देने और दूसरों के साथ बातचीत करने की अनुमति देती हैं। (2.) सामग्री साझा करना–सोशल मीडिया उपयोगकर्ता विभिन्न प्रकार की सामग्री, जैसे स्टेटस, फोटो, वीडियो, लेख या संदेश साझा कर सकते हैं, जिन्हें उनके नेटवर्क में अन्य लोग देख सकते हैं। इस सामग्री को अन्य उपयोगकर्ताओं द्वारा साझा, टिप्पणी या पसंद किया जा सकता है। (3.) सामाजिक संपर्क–सोशल मीडिया संचार विधियों जैसे टिप्पणियों, निजी संदेशों या दूसरों द्वारा साझा की गई सामग्री पर प्रतिक्रियाओं के माध्यम से उपयोगकर्ताओं के बीच सामाजिक संपर्क की सुविधा प्रदान करता है। (4.) मित्र नेटवर्क–सोशल मीडिया उपयोगकर्ता अपने सोशल नेटवर्क में दोस्तों, परिवार, सहकर्मियों और यहां तक कि अजनबियों से जुड़ सकते हैं, ऑनलाइन मित्र नेटवर्क बना सकते हैं जिसका उपयोग संचार और सूचना साझा करने के लिए किया जा सकता है। (5.) ज्ञान और रुचि साझा करना–सोशल मीडिया उपयोगकर्ताओं को उन समूहों, समुदायों या मंचों से जुड़ने की भी अनुमति देता है जो उनकी रुचियों और शौक के अनुरूप होते हैं। यह विशिष्ट क्षेत्रों में ज्ञान और अनुभवों के आदान-प्रदान को सक्षम बनाता है। (6.) बहुमुखी उपयोग–सोशल मीडिया का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है, जिसमें सामाजिककरण, नेटवर्किंग, सीखना, मनोरंजन और मार्केटिंग, व्यवसाय, विज्ञापन, मार्केटिंग, शिक्षा, सक्रियता, समाचार उपभोग, मनोरंजन और बहुत कुछ शामिल हैं। प्रत्येक सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म के अलग-अलग फोकस या लक्ष्य हो सकते हैं (कार्नेली, 2023; सुदिरजो, 2023)।

धारणा–धारणा उस संज्ञानात्मक प्रक्रिया को संदर्भित करती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इंद्रियों जैसे दृष्टि, श्रवण, गंध, स्पर्श और स्वाद के माध्यम से प्राप्त संवेदनात्मक जानकारी को समझते हैं और उसका अर्थ बताते हैं। इसमें अपने परिवेश या अनुभवों से किसी जानकारी को पहचानना, समझना और व्यवस्थित करना शामिल है। दुनिया, दूसरों और स्वयं के बारे में किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को आकार देने में धारणा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है (ऑल्ट एंड फिलिप्स, 2022)। धारणा से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण पहलू इस प्रकार हैं–(1.) सूचना का स्वागत–प्रक्रिया तब शुरू होती है जब व्यक्ति अपनी इंद्रियों के माध्यम से जानकारी प्राप्त करते हैं, जैसे कि कोई छवि देखना, ध्वनि सुनना या स्पर्श महसूस करना। (2.) चयनात्मक ध्यान–कई उत्तेजनाएं प्राप्त करने के बाद, व्यक्ति रुचि, प्रासंगिकता या व्यक्तिगत महत्व जैसे कारकों के आधार पर उनमें से कुछ का चयन करते हैं और उन पर ध्यान केंद्रित करते हैं। (3.) संगठन–प्राप्त जानकारी को फिर व्यक्ति के दिमाग में पैटर्नस या संरचनाओं में व्यवस्थित किया जाता है, जिससे उन्हें संदर्भ को समझने और जानने में मदद मिलती है। (4.) व्याख्या– एक बार जानकारी व्यवस्थित हो जाने पर, व्यक्ति अपने अनुभवों, विश्वासों, मूल्यों और पूर्व ज्ञान के आधार पर अपनी व्याख्या प्रदान करते हैं। (5.) व्यक्तिगत अनुभव का प्रभाव–व्यक्तियों के दैनिक जीवन के अनुभव, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, शिक्षा और सामाजिक संदर्भ इस बात को प्रभावित कर सकते हैं कि वे स्थितियों या अन्य लोगों को कैसे समझते हैं। (6.) व्यक्तिपरकता–धारणा एक अत्यधिक व्यक्तिपरक प्रक्रिया है, जिसका अर्थ है कि एक ही स्थिति में दो व्यक्तियों की व्यक्तिगत व्याख्याओं में अंतर के कारण अलग-अलग धारणाएं हो सकती हैं।

सामाजिक संपर्क–शब्द ''सामाजिक संपर्क'' में समाज

के भीतर व्यक्तियों या समूहों के बीच सभी प्रकार के संचार, सूचना साझाकरण और संपर्क शामिल हैं, जैसा कि योहाना (2020) द्वारा समझाया गया है। यह उस तरीके को संदर्भित करता है जिस तरह से मनुष्य विभिन्न परिस्थितियों और हालत में एक-दूसरे से जुड़ते हैं, संवाद करते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। अम्बर्सन और करास मोंटेज़ (2010) के अनुसार, सामाजिक संबंधों को बढ़ावा देने, सामाजिक मानदंडों को समझने और समाज के भीतर सामाजिक संरचनाओं को संरक्षित करने में सामाजिक संपर्क महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक संपर्क की धारणा से संबंधित कुछ आवश्यक पहलुओं में शामिल हैं—(1.) संचार—सामाजिक संपर्क में व्यक्तियों या समूहों के बीच संचार के मौखिक और गैर-मौखिक दोनों रूप शामिल होते हैं, जैसे आमने-सामने की बातचीत, टेक्स्ट संदेश, फोन कॉल, ईमेल, शारीरिक भाषा और चेहरे के भाव। (2.) भौतिक या वर्चुअल संपर्क—सामाजिक संपर्क प्रत्यक्ष शारीरिक संपर्क के माध्यम से हो सकता है, जैसे आमने-सामने संचार या वर्चुअल संदर्भों में, जैसे ऑनलाइन चैट या सोशल मीडिया मैसेजिंग। (3.) लक्ष्य और प्रेरणाएँ—सामाजिक संपर्क विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करता है, जिसमें जानकारी साझा करना, संबंध बनाना, सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करना या केवल खाली समय और आनंद के लिए शामिल है। सामाजिक संपर्क की प्रेरणाएँ व्यक्ति-दर-व्यक्ति में बहुत भिन्न हो सकती हैं। (4.) सामाजिक मानदंड—सामाजिक संपर्क के दौरान, व्यक्ति आम तौर पर सामाजिक मानदंडों का पालन करते हैं जो विभिन्न स्थितियों में उनके व्यवहार और संचार को निर्देशित करते हैं। इन मानदंडों में आचरण के नियम शामिल हैं जो यह निर्धारित करते हैं कि लोग विभिन्न परिस्थितियों में कैसे व्यवहार करते हैं और संवाद करते हैं। (5.) सामाजिक संरचना—सामाजिक संपर्क किसी समाज के भीतर सामाजिक संरचना को आकार देने और बनाए रखने में योगदान देता है। सामाजिक संरचना से तात्पर्य किसी समाज में व्यक्तियों और समूहों के बीच मौजूद रिश्तों और पदानुक्रम के पैटर्न से है। (6) संघर्ष और सहयोग—जब व्यक्तियों या समूहों के बीच राय, मूल्यों या लक्ष्यों में मतभेद होते हैं तो सामाजिक संपर्क संघर्ष का कारण बन सकता है। हालाँकि, जब लोग समान उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मिलकर काम करते हैं तो इसका परिणाम सहयोग भी हो सकता है।

विद्यार्थी—स्कूलों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों या इसी तरह के संस्थानों जैसे शैक्षिक प्रतिष्ठानों में भाग लेने वाले वास्तविक शिक्षार्थियों को विद्यार्थी कहा जाता है (हेगर, 2012; सईद अहमद एट अल., 2023)। ये व्यक्ति शैक्षिक प्रक्रिया में लगे हुए हैं जिसका उद्देश्य विभिन्न विषयों या अध्ययन के क्षेत्रों में उनके ज्ञान, क्षमताओं और समझ को बढ़ाना है (यू और गोह, 2016)। विद्यार्थियों के विचार से संबंधित कुछ आवश्यक पहलू निम्नलिखित हैं—(1.) सीखने की प्रक्रिया—विद्यार्थी शिक्षकों या प्रशिक्षकों के निर्देश, स्व-अध्ययन और विभिन्न शैक्षिक गतिविधियों के माध्यम से सीखने की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। वे अवधारणाओं को समझना, कौशल विकसित करना और अर्जित ज्ञान को लागू करना सीखते हैं। (2.) विभिन्न शैक्षिक स्तर—प्राथमिक शिक्षा (प्राथमिक विद्यालय) से लेकर माध्यमिक शिक्षा (हाई स्कूल) और उच्च शिक्षा (विश्वविद्यालय, कॉलेज और व्यावसायिक संस्थान) तक, विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर विद्यार्थी मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त, अनौपचारिक शिक्षा और उन्नत उच्च शिक्षा भी है। (3.) शैक्षिक गतिविधियों में भागीदारी—विद्यार्थी विभिन्न शैक्षिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं जैसे कक्षाओं में भाग लेना, असाइनमेंट पूरा करना, परीक्षा देना, पाठ्येतर गतिविधियों में भाग लेना और अपने स्कूलों या संस्थानों में सीखने के माहौल को आकार देना। (4.) व्यक्तिगत विकास—शिक्षा, शैक्षणिक सामग्री से परे विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास में योगदान देती है, जिसमें चरित्र निर्माण, मूल्य नैतिकता और सामाजिक कौशल शामिल हैं। (5.) शैक्षिक जिम्मेदारी—विद्यार्थियों की जिम्मेदारी है कि वे अपने सीखने में पहल करें और विश्वविद्यालय या संस्थान के नियमों का पालन करते हुए और सकारात्मक शिक्षण माहौल का समर्थन करते हुए अपने शैक्षिक लक्ष्यों को प्राप्त करें। (6.) विविधता—विद्यार्थी अद्वितीय आवश्यकताओं, रुचियों और क्षमताओं के साथ विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, जातीय और आर्थिक पृष्ठभूमि से आते हैं। यह शिक्षा में व्यक्तिगत मतभेदों को संबोधित करने के महत्व को दर्शाता है।

शिक्षा और सीखना—जब किसी व्यक्ति के ज्ञान, क्षमताओं, मूल्यों और समझ के विकास की बात आती है तो ''शिक्षा'' और ''सीखना'' बारीकी से संबंधित अवधारणाएं हैं। यद्यपि अक्सर एक साथ उपयोग किया जाता है, उनके अलग-अलग अर्थ होते हैं। शिक्षा स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों जैसे संस्थानों में औपचारिक और संगठित तरीकों के माध्यम से व्यक्तियों को ज्ञान, कौशल, मूल्य और मानदंड प्रदान करने की संकल्पपूर्वक और संरचित प्रक्रिया को संदर्भित करती है (अजाकियाह एट अल)., 2023)। शिक्षा का उद्देश्य व्यापक लक्ष्यों के साथ शिक्षित और कुशल नागरिक बनाने के लिए बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और अन्य कौशल विकसित करना है (डार्लिंग-हैमंड एट अल., 2020)। शिक्षा की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं में शामिल हैं—(1.) संगठित—शिक्षा पाठ्यक्रम और शैक्षिक कार्यक्रमों के माध्यम से एक योजनाबद्ध संरचना का अनुसरण करती है। (2.) शिक्षक—शिक्षा में शिक्षक, प्रोफेसर या प्रशिक्षक जैसे व्यक्ति शामिल होते हैं जो ज्ञान प्रदान

करने के लिए जिम्मेदार होते हैं। (3.) दीर्घकालिक उद्देश्य—शिक्षा में अक्सर दीर्घकालिक उद्देश्य होते हैं जिनका उद्देश्य समय के साथ अधिक गहन क्षमताओं और समझ को विकसित करना होता है। (4.) औपचारिक—शिक्षा प्राय : स्कूल, कॉलेजों या विश्वविद्यालयों जैसी औपचारिक परिवेश में होती है। सीखना उस तरीके को संदर्भित करता है जिस तरह से व्यक्ति व्यक्तिगत अनुभव, अवलोकन, पर्यावरणीय बातचीत और औपचारिक शिक्षा (शेमशेक एंड स्पेक्टर, 2020) जैसे विभिन्न माध्यमों से नई जानकारी, क्षमताएं, दृष्टिकोण और अनुभव प्राप्त करते हैं। यह प्रक्रिया चालू रहती है और व्यक्ति के पूरे जीवनकाल में शैक्षणिक संस्थानों के अंदर और बाहर दोनों जगह चलती रहती है (मौलिया एट अल., 2020)। सीखने की कुछ आवश्यक विशेषताओं में शामिल हैं—(1.) बहुमुखी— सीखना पारंपरिक शैक्षिक परिवेश तक ही सीमित नहीं है और कहीं भी और किसी भी समय हो सकता है। (2.) इंटरैक्टिव—सीखने में नई जानकारी को समझने, लागू करने और आंतरिक बनाने के लिए व्यक्तियों द्वास सक्रिय मानसिक और शारीरिक सहभागिता शामिल होती है। (3) लक्षित—सीखने में अक्सर विशेष क्षमताओं के अधिग्रहण या विशेष मुद्दों के समाधान से संबंधित विशिष्ट उद्देश्य होते हैं। (4.) विविध—सीखना विभिन्न रूपों में हो सकता है, जैसे व्यक्तिगत अनुभव, स्व-अध्ययन, प्रशिक्षण और सामाजिक संपर्क। व्यवहार में, शिक्षा का उद्देश्य अक्सर सीखने की प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाना होता है लेकिन सीखना औपचारिक शैक्षिक संदर्भों के बाहर भी हो सकता है। शिक्षा सीखने के लिए एक रूपरेखा और संरचना प्रदान करती है, जबकि सीखना पूरी प्रक्रिया को शामिल करता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने पूरे जीवन में ज्ञान और कौशल हासिल करते हैं।

शोध पद्धति—यह शोध एक गुणात्मक साहित्य समीक्षा है जो रुचि के विषय के बारे में मौजूदा ज्ञान को इकट्ठा करने, मूल्यांकन करने और संयोजित करने के लिए विभिन्न स्रोतों से जानकारी का विश्लेषण और व्याख्या करेगा। अध्ययन 1992 और 2023 के बीच, इस समय सीमा के दौरान परिवर्तनों, रुझानों और विकासों का निरीक्षण करने के लिए प्रकाशित शोध पत्रिकाओं, पुस्तकों, शोध दस्तावेजों और अन्य प्रासंगिक लेखों से डेटा लेगा, जिससे शोधकर्ता को इस अवधि के दौरान सामने आए परिवर्तनों, रुझानों और विकासों का निरीक्षण करने में मदद मिलेगी। इस साहित्य समीक्षा में उपयोग की जाने वाली गुणात्मक शोध पद्धति कई फायदे प्रदान करती है, जैसे कि जटिल विषयों को अधिक विस्तार से गहराई से तलाशने और समझाने की क्षमता (एलो एट अल., 2014)। डेटा संकलन की प्रक्रिया में पाठ्य सामग्री की गहन जांच, प्रासंगिक जानकारी प्राप्त करना और शोध विषय से संबंधित डेटा को वर्गीकृत करना शामिल है। शोधकर्ता प्राप्त जानकारी को एक संरचित प्रारूप में व्यवस्थित करेगा, कई स्रोतों से खोजों की तुलना और एकीकृत करेगा और संचित डेटा से उभरने वाले पैटर्न, विषयों और रुझानों की पहचान करेगा। गुणात्मक अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण लाभ संख्यात्मक या सांख्यिकीय बाधाओं के बिना जटिल घटनाओं को समझने और स्पष्ट करने में इसका लचीलापन है (रहमान, 2016)। यह विधि शोधकर्ताओं को समय के साथ विषय वस्तु के विकास और इसके आसपास की अवधारणाओं और धारणाओं के परिवर्तन में गहन अंतर्दृष्टि प्राप्त करने में सक्षम बनाती है। नियोजित स्रोतों की विश्वसनीयता और निर्भरता की जांच करना और प्राप्त जानकारी का आलोचनात्मक विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है। गुणात्मक अनुसंधान पद्धति का उपयोग करने के लिए उपयोग की जाने वाली पद्धतियों और डेटा में निहित सीमाओं को स्वीकार करते हुए निष्पक्षता, संवेदनशीलता और स्पष्ट व्याख्याओं की आवश्यकता होती है (ब्रैडशॉ एट अल., 2017)। इस शोध प्रयास से प्राप्त निष्कर्ष का उद्देश्य 1992 से 2023 तक शोध विषय के विकास का एक व्यापक अवलोकन प्रदान करना है, संभावित रूप से भविष्य के शोध के लिए सिफारिशें प्रदान करना है जो विषय वस्तु से संबंधित मुद्दों के बारे में हमारी समझ को और बढ़ा सकते हैं।

निष्कर्ष, सुझाव और सीमाएँ—जैसे-जैसे दुनिया अधिक परस्पर जुड़ी और डिजिटल होती जा रही है, छात्रों की धारणाओं और सामाजिक संपर्कों पर सोशल मीडिया के प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। सोशल मीडिया ने लोगों के एक-दूसरे के साथ बातचीत करने के तरीके को बदल दिया है, आत्म-धारणा को प्रभावित किया है और यहां तक कि छात्रों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी डाला है। जबकि शिक्षा में सोशल मीडिया की भूमिका लाभ और जोखिम दोनों के साथ जटिल है, शैक्षिक संदर्भ में इसके निहितार्थ पर विचार करना आवश्यक है। शैक्षणिक संस्थानों को सोशल मीडिया साक्षरता शिक्षा को अपने पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहिए ताकि छात्रों को सोशल मीडिया को बुद्धिमानी से प्रबंधित करने, सही और गलत जानकारी के बीच अंतर करने और सामाजिक दबावों से निपटने में मदद मिल सके। शिक्षक सहयोगात्मक शिक्षण, ज्ञान के आदान-प्रदान और शिक्षण समुदायों के गठन के लिए सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म का भी उपयोग कर सकते हैं। सोशल मीडिया के उपयोग से उत्पन्न होने वाले नकारात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभावों को कम करने के लिए, स्कूलों और कॉलेजों को छात्रों को मनोवैज्ञानिक सहायता और परामर्श प्रदान करना चाहिए। शिक्षा में सोशल मीडिया

की भूमिका को अनुकूलित करने और इसके नकारात्मक प्रभावों को कम करने के लिए विभिन्न हितधारकों को शामिल करने की आवश्यकता है। माता-पिता को अपने बच्चों को सोशल मीडिया साक्षरता के बारे में शिक्षित करना चाहिए और जिम्मेदार उपयोग पर मार्गदर्शन प्रदान करना चाहिए। सुरक्षित उपयोग के लिए बेहतर दिशानिर्देश बनाने के लिए शैक्षणिक संस्थानों को सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म और सोशल मीडिया साक्षरता विशेषज्ञों के साथ सहयोग करना चाहिए। शिक्षकों और अभिभावकों दोनों को छात्रों की सामाजिक गतिविधियों की निगरानी करनी चाहिए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे साइबरबुलिंग, जोखिमों या अनुचित सामग्री के संपर्क में न आएं। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि सोशल मीडिया का प्रभाव व्यक्तिगत विकास के चरणों और विभिन्न सामाजिक संदर्भों के आधार पर भिन्न हो सकता है। सोशल मीडिया और प्रौद्योगिकी की गतिशील प्रकृति के लिए उभरती चुनौतियों और अवसरों का समाधान करने के लिए निरंतर अनुकूलन और अनुसंधान की आवश्यकता है। छात्रों की धारणाओं और सामाजिक संपर्कों में सोशल मीडिया की भूमिका को समझकर, हम शिक्षा के लगातार बदलते परिदृश्य में सोशल मीडिया प्लेटफार्मों के संतुलित और सकारात्मक उपयोग का समर्थन करने के लिए विवेकपूर्ण कदम उठा सकते हैं।

संदर्भ

1. अंसारी, जे. ए. एन., एंड खान, एन. ए. (2022). एक्सप्लोरिंग दा रोल ऑफ सोशल मीडिया इन कॉलेबोरेटिव लर्निंग दा न्यू डोमेन ऑफ लर्निंग. स्मार्ट लर्निंग एनवायर्नमेंटस, 7(1), 1-16.
2. अज्जाकियाह, एच. के. (2023). दा इम्पैक्ट ऑफ सोशल मीडिया यूज ऑन सोशल इंटरेक्शन इन कंटेम्पररी सोसाइटी. टेक्नोलॉजी एंड सोसाइटी पर्सपेक्टिवस (टीएसीआईटी), 1(1), 1-9.
3. चेन, एस. (2023). दा इन्लुएंस ऑफ सोशल मीडिया प्लेटफार्मस ऑन सेल्फ-आइडेंटिटी इन दा न्यू मीडिया एनवायर्नमेंट : दा केस ऑफ टिकटॉक एंड इंस्टाग्राम. एसएचएस वेब कॉन्फ्रेन्सेस, 165, 01020.
4. कोहेन-अल्मागोर, आर. (2018). सोशल रिस्पांसिबिलिटी ऑन दा इंटरनेटः एड्रेसिंग दा चौलेंज ऑफ सायबरबुलईंग. अग्रेशन एंड वायलेंट बिहेवियर, 39, 42-52.
5. डेल, जे., एंड हिस्लोप-मार्गिसन, ई. जे. (2011). पाउलो फ्रेयरः टीचिंग फॉर फ्रीडम एंड ट्रांसफॉर्मेशन (वॉल्यूम 12). स्प्रिंगर नीदरलैंड
6. एटर, एम., रवासी, डी., एंड कोलेओनी, ई. (2019). सोशल मीडिया एंड द फार्मेशन ऑफ आर्गेनाईजेशन रेपुटेशन. एकेडमी ऑफ मैनेजमेंट रिव्यू, 44(1), 28-52.
7. ग्रीनहो, सी., एंड अस्करी, ई. (2017). लर्निंग एंड टीचिंग विद सोशल नेटवर्किंग साइट्सः ए डिकेड ऑफ रिसर्च इन इ-12 रिलेटेड एजुकेशन एजुकेशनल एंड इनफॉरमेशन टेक्नॉलॉजिस, 22(2), 623-645.
8. हाफरकैंप, एच., एंड नील जे. स्मेलसर. (1992). सोशल चेंज एंड मॉडर्निटी. यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस.
9. जॉर्डन, बी. (2009). ब्लरिंग बाउंड्रीजः दा ''रियल'' एंड दा ''वर्चुअल'' इन हाइब्रिड स्पेसेस. ह्यूमन ऑर्गेनाइजेशन, 68(2),181-193.
10. कपूर, के. के., तमिलमणि, के., राणा, एन.पी., पाटिल, पी. , द्विवेदी, वाई.के., एंड नेरूर, एस. (2018). एडवांसेस इन सोशल मीडिया रिसर्चः पास्ट, प्रेजेंट, यूचर. इनफॉरमेशन सिस्टम फ्रंटियर्स, 20(3), 531-558.
11. अम्बरसन, डी., एंड करास मोंटेज, जे. (2010). सोशल रिलेशनशिप्स एंड हेल्थः ए लैश प्वाइंट फॉर हेल्थ पॉलिसी. जर्नल ऑफ हेल्थ एंड सोशल बिहेवियर, 51(1),एस54-एस 66.
12. योहन्ना, ए. (2020). दा इनलुएंस ऑफ सोशल मीडिया ऑन सोशल इंटरेक्शनस अमोंग स्टूडेंटस. जनरल ऑफ स्कूल साइंस. 12(2), 34-48.

–शैलेन्द्र सिंह बिष्ट, शोध छात्र

–डा. मिली सिंह, शोध निर्देशिका

मीडिया अध्ययन विभाग, श्री रामस्वरूप मेमोरियल, यूनिवर्सिटी, देवा रोड बाराबंकी, उत्तर प्रदेश-225003

जीवन की सार्थकता के मौलिक प्रश्नों को विश्लेषित करता 'अंतिम अरण्य'

—डॉ. संगीता कुमारी

सत्य की तलाश हमें स्वतः धार्मिक-दार्शनिक चिंतन और आध्यात्मिकता से जोड़ देती है। किसी रचना में इस चिंतन का प्रक्षेपण किन रूपों में प्रकट होता है साहित्य के लिए यह एक अलग प्रश्न है क्योंकि साहित्य अपने में साध्य है उसकी सत्यता किन्हीं ओर संकायों और विमर्शों पर आश्रित नहीं है। ज्ञान की आकुलता मनुष्य के लिए तब तक एक शाश्वत प्रश्न है जब तक इस पृथ्वी पर उसका अस्तित्व है। निर्मल वर्मा द्वारा लिखा गया उपन्यास 'अंतिम अरण्य' (2000) सिर्फ नाम में ही अंत को संबोधित नहीं करता वरन निर्मल वर्मा का भी यह अंतिम उपन्यास ही है। जैसा कि नाम से ही व्यंजित होता है ऐसा लगता है कि निर्मल वर्मा अपने जीवन के संपूर्ण अनुभवों का निचोड़ इस रचना में प्रस्तुत कर रहे हैं। 'अरण्य' का शाब्दिक अर्थ होता है 'वन', 'जंगल'। जिस तरह जंगल शब्द के उच्चारण से ही हमारे अंदर सघन, गहन, जटिल जैसे तत्वों का बोध होता है, क्या जीवन की वास्तविकता वैसी ही नहीं है? क्या मनुष्य अपना पूरा जीवन इसी तलाश में नहीं व्यतीत कर देता कि वास्तव में जीवन है क्या? कुछ तो इस प्रश्न के पेरिफेरी तक पहुंचाने की कोशिश करते हैं या सतही रूप से उन्हें ऐसा बोध होता है कि वह वहां पहुंच चुके हैं लेकिन क्या अधिकांश इसी प्रकार भटकते हुए मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाते? परंतु, सच्चाई यह है कि आज की भौतिकतावादी दौर में नई पीढ़ी इन प्रश्नों को समझ भी नहीं पाती और जिए चली जाती है। और जब अपने अंतिम पड़ाव तक पहुंच इन तत्वों की तलाश करती है तब उसे या तो अपने द्वारा गँवाए गए समय की व्यर्थता का आभास होता है या इन अनुत्तरित प्रश्न से जूझते हुए वे अवसादग्रस्त हो जाते हैं या फिर ऐसे ही एक दिन चले जाते हैं।

अंतिम अरण्य जीवन रूपी ऐसी कई जटिलताओं को न सिर्फ तलाशता दिखता है बल्कि कई बार हमें सोचने पर भी मजबूर करता है और हमें ठहराव की स्थिति में ला खड़ा करता है। कई बार इस उपन्यास को पढ़ते वक्त हम रुक जाते हैं और सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि जीवन क्या है? हम क्या छद्म सुख की तलाश में नहीं भटक रहे? और यह सोचने के लिए हम बाध्य हो जाते हैं कि जीवन की सही तलाश क्या है? या जीवन भर इस मार-काट के बाद अंततः क्या मिलना है? निर्मल वर्मा इस उपन्यास में लिखते हैं-

''आप किस सुख की बात कर रहे हैं?''

''परिवार का सुख, दुनिया में रहने का सुख... आदमी क्या सारी मारकाट इन सुखों के लिए नहीं करता?''

''जिसे आप ज्ञान कहते हैं, वह भी क्या इसी मारकाट के भीतर से नहीं आता?''

''जब आता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है...तब आदमी उसके काबिल नहीं रहता! वह अपने चिमटे से सुख नहीं, उसकी राख उठाने आता है...''[1]

क्या ज्ञान प्राप्ति की यही भूख महात्मा बुद्ध के सांसारिक जीवन से विरक्ति का कारण नहीं बना होगा? यदि भौतिक संसाधन और आर्थिक समृद्धि मनुष्य के लिए सब कुछ होता तब क्या उन्हें गृहस्थ जीवन से पलायन करना पड़ता और क्या ऐसे प्रश्न सिर्फ किसी काल विशेष से ही जुड़े हो सकते हैं? किसी भी समय के समाज में यह प्रश्न उतने ही प्रासंगिक होंगे जितने की उपनिषद काल में या बौद्ध युग में या उसके बाद के समय में। मोक्ष, आत्मा, अमरता जैसे प्रश्न उपनिषदों में भी उठाए गए और समकालीन चिंतकों द्वारा भी। व्यक्ति सिर्फ जीवन-यापन के लिए नहीं जीता, मनुष्य 'मनुष्यत्व' के साथ जी सके इसके लिए यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण बन जाते हैं।

कभी भी किसी लेखक की यह स्वीकारोक्ति नहीं होती कि वह अपनी रचना द्वारा किसी दर्शन को स्थापित करना चाहता है। और निर्मल वर्मा में यह तथ्य इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वे सिर्फ कथाकार नहीं है वे समर्थ आलोचक, निबंधकार, यात्रा वृतांती भी हैं। कह सकते हैं कि गद्य की लगभग हर विधाओं पर उन्होंने लिखा है। निर्मल वर्मा अपने निबंध संग्रह आदि, अंत और आरंभ में 'साहित्य के प्रासंगिक प्रश्न' शीर्षक आलेख में लिखते हैं- ''साहित्य वह प्रमाण है जिसे प्रत्यक्ष के सहारे की कोई जरूरत नहीं... क्योंकि वहां न होने का प्रत्यक्ष सबसे अधिक सघन रूप से अनुभूत

होता है। असली जीवन में हमारे भीतर के अनेक कपाट बंद पड़े रहते हैं, जिन्हें हम खोलने का साहस नहीं कर पाते। साहित्य जब अपनी चाभी से उनके बंद ताले खोलता है तो हमें एक अजीब सा आश्चर्य होता है, जब हम अपनी दबी-छिपी आकांक्षाओं को उनसे बाहर निकलता हुआ पाते हैं। वे हमारे जिए हुए, भोगे हुए अनुभव ना भी हों, तो भी हमारे अनुभूति-क्षेत्र में उनका अस्तित्व उतना ही ठोस और जीवंत है, जितना हमारे नींद के स्वप्न, जो हमारी जागृतावस्था की ही उपज हैं।''[2] ऐसे में यह सोचना भी कि अगर इस उपन्यास में जीवन संबंधी जो प्रश्न हैं वह सोच समझकर लाए गए होंगे, निराधार है। निर्मल वर्मा जीवन, मृत्यु और मृत्यु के बाद की सत्ता पर भी विचार करते हैं।

यह उपन्यास मूलतः मृत्यु और आसन्न मृत्यु पर केंद्रित है। इसके अतिरिक्त जीवन, मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्मफल, जन्म-जन्मांतर का संबंध, मृत्यु की भयावहता, मृत्यु की प्रतीक्षा आदि सवालों की टोह लेने की कोशिश करता है। सामान्यतः जीवन की विद्रूप/कटु सच्चाइयों को यह सोचकर कि जब वह हमारे समक्ष उपस्थित होगा देखा जाएगा कहकर बचते हैं या उसे टालने की कोशिश करते हैं। निर्मल वर्मा ऐसे ही शाश्वत प्रश्नों से टकराते हैं।

'अंतिम अरण्य' दरअसल जीवन की यात्रा और उसके पड़ावों को तलाशने की प्रक्रिया में बंधी हुई उपन्यास है। इसलिए मृत्यु सम्बन्धी तथ्यों और उसके बाद भी इसकी उपस्थिति जीवित लोगों के जीवन में किस प्रकार है इसकी पड़ताल करती है। इसलिए इस कथा में दर्शन के प्रश्न गूंथे चले आते हैं। यह पूरा उपन्यास मि. मेहरा और उनके परिवार के इर्द-गिर्द बुना हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ अन्य पात्र जैसे- अन्नाजी, निरंजन बाबू, डॉ. सिंह, मुरलीधर, ननकू चौकीदार, हीरालाल पोस्टमैन, गंगू माली, बंसी आदि मौजूद हैं। मि. मेहरा के समानांतर दूसरा महत्वपूर्ण पात्र है 'मैं'। मि. मेहरा एक रिटायर्ड अफसर हैं। जीवनभर उन्होंने उच्च पद की गरिमा और सुख में अपना जीवन बिताया है। परन्तु अपने जीवन के उत्तरार्ध में वे शिमला के आस-पास बहादुरगंज नामक एक निर्जन पहाड़ी कसबे में अपनी दूसरी पत्नी (दीवा) और अपनी बेटी तिया (पहली पत्नी से) के साथ रहते हैं। उनकी पहली पत्नी का जिक्र उपन्यास में बहुत ही कम है। लगता है इस पात्र के प्रति लेखक की कोई ज्यादा संवेदना नहीं है। तिया के लिए उसकी माँ की उपस्थिति महत्व रखती है और उसने अपनी यादों में आज भी अपनी माँ को संभाल रखा है। वह बहुत छोटी थी जब उसकी माँ उसे छोड़कर चली गयी।

तिया के मन में कहीं न कहीं यह घर कर चुका था कि उसकी माँ उसके पिता की वजह से चली गयी इसलिए वह अपने आपमें अलग-थलग रहती है। वह अपने पिता से प्रेम करती है लेकिन साथ ही कुछ है जिसके लिए वह उन्हें कभी माफ नहीं करना चाहती। वह सबसे दूर रहना चाहती है। इसलिए दूर सिरसा में प्रैक्टिस करती है।

इस पूरी कहानी के साथ उपन्यास में महत्वपूर्ण है 'मैं' यानी कथावाचक और मि. मेहरा का आपसी रिश्ता। मि. मेहरा का बायोग्राफी लिखने आया कथावाचक 'मैं' जिसकी स्वगत शैली और आत्मालाप एवं संवाद के माध्यम से उपन्यास की कथा आगे बढ़ती है। अंतिम अरण्य के अधिकांश पात्र अपने जीवन की प्रौढ़ा अवस्था या बुढ़ापा से जुड़े हैं या यह कहें कि यहां लोक और लोकोत्तर की कथा साथ-साथ चलती है, जो जीवित हैं और जो मृत हैं सबकी उपस्थिति समान ही है। स्वयं 'मैं' के स्वगत कथन हैं- ''मैं जीवन के एक ऐसे दौर से गुजर रहा था, जिसे कुछ लोग 'क्राइसिस आफ मिडल एज' कहते हैं। यह मैं अब सोचता हूं। मैं उससे बाहर निकलना चाहता था। अब हंसी आती है, क्या कोई अपने तन की त्वचा और मन की मैल से बाहर आ सकता है? कहीं भी जाओ, यह दोनों चीजें पीछा नहीं छोड़ती। लेकिन एक बात मैं जानता हूं, यहां आने का मतलब एक दुनिया को छोड़कर दूसरी दुनिया में जाना नहीं था, यह अपनी ही दुनिया में अपने को दुबारा पाने का प्रयत्न था...।''[3] 'मैं' अपने इसी क्राइसिस से बचने के लिए मि. मेहरा की दूसरी पत्नी दीवा के दिए गए विज्ञापन पर मि. मेहरा के बायोग्राफी को डिक्टेट करने के लिए पहुंचता है। दरअसल इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि एक समय के बाद व्यक्ति अपने ही घर से दूर जाना चाहता है। 'मैं' भी अपने घर से ही दूर रहने के लिए ही दीवा के ऑफर को स्वीकार करता है। उसे इस बात से आश्चर्य होता है जब निरंजन बाबू उससे कहते हैं कि तुम अपने जीवन की शुरुआत में ही आ गए। उसे लगता है वह अपने जीवन के 'क्राइसिस ऑफ मिडल एज' से गुजर रहा है फिर शुरुआत में कैसे आ गया। वह सोचता है, ''मां बाप का होना ना होना एक जैसा ही लगता था, बाबू की मृत्यु के बाद माँ छोटे भाई के पास ऑस्ट्रेलिया चली चली गई थी... पीछे उनका घर मेरे पास रह गया था, जो अब खाली था। खाली तब भी जान पड़ता था, जब वह साथ रहते थे। जब अन्नाजी ने मुझसे मुस्कुराकर पूछा था कि मेहरा साहब के साथ रहकर तुम्हें खालीपन नहीं लगता, तो मुझे अचरज हुआ था। पता नहीं चला, वे कौन से खालीपन की बात कर रही है। साथ रहने का खालीपन क्या साथ रहते हुए पता चलता है?''[4]

यह खालीपन, अकेलापन, मृत्यु या मृत्युबोध सभी से संबद्ध है। निर्मल वर्मा की अधिकांश रचनाओं में आधुनिक समाज की विसंगतियों के रूप में मनुष्य का भयावह अकेलापन किसी न किसी रूप में मौजूद रहा है। खालीपन, अकेलापन, जीवन की निरर्थकता का बोध परिणामतः

आत्महत्या या बीमारी से मृत्यु, जैसे प्रश्न उनकी रचनाओं के केंद्र में है। ''यह उल्लेखनीय है कि साहित्य में अस्तित्व से जुड़े प्रश्न- जिन्हें हम चाहे तो 'आध्यात्मिक' प्रश्न भी कह सकते हैं- आस्था से उत्प्रेरित ना होकर संशय की प्रश्नाकुलता से जन्म लेते हैं, दास्तोयवस्की और टॉलस्टॉय के उपन्यास यदि हमें आध्यात्मिक अनुभव के चरमोत्कर्ष तक ले जाने में समर्थ होते हैं, तो इसलिए कि उनमें ईश्वर के होने, ना होने की संशय पीड़ा सबसे अधिक मनुष्य को सालती है- क्या यह अजीब विडंबना नहीं कि पिछले वर्षों से हमारा अधिकांश कथा-साहित्य उन प्रश्नों को अप्रासंगिक मानता रहा है जिनके बिना स्वयं मनुष्य का 'मनुष्यत्व' एकांगी, अधूरा और बंजर पड़ा रहता है? यथार्थवाद के नाम पर हमने मनुष्य को उस 'यथार्थ' से विलगित कर दिया जो उसके जीवन और मृत्यु के प्रश्नों को अर्थ प्रदान करता है।''[5]

किसी रचनाकार के लिए सबसे बड़ा प्रश्न 'मनुष्यत्व' की रक्षा से जुड़ा होता है, लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं कि वह यथार्थ कैसा हो इसका निर्धारण केवल साहित्य से बाह्य तत्वों के आधार पर किया जाए। साहित्य का सत्य साहित्य के अंदर से ही प्रकाशमान होता है और शायद यही कारण है कि कई बार ऐसे सत्य जो वर्तमान में अप्रासंगिक लगते हैं भविष्य में प्रासंगिक हो जाते हैं। अर्थात् साहित्य को सिर्फ समाजशास्त्रीय ढांचे में ढालने की जगह उसे उसके अनुभूत सत्य और रचना दृष्टि पर छोड़ देना चाहिए। समय के साथ आज उपन्यास में पात्रों की संख्या कम होती जा रही है और मनोभाव कई बार चरित्र से ज्यादा मुखर हैं। और इस उपन्यास में भी चरित्र से ज्यादा कई बार मनोभावों का चित्रण इन्हीं रूपों में है।

अंतिम अरण्य उपन्यास में दीवा की मृत्यु बीमारी से होती है। और दीवा के मरने के बाद मिस्टर मेहरा में जीने की कोई इच्छा नहीं है। कथावाचक कहता है- ''अब तक उनकी मृत्यु से डरता हुआ आया था, तब क्या मालूम था कि मनुष्य की असली यात्रा मृत्यु से पहले शुरू होती है, जब वह जीने की पक्की सड़क छोड़कर किसी अंजानी पगडंडी की ओर मुड़ जाता है, जो जीने और मृत्यु से अलग किसी और दिशा की ओर जाती है।''[6] मिस्टर मेहरा अब उस अवस्था में पहुंच चुके थे जहां अब उनकी काया ही शेष रह गई थी। उनकी इस अवस्था को देख उनका नौकर मुरलीधर कहता है- ''हमारे दादा तो सड़क पर चलते आदमी को देखकर ही भांप लेते थे कि वह जिंदा है या सिर्फ उसकी ठठर छाया चली जा रही है।''[7]

इस उपन्यास में मृत्यु संबंधी ऐसे कई प्रश्नों को उठाया गया है जो जीवन और मृत्यु संबंधी बीमारियों के बीच हमें एक कठोर सत्य से अवगत कराता है। ''मृत्यु-एकमात्र चीज जिसके बारे में हम निश्चिंत होते हैं... क्या वह भी आदमी को आखिरी मौके पर धोखा दे सकती है? हम यह भी नहीं जान पाते, वह अपने साथ किसे ले गई है... क्या उसे जिसे हम जानते थे या किसी और को, जिसे जानने की कभी मुहलत नहीं मिली?''[8]

मृत्यु संबंधी ऐसे प्रश्न निर्मल की रचनाओं को दर्शन के करीब ले जाते हैं। निर्मल का अंतिम उपन्यास अंतिम अरण्य मृत्यु और आसन्न मृत्यु संबंधी ऐसे ही सवालों के बीच आकार ग्रहण करता है।

संदर्भ

1. निर्मल वर्मा, अंतिम अरण्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 62
2. निर्मल वर्मा, आदि, अंत और आरंभ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2017, पृ. 119-120
3. निर्मल वर्मा, अंतिम अरण्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 20
4. वही, पृ. 42
5. निर्मल वर्मा, आदि, अंत और आरंभ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2017, पृ. 120
6. निर्मल वर्मा, अंतिम अरण्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2011, पृ. 164
7. वही, पृ. 86
8. वही, पृ. 86

–डॉ. संगीता कुमारी
सहायक प्रोफेसर
जगजीवन महाविद्यालय,
(मगध विश्वविद्यालय), गया, बिहार

उपभोक्तावादी संस्कृति का वर्तमान समाज पर प्रभाव संदर्भ 'रेहन पर रग्घू'

—डॉ. मनीष चौधरी

भूमण्डलीकरण का अर्थ मुक्त व्यापार, निजीकरण, वैश्विक वस्तुओं की उपलब्धि रहा है। हमारा देश आज एक ओर आर्थिक विपदा से जूझ रहा है, सरकार के पक्ष में है वहीं दूसरी ओर एक वर्ग ऐसा भी है जो इन सभी तर्कों की बात ही नहीं करता है। देश का धनी तबका जिसको बेतहाशा बढ़ती महंगाई से कोई सरोकार नहीं क्यूंकि यह वर्ग विदेशी उत्पादों का शौकीन है। इस भूमण्डलीय विश्व में जहाँ पूंजी की अपार भरमार है वहीं आम जन के मन में बसी अपार इच्छाएँ भी हैं व इन सब इच्छाओं की पूर्ति करती है भरी हुई। भूमण्डलीकरण के बारे में कहा जाता है कि दुनिया सिमट गई है किंतु दुनिया मात्र उन्हीं लोगों के लिए सिमटी है जिनकी जेब में पैसों की कमी नहीं होती, यही पैसा उन्हें जगमगाती दुनिया घुमाता है। कल्पना के सागर में ले जाता है जहाँ हरेक मनुष्य विशिष्ट है। हर एक की पसंद ना पसंद को ध्यान में रखा जाता है। आज के युग में मनुष्य का उपभोग उसकी आवश्यकता पर निर्भर न होकर उसकी पहचान से संबंधित हो गया है। घर के दरवाजे पर यदि महँगी गाड़ी न हो, महँगे ब्रांडेड कपड़े न हों तो उन्हें ऐसा लगता है समाज में उनका स्टेटस नहीं बन पा रहा। ऐसा लगता है जरूरतें हैं नहीं पैदा की जा रही है। वैश्वीकृत या कहे भूमंडलीकृत भारत का समाज एक ऐसे उपभोक्तावादी समाज के रूप में विकसित हो रहा है, जहाँ बाजारवाद भारतीयों की एक नई जीवन-शैली बनकर उभरा है। भारत का मध्यवर्ग एक नई दुनिया में प्रवेश कर चुका है, जहाँ उपभोग का सम्बन्ध केवल उसकी आवश्यकता एवं संतुष्टि से नहीं रह गया है। यह व्यक्ति के पहचान से भी सम्बंधित हो गया है।''[1] ''भारतीय संस्कृति विविधता में एकता का एक अनुपम उदाहरण है। इस अनुपम संस्कृति का अखंड अनवरत प्रवाह सदियों से चला आ रहा है। इसका प्रवाह 'स्व' के सीमित दायरे से 'पर' तक पहुँचने की रही है। इसलिए भारतीय संस्कृति का मूलाधार 'वसुधैव कुटुम्बकम' पर आधारित है। इस तरह की संस्कृति को कई तरह के खतरों और चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। आज भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव हावी हो गया है। विभिन्न कालखंडों में भारत की सांस्कृतिक एकता को विकृत किया गया। साथ ही भूमंडलीकरण के इस दौर में संस्कृति, उपभोक्तावादी संस्कृति में परिणत हो गई है।''[2]

आज के युग में उपभोक्तावाद तेजी से पैर पसार रही है जिसके केन्द्र में होता है उपभोक्ता। उपभोक्ता के मन में लालसाएं जगाई जाती हैं उसे जरूरतमंद होने का एहसास कराया जाता है। बड़े-बड़े मॉल, बिग बाजार, आकर्षक आफर्स इन सबों की पैनी नजर मध्यवर्ग पर होती है क्योंकि यह वर्ग तेजी से प्रगति कर रहा है। यह वर्ग मानसिक रूप से हीन होने की कुण्ठा से ग्रस्त है व इससे बाहर आना चाहता है। खरीदारी इसका एकमात्र रास्ता है जिसके द्वारा यह अपना स्टेटस बढ़ाता है। बाजार व्यक्ति की मानसिकता पर प्रहार करता है। सुंदर होने की क्रीम का प्रचार एक सुंदर फिल्मी अभिनेत्री करे तो लोग उसके तरफ आकर्षित होंगें ही। किसी भी प्रोडक्ट के प्रचार में सेलिब्रेटी की छवि का इस्तेमाल करें, अमिताभ यदि तेल, क्रीम बेचें तो भला बिकेगा कैसे नहीं? बाजार भारतीय समाज के अनुरूप परिवार के मूल्यों के तहत ब्राण्ड बेचता है जैसे तनिष्क, कल्याण ज्वेलर्स इत्यादि। ''पुष्पाल सिंह के अनुसार, ''सौन्दर्य और प्रसाधन के एक से एक बढ़कर, एक से एक महगें उत्पाद सौन्दर्य प्रतियोगिताओं का बाजार, फैशन बाजार आदि मिलकर बाजारीकरण का ऐसा परिदृश्य निर्मित करते हैं कि मनुष्य ने आवश्यक जरुरी (नीड़) आरामदायक (कंफर्ट) तथा एश्वर्य (लग्जरी) का विवेक खोकर सब कुछ को आवश्यकता के रूप में स्वीकार कर अपनी जीवन चर्चा का अंग बना डाला है।''[3] दरअसल, भूमण्डलीकरण व उपभोक्तावाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया जहाँ ब्राण्ड के लिये दरवाजे खोल देती है वहीं उपभोक्ता की वस्तु खरीदने के लिये आकर्षित भी करती है। ''सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया आज दुनिया भर में बहुत तेज हो गई है और दूसरे देशों के लोग, एक ऐसी जटिल और आर्थिक कड़ी में बंध रहे हैं कि इन्हें अलग करके समझा ही नहीं जा सकता।''[4] बाजार और समाज का वर्षों से अटूट सम्बन्ध रहा है। बाजार से समाज अपनी आवश्यकता का समान लेता और खरीदता रहा है। आज बाजार, व्यापार और व्यापारी के द्वारा

लेन देन का अड्डा बन गया है। जहाँ पर वस्तुओं का मोलभाव बिना किसी मानवीय संवेदना को ध्यान में रखकर किया जा रहा है। वर्तमान बाजार मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम उसकी इच्छाओं को बढ़ाने के लिए ज्यादा है। आज का बाजार पूरी दुनिया को बाजारी त व्यवस्था में तब्दील कर बाजारी त संस्कृति का निर्माण करने में सफल हुआ है।''भूमंडलीकरण, सांस्कृतिक संवाद कायम नहीं करता। यह तो जमीनी संस्कृति को ही नकार कर एक ग्लोबल संस्कृति और ग्लोबल भाषा की वकालत करता है। यह ग्लोबल संस्कृति भिन्न-भिन्न देशों के सांस्कृतिक वातावरण से अलग-थलग, साइबर दुनिया में विकसित होती है।''[5]

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में वैश्वीकरण के दौर में आपसी सम्बन्धों और पुरानी पीढ़ी के लोगों का नये पीढ़ी के साथ आपसी व्यवहार और जीवन जीने की शैली को बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। उपन्यास में मुख्य पात्र के रूप में रघुनाथ उनकी पत्नी शीला और दूसरी पीढ़ी में पुत्र संजय और धनंजय के साथ उसकी बहन सरला है। अन्य पात्र गौड़ रूप में आते हैं। इन्हें शहरी जीवन आकर्षित करता है। इनकी बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षाओं के चलते उपभोक्तावादी संस्कृति ने इन्हें आकर्षित किया है। क्षय होती संवेदनशीलता ने उन्हें अकेला और दयनीय बना दिया है। एक बड़ा शहर अगर हमें कुछ दे रहा है तो उसके बदले हमसे बहुत कुछ छीन लेता है। भारतीय समाज की झांकी पारिवारिक जिम्मेदारियों का वहन करते हुए अपने बच्चों को अच्छे संस्कार देना एक सक्रिय और स्वथ्य समाज के निर्माण में अद्वितीय योगदान है। परिवार को संभालते हुए रघुनाथ जी का कथन है—''धरती सुन्दर और सुखी तभी होगी जब तुम्हारे बच्चे खुश, सुन्दर और संपन्न होंगे। तुम्हें जो बनना था, वह तो बन चुके अब बच्चे हैं जिनके आगे सारी जिन्दगी और दुनिया पड़ी है। वही तुम्हारे भविष्य हैं। जियो तो उन्हीं की जिन्दगी, मरो तो उन्हीं की जिन्दगी।''[6] परिवार और बच्चों की अहमियत। भविष्य के लिए सकारात्मक सोच। रघुनाथ ने ऐसे ही किया। अपने सभी बच्चों को अच्छी शिक्षा-दीक्षा परवरिश दी लेकिन उन्हें दुःख इस बात का सालता रहा कि उनके एक भी बच्चे ने उनके अनुसार कोई काम नहीं किया। बड़े बेटे संजय ने लालच में आकर शादी किया और बिना पिता से पूछे अमेरिका भी चला गया। यह बात वहीं तक नहीं रही पैसा कमाने की लालसा ने उसे मशीन (रोबोट) बना दिया। उसके लिए किसी भी रिश्ते की कोई अहमियत नहीं रह गई। माँ-बाप परिवार को छोड़ दिया यहाँ तक कि अपने पत्नी का भी नहीं हुआ और अमेरिका में दूसरी शादी कर लिया अमीर बनने के लिए और दूसरा बेटा धनंजय भी पैसा और शार्टकट बिना मेहनत किए अमीर बनने के लिए वह भी अपने मन का रास्ता अर्थात फायदे का रास्ता अपनाता है। बहन सरला नौकरी करती है लेकिन वह भी अपने अनुसार ही जीवनयापन करने का निर्णय लेती है और अकेले रहने का निश्चय करती है। उसकी जिन्दगी में कौशिक सर जैसे पिता के उम्र के आदमी का आना और चले जाना दूसरी तरफ यह उनके साथ इस बात से खुश होती है कि वह विद्वान् व्यक्ति से प्रेम करती है। यह समाज की कैसी बिडम्बना है किस तरफ जा रहा है वैश्विक समाज और नई पीढ़ी के लोगों की मानसिकता। इसे बदलती आधुनिक मानसिकता का भयावह रूप की संज्ञा देना गलत न होगा। यह तो था सरला के जीवन में आने वाला प्यार और दूसरा शादी। एक समय था जब प्यार की सफलता शादी तक का सफर तय करना ही अपने प्यार का उद्देश्य समझा जाता था। अमर प्रेम के नाम पर कई कहानी हमारे यहाँ प्रचलित हैं लेकिन भौतिक्तावादी समाज में प्रेम और शादी दो अलग-अलग चीज बनती जा रही है। मतलब प्यार किसी से भी हो सकता है लेकिन शादी किसी से भी नहीं की जा सकती। सरला शादी तो करना चाहती है, लेकिन उसकी जिंदगी में आने वाला लड़का दलित समाज का होने और पिता की नाक न कटे इसलिए वह उससे भी शादी नहीं कर पाती है। हमारा समाज शैक्षणिक, आर्थिक तकनीकी स्तर पर काफी प्रगति कर रहा है किन्तु सामाजिक संबंधों के स्तर पर हम बदलाव को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं। यह भावना रखना कि हम ऊंची जाति के हैं कोई दलित व्यक्ति हमारे बराबर कैसे आ सकता है?

हमारा समाज भौतिक विकास में इतना लिप्त हो चुका है कि जो सुंदर शाश्वत और अमिट है उसके प्रति हमारा ध्यान ही नहीं है। ''कितने दिन हो गए बारिश में भींगे, कितने दिन हो गए लू के थपेड़े खाए, कितने दिन हो गए जेठ के घाम में झुलसे, कितने दिन हो गए अंजोरिया रात में मटरगश्ती किए, कितने दिन हो गए ठंड में ठिठुर कर दाँत किटकिटाए, इसलिए कि इन्हें भोगें, इन्हें जिएं, इनसे दोस्ती करें, बतियाएं, सिर माथे पर बिठायें''[7] हम भौतिक चीजों के पीछे भाग रहे है। प्राकृतिक सुख से दूर हो रहे हैं। उसकी महत्ता को नकार रहे हैं। वैश्वीकृत समाज की झांकी भी इस उपन्यास में दिखलाई पड़ती है, रघुनाथ की बहु सोनल का शादी के बाद अमेरिका चली जाना और यहाँ पर पति की हरकतों की वजह से वापस भारत आ जाना। बहु सोनल का भारत वापस आ जाना और अपनी नौकरी करने के साथ ही संजय के परिवार के साथ रहना। अपने समय में रघुनाथ और पत्नी शीला कभी एक-दूसरे से अलग नहीं रहे। लेकिन बुढ़ापे में रघुनाथ और शीला का भी एक-दूसरे से अलग रहना। दोनों को एक-दूसरे की कोई परवाह नहीं। यहाँ तक भी सोनल को

छोड़कर पूरा परिवार ही बिखर चुका था किसी को किसी की कोई याद नहीं आती थी। समाज के लोगों की बदलती मानसिकता का ही परिणाम हुआ कि समाज के लोग न आधुनिक सोच को स्वीकार कर पा रहे हैं और न ही अपनी रूढ़ीवादी पारम्परिक सोच को ही चला पाने में सफल हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में नई पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी से टकराहट वास्तव में उन्हें परेशान करता है। ''सोनल के पिता सक्सेना का यह कथन-कोई जरूरत नहीं है इस दिखावे और तमाशे की। शादी के लिए कोर्ट है और दोस्त मित्रों के लिए रिशेप्शन। यह मैं कर ही दूंगा, फिर? ऐसे एक बात बता दूँ, जिस कम्पनी में और जिस कंट्रेक्ट पर अमरीका जाना है, उससे तीन साल में कोई भी इतना कमा लेगा कि अगर उसका बाप चाहे तो गाँव का गाँव खरीद ले। समझे?''[8] सोनल के पिता द्वारा लड़के को पैसों की लालच का दिया जाना उसे और अधिक लालची और महत्त्वाकांक्षी बना देता है। अत्यधिक पैसे की चाह में वह अपने पराये जो भी हो मानवीय संवेदनाओं और आपसी रिश्ते को भूल जाता है। वह मान लेता है कि कोई भी रिश्ता पैसे की बदौलत प्राप्त किया जा सकता है। पैसे के अभाव में जिन्दगी कुछ भी नहीं है। अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा की वजह से वह अपने आपको अपने लोगों को यहाँ तक कि अपनी पत्नी को भी भुला देता है तब वह वहाँ तक पहुँच पाने में सफल होता है। ऐसी सफलता का क्या अर्थ है जहाँ पहुंचने के बाद पीछे मुड़कर देखो तो आपके साथ कोई नहीं है। निरा अकेलापन हाथ लगता है। अपनी महत्वाकांक्षाओं में इतना लीन हो जाते है कि रिश्तों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। यहाँ उपभोक्तावाद की पदचाप को सुना जा सकता है जहाँ धन की लालसा मनुष्य को मशीन बना देती है व वह निर्लिप्त भाव से काम करता जाता है बिना सही-गलत का विचार करे।

सक्सेना संजय के पिता से बात न करके केवल बेटे को ही लालच देते हुए समझाते हैं, '' 'देखो सजू'! 'ला आफ ग्रेविटेशन' का नियम केवल पेड़ों और फलों पर ही नहीं लागू होता, मनुष्यों और सम्बन्धों पर भी लागू होता है। हर बेटे-बेटी के माँ बाप पृथ्वी हैं। बेटा ऊपर जाना चाहता है और ऊपर थोड़ा सा और ऊपर, माँ बाप अपने आकर्षण से उसे नीचे खींचते हैं। आकर्षण संस्कार का भी हो सकता है और प्यार का भी, माया मोह का भी! मंशा गिराने की नहीं होती, गिरा देते हैं! अगर मैंने अपने पिता की सुनी होती तो हेतमपुर में पटवारी रह गया होता! तो यह है! मुझे जो कहना था, कह चुका। तुम्हें जो ठीक लगे करो! हाँ जाने से पहले सोनल से भी बात कर लेना!''[9] उपन्यास में रघुनाथ का जीवन शुरूआती दौर में ग्रामीण परिवेश का रहा। रघुनाथ शहरी परिवेश और वहां की बदलती मानसिकता और आधुनिक विचारधारा की स्वीकृति दुनिया में द्वंद्व से होते हुए अंत में नियति को स्वीकार कर लेने में ही अपनी समझदारी समझते हैं। प्यार और रिश्तों की अहमियत को लेकर आज का युवा पीढ़ी की सोच उपभोक्तावादी और स्वार्थी सोच बनती जा रही है जिसमें 'ओनली फार फन' है किसी प्रकार की कोई नैतिकता या शिकायत नहीं।" 'रेहन पर रग्घु' में मानवीय रिश्तों की कसमसाहट को महसूस किया जा सकता है। इस ग्लोबल गाँव में आकर हमारी पुरानी आस्थाएं लड़खड़ा गयी और संस्कृति निस्तेज हो गयी।''[10] प्रेम भावनात्मक कम और देहात्मक ज्यादा होता जा रहा है। बदलती प्रेम की परिभाषा और युवा मानसिकता यह समाज और सामाजिक परिवेश दूसरे शब्दों में कहें तो स्वीकार नहीं है। पश्चिमी सभ्यता का आकर्षण और खुले विचार स्वयं तक की व्यक्तिगत सोच का नतीजा हो सकता है लेकिन यह हमारे समाज की संस्कृति को दूषित कर रहा है।

सन्दर्भ

1. सिंह, अमित कुमार, वैश्वीकरण और भारत परिदृश्य और विकल्प), सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009, पृ.सं. 95
2. डा गुप्तिसागर जी गुरुदेव, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अग्रदूत पं दीनदयाल उपाध्याय, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 190
3. सिंह पुष्पपाल, भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 43
4. दोषी, एस.एल. आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रावत पब्लिकेशन, जयपुर-2005, पृ. 313
5. संपादक, कल्पना वर्मा, भूमंडलीकरण और हिन्दी, लोकभारती इलाहाबाद, पृ. 159
6. सिंह काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2011, नई दिल्ली पृ. 18
7. वही, पृ. 12
8. वही, पृ. 23
9. वही, पृ. 23
10. राय शशिकला, बस सूरज के तरफ पीठ है उनकी, वाणी प्रकाशन, संस्करण, 2017, पृ. 33
11. सिंह काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2011 पृ. 42

–डॉ. मनीष चौधरी

सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

दौलतराम कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लांगुरिया का लोकचिंतन

—डॉ. महेश कुमार चौधरी

लांगुरिया मौखिक परंपरा के गीत हैं जो आज भी कृषक जातियों से लेकर साधारण जनसमूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। लांगुरिया एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में कंठ तथा जिह्वा के माध्यम से स्थानांतरित होते हुए आगे बढ़ रहे हैं। इनका कोई मूल रचयिता नहीं है। लोकधुन पर जो भी गायक गा रहा है वही उसका रचयिता है। लांगुरिया सृजन की प्रक्रिया में सामूहिक विधि ही सबसे प्रभावशाली और कारगर है। लांगुरिया लोकगीत की ऐसी विधा है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से गायन की टेर लगाते हैं। जिस लांगुरिया को स्त्रियां गाती हैं पुरुष भी समान रूप से मस्ती में चूर होकर गाते हैं। हालांकि लांगुरिया लोकगीतों में स्त्रियों और पुरुषों के गीतों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो पता चलता है कि लांगुरिया की प्रकृति भी ग्राम्यगीतों और लोकगीतों की भांति स्त्रैण ही है। पुरुष ने कभी भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लपेटे में लेकर इसे नीरस बनाने का प्रयास नहीं किया। लोकगीत आम लोगों के हृदयों से निकलने वाली वो स्वच्छंद धारा है जिसमें कुछ समय के लिए लोग अपने दुख-दर्द, कष्ट, क्लेश, विशाद और निराशा से मुक्त हो जाते हैं। यही भाव लांगुरिया में चरितार्थ होते हैं। ''लोकगीत स्वतःस्फूर्त प्रकृति काव्य के अंग हैं। लोकगीतों में उसके रचयिता अथवा रचनाकाल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं होता उसका महत्त्व तो उसकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौंदर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक हृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है। व्यक्ति विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व ना कर लोक-गीत, समुदाय की भावना का कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लांघकर लोकगायकों और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोकगीत अतीत की परंपरा को वर्तमान में भी जीवित रखते हैं। समय के व्यवधान से लोकगीतों के बाह्य स्वरूप में परिवर्तन अवश्य होते हैं किंतु उनके अनेक मूलभाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यत परिवर्तित ही रहती है।"[1]

जो लोग शक्ति की प्रतिबिंब करौली की कैलादेवी को मानते हैं फिर चाहे वो राजस्थान में रहते हों या फिर देश के किसी भी कोने में निवास करते हों जब भी वे कैला मईया के दर्शन को आते हैं लांगुरिया गाते हुए मां के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। लांगुरिया लोकगीत करौली क्षेत्र की देवी कैला मैया की आराधना में गाये जाने वाले गीत हैं। लांगुरिया विशेष रूप से करौली, धौलपुर, हिंडौन, बयाना, भरतपुर, अलवर, दौसा, राजस्थान की सीमा से सटे मध्यप्रदेश के वो इलाके जो चंबल के आसपास हैं और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के मथुरा, बुलंदशहर, आगरा और अलीगढ़ में चैत्र की नवरात्रि के अवसर पर माता की स्तुति में गाये जाते हैं। लांगुरिया शब्द की उत्पत्ति के बारे में अनेक दंत कथाएं हैं। वास्तव में लांगुर भैरव का ही एक रुप माना जाता है। भक्तगण लांगुर को कैलादेवी का भाई मानते हैं। एक अवधारणा यह भी है कि एक पैर से लंगड़ा होने के कारण काला भैरव देवी चामुंडा के अखाड़े का वीर लांगुर ही लांगुरिया कहलाया। काले रंग के कारण शायद कालान्तर में यह धारणा भी बलवती रही है कि ये मूलनिवासी ही रहा होगा। कैला मैया जाटों, यादवों, गुर्जरों, दलितों और मीणा समुदाय की कुल देवी मानी जाती हैं। शायद यही वजह है कि इन जातियों के लोग लांगुरिया गायन में पारंगत होते हैं। चैत्रमास में करौली में लगने वाले लक्खी मेले में देशभर से आने वाले दर्शनार्थी और पदयात्री लंबे-लंबे ध्वज लेकर लांगुरिया गीत गाते हुए आते हैं। लांगुरिया द्रष्टयव्य है—*कैला मईया के भवन में घुटमन खेलै लांगुरिया/खेलै लांगुरिया कि सरपट दौड़े लांगुरिया। कैला मईया के भवन में घुटमन खेलै लांगुरिया/ लांगुरिया गयौ बाजार कूं टीकौ लायौ मोल/पहलै मईया मेरी पहने,फिर पहनै कोई और/कैला मईया के भवन में घुटमन खेलै लांगुरिया/खेलै लांगुरिया कि सरपट दौड़े लांगुरिया/कैला मईया के भवन में घुटमन खेलै लांगुरिया/"* लोकगीत लोक के गीत हैं जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। सामान्यतः लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्व को लोक समर्पित कर देता है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्‌भूत करता है, वही लोकगीत है।"[2]

लांगुरिया लोकगीत में कहीं भी शास्त्रोक्त नियम आपको नहीं मिलेंगे। लेकिन गायन से आपको महसूस होगा कि

छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्‌भूत हो रही है। ये सहज मानवीय उच्छवास है जो कर्णप्रिय होने के साथ आनंद की सृष्टि करता है। इसकी सहज सुलभ लय से वातावरण इतना गुंजायमान होता है कि हर कोई बिना लांगुरिया गाये नहीं रह सकता। लांगरिया का एक रूप और देखें—*सात दीप नौ खंड में हो रही जय जयकार/मैया मेरी अजब निराली लीला अपरंपार/कैला मईया के भवन में घुटमन खेलै लांगुरिया/खेलै लांगुरिया कि सरपट दौड़े लांगुरिया/* दरअसल, लोकगीतों का संबंध महिलाओं से अधिक होता है और ये लोकगीत महिलाओं के सुख-दुख की अभिव्यक्ति भी कहे जा सकते हैं। इस संबंध में मैनेजर पांडेय अपनी राय व्यक्त करते हैं—''लोकगीतों का अस्सी प्रतिशत संबंध स्त्रियों से होता हैं। मनुष्य संकटों के बीच जाने का रास्ता खोजता है, इस रास्ते में कला और साहित्य संजीवनी की तरह है। घर में चाहे कितना भी तनावपूर्ण वातावरण क्यों ना हो लेकिन परिवार की स्त्रियां त्योहार आने पर उसके बहाने सुख के क्षण ढूंढ लेती हैं। तरह-तरह के गीत गाकर अपने मन को संतोष देती हैं। इस तरह गीत यातना भरी जिंदगी के बीच सुख के क्षण हैं।"[3]

डॉ.सत्येंद्र के अनुसार लोक साहित्य के अंतर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम समाज के अवशेष उपलब्ध हों, परंपरागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। तत्व हो किंतु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की प्रति स्वीकार करें।"[4] लांगुरिया लोकगीतों में लोक-मानस पूरी तरह से रचा बसा है। लोक मानस की हर प्रवृत्ति लांगुरिया में समाई हुई है। लोक मानस की सहज सुलभ अभिव्यक्तियां लांगुरिया के विषय रहे हैं। लांगुरिया की रसिक प्रवृति अधिकतर गीतों में देखने को मिलती है। इन गीतों में परकीया प्रेम की भी खुलकर अभिव्यक्ति हुई है—*कैसे आयो महल जनाने में बता दे लांगुर मोय/मेरे ससुर के रंगमहल में रही अकेली सोय/हाथ पकड़ मेरो फौंचा पकड़यो/बैठी कर दी मोय/कैसे आयो महल जनाने में बता दे लांगुर मोय/मेरे ससुर की जुड़ै कचहरी, वहीं बुला लऊं तोय/हाथ हथकड़ी पावन बेड़ी,सजा करा दऊं तोय/कैसे आयो महल जनाने में बता दे लांगुर मोय/* करौली मेले में जाने वाला हर पुरुष अपने आपको लांगुरिया और हर औरत अपने आपको जोगिनी मानती है। मेले में जिधर दखो उधर लांगरिया की धुन वातावरण को लांगुरमय बना देती है। रात-रात भर जोगिनी और लांगुरिया ढोलक, सारंगी और और हारमोनियम आदि के साथ गाते हुए कैला मैया के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। एक लोक मान्यता के अनुसार लांगुरिया कैला देवी का अनन्य भक्त है। यदि आपने भक्त लांगुर को प्रसन्न कर लिया तो देवी को प्रसन्न कर लिया। लांगुरिया प्रवृत्तिगत रसिक है जिसके एक से अधिक जोगनियों से संबंध हैं।

दो-दो जोगनी के बीच अकेलो खेले लांगुरिया/एक जोगनी यूं कहे रे साड़ी ल्या दे मोय/दूजी जोगनी यूं कहे रे हार घड़ा दे मोय/दो-दो जोगनी के बीच अकेलो खेले लांगुरिया/

ये गीत भावात्मक रहस्यवाद से परिपूर्ण हैं। इन गीतों की लय और धुन नृत्य गीतों के समान तीव्र और प्रवाहमयी होती है।" लांगुरिया के प्रति भक्तिनों का भक्ति-भाव, सखाभाव, परकीया भाव तथा कहीं-कहीं पर संरक्षक भाव की भी अभिव्यक्ति होती है। कई गीतों में लांगुरिया पूर्ण उच्छश्रृंखल भी नजर आता है। लांगुरिया इन गीतों में एक पात्र के रूप में आता है। इन गीतों में प्रेम भी व्यक्त होता है तथा हास्य भी प्रस्फुटित होता है।"[5] *धर डोलेगो हथेली पै चून/बारे लांगुरिया/ अति की लड़ाई मोसे मत लडियो/मेरे ससुर गये देवी जात कूं/और सास ने ले लियो जोग/बारे लांगुरिया, अति की लड़ाई मोसे मत लडियो/''* इन गीतों में बीच-बीच में आये—बारो सो या छोटो सो शब्द लांगुरिया के प्रति वात्सल्य भाव को दर्शाते हैं।

लांगुरिया गीतों में आधुनिक युगबोध भी प्रतिबिंबित होता है। आधुनिक प्रतिमान तथा परिवेश भी इसमें मुखरित हो रहा है। लोकगीतों की विशेषता यही रही है कि वह समसामयिक संदर्भों और आधुनिक युगबोध को अपने में समाहित करता चलता है। गन्ने के रस की मशीन से लेकर मोबाइल फोन के संदर्भ में इसे देख सकते हैं। *''चरखी चल रही बड़ के नीचे/रस पीजा लांगुरिया/''* एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—*मेरे धर कंधा पै हाथ सेल्फी ले ले लांगुरिया/ले ले लांगरिया सेल्फी ले ले लांगुरिया''*

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकगीत के महत्व एवं इसके विस्तार क्षेत्र को उजागर करते हुए लिखा है—''लोकगीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएं, खंडिताएं और इसी प्रकार की अनेक नायिकाएं न्योछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरालंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। आंचलिक लोकगीत निश्चल हृदय के जीवन दर्शन के उद्‌गार हैं। आंचलिक लोक गीत किसी तैयारी विशेष से नहीं लिखे जाते बल्कि सहज हृदयों में स्वतः ही फूटने वाले उद्‌गार हैं जो कृषक जातियों में आदिकाल से ही अस्तित्व में हैं जब मुख्य धारा का साहित्य पैदा भी नहीं हुआ था। बल्कि सच ये है कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य ही इस तरह की विविध आंचलिकता के लोकगीतों की उपज है।"[6]

लांगुरिया लोकगीत के अध्ययन और विश्लेषण में ये

बात साफतौर पर लोकगीतों के संदर्भों में खरी उतरती है कि ''किसी भी समाज की लोकपरंपरा उसके लोक विश्वास, लोक व्यवहार और लोकभ्रमों के द्वारा विकसित होती है। इस लोक परंपरा को जीवंत और जागृत रखने का सबसे सशक्त माध्यम लोकगीत होता है। ये लोकगीत समाज की आशा-निराशा, संघर्ष सपने, लोक-विश्वास और लोकभ्रम के गीत संगीत होते हैं जहां जिंदगी जीन की झकार होती है।"[7]

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि लांगुरिया लोकगीत की परंपरा लोक विश्वास को लेकर चलती है जहां उत्साह है, प्रेम है, विश्वास है, आनंद है, हर्षातिरेक है और हर परिस्थिति में परिवार, समाज और देश को स्थापित रखने का प्रयास। लांगुरिया में एक उदाहरण और द्रष्टव्य है जिसमें लोग कैला देवी से मनौतियां मांगते हैं तथा उनके पूरा होने पर जात देने अगले वर्ष दोबारा आने का वादा करते हैं—दै दै लम्बो चौक लांगुरिया/एक बरस में आवेंगे/अब के तो हम छोरा लाये/परके बहु संग लायेंगे/अब के तो हम बहू संग लाये/ परके नाती लायेंगे/''

लोक जनश्रुति में लोग देवी के साथ लांगुरिया को भी प्रसन्न रखना चाहते हैं। देवी के साथ श्रद्धालु लांगुरिया से भी मनौती मांगते हैं कि उनका परिवार भरा-पूरा रहे। घर में हर तरह की संपन्नता बनी रहे इस तरह का भाव लेकर अगली बार फिर से आने की बात कहकर लोग मेले से विदा होते हैं।

संदर्भ

1. मानव और संस्कृति पृ. सं. 165
2. सम्मेलन पत्रिका लोक संस्कृति अंक. पृ. 250
3. समसामयिक सृजन पृ. सं. 50
4. डा. सत्येंद्र, लोक साहित्य विज्ञान, द्वितीय संस्करण, 1971, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, पृ. सं. 34
5. लोकसाहित्य मर्मज्ञ विजय सिंह मीणा से बातचीत पर आधारित
6. लोकसाहित्य मर्मज्ञ विजय सिंह मीणा से बातचीत पर आधारित
7. आलोचना, सहस्राब्दी अंक, जुलाई से सितंबर, 2003, पृ. सं. 115

—डॉ. महेश कुमार चौधरी

असि. प्रोफेसर, शहीद भगत सिंह कालेज,
दिल्ली विश्व विद्यालय

डॉ. भीमराव अंबेडकर : सामाजिक जनतंत्र, स्वतंत्रता, समानता एवं समान नागरिक संहिता की पहल

—डॉ. रणजीत कुमार

डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय जनमानस के प्रणेता एवं एक ऐसे महान व्यक्तित्व थे जिन्होंने दलितों और पिछड़ों को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक अधिकार दिलाने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। उनके राजनीतिक और सामाजिक विचार तथा सिद्धान्त भारतीय लोकतान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था के लिए हमेशा प्रासंगिक हैं। वह एक ऐसे सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था के हिमायती थे जिसमें राजव्यवस्था से भी व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के समान राजनीतिक एवं सामाजिक समानता का अवसर देने की वकालत करते थे और साथ ही राजव्यवस्था से आशा करते थे कि वह किसी भी प्रकार का भेदभाव जाति रंग धर्म लिंग इत्यादि के आधार पर ना करे और ना होने दे। उनका यह राजनीतिक और सामाजिक दर्शन व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंधों पर बल देता हैं।

भारतीय संविधान के निर्माता और लोकतन्त्र के प्रणेता भीमराव अंबेडकर ने स्वतन्त्रता की वकालत की लेकिन उनका मतलब केवल राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं थी बल्कि सामाजिक स्वतन्त्रता भी थी। सभी की स्वतन्त्रता तथा किसी भेदभाव के बिना सभी की समानता के प्रति उनका दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक था। अवसरों की समानता और तात्विक अधिकारों से वंचित बहिष्कृत मानवीय समाज को जब तक गुलामी की दासता से मुक्त नहीं किया जाता तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल मुट्ठी भर लोगों के हितों की रक्षा करती रहेगी। यह खोखले कानून और असमान समाज में स्वतंत्रता का कोई मतलब नहीं होगा और समाज के खोखलेपन को और गहरा करेगा। उनका मनना था की स्वतन्त्रता और समानता लोकतन्त्र की नींव को मजबूत करता है। लोकतन्त्र के विकास के लिए कानून और प्रशासन दोनों समान होने चाहिए। प्रशासन और शासन द्वारा सभी को बिना किसी भेदभाव के समान व्यवहार किए जाने पर ही सभी को समान न्याय मिलेगा जिससे स्वतन्त्रता और बंधुत्व को बढ़ावा मिलेगा। उन्होंने भारत के राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना की पहली शर्त माना है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर समानता और स्वतन्त्रता के प्रति काफी प्रतिबद्ध और सचेत थे। उनका मानना था कि स्वतन्त्रता का अधिकार हो या समानता का अधिकार, वह जाति लिंग धर्म से ऊपर होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर उपलब्ध कराना किसी भी समाज की पहली और अंतिम नैतिक जिम्मेदारी होनी चाहिए। अगर समाज इस दायित्व का निर्वहन नहीं कर पा रही हैं तो उसे बदल देना चाहिए। डॉ. भीमराव अंबेडकर जाति व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, धर्म की प्रकृति और इतिहास की जाँच के लिए नैतिकता के महत्व पर बल देते थे। उनके अनुसार जिस प्रकार समाज के प्रति नैतिक दायित्व का निर्वहन सामाजिक व्यवस्था को संपूर्णता देने में सहयोग करता है ठीक उसी प्रकार संवैधानिक नैतिकता का निर्वहन देश के लोकतान्त्रिक व्यवस्था को मजबूत बनाता हैं। यहाँ संवैधानिक नैतिकता का अर्थ संविधान द्वारा बनाए गए और सुझाए गए लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा करना और उसके प्रति जागरूक रहना है उनका मानना था कि जब तक सामाजिक और आर्थिक संरचना को उन लोगों के हितों में नहीं बनाएगे जो पिछड़े हैं, अविकसित हैं तब तक हम एक सुदृढ़ और समतामूलक समाज की कल्पना नहीं कर सकते। हमें आदत बनानी पड़ेगी सामाजिक समरूपता के रूपरेखा पर चलने की और अगर ऐसा होगा तभी हम पूर्ण लोकतन्त्र और जीवित समाज की स्थापना कर सकते हैं। बाबा साहब असमानता को शारीरिक कम और मानसिक अधिक मानते थे। यदि कोई मानसिक रूप से दासता को स्वीकार कर रहा है तो उसे अन्य किसी भी बेड़ियों की आवश्यकता नहीं है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने आधुनिक भारत की नींव रखते हुए भारतीय संविधान में महिला सशक्तिकरण और लैंगिक समानता के सिद्धांत को शामिल करते हुए कहा था कि समाज की भलाई इसी में हैं कि हम महिलाओं की गरिमा को बहाल करें। महिलाओं को समानता का अधिकार दिलाने के लिए संविधान के कुछ प्रावधानों में बदलाव और सुधार डॉ. अंबेडकर के द्वारा लाये गए। उन्होंने अस्पृश्यता के साथ-साथ सभी प्रकार के शोषण की समाप्ति करना जरूरी माना है। उनके लिए सफल लोकतन्त्र के लिए यह जरूरी है कि समाज में किसी भी प्रकार का गंभीर असमानता न हो,

कोई शोषित वर्ग न हो, न कोई ऐसा वर्ग हो जिसके पास विशेष अधिकार हो और न ही कोई ऐसा वर्ग हो जिसके ऊपर अनेकों प्रकार के बंधन एवं प्रतिबंध हो। डॉ. भीमराव अंबेडकर का मानना था कि न्यायप्रिय न्यायनिष्ठ एवं ईमानदार सामाजिक प्रणाली मजबूत और उदार लोकतन्त्र की पहली शर्त हैं। लोकतन्त्र केवल शासन प्रणाली नहीं है। यह एक जीवन शैली है और मिलजुल कर रहने का एक तरीका है जिसमें व्यक्ति अपने सभी सुख-दुख आपस में बाँट लेते हैं। लोकतन्त्र केवल शासन में हिस्सा लेने का जरिया नहीं है बल्कि यह अपने साथियों, सहचरों के प्रति आदर और सम्मान की भावना व्यक्त करने का साधन हैं। इसलिए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने लोकतन्त्र को सामाजिक जनतंत्र की संज्ञा दी थी। उनका मानना था कि समाज में कोई असमानता और उत्पीड़ित वर्ग नहीं होना चाहिए। वह ऐसे समाज का बहिष्कार किया जिसमें कुछ लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त हो और न ही कोई ऐसा वर्ग हो जिसके पास सभी उत्तरदायित्व हो। डॉ. भीमराव अंबेडकर कहते हैं कि मैं ''एक समुदाय की प्रगति को उस डिग्री से मापता हूँ जो महिलाओं ने हासिल की है, जिस समाज के कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहे वह सब कुछ कर सके और बाकी नहीं कर सके, जो उन्हें करना चाहिए, ऐसे समाज के अपने गुण होते होंगे लेकिन उसमें स्वतन्त्रता शामिल नहीं होगी। अगर इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा कुछ लोगों तक ही सीमित हैं तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतन्त्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना अधिक उचित होगा।''

डॉ. भीमराव अंबेडकर महिलाओं की उन्नति के प्रबल पक्षधर थे उनका मानना था कि किसी भी समाज का मूल्यांकन उस बात से किया जाता हैं कि उसमें महिलाओं की क्या स्थिति है। स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री के तौर पर उन्होंने महिला सशक्तिकरण के अनेक प्रावधान लेकर आए। भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों में अनुच्छेद 14 में यह प्रावधान लाया गया कि किसी भी नागरिक के साथ लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता। उनका दृढ़ विश्वास था कि महिलाओं की उन्नति तभी संभव होगी जब उन्हें घर परिवार और समाज में बराबरी का दर्जा मिलेगा। इसलिए उन्होंने महिलाओं को समानता, सम्मान और अधिकार की वकालत की तथा इसको पाने के लिए महिलाओं को शिक्षित होने का आह्वान किया।

डॉ. भीमराव अंबेडकर ने सामाजिक, धार्मिक कुरीतियों का विरोध कर समाज में बराबरी के लिए कानून बनाया। यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दू कोड बिल के द्वारा महिलाओं के सम्मान और अधिकार का पुरजोर वकालत किया। वे महिलाओं के हितों एवं उनके अधिकारों के एक संवेदनशील योद्धा एवं पुरोधा थे। निश्चित तौर पर इन कानूनों की वजह से महिलाओं की स्थिति में गुणात्मक सुधार आया और भविष्य की राह को आसान बनाया। भारत के सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा महिलाओं और खासकर हिन्दू महिलाओं के अधिकारों जैसे हिन्दू उत्तराधिकार संशोधन अधिनियम 2005 की पुर्नव्याख्या की गयी जो बाबा साहब की सोच को आगे बढ़ा रहा है और यह भविष्य में महिलाओं के विकास में मील का पत्थर साबित होगा। उन्होंने कहा था कि ''मैं एक समुदाय की प्रगति को उस डिग्री से मापता हूँ जो महिलाओं ने हासिल की है।'' बाबा साहब का विचार था की धार्मिक संहिता पूर्ण रूप से भेदभाव पूर्ण हैं जो महिलाओं को सम्मानीय स्थिति से दूर करता है। इसलिए उन्होंने कहा था कि मुझे वो धर्म पसंद हैं जो समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व की स्थापना करता है। इसलिए बाबा साहब का मानना था की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर समुचित बंधन होना, की उस पर प्रतिबंध हो। स्वतन्त्रता केवल कुछ लोगों के हितों की रक्षा न करे बल्कि यह सम्पूर्ण समाज के हित विशेषकर समाज के बहिष्कृत समुदायों को समानता और स्वतन्त्रता का अवसर प्रदान करे। उन्होंने कहा था कि मैं हिन्दू कोड बिल लाकर भारत की समस्त महिलाओं का कल्याण करना चाहता हूँ। बाबा साहब का यह सपना साकार हुआ और भारत की महिलाओं को पुरुषों के समान कानूनी अधिकार दिये गए।

संविधान सभा में समान नागरिक संहिता के बहस पर उन्होंने सम्पूर्ण भारत के लिए एक कानून की बात की थी। हालांकि उन्होंने संविधान सभा में समान नागरिक संहिता के बहस पर बोलते हुए कहा की समान नागरिक संहिता वैकल्पिक व्यवस्था है और यह अपने चरित्र के आधार पर नीति निर्देशक सिद्धांत होगा और इसके लिए राज्य तत्काल इसको लागू करने के लिए बाध्य नहीं है। राज्य जब उचित समझे तब इसको जरूर लागू करे। लेकिन इस बात पर बल डालते हुए उनका तर्क था कि समान नागरिक संहिता की अनुपस्थिति सामाजिक सुधारों में सरकार के प्रयासों में बाधा उत्पन्न करेगी। संविधान सभा के बहस के खंड 7 में डॉ. भीम राव अंबेडकर के तर्क को पढ़ा जा सकता है। उन्होंने अपने विचार को बड़ी ही बारीकी एवं बेबाकी से कहा था कि मुझे व्यक्तिगत रूप से समझ नहीं आता है कि धर्म को इतना विशाल ओर विस्तृत क्षेत्राधिकार क्यों दिया जाना चाहिए ताकि पूरे जीवन को ही प्रभावित करे और विधायिका को इस क्षेत्र में काम करने से रोके। आखिर हमें यह आज़ादी किसलिए मिल रही हैं? हमें यह आज़ादी अपनी सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए मिल रही हैं जो असमानताओं, भेदभावों और अन्य चीजों से इतनी भरी पड़ी है जो हमारे

मौलिक अधिकारों के साथ टकराव करती हैं। इसलिए किसी के भी लिए यह कल्पना करना बिल्कुल असंभव हैं कि पर्सनल लॉ को राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा जाएगा। क्योंकि धार्मिक अधिकारों का एकाधिकारों का एकाधिकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार को दूषित करता हैं।

समान नागरिक संहिता इसलिए सभी नागरिकों के बीच एक समान पहचान और एक उच्चतर भावना पैदा करती हैं और राष्ट्रीय एकता, अखंडता, बंधुत्व और भारतीय धर्मनिरपेक्षता को प्राथमिकता प्रदान करती है। यह सवैधानिक मूल्यों जैसे समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व को बढ़ावा देगा। यह महिलाओं के साथ होने वाले बुनियादी भेदभाव को दूर करने में अहम साबित हो सकता है। खासकर, विवाह, तालाक उत्तराधिकार, भरणपोषण और संपति के विभिन्न आयामों में समान अधिकार देने में समान नागरिक संहिता सक्षम होगा।

भारत के संविधान अनुच्छेद 44 में यह प्रावधान किया गया है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए पूरे भारत में एक समान नागरिक संहिता प्रदान करने का प्रयास करेगा। इसका उद्देश्य निसंदेह यह है कि धार्मिक ग्रंथों, रीति-रिवाजों पर आधारित व्यक्तिगत कानून को समानता पर आधारित बनाया जाए। यह एक ऐसा निष्पक्ष कानून होगा जिसे किसी भी धर्म, जाति से कोई लेना नहीं होगा। इसका केवल और केवल व्यक्तिगत हितों की रक्षा करना तथा किसी वर्ग विशेष के साथ किसी भी प्रकार के भेदभाव या पक्षपात को खत्म करना होगा। सभी नागरिकों के लिए यह सुलभ होगा। सर्वोच्च न्यायालय एवं कई उच्च न्यायालय ने भी कई बार इस लागू करने की जरूरत पर जोर दिया है। यह डॉ. भीमराव अम्बेडकर के सपनों के भारत को साकार करने का यह एक सुगम रास्ता है।

संदर्भ

1. Innihilation of Caste, Bhim Rao Ambedkar, Critical Quest, New Delhi, 2007, pp. 49-53.
2. B.R. Ambedkar and the Idea of Constitutionalism and Constitutional Democracy, Ujjwal Kumar Singh and Anupame Roy, Summer Hill IIAS Review.
3. Jansatta, Julay 2, 2003.
4. बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-26, पृ. 13,
5. Dr. Babasaheb Amebedkar : Jivan Charit, Dhananjay Keer, 1954.

–डॉ. रणजीत कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भारतीय साहित्य की कहानियाँ और विभाजन की त्रासदी

—डॉ. विन्ध्याचल मिश्रा

भारतीय साहित्य की सभी कहानियों में व्यक्त विभाजन की त्रासदी और उससे जुड़े सवालों पर चर्चा करने के क्रम में 'सिक्का बदल गया' नामक पुस्तक की भूमिका भाग से एक अंश को उद्धत करते हुए मैं विभाजन जैसे महत्वपूर्ण विचार-बिन्दु पर विचार करना चाहता हूँ, ''विभाजन की घटना भारतीय राजनीति में उल्कापिंड की तरह उदित हुई थी और इसकी अशुभ छाया तले समस्त उपमहाद्वीप तड़प उठा था। इस विकट हादसे में विभिन्न धर्मों-संस्कृतियों के लोग, अप्रत्याशित रूप से, बुरी तरह घिर गए थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के दस वर्ष पूर्व तक कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि आजादी मिलने के साथ देश का एक बड़ा हिस्सा हमसे अलग हो जायेगा। बँटवारा एक चट्टान की तरह लोगों के सिर पर टूटा था और जब तक वे सांस ले पाते, कुछ सोच पाते-सब कुछ नष्ट हो चुका था। सदियों से अर्जित संस्कृति, जातीयता, भाषा और प्रकृति तथा मानवीय संबंध साम्प्रदायिक आग में जलकर राख हो चुके थे। इतना बड़ा नर-संहार, संभव है, पहले भी कभी हुआ हो, पर परस्पर मिल-जुलकर रहने वाली एक ही संस्कृति में पली-ढली, समान भाषाएँ बोलने वाली, एक-से जातीय भावों में बंधी जातियों का देशान्तरण-हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों का, साम्प्रदायिक आग की लपटों में झुलसते हुए स्वदेश त्याग, विश्व इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। इस तरह की ट्रेजडी, इतने बड़े पैमाने पर, विश्व में पहले कभी घटित नहीं हुई थी। इस एक घटना ने भारतीय राजनीति और संस्कृति के स्वरूप को जितना प्रभावित किया उतना शायद ही किसी अन्य घटना ने किया हो। विभाजन स्थूल और शारीरिक रूप में ही एक दुर्घटना नहीं था, यह एक मानवीय ट्रेजडी थी जिसने लाखों लोगों को भावनात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आत्मिक स्तरों पर प्रभावित किया था। यह दुर्घटना केवल राजनीतिक या किसी एक वर्ग-विशेष से जुड़ी हुई नहीं थी, बल्कि इससे लाखों करोड़ों लोगों की जिन्दगी-उनका वर्तमान और भविष्य, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका आचरण और व्यवहार भी जुड़ा हुआ था।''[1]

सर्वप्रथम तो मैं कहना चाहूँगा कि विभाजन और साम्प्रदायिकता को हम मात्र तथ्य के रूप में न लें। तथ्य को स्वीकार या अस्वीकार कर हम छुट्टी पा सकते हैं और पक्ष या प्रतिपक्ष में होकर आसानी से अपने आचरण, भावों और अनुभवों का एक ढाँचा खड़ा कर लेते हैं या कर सकते हैं। पर समस्या का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वह कई प्रसंगों और व्यक्तियों के तनाव और टकराहट में प्रतिफलित होती है और उसे स्वीकार या अस्वीकार करके हम छुटकारा नहीं पा सकते। उन सवालों से उलझते हुए उनका हल तलाशना आवश्यक बन पड़ता है। यानी असफल होकर भी हम उसे हल करने की जिम्मेदारी से कन्नी नहीं काट सकते। इसलिए साम्प्रदायिकता जिस सामाजिक-राजनीतिक और मानसिक सोच की उपज है तो जब तक हम उसे नहीं बदलते तब तक इस समस्या का कोई निदान नहीं हो सकता। में इस पर बल इसलिए देना चाहता हूँ कि 'सर्व-धर्म-सम्भाव' या 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' का भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तावित किया जा रहा है जिसका आधार 'मानवीय भावना' है। धर्मनिरपेक्षता की भारतीय व्याख्या की जा रही है। निश्चय ही यह व्याख्या साम्प्रदायिकता के जख्म (घाव) को ठंडक पहुँचा सकती है। लेकिन वह जख्म का इलाज नहीं है। 'मानवीय भावना' उसी तरह का शब्द है जैसा 'सुख' और 'दुख'। सुख और दुख किस चीज का, किस तरह का है जब तक हम यह नहीं जानते तब तक सुख-दुख एक अमूर्त धारणा भर है। उसी प्रकार 'मानवीय भावना' की अर्न्तवस्तु क्या है? वह किन प्रसंगों और शक्तियों से निर्मित हुई है तथा किनसे नष्ट होती है। हम जब उसे जानेंगें, समझेंगे तभी हमारी 'मानवीय भावना' का कोई मतलब या अर्थ हो सकता है। यों तो हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय शक्तियों और प्रसंगों से हमारी मानवीय भावनाएं मूर्त होती है और साम्प्रदायिक प्रसंगों तथा शक्तियों से वह नष्ट होती है। राष्ट्रीयता वह परिप्रेक्ष्य या आधार है जो हमारी मानवीय भावना को सारवान और ठोस बनाती है।

अब तो यह बात अक्सर आप सुनते होंगे कि किसी समुदाय का अपनी धार्मिक अस्मिता पर बल देना राष्ट्रीय भावना के विरूद्ध होना है। यानी आधुनिक युग में धर्म अपनी सृजनशील योग्यता खो चुका है और उसका पुनरूद्धार या उस पर बल केवल साम्प्रदायिक शक्तियों को हवा देगा।। धर्म की सृजनशील प्रेरणा एवं उसका आध्यात्मिक तच्ववाद, मध्ययुगीन सामंती समाज में रहस्यवादी और भक्ति की विचारधाराओं के रूप में मानवीय भावना की परिभाषा कर चुका

है। किन्तु आधुनिक युग में राष्ट्रीयता की विचारधारा को उत्पन्न और पुष्ट करने में उसकी बड़ी सीमित भूमिका रही है।

उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने निहितार्थों के लिए धर्म के तत्त्ववाद के स्थान पर उसके खोखले ढाँचे का इस्तेमाल किया। भारतीय समाज और इतिहास के विद्यार्थी (पाठक) जानते हैं कि सामान्य जनता के स्तर पर हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहने की पारस्परिकता और आचरण संहिता विकसित कर चुके थे। बावजूद इसके कि इतिहास में इसके उल्टे उदाहरण भी काफी दिए जा सकते हैं। किन्तु उपनिवेशवादी शक्तियों ने उस बुझती हुई चिंगारी को हवा देकर जला दिया। तत्कालीन भारतीय समाज में उत्पन्न इस त्रासद हलचल को ये सभी कहानीकार बड़ी गहराई से उभारते हैं। ऐसे समय में हमें प्रेमचन्द की एक महत्वपूर्ण टिप्पणी याद आती है; ''साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती हैं और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रोदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है।''[2] दरअसल कुछ विद्वानों का मानना है कि साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता-ये दोनों धाराणाएँ एकता की आकांक्षा से पैदा होती हैं। दोनों में अंतर सिर्फ यह है कि एक का आधार धर्म है और दूसरे का राष्ट्र। जो राष्ट्र है वह भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक धारणाओं में व्यक्त होता है। मतलब जो राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं समान रूप में सामना करने वाले विभिन्न धर्म-समुदायों के मध्य कुछ समान मूल्य विधान और आचरण-विन्यास विकसित हो जाते हैं जो उनकी मिली-जुली संस्कृति का निर्माण करते हैं। उन्हीं के जरिये उनकी भावनात्मक संरचनाएँ निर्मित होने लगती है।

असल में, हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई भले ही अलग धार्मिक समुदायों के हों किन्तु उनकी आधारभूत जीवन-शैली समान हो सकती है। यही समानता संस्कृति है जो राष्ट्र का आधार भी है और हमें याद रखना चाहिए कि इन समुदायों के प्रयत्नों की सम्मिलित और संवादशील परंपरा के कारण सर्वाधिक जीवन्त और सृजनशीलता की एक नई ऊर्वर जमीन तैयार होती। दरअसल विभाजन ने हमारी इसी सर्वाधिक शक्तिशाली और जीवंत परंपरा को तोड़ा है उसे लहूलुहान किया है। उसने राष्ट्र और संस्कृति की नई धारणा, जो मानवीय भावना को आधुनिक युग में निर्मित और परिभाषित करती रही है-उसे बड़ी गहरी चोट पहुँचाई है।

यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है कि कट्टर धार्मिक व्यक्ति, समुदाय और राजनीति विभाजन और साम्प्रदायिकता को भारतीय जीवन की बहुत बड़ी ट्रैजिडी मानती है। क्या केवल इसलिए ट्रैजिडी है कि बहुत से लोग मारे गए, बहुत से लोग अपने गांव और जड़ों से उखड़कर शरणार्थी बन गए? यह केवल इतना भर नहीं है। ये अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए धर्म का सहारा लेकर भारतीय जनता को वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान हिंस्र और बर्बर अवस्था में फेंक दिया। बड़ी मुश्किल से सदियों के प्रयास से जिस संस्कृति, मूल्य और आदमियत को हमने परस्परता में विकसित किया था-उसके मर्म बिन्दु पर सबसे तेज प्रहार किया गया। आधुनिक युग में भारतीय जीवन के भीतर यह सबसे बड़ा दुःख का विषय है। मेरा ख्याल है कि अधिकांश लोग इस बात से सहमत होंगे कि धार्मिक और सत्तावादी राजनीतिक लोगों ने इस दुख को अनुभव नहीं किया है। तत्कालीन राजनीति और प्रशासन के रवैये से परिचित हर व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है। उसने इस दुख का भरपूर इस्तेमाल किया और फायदा उठाया है। लगता है कि वे तो इसे दुःख मानते ही नहीं बल्कि फायदेमंद मौका या साधन मानते हैं। लेकिन ठीक इसके विपरीत इतिहासकारों; समाजशास्त्रियों, चिन्तकों और साहित्यकारों का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो इस दुख को अनुभव करने की बार-बार कोशिश करता है और भारतीय परंपरा में सबसे निकट की और अधिक सृजनशील परंपरा- हिन्दू मुसलमान की सांझी परंपरा को मानवीय भावना के रूप में अभिव्यक्त करता है।

विद्वानों मे तो हो सकता है कि संबंध में मतभेद भी हो। लेकिन भारतीय साहित्य में इस बात पर मतभेद नहीं मिलेगा। हिन्दी-उर्दू, पंजाबी, बांग्ला, गुजराती, मराठी कई भाषाओं में इस थीम पर कथा-साहित्य का निर्माण हुआ है। हिन्दू, सिख, मुसलमान सभी साहित्यकारों के भीतर दर्द का एक ही स्वर उभरता है। अगर हम कहें कि इन अलग-अलग परिवारों की अलग भाषाओं के होते हुए भी सभी का वाक्य-विन्यास एक है तो उसी तरह अलग-अलग धार्मिक समुदायों के लेखकों के दर्द की कसक और विन्यास परस्पर मिलता जुलता है। यशपाल, अज्ञेय, भीष्म साहनी, कृष्णा सोवती, मोहन राकेश उर्दू के अशफ़ाक अहमद ए. हमीद, पंजाबी के कुलवंत सिंह विर्क, गुलजार सिंह सन्धु, प्रबोध कुमार मजूमदार, मानिक वन्धोपाध्याय एवं राजेन्द्र सिंह वेदी, सआदत हसन मण्टो- वह कोई भी हो सबके दुःख का विन्यास एक ही है। ये सभी कहानीकार अपनी कहानियों के जरिये विभाजन की त्रासद स्थितियों को बड़ी बेबाकी से उद्घाटित करते हैं।

भारतीय कथा-साहित्य से कुछ एक उदाहरण लेकर इस चर्चा को और अधिक बेहतर ढंग से विश्लेषित किया

जा सकता है। अज्ञेय की कहानी 'शरणदाता' में विभाजन के समय एक मुसलिम मित्र रफीकुद्दीन ने हिन्दू वकील देविन्दरलाल जी को शरण दिया। लेकिन उन्हें अपने समुदाय के लोगों के दबाव झेलने के लिए विवश होना पड़ा। एक उदाहरण से बात पुष्ट होती है, ''देविंदरलाल का ट्रंक और बिस्तर जब कोठरी के कोने में रख दिया गया और बाहर आंगन का फाटक बन्द करके उसमें भी ताला लगा दिया गया, तब थोड़ी देर वे हतबुद्धि खड़े रहे। यह है आजादी! पहले विदेशी सरकार लोगों को कैद करती थी कि वे आजादी के लिए लड़ना चाहते थे, अब अपने ही भाई अपनों को तनहाई कैद दे रहे हैं।''[3]

यों तो अशफाक अहमद की कहानी 'गड़रिया' में एक हिन्दू मास्टर सारी तकलीफ झेलकर और समय देकर अपने मुसलमान दोस्त के लड़के को पढ़ाता है। लेकिन विभाजन के समय मास्टर जी चुटिया काट कर अपमानित करते हुए बकरी चराने के लिए एक गुंड़ा किस तरह उनको बाध्य कर देता है। उदाहरण के तौर पर कहानी के इस अंश को देखा जा सकता है, ''दाऊजी मुझे इधर-उधर घुमाते और पेड़ों के नाम फारसी में बताते हुए नहर के उसी पुल पर ले गये, जहाँ मेरी उनसे पहली भेंट हुई थी।'' अपनी खास जगह पर बैठकर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारकर गोद में रख ली। सर पर उन्होंने हाथ फेरा और मुझे सामने बैठने का इशारा किया। फिर उन्होंने आँखे बंद कर लीं और कहा-आज से मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा और क्लास में प्रथम श्रेणी जरूर दिला दूंगा। ''एक लड़के ने उनकी पगड़ी उतार कर कहा- काटो चोटी, काटो। रानू ने कटिया काटने वाली दरांती से दाऊजी की चोटी काट दी।''[4] इस तरह मनोज बसु की बांग्ला कहानी 'सीमांत' में इस्माइल मंजुला को अपने घर में न रख पाने के लिए कितना विवश और लाचार दिखता है। इन सभी कहानियों में बड़ी गहरी व्यापक करूणा, मार्मिक भावना के साथ-साथ भंयकर आतंक की छाया का चित्र उपस्थित हुआ है। उदाहरण के तौर पर हम मंजुला और इस्माइल के मध्य हुई बातचीत का यहाँ देख सकते हैं—''बड़े ही ताज्जुब की बात-मंजुला आकर इस्माइल के दलीच घर का दरवाजा झक झेलने लगी। इतने दिन चढ़े सो रही हो? उठो भी। मैं मंजु हूँ। मंजु बोली, इस तरह क्यों देख रहे हो? क्या मुझे पहचान नहीं पा रहे हो दद्दू? जेठ-जेठानी ने खदेड़ दिया, अब केटपुर के सिवा मेरा कोई ठौर-ठांव नहीं।''[5]

इतनी गहरी करूणा और व्यापक सहानुभूति के होते हुए भी मुसलमान, हिन्दू को या हिन्दू और सिख मुसलमान को सुरक्षा क्यों नहीं दे पाते? मानवीय भावना का भरपूर आधार इन कहानियों में हैं। यों तो उस मानवीय भावना को सुरक्षित रखने और मानवीय बने रहने का आधार हिन्दू और मुसलिम समुदाय ने जो अपनी परस्परता में विकसित किया था। उसे कट्टर धार्मिक राजनीति ने तोड़ दिया था। उन दोनों ने जो मूल्य, सम्बन्ध और व्यवहार का चुम्बकीय क्षेत्र नई साझी संस्कृति और परंपरा के रूप में विकसित किया था उसे काफी चोट पंहुचायी गयी। एक ऐसा समाज और संस्कृति जो धर्म का अतिक्रमण करने की योग्यता हासिल कर चुकी हो। ऐसी राजनीति जो 'जनता' का अर्थ समझती हो। ऐसी व्यवस्था जो मनुष्य के दुःख का इस्तेमाल और अपमान न कर पाए तभी संभव है उस मानवीय भावना को सम्मानित और सुरक्षित कर पाना।

असल में, विभाजन और साम्प्रदायिकता ने इस संशलिष्ट संस्कृति और समाज के विकासमान मानवीय ढाँचे को तोड़ा है। इसलिए सच्ची मानवीय भावना, ईमानदार और गहरी होने पर भी असमर्थ है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचे को निर्मित किए बगैर हमारी मानवीयता का टिके रहना और विकसित होना संभव नहीं है। यूँ तो इन कहानियों में एक बात और देखने को मिलेगी कि अपने गांव-शहर, घर-जमीन, पास-पड़ोस, बाग-बगीचे, पशु-पक्षी के प्रति बड़ी गहरी आत्मीयता और ममता का भाव झलकता है। विभाजन ने उन्हें वैसे ही उखाड़ दिया है जैसे पेड़ को कोई तूफान जड़-समेत उखाड़ दे तो वह जड़ से पत्तों तक कांपते हुए मरने की हालात में हो जाता है। सआदत हसन मण्टो की कहानी 'टोबा टेक सिंह' का उदाहरण लिया जा सकता है। विभाजन के बाद दोनों देशों के पागलों की अदला बदली हो रही है। शबनसिंह पागल है! वह -बार-बार पूछता है। उदाहरण के तौर पर इन चंद पंक्तियों को आप देख सकते हैं—''जब शाबनसिंह की बारी आई और जब उसे दूसरी ओर भेजने के सम्बन्ध में अधिकारी लिखत-पढ़त करने लगे तो उसने पूछा—'टोबा टेकसिंह कहां है? पाकिस्तान में या हिन्दुस्तान में? यह सुनकर अधिकारी हंसा और बोला-पाकिस्तान में।' यह सुनकर शबनसिंह उछलकर एक तरफ हटा और दौड़कर अपने पिछले साथियों के पास पहुँचा। पाकिस्तानी सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और दूसरी तरफ ले जाने लगे किन्तु उसने चलने से इन्कार कर दिया- टोबा टेकसिंह कहाँ है?'- और जोर-जोर से चिल्लाने लगा 'ओ पड़दी गिड़-गिड़ दी, ऐंक्स दी बेध्याना दी, मंग दी दाल आव टोबा टेकसिंह एण्ड पाकिस्तान।'[6] उसे बहुत समझाया जाता है कि 'टोबा टेकसिंह हिन्दुस्तान में चला गया है। किन्तु वह न माना। जब उसे जबर्दस्ती हिन्दुस्तान की ओर जाने वाले पागलों की ओर ले जाया जाने लगा तो वह सूजी हुई टाँगों पर बीच में ही खड़ा हो गया। उसकी कमजोरी के कारण उसे वहीं छोड़कर अदला-बदली का और काम निपटाया जाने लगा।

मण्टों ने अंत में लिखा है कि- ''सूरज निकलने से पहले उस स्थान पर अकड़ कर खड़े हुए शबनसिंह के मुंह

से एक भयानक चीख निकली। इधर-उधर से कई अफसर वहाँ दौड़े आए और देखा कि वह आदमी जो पन्द्रह वर्ष तक दिन-रात अपनी टांगों पर खड़ा रहा था, औंधे मुंह पड़ा हुआ है। उसकी टांगों के पीछे हिन्दुस्तान के पागलों का दायरा था और उसके सिर की ओर पाकिस्तान के पागलों का दायरा था और बीच भूमि में जिसका कोई नाम न था- टोबा टेकसिंह पड़ा था।''[7] दरअसल अपने गाँव, घर, जमीन से कटकर आदमी मर जाता है। हिन्दू-मुसलमान दोनों इस गांव, घर-जमीन में अपनी जड़े फैला चुके थे। विभाजन और सांप्रदायिकता ने उन्हें काट दिया और उसके कटते ही उस संशलिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का क्षेत्र जिसके आधार पर नया राष्ट्र मूर्त हो रहा था वह लहू-लुहान हो गया। यानि स्थानीयता और राष्ट्रीयता का जो वास्तविक सम्बन्ध था वह क्षेत्रवाद और सम्प्रदायवाद की प्रवृत्ति में बदल गया। इन कहानियों में इस संबंध की वास्तविकता की मौत का बड़ा दारूण रूप चित्रित किया गया है। असल में, इस विषय पर लिखा गया समूचा भारतीय साहित्य विभाजन और साम्प्रदायिकता की अमानवीयता पर कड़ा प्रहार करता है। हमारे समाज और साहित्य दोनों में इस प्रकार की मानवीय शक्तियों, प्रेम, परस्परता की भावना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से इसे निरंतर प्रेरित और विकसित करते रहने की नितांत आवश्यकता है।

संदर्भ

1. सिक्का बदल गया, (भारतीय भाषाओं की भारत विभाजन संबंधी कहानियाँ), सम्पादक, डॉ. नरेन्द्र मोहन, सीमान्त पब्लिकेशन्स इंडिया, 3958, रोशनपुरा, नई सड़क, दिल्ली-110006, पुस्तक के भूमिका भाग से, पृ. 11
2. कुछ विचार, प्रेमचन्द, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण-1992, पृ. 95
3. शरणदाता, अज्ञेय 'सिक्का बदल गया' कहानी संग्रह से, पृ. 37
4. गड़रिया, अशफाक अहमद (उर्दू) अनुवाद, कुंवरपाल सिंह पृ. 49, 61
5. सीमांत, मनोज बसु (बंगला) अनुबाद, प्रबोध कुमार मजुमदार, पृ. 160
6. टोबा टेकसिंह, सआदत हसन मन्टो (उर्दू) अनुवाद, जफर पयामी, पृ. 246
7. वही, (सिक्का बदल गया, संपादित कहानी संग्रह से), पृ. 247

–डॉ विन्ध्याचल मिश्र,
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
शहीद भगत सिंह कॉलेज (सांध्य), दिल्ली
विश्वविद्यालय नई दिल्ली-110 017,

वर्तमान परिदृश्य में शिक्षा में शैक्षिक तकनीकी की प्रासंगिकता का अध्ययन

—माया सोनकर

प्रस्तावना—वर्तमान में हमारे समक्ष यह चुनौती है कि शैक्षिक तकनीकी से सम्बन्धित विभिन्न तरीकों एवं व्यवस्थाओं को इस प्रकार तैयार करें जिससे समुचित शिक्षण अधिगम व्यवस्थाएं सुदृढ़ हो सकें एवं निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें। अतः इन चुनौतियों के निवारण हेतु शैक्षिक तकनीकि को कक्षा में परिवर्तन लाने वाले एक ऐसे घटक के रूप में देखना होगा जिसमें न सिर्फ शिक्षक या सीखने सिखाने की प्रक्रिया बल्कि पहुंच, समता तथा गुणवत्ता जैसे मूल्य भी शामिल हो। शैक्षिक तकनीकी के अन्तर्गत इंटरनेट के जरिए किसी भी वक्त कहीं भी पहुंचा जा सकता है। अतः वर्तमान में शैक्षिक तकनीकी की उपयोगिता विभिन्न विषयों को पढ़ने में, स्कूलों में शोध कार्यों में एवं विभिन्न पद्धतियों के सुधारों में तथा सबसे अधिक शिक्षकों के प्रशिक्षण में है। अतः शैक्षिक तकनीकी हमेशा से ही शिक्षा का एक महत्वपूर्ण एवं प्रगतिशील क्षेत्र रहा है। इसका प्रयोग शिक्षा को सरल, सुग्राही एवं रुचि पूर्ण बनाता है। वर्तमान में शिक्षण एवं अधिगम की प्राचीन अवधारणाओं में परिवर्तन हो चुका है। एन.सी.एफ. 2005 के अनुसार बालक को शिक्षा शिक्षक एवं अधिगम के केन्द्र में स्थापित कर दिया गया है। अतः आवश्यकता यह है कि शिक्षण प्रक्रिया को सरलतम् रूप में ही नियोजित किया जाए जिससे बालक स्वयं ज्ञान का सृजन कर अधिगम कर सके। शैक्षिक तकनीकी विभिन्न तकनीकियों जैसे प्राकृतिक विज्ञान, इंजीनियरिंग, व्यावहारिक विज्ञान तथा अन्य सभी तकनीकियों के माध्यम से. शिक्षण प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने का प्रयास करती है। यह कक्षा में शिक्षण प्रक्रिया को भी व्यवस्थित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अतःशिक्षा के प्रसार के लिए शिक्षा में शैक्षिक तकनीकी का प्रयोग वर्तमान समय की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में शैक्षिक तकनीकी को समझने के लिए भारत में इसके उद्भव को समझना होगा। इसके अन्तर्गत समय-समय पर नीतिगत तथा पाठ्यचर्या सम्बन्धित परिवर्तन लाना आवश्यक होगा। इसके साथ ही साथ शैक्षिकतकनीकी के विकास और वर्तमान स्थिति का अवलोकन करने के लिए सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं के प्रयत्नों पर भी नजर रखना होगा।

शैक्षिक तकनीकी क्या है

यदि शैक्षिक तकनीकी के विशेष अर्थ को समझने की कोशिश करें तो यह देखा जाता है कि तकनीकी के निरन्तर बदलते स्वरूप के कारण इसका गलत अर्थ लगा लिया जाता है। वास्तव में इसका बुनियादी सिद्धांत यह है कि सभी मानवीय एवं अमानवीय सुलभ संसाधनों को सुव्यवस्थित रूप से व्यवहार में लाना है तथा विभिन्न शैक्षिक समस्याओं का समाधान किया जा सके। परन्तु जैसे-जैसे तकनीकी में परिवर्तन आता है वैसे-वैसे शिक्षा के साथ-साथ विकास के अन्य पक्षों में तथा अन्य क्षेत्रों में भी इन तकनीकियों का समावेश होता जाता है। इसके साथ ही शैक्षिक तकनीकी की संरचना के प्रयोग तथा उपयोग में परिवर्तन आ जाता है। अतः इसकी अति गतिशीलता तथा निरन्तर विकसित स्वरूप के कारण इसे अच्छी तरह समझना आवश्यक है क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण से जुड़ी अलग-अलग तरह की समस्याएं हैं तथा उनके समाधान भी अलग-अलग हैं। अतः इसके स्वरूप को जानना अति आवश्यक है। सर्वप्रथम् इसका अर्थ ऑडियो विजुअल ऐड्स के रूप में लिया जाता था परन्तु जैसे-जैसे इसकी धारणाएं विकसित होती गई शब्द विशेष 'शिक्षण की तकनीकी' प्रचलित होने लगा। अब इसका विस्तृत अर्थ लगाया जाने लगा जिसमें बहुत सारे पक्षों जैसे- छात्रों के प्रवेश के समय व्यवहार, उद्देश्य, विषय-वस्तु विश्लेषण, मूल्यांकन आदि शामिल थे। 1970 के मध्य तक प्रणाली उपागम और साइबर्नेटिक्स से करेक्टिव फीडबैक जैसे शब्दों के माध्यम से इसके क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार हुआ एवं सीखने की प्रक्रिया को भी अब सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखा जाने लगा। इसके साथ ही साथ डिजिटल कन्वर्जन मीडिया के आने से अंतःक्रिया तथा परस्पर संपर्क प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन मिला। यह एक विषय के रूप में और भी अधिक

विकसित होने लगा। एक ओर जहां यह क्षेत्र विकसित हो रहा था वहीं दूसरी ओर समस्या यह थी कि किस प्रकार सीखने वालों की प्रभावकारी एवं पारस्परिक क्रिया के आधार पर सीखने की प्रक्रिया में मदद की जाए। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि शैक्षिक तकनीकी के उपयोग की शुरुआत उन मशीनों और शिक्षा सम्बन्धी सॉफ्टवेयर से हुई जो इससे जुड़ी थी। शैक्षिक तकनीकी की विश्व भर में स्वीकृत परिभाषा के अनुसार यह प्रक्रियाओं, विधियो और तकनीकों, उत्पादों, संसाधनों तथा तकनीकी की एक सार्थक समन्वय है। एक कक्षा की बहु स्तरीय संरचना की आवश्यकताओं को समझना एवं उसके व्यावहारिक पक्ष की डिजाइनिंग शैक्षिक तकनीकी का उतना ही अभ्यास है जितना ऑडियो विजुअल माध्यम या सूचना संबंधी तकनीकी का प्रयोग। इसके अंतर्गत 'समुचित तकनीकी'शब्द भी प्रचलित है। अतः यह एक विशेष शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक समुचित कारगर पद्धति है जिसे बार-बार जांच कर देखा जा सकता है कि यह समुचित है या नहीं या अगर कारगर नहीं है तो इसमें क्या परिवर्तन लाया जा सकता है? शैक्षिक तकनीकी में निर्माणत्मक मूल्यांकन तथा अंतिम मूल्यांकन इसके अभिन्न अंग है एवं शिक्षा के क्षेत्र में लागू करने के लिए यह आवश्यक है। अतः शैक्षिक तकनीकी को सरल भाषा में परिभाषित करने पर यह शिक्षण प्रणाली की विधियों, प्रक्रियाओं और उत्पादन में रूपांतरण और अभिग्रहण का एक ऐसा कुशल कारगर संगठन है जो निश्चित किए गए शैक्षिक लक्ष्यों को पाने में मदद करता है, जिसमें शिक्षा के उद्देश्यों की व्यवस्थित ढंग से पहचान करना देशव्यापी आवश्यकता व्यवस्थागत योग्यताएं सिखाने वाले की आवश्यकता बच्चों की तात्कालिक आवश्यकता, निश्चित किए गए उद्देश्यों को पाने के लिए शिक्षण अधिगम की समुचित पद्धति की डिजाइनिंग आदि शामिल है।

शैक्षिक तकनीकी के कार्य एवं उपयोग

वर्तमान में शैक्षिक तकनीकी की विस्तृत उपयोगिता को देखते हुए इसके विभिन्न कार्य निम्नलिखित है- शैक्षिक तकनीकी शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में अच्छे परिणाम के लिए विशेष शिक्षण प्रतिमानों का विकास करती है। इसके माध्यम से शिक्षण के उद्देश्यों, शिक्षण विधियां तथा शिक्षा के सामान्य स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। शैक्षिक तकनीकी समुदाय विशेष की आकांक्षाओं एवं शैक्षिक आवश्यकताओं का पता लगाने में भी आवश्यक है। यह शैक्षिक वातावरण में प्रतिकूल परिस्थितियों का पता लगाने एवं उनके समाधान में अपनी विशेष भूमिका निभाती है। इसके माध्यम से शिक्षा की सम्पूर्ण प्रणाली को व्यवस्थित किया जा सकता है जिसमें नियोजन, क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन शामिल है। शैक्षिक तकनीकी का प्रयोग शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में सुधार लाने एवम् विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को उचित प्रतिपुष्टि प्रदान करने हेतु किया जाता है। यह विद्यार्थियों की योग्यताओं एवं शैक्षिक विशेषताओं का पता लगाने में भी आवश्यक है। शैक्षिक तकनीकी के माध्यम से कक्षा शिक्षण के परिणाम का मूल्यांकन किया जा सकता है। यह शिक्षण प्रक्रिया में उचित साधनों और विधियों का निर्माण एवं विकास करने में सहायक है।

शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान में विभिन्न उपयोगों के कारण इसकी आवश्यकता महसूस होती है। यह विद्यार्थियों के लिए आनन्द दायक स्थाई अधिगम के लिए आवश्यक है। इसके माध्यम से शिक्षण कार्य को रोचक व सरल बनाया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में यह तनाव मुक्त अधिगम के लिए अति आवश्यक है। इसके माध्यम से विद्यार्थी स्वयं क्रियाशील रहकर अधिगम करते हैं। शैक्षिक तकनीकी स्वाध्याय में भी सहायक है। इसके उपयोग से विद्यार्थी शिक्षक की सहायता के बिना भी पुस्तकों एवं अन्य उपकरणों की सहायता से अधिगम कर सकते हैं। यह विशेष आवश्यकताओं वाले विद्यार्थियों के लिए भी अति उपयोगी है तथा उनके अधिगम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जैसे शब्द प्रेडिक्शन सॉफ्टवेयर एक कम्प्यूटर आधारित तकनीकी है जो विद्यार्थियों को भाषा समझने में मदद करती है। शैक्षिक तकनीकी के माध्यम से दूरस्थ एवं पत्रचार शिक्षण में भी सहायता प्राप्त होती है। पुस्तकों की अपेक्षा पाठ्य-सामग्री ऑनलाइन ई बुक के रूप में उपलब्ध कराकर शिक्षा के खर्चे में कमी की जा सकती है। यह उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी अति उपयोगी है। शैक्षिक तकनीकी के माध्यम से व्यक्तित्व का विकास भी किया जा सकता है। सूक्ष्म शिक्षण, अनुरूपित शिक्षण आदि के द्वारा विद्यार्थियों में आत्मविश्वास, संश्प्रेषण क्षमता,अध्यापन कौशल ज्ञान तथा जीवन कौशलों का विकास किया जा सकता है। इंटरनेट, वीडियो कन्फ्रेंसिंग वेब टेक्नोलॉजी, टीवी, मोबाइल आदि के द्वारा विद्यार्थी एवं अध्यापक आसानी से संश्प्रेषण कर सकते हैं। शैक्षिक तकनीकी शिक्षकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। यह विद्यार्थियों में अपेक्षित व्यवहारगत् परिवर्तन लाने में सहायक है। इसके द्वारा शिक्षक विभिन्न स्रोतों से अनुसंधान कार्यों हेतु जानकारी भी प्राप्त कर सकते हैं। सीखने और सिखाने के लिए शैक्षिक तकनीकी की सहायता से विभिन्न कौशल का विकास किया जा सकता है। यह जटिल विषय वस्तु को सरल बनाने में अति आवश्यक है। इसके साथ ही साथ शैक्षिक तकनीकी शिक्षकों के व्यवसायिक क्षमता विकास में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। इसके साथ ही यह समाज के

लिए भी अति उपयोगी है। औपचारिक, अनौपचारिक एवम् निरौपचरिक शिक्षा के क्षेत्र में भी शैक्षिक तकनीकी ने अपने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। शैक्षिक तकनीकी के विभिन्न सोपान निम्नलिखित हैं—शैक्षिक तकनीकी प्रक्रिया में शिक्षण अधिगम प्रक्रिया का विश्लेषण, क्रियाओं का निर्धारण, मूल्यांकन एवं पृष्ठ पोषण सम्मिलित है।

शिक्षा में तकनीकी और शिक्षा की तकनीकी

सीखने सिखाने की प्रक्रिया में विभिन्न उपकरणों का उपयोग किया जाता है। इन उपकरणों के माध्यम से शिक्षण प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है। वर्तमान में कम्प्यूटर सहायक अधिगम पर जोर दिया जाता है। विद्यार्थी इंटरनेट के माध्यम से विभिन्न विषयों का ज्ञान स्वयं ही प्राप्त कर लेते हैं। कक्षा-कक्ष शिक्षण हेतु विभिन्न श्रव्य-दृश्य सहायक उपकरणों का उपयोग किया जाता है। उनके उपयोग से अध्यापक को शिक्षण में सहायता मिलती है एवं इसके साथ ही साथ विद्यार्थी भी प्रभावी ढंग से अपने विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सीखने सिखाने की प्रक्रिया में विभिन्न उपकरणों जैसे श्वेत/श्याम पट यह एक मुख्य सहायक सामग्री के रूप में काम में लिया जाता है। लपेट फलक, फ्लैनर बोर्ड, क्लिप बोर्ड, इट्रैक्टिव बोर्ड आदि का उपयोग किया जाता है जिससे शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को रोचक एवं प्रभावशाली बनाकर विद्यार्थी के अधिगम को सरल बनाया जा सके। ओवरहेड प्रोजेक्टर की सहायता से चार्ट, चित्र, नक्शा, सारणी इत्यादि को स्क्रीन पर ट्रांसपेरेंसी के माध्यम से प्रक्षेपित किया जाता है। इसके अलावा डिजिटल कैमरा भी एक बहुत उपयोगी उपकरण है। यह एक जगह से दूसरी जगह लाने ले जाने में भी सुविधाजनक रहता है और एक क्लिक पर ही फोटो को देखा और सुरक्षित किया जा सकता है। शिक्षा की तकनीकी के अन्तर्गत विभिन्न शिक्षण विधियां, शिक्षण व्यूह रचना, सूक्ष्म शिक्षण कौशल, शिक्षण का इकाई व्यवहार आदि सम्मिलित होते हैं। शिक्षा में तकनीकी तथा शिक्षा की तकनीकी यह दोनों ही काफी मिलते-जुलते शब्द है परन्तु दोनों के अर्थ में बहुत अन्तर है। शिक्षा में तकनीकी केवल तकनीकि के प्रयोग एवं शिक्षा प्रदान करने के तरीके तथा अधिगम को आसान बनाने तक ही सीमित नहीं बल्कि शिक्षा के लिए तकनीकी उपकरण बनाने वालों के लिए भी एक क्षेत्र है जब कि शिक्षा की तकनीकी शैक्षिक तकनीकी भी कहलाती है वास्तविक रूप में सूचना तकनीकी का कक्षा कक्ष में प्रयोग ही शिक्षा की तकनीकी है जो सिद्धांतों एवं क्रियाओं के प्रयोग के आधार पर शिक्षण प्रक्रिया में बाहर से डाली जाने वाली चीज नहीं बल्कि उसका एक अभिन्न अंग है।

शिक्षा में चुनौतियां—वर्तमान में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण निसंदेह दुनिया सिमटती जा रही है। जिसका प्रभाव भारतीय समाज के साथ-साथ अन्य देशों पर भी पड़ रहा है। अतः इसमें शिक्षा में आ रही चुनौतियों को समझना होगा। ज्ञान के विस्फोट के कारण यह देखना आवश्यक है कि बच्चों पर सीखने का भार और अधिक बढ़ जाएगा या कोई ऐसा रास्ता है जो स्कूलों में बच्चों के विभिन्न विषयों के पैकेजों के रूप में शिक्षा देने से बचा जा सकता है? क्या सिखाने वालों के लिए उपयोगी और रुचिकर प्रश्नों को विविध विषय ज्ञान के नजरिए से देखा जाना संभव है? आदि। तकनीकी विस्फोट के कारण जहां एक ओर लोगों को आपसी संपर्क स्थापित करने तथा अपने विचारों के आदान-प्रदान करने की सुविधा प्रदान कर एक तरफ बहुत आसानी से लक्ष्यों एवं रुचि के आधार पर आधार पर समुदायों का निर्माण कर रही है वहीं दूसरी ओर ग्लोबल कॉरपोरेशन के लिए एक झटके से बिलियन डॉलर व्यय कर डालने को एक सामान्य प्रक्रिया बना देती है। बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन का मुनाफा तभी मिल सकता है जब उसका बहुत बड़े पैमाने पर उपभोग हो। दुनिया के समुदायों का जितना सम रूपी करण होगा, उतनी आसानी से वे मीडिया तथा बाजार पर अपना कब्जा कर पाएंगे। अतः बहुराष्ट्रीय दानव वातावरण तथा संस्कृति की विविधताओं के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। कॉर्पोरेट साम्राज्य के इस प्राण घातक आक्रमण का सामना करना तभी संभव होगा जब युवाओं को जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति अभिमुख कराया जाए। इसके साथ ही साथ बेहतर दुनिया बनाने की दिशा में सही रास्ते चुन पाने की दृष्टि दी जाए। वर्तमान में जनसंख्या विस्फोट एवं संसाधनों की कमी भी एक बहुत बड़ी चुनौती के रूप में हमारे समक्ष मौजूद है। अतः इसका निदान भी अति आवश्यक है। इसके साथ-साथ यह भी समझना होगा कि अब ज्ञान की धाराओं के जितने स्रोत हैं और सीखने वाले के आसपास के वातावरण में जो कुछ भी महत्वपूर्ण है और जो कुछ भी सीखने वाले की आवश्यकता के अनुरूप है उन्हें हम इकट्ठा करके शिक्षण अधिगम की प्रक्रिया में व्यवस्थित ढंग से शामिल हो। इसके लिए काफी प्रयोगों की आवश्यकता होगी एवं समुचित तकनीकी की पहचान करना भी आवश्यक होगा। इसके लिए हमें शैक्षिक लक्ष्यों को प्राथमिकता देना होगा जिसे प्राप्त करने हेतु कई विशेष शैक्षिक उद्देश्यों में बांटना होगा। प्रत्येक स्तर पर आज ऐसी सार्थक, लचीली, शिक्षण अधिगम की पद्धतियों की आवश्यकता है जो उपलब्ध संसाधनों, उपयुक्त तकनीकी तथा प्रक्रियाओं का प्रयोग इस तरह कर सके कि अवलोकन और मूल्यांकन के आधार पर उनमें परिवर्तन लाया जा सके।

शैक्षिक तकनीकी की वर्तमान में प्रासंगिकता

वर्तमान में शैक्षिक तकनीकी की आवश्यकता एवं महत्व अति प्रासंगिक है। शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को रुचिकर, सरल एवं प्रभावी बनाने हेतु यह अति आवश्यक है। आधुनिक युग में बदलते परिवेश में जिस प्रकार देश आधुनिकता की तरफ भाग रहा है उसे देखते हुए शैक्षिक तकनीकी की अति आवश्यकता महसूस होती है। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण प्रक्रिया को प्रभावी बनाने हेतु, अध्यापकों के लिए विद्यार्थियों के लिए विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के लिए यह अति महत्वपूर्ण है। शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु एवं समय, श्रम एवं धन की बचत हेतु इसका उपयोग अति प्रासंगिक है। अतः इसे सुचारु रूप से उपयोग में लाने हेतु हमें इस धारणा से मुक्त होना होगा कि शैक्षिक तकनीकी मास मीडिया या कंप्यूटर मात्र है और कोई भी प्रोग्राम जो सिर्फ उपकरण प्रधान है सफल नहीं हो सकता। इसलिए हमारी संस्थाएं अनुपयोगी उपकरणों का शमशान बन चुकी है। अब हम बर्बादी के उतने शिकार नहीं हो सकते जितने कि हम पहले थे। इस बात पर विचार किए बिना की जिन उपकरण को हम लेने जा रहे हैं वह हमारे लिए कितना उपयोगी होगा अथवा उसे तत्काल उपयोग में लाया जा सकने के लिए सहायक साधन उपलब्ध है या नहीं हम पैसा खर्च नहीं कर सकते। अतः प्रत्येक स्तर पर आज ऐसी सार्थक, लचीली, शिक्षण अधिगम की पद्धतियों की आवश्यकता है जो उपलब्ध संसाधनों, उपयुक्त तकनीकी तथा प्रक्रियाओं का प्रयोग इस तरह कर सके कि अवलोकनों एवं मूल्यांकनों के आधार पर उनमें परिवर्तन लाया जा सके। बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी को शिक्षा व्यवस्था के अंतर्गत लाने की आवश्यकता है पर इसके रास्ते में आरोहण की रुकावट है। यहां नई तकनीकियां एवं जनसंचार माध्यम मदद तो कर सकते हैं परंतु उन्हें व्यवस्था का इस तरह हिस्सा बनना होगा कि वह अच्छे परिणाम दे सके। इस पूरे परिवर्तन का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से शिक्षकों के कंधों पर पड़ता है। अतः शैक्षिक तकनीकी वास्तव में किसी भी विषय को अधिक सार्थक और प्रभावशाली ढंग से पढ़ने में इस तरह मदद करने वाला एक विषय है जिससे की पढ़ाई का मकसद पूरा हो। स्कूलों के साथ-साथ शिक्षा की वैकल्पिक पद्धतियों का निर्माण करना आज की आवश्यकता बन गई है। जो वैकल्पिक पद्धतियां आज भी मौजूद है उनकी नौकरशाही को कम करके उन्हें उनके काम को अधिक सक्षमता से करने की तरफ मुखातिब करना होगा।

सन्दर्भ

1. अल्टर स्टीवन (2016), निर्णय समर्थन प्रणालियों के लिए मानव कम्प्यूटर इंटरवेंशन क्यों महत्वपूर्ण है?, इंटरफेस 7, पृ. 109-115
2. आर्जिल, माइकल (2015), सामाजिक संपर्क, न्यूयार्क एथर्टन प्रेस
3. समाज पर नए मीडिया के प्रभाव पर सलाहकार परिषद 2008, नए मीडिया को शामिल करना पुरानी धारणाओं को चुनौती देना सिंगापुर, पृ. 27-49।
4. अग्रवाल जे. सी. (2007), शैक्षिक तकनीकी तथा प्रबधन के मूल तत्व विनोद पुस्तक मंदिर आगरा
5. अग्निहोत्री रविंद्र (2007), आधुनिक भारतीय शिाक्षा की समस्याएं और समाधान राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर
6. सिंह, करण (2008), शैक्षिक तकनीकी एवम् प्रबंध गोविंद प्रकाशन लखीमपुर
7. कुलश्रेष्ठ एस. पी. (2008), शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
8. मित्तल, संतोष (2008), शैक्षिक तकनीकी एवम् कक्षा कक्ष प्रबंध, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
9. वारकर जॉन, और टकर, रिचर्ड निक्सन (2016), इंटरैक्टिव लर्निंग रिवॉल्यूशनरी शिक्षा और प्रशिक्षण मल्टीमीडिया।
10. बराक, ए जी. और फिशर विलियम ए.(2016), पुरुषों की दृष्टिकोण और महिलाओं के प्रति व्यवहार पर इंटरएक्टिव कम्प्यूटर इरातिका का प्रभाव एक प्रयोग अध्ययन मानव व्यवहार में कम्प्यूटर 353-369

–माया सोनकर

शोध छात्रा

रजिस्ट्रेशन नंबर - 219116013336

एशियन इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी, मणिपुर

भारतीय प्रवासी : स्वदेश एवं विश्व के सन्दर्भ में इनका योगदान

—डॉ. हिमांशु यादव

शोध सार—लंबे समय से पलायन एक आम घटना रही है। सीमाओं के पार आवाजाही से विचारों, नए कौशल और तकनीकी का भी आदान-प्रदान बढ़ता है जिससे न केवल प्राप्त करता देश को बल्कि भेजने वाले देशों को भी लाभ होता है। इस संबंध में प्रवासी समुदायों की भूमिका पर भी विचार करना महत्वपूर्ण है। हमारा अध्ययन अन्य विदेशी भूमि में रहने वाले भारतीय प्रवासी समुदायों की भूमिका पर केंद्रित है, जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी भूमिका का विश्लेषण करेगा। यह अध्ययन भारतीय प्रवासियों के उनकी मूलभूमि यानी भारत में उनके योगदान पर प्रकाश डालता है। इस तथ्य से कोई इंकार नहीं है कि भारतीय प्रवासी भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का प्रमुख स्रोत होने, प्रौद्योगिकी और तकनीकी ज्ञान के स्थानांतरण, ज्ञान के पर्याप्त प्रभाव, पर्यटन,दान जैसी गतिविधि में योगदान दे रहे हैं। समाज की बेहतरी की दिशा में काम करने और मौजूदा सामाजिक बुराइयों से लड़ने के लिए गैर सरकारी संगठनों की स्थापना कर रहे हैं। इस अध्ययन का दूसरा पक्ष भारतीय प्रवासियों का प्राप्तकर्ता में योगदान है, मूल रूप से उन देशों में जहां भी वे रहते हैं। भारतीय प्रवासी अपने कौशल के माध्यम से प्राप्तकर्ता देश को लाभ पहुंचाते हैं वह उन देशों के संसाधन का प्रयोग अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए करते हैं और तकनीकी ज्ञान से उसे जोड़ते हैं और उपभोक्ता बाजार में नई मांग पैदा करते हैं। रोजगार के अवसर प्रदान करते हैं और अर्थव्यवस्था के उत्पादन स्तर को भी बढ़ाते हैं इसलिए यह पेपर विदेशी देशों के लिए भारतीय प्रवासियों के अस्तित्व के सकारात्मक पहलू को उजागर करता है जो भारतीय क्षेत्र के लिए उनके लाभों से संबंधित है।

बीज शब्द— प्रवासन, प्रवासी, अर्थव्यवस्था और विकास इत्यादि।

डायस्पोरा से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो एक देश से शेष विश्व में फैल गए हैं (उदाहरण के लिए, भारतीय डायस्पोरा का तात्पर्य भारतीय मूल उन व्यक्तियों से है जो भारत से बाहर रह रहे हैं)। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि सीमाओं के पार लोगों की आवाजाही से न केवल भेजने वाले देश में बल्कि मुख्य रूप से प्राप्त करने वाले देश में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। लोगों के इस तरह के प्रसार का प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक पहलुओं पर हो सकता है जो प्राप्त करने वाले देश को वृद्धि और विकास के बिल्कुल अलग रास्ते पर लाभान्वित कर सकता है। प्रवासी अपने ज्ञान, नवाचार, व्यावसायिकता और प्रबंधन तकनीकों द्वारा किसी देश को उत्पादन वृद्धि में मदद कर सकते हैं जिसके कारण उस देश को अन्य देशों के साथ व्यापार, निवेश बढ़ाने में मदद मिलती है। यह जानना भी जरूरी है कि प्रवासी समुदाय हमेशा विभिन्न क्षेत्रों में विचारों, नवाचार, संस्कृति और राजनीतिक रुख के आदान-प्रदान को बढ़ावा देते हैं, इसलिए ऐसे समूहों का अस्तित्व दोनों अर्थव्यवस्थाओं को उनके योगदान के साथ विकसित होने में मदद करता है। वित्तीय, मानव और सामाजिक पूंजी के साथ-साथ 'डायस्पोरा कैपिटल (प्रवासी पूंजी)' नाम की एक अवधारणा है, इस बात को लेकर वर्तमान समय में जागरूकता बढ़ रही है। लगभग हर देश को यह एहसास हो रहा है कि प्रवासी एक संसाधन है जिस पर शोध, सुसंस्कृत विवरण, आग्रह और प्रबंधन की आवश्यकता है। निस्संदेह, ये समुदाय दोनों अर्थव्यवस्थाओं (भेजने और प्राप्त करने) के लिए आर्थिक सुधार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। यह महत्वपूर्ण है कि इन समुदायों को उनके मूल देश और साथ ही रहने वाले देश से पूर्ण समर्थन का आश्वासन दिया जाना चाहिए, तभी ऐसे लोगों का समूह हर समाज की भलाई के लिए अपनी क्षमताओं और कौशल के रूप में अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर सकता है। यह आश्चर्य की बात नहीं होगी अगर प्रवासी समुदायों को राष्ट्रीय संपत्ति माना जाए, लेकिन नई बात यह है कि अब ऐसे देशों की संख्या बढ़ रही है जो रचनात्मक और नवीन तरीकों से ऐसी विदेशी आबादी की क्षमता का एहसास कर रहे हैं। इस प्रकार, अब इन व्यक्तियों की पहचान करने और उनसे जुड़ने तथा उन्हें किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय आर्थिक विकास परियोजनाओं से जोड़ने के निरंतर और सक्रिय प्रयास किए जा रहे हैं। इन समुदायों का उपयोग करने और साथ ही उनकी क्षमता को समृद्ध बनाने के विचार से, वास्तव में कौशल, पूंजी और प्रौद्योगिकी का दो तरफा प्रवाह होता है जो दोनों देशों को लाभ पहुंचा सकता है।

डायस्पोरा मूल रूप से एक शब्द है जिसका उपयोग सामान्य अर्थ में, विदेशों में रहने वाले या स्थायी रूप से बसने

वाले प्रवासियों के समुदायों के लिए किया जाता है, जो अपनी उत्पत्ति और पहचान के बारे में जानते हैं और अपनी मूल भूमि के साथ विभिन्न स्तर के संपर्क बनाए रखते हैं। भारतीय प्रवासी उन लोगों के समूह को संदर्भित करते हैं जिनका मूल भारत में था लेकिन किसी कारण से वे विदेश में बस गए। भले ही इन लोगों का निवास दूसरे देश में हो लेकिन इनका अस्तित्व और महत्व कई रूपों में देखा जा सकता है। जहां वे रहते हैं वहां की अर्थव्यवस्था के साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था में भी उनका योगदान मायने रखता है। भारतीय प्रवासी, दुनिया में सबसे बड़े प्रवासियों में से एक होने के नाते, एक अपरिहार्य सॉफ्ट पावर टूल है जो भारत की विकास कहानी में कई मायनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इसीलिए वैश्वीकरण के इस दौर में भारत वस्तु के मुक्त आदान-प्रदान के साथ-साथ श्रम के मुक्त आदान-प्रदान की मांग हमेशा से वैश्विक आर्थिक मंच पर करता रहा है इस मांग का मूल कारण यह भी है कि भारत एक श्रम आधिक्य देश है। इसी का परिणाम है कि संयुक्त राष्ट्र के जनसंख्या विभाग की ओर से जारी अंतर्राष्ट्रीय प्रवासी स्टॉक 2019 रिपोर्ट में यह बताया गया है कि वर्ष 2019 में दुनिया भर में भारतीय प्रवासियों की संख्या 1.75 करोड़ है। प्रवासियों की संख्या के मामले में भारत, मेक्सिको और चीन क्रमाशः पहले, दूसरे और तीसरे स्थान पर हैं। पिछले 10 वर्षो में भारतीय प्रवासियों की संख्या में लगभग 23 प्रतिशत की वृद्धि हुई है प्रवासियों की कुल संख्या वर्तमान आबादी का 3.5 प्रतिशत है नौकरी, उद्योग, व्यापार और दूसरे अन्य कारणों से अपना देश छोड़कर दूसरे देश में रहने वालों में भारतीयों की आबादी दुनिया भर में सबसे अधिक है दुनिया की बड़ी बहु राष्ट्रीय कंपनियों में मुख्य कार्यकारी अधिकारी से लेकर अनेक देशों के कानून और अर्थव्यवस्था में निर्णय लेने वाली संस्थाओं का प्रमुख हिस्सा बनने में भारतीय कामयाब रहे हैं। मुख्य भूमि में सबसे अधिक विदेशी मुद्रा भेजने वाले होने के अलावा, भारतीय प्रवासियों ने विभिन्न क्षेत्रें में बहुत योगदान दिया है, जिससे मूल देश और गंतव्य दोनों को लाभ हुआ है। भारतीय डायस्पोरा ने न केवल भारतीय नीति निर्माताओं के साथ खुद को एक महत्वपूर्ण स्थान पर रखा है, बल्कि इसका प्रदर्शन भी किया है। अन्तराष्ट्रीय मंच पर इनकी एक विशेष क्षमता है, इसलिए इसके उत्थान के लिए गंभीरता से ध्यान देने की जरूरत है।

भारतीय प्रवासी विश्व में मौजूद उन समुदायों में से एक है जो भारतीय राष्ट्र के विकास में बहुत महत्वपूर्ण और सराहनीय भूमिका निभाता है। भारतीय अर्थव्यवस्था में सभी रूपों में उनका योगदान पहचानने योग्य है और सभी भारतीयों के लिए गर्व की बात है। अन्य देशों में यह सामुदायिक शाखा कई पहलुओं में इस देश की विकास क्षमता को बढ़ाती रहती है। इस योगदान में, विचार करने वाला पहला पहलू भारत में दोनों रूपों में निवेश को बढ़ावा देने में उनकी बड़ी भूमिका है। प्रत्यक्ष विदेश निवेश (एफडीआई) और विदेशी पोर्टफोलियो निवेश (एफपीआई)। लोगों का ऐसा समूह वास्तव में कई स्थापित व्यावसायिक उद्यमों के विस्तार में प्रत्यक्ष निवेश करके, नए व्यावसायिक उद्यमों के पूंजी भंडार को मजबूत करने और कई तरीकों से भारत में उभर रहे स्टार्टअप की मदद करके देश के निवेश भंडार में वृद्धि करता है, कभी-कभी, उनके नए और नवीन विचारों को बढ़ावा देकर या नई पहलों को वित्त पोषित करके भी। ये लोग भारतीय क्षेत्र के प्रति नए विचारों, नई तकनीकों, नए दृष्टिकोण, नए कौशल को बढ़ावा देकर और भारतीय डोमेन के भीतर पहले से ही निर्धारित नए नवाचारों के ढांचे का समर्थन करके व्यापार जगत के अनुसंधान और विकास विभाग में भी योगदान देते हैं। संक्षेप में, यह प्रवासी कई व्यावसायिक अवसर पैदा करते हैं और भारत में महत्वाकांक्षी साथी व्यक्तियों के बीच उद्यमिता को बढ़ावा देते हैं और ज्ञान और कौशल शिक्षा के नए सेट को स्थानांतरित करने में भी मदद करते हैं। भारत जैसे देश में प्रवासी भारतीयों का प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, निवेशकों के बीच विश्वास पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब एफडीआई लाने की बात आती है, तो प्रवासी अक्सर संस्थागत नेटवर्क और कूटनीति से अधिक उपयोगी होते हैं, जिसने भारतीय मामले में भी काम किया है। मौद्रिक या मूर्त लाभों के साथ-साथ, वे अपने साथ उन्नत प्रौद्योगिकी और वैश्विक सर्वोत्तम प्रथाओं के रूप में अमूर्त लाभ भी लाते हैं, प्रवासी भारतीयों से होने वाले लाभों का दूसरा पहलू उनके द्वारा अपने गृह देश यानी भारत को भेजा गया धन है। जो मूल देश को विदेशों में रहने वाले भारतीय लोगों से मिलने वाले विशेषाधिकार का एक मुख्य स्रोत है। दरअसल, प्रेषण का प्राप्तकर्ता देश पर कई सकारात्मक प्रभाव पड़ता है क्योंकि इससे प्राप्तकर्ता की घरेलू गरीबी को कम करने में मदद मिलती है, साथ ही अन्य परिवारों पर इसका प्रभाव पड़ता है, साथ ही अन्य उत्पादक गतिविधियों के साथ-साथ शिक्षा और स्वास्थ्य में निवेश भी बढ़ता है। भारत में, प्रेषण सकल घरेलू उत्पाद में महत्वपूर्ण योगदान देता है। मौद्रिक योगदान के अलावा, भारतीय प्रवासियों के पास विकास रणनीतियों में इनपुट के रूप में पेश करने के लिए ज्ञान और नवीनतम तकनीकी विशेषज्ञता का अद्यतन सेट भी है, जिसे भारत द्वारा अपनी बेहतरी के लिए डिजाइन किया जा रहा है। लोगों का यह समुदाय मूल भारतीयों और दुनिया के बीच एक जैविक कड़ी के रूप में भी कार्य करता है जो वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार को बढ़ावा देने में मदद करता है, दीर्घकालिक

व्यापार और अंतर्राष्ट्रीय उद्यमशीलता संबंधों की स्थापना में भी योगदान देता है और इस प्रकार भारत के विनिर्माण और सेवा क्षेत्र की क्षमता को रोशन करता है। भारत की युवा आबादी की साख पर ध्यान केंद्रित करने के साथ, घरेलू आधार पर निर्णय लेने, नीति तैयार करने और सुधार शुरू करने में सक्षम, साथ ही विदेशी भूमि पर भी, यदि उचित अवसर प्रदान किए जाते हैं, तो कई विदेशों में फैले इस समुदाय की भागीदारी घरेलू देश की मदद करती है। राष्ट्रीय स्तर भारत को सकारात्मक प्रदर्शन मिलेगा और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विश्वास के आधार पर प्रतिष्ठा विकसित होगी, जो वास्तव में इस देश की राष्ट्रीय छवि को लाभप्रद तरीके से मदद कर सकती है। भारतीय डायस्पोरा वास्तव में 'सॉफ्ट पावर' का एक अमूल्य स्रोत है। यह शब्द 'जोसेफ नी' द्वारा गढ़ा गया था और इस शब्द के माध्यम से, वह जोर-जबरदस्ती के बजाय आकर्षण के माध्यम से जो चाहता है उसे प्राप्त करने की क्षमता को संदर्भित करता है। यह घटना भारतीय परिदृश्य में इस प्रकार लागू होती है। देश की संस्कृति, विचारधारा, राजनीतिक विचार, नीतियां हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय आधारों को समायोजित करती रही हैं, भारतीय प्रवासी जिन देशों में रहते हैं, वहां के प्रशासन और कूटनीति में प्रवेश के साथ भारतीय और अन्य देशों के बीच अधिक आर्थिक और सामाजिक एकीकरण का मौका भी बनाते हैं। भारत और अन्य देशों के बीच आर्थिक और राजनीतिक संबंध स्थापित करने में योगदान देने से लेकर, भारतीय प्रवासी कई अन्य रूपों में घरेलू देश की प्रगति में भागीदार बन सकते हैं, जैसे प्रत्यक्ष निवेश या किसी अप्रत्यक्ष मार्ग के माध्यम से अपने मूल क्षेत्रों में बुनियादी ढांचे के विकास के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध कराना, आधार स्थापित करना। वैश्विक परामार्श सेवाओं के लिए, भारतीय उद्योगों में प्रबंधन के लिए विश्वसनीय और प्रशासनिय विचारों को साबित करना, और मौजूदा कंपनियों के लिए उच्च प्रौद्योगिकी का उन्मुखीकरण शुरू करना। दरअसल, भारतीय प्रतिष्ठानों में प्रवासी भारतीयों द्वारा अपनाई गई सर्वोत्तम व्यावसायिक कथाएं उस प्रौद्योगिकी अंतर को दूर करने में मदद करती हैं जो आम तौर पर पश्चिमी देशों और भारत के बीच मौजूद है। पोर्टफोलियो निवेश के रूप में उनका योगदान भी सराहनीय और उल्लेखनीय है जो भारतीय कंपनियों की विश्वसनीयता को और बढ़ा सकता है। शिक्षा और कौशल निर्माण के क्षेत्र में, भारतीय प्रवासियों ने सहयोग के क्षेत्र में प्रवेश किया है और आईआईटी, एनआईटी जैसे प्रमुख संस्थानों में कई उत्कृष्टता केंद्र खोले हैं जो ज्ञान के निर्माण, नवीन विचारों को बढ़ावा देने, कौशल बढ़ाने और इस प्रकार आगे बढ़ने में मदद करते हैं। मानव संसाधन पूंजी का भंडारण साथ ही, बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को लुभाने में भारतीय प्रवासी समुदाय के लोगों से भारत को काफी फायदा होता है। समय के साथ,वैश्वीकरण और उदारीकरण नीतियों ने अन्तर्राष्ट्रीय निवेशकों और उद्यमियों के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को खोलने के रूप में अपेक्षित परिणाम दिखाए हैं, साथ ही विदेशों में रहने वाले भारतीय प्रवासी समुदायों के लिए भी। ऐसी नीतियां इन निवेशकों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों, विनिर्माण गतिविधियों, रियल एस्टेट सेवाओं आदि कई अन्य रूपों में भारतीय बाजार में निवेश करने के लिए प्रेरित कर सकती हैं। दरअसल, इस संबंध में उन्होंने भारत के आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ सार्वजनिक नीति क्षेत्र में भी नई प्रक्रियाएं शुरू की हैं। कई महत्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक योगदानों के अलावा,इंडिया डायस्पोरा भारतीय समाज में समानता को आगे बढ़ाने के लिए परोपकारी गतिविधियों में भी शामिल रहा है और इस प्रकार भारत के लोगों को कई मौजूदा सामाजिक और सांस्कृतिक बाधाओं को चुनौती देने में मदद कर रहा है। भारतीय क्षेत्र के मूल लोगों के साथ इस समूह की भागीदारी से सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ाने में मदद मिल सकती है, उदाहरण के लिएः योग, आयुर्वेद का प्रसार, भारतीय व्यंजनों, परंपराओं, अनुष्ठानों, धार्मिक कृत्यों आदि के लिए स्वाद विकसित करना और इस तरह के आदान-प्रदान से न केवल भारत को मदद मिल सकती है बल्कि सामाजिक क्षितिज में अर्थव्यवस्था को भी बढ़ावा दे सकता है। इस प्रकार, सही प्रोत्साहन और नीति ढांचे के साथ, भारतीय प्रवासियों की प्रतिभा का उपयोग राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया और विकास प्रयासों में व्यवस्थित तरीके से किया जा सकता है और यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि भारतीय प्रवासी विदेशी को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और भारतीय समाज के सुधार के लिए घरेलू नीतियां को भी प्रभावित करते हैं।

निस्संदेह, भारतीय प्रवासी कई रूपों में अपने मेजबान और अपनाने वाले देशों की अच्छाई को सुनिश्चित करने के लिए अपने कार्यों में लगातार लगे हुए हैं, चाहे वह उन दो देशों के लोगों के बीच विश्वास का निर्माण करना हो, जिनके साथ वह जुड़ा हुआ है या इन देशों के बीच बाजार के नेटवर्क का विस्तार करना हो, जिससे वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार पर सीधा असर पड़ रहा है। प्राप्तकर्ता देश के आर्थिक और गैर-आर्थिक मापदंडों में उनका योगदान समझने योग्य और सराहनीय भी है। यह समुदाय उस देश की भलाई के लिए वहां रहने वाले देश में नए नवाचारों और प्रौद्योगिकी के दोहन में प्रमुख रूप से मदद करता है और अनुसंधान और ज्ञान के मौजूदा सेट को जोड़ने की दिशा में भी काम करता है। किसी विदेशी देश में ऐसे समुदाय का अस्तित्व उस देश की नीतियों और सुधारों के कार्यान्वयन के लिए एक अतिरिक्त लेकिन

आंतरिक समर्थन के रूप में कार्य करता है। प्रवासी लोगों के मौजूदा कौशल, ज्ञान और बौद्धिक क्षमताएं प्राप्तकर्ता देश के उत्पादन और विनिर्माण गतिविधियों के कामकाज और प्रबंधन को बढ़ाती हैं। ये समुदाय परिचालन या संयोजन गतिविधियों से संबंधित जटिल कार्यों को करने में नए तरीके और विचार लाते हैं। ये प्रवासी 'मस्तिष्क लाभ' के रूप में तकनीकी ज्ञान और कौशल के हस्तांतरण का एक बड़ा स्रोत हैं। वे न केवल स्थायी प्रत्यावर्तन के माध्यम से बल्कि अल्पकालिक वापसी के माध्यम से भी इसमें योगदान कर सकते हैं। प्रवासी आबादी कई रूपों में कर राजस्व, गैर-कर राजस्व और उपभोग व्यय के कारण सार्वजनिक व्यय, उत्पादन स्तर के अलावा और बाजार की मांग के कारण राजस्व में भी वृद्धि करती है। संक्षेप में, ये लोग न केवल मांग पैदा करके बल्कि कुल मांग में जोड़कर उस अर्थव्यवस्था में आर्थिक लाभ पैदा करते हैं जिसमें वे रहते हैं। भारतीय प्रवासी समुदाय के लोग कई उद्योग सहयोगों, संयुक्त उद्यमों और व्यापारिक घरानों की कई सहायक कंपनियों की स्थापना में भी योगदान देते हैं। भारतीय प्रवासी संसाधन, वित्तीय और गैर-वित्तीय दोनों, प्राप्तकर्ता देशों में परिवार, समुदाय और राष्ट्रीय विकास प्रयासों का लाभ उठा सकते हैं। आर्थिक मापदंडों के लाभ के अलावा, ज्यादातर मामलों में, ये समुदाय अपनी ऐतिहासिक या पारंपरिक रूप से निर्धारित आध्यात्मिक और धार्मिक गतिविधियों का पालन करके उस देश की संस्कृति और विचारधारा को बढ़ावा देने में भी मदद करते हैं जिसमें वे रहते हैं। भारतीय प्रवासी लोगों द्वारा निभाई गई राजनीतिक भूमिका गोद लेने वाले देश के राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देती है। मूल रूप से,यह समुदाय अपने गोद लिए हुए देशों में महत्वपूर्ण मुख्यधारा की भूमिकाएँ और जिम्मेदारियाँ निभाता है, और इन देशों की नियति को आकार देने में मदद करता है उदाहरण के लिए सिंगापुर के राष्ट्रपति, न्यूजीलैंड के गवर्नर-जनरल और मॉरीशस, यूके और त्रिनिदाद और टोबैगो के प्रधानमंत्री सभी भारतीय मूल के हैं। यूके, यूएसए जैसे अपने निवासरत देशों के बड़े व्यापारिक उद्यमों में अत्यधिक स्थापित और पहचानने योग्य स्थान प्राप्त करने के साथ भारतीय प्रवासी तेजी से प्रमुख हुए हैं, जो भारत के साथ उनके आर्थिक संबंधों को बनाने में मदद करता है। इसलिए, प्रभावशाली भारतीय प्रवासी न केवल अपने निवासरत समाज के लोकप्रिय रवैये को प्रभावित करते हैं बल्कि सरकारी नीतियों और उन देशों में सुधार को भी प्रभावित करते हैं।

यह देखा गया है कि अक्सर जिन कारकों ने प्रवासी भारतीयों को अपनी मातृ भूमि से पलायन करने के लिए प्रभावित किया, वे अपने मूल देशों के विकास में उनकी भागीदारी और योगदान की सीमा को प्रभावित कर सकते हैं और इसलिए, इसे मुख्य कारण के रूप में देखा जाता है कि भारतीय प्रवासियों ने भारत की मदद की है। व्यापार और निवेश, नवाचार, मानव पूंजी निर्माण, तकनीकी उन्नति, पेशेवर नेटवर्क निर्माण के अलावा भारत को आर्थिक लाभ की बात करें तो प्रेषण के मामले में कई वर्षों में बहुत कुछ प्राप्त हुआ है। इस तथ्य के बारे में कोई संदेह नहीं है कि कोई भी प्रवासी अपने देश और मेजबान देश के बीच विभिन्न पेशेवर नेटवर्क की रीढ़ बनता है और विदेशों में रहने वाले भारतीय समुदायों ने कई क्षेत्रों में भारत और अन्य देशों के संबंधों को बढ़ाने के लिए यही किया है। प्रेषण के रूप में, प्रत्यक्ष या पोर्टफोलियो निवेश के रूप में धन हस्तांतरित करके भारतीय अर्थव्यवस्था को सीधे मदद करने के अलावा, ऐसे समुदायों के योगदान को अन्य गैर-मौद्रिक क्षेत्रें जैसे दोनों देशों में परोपकारी रूप से प्रभावित गतिविधियों,स्थापना या पुनः स्थापित करने जैसे अधिकांश मामलों में, अन्य अर्थव्यवस्थाओं के साथ राजनीतिक संबंध, ज्ञान हस्तांतरण, विचारों और सांस्कृतिक विचारों का आदान-प्रदान, लोगों के विभिन्न समूहों के दृष्टिकोण और योग्यता की स्वीकृति और इस प्रकार उनके साथ घुलना-मिलना, कौशल निर्माण, छोटे और मध्यम स्तर की उद्यमशीलता को प्रोत्साहन, इत्यादि मामलों में भी सरहाना की जा सकती है। भारत या तो फंड या विचारों के माध्यम से, देशों साथियों को नए नवाचारों व प्रौद्योगिकी से परिचित कराता है, विदेशों के साथ-साथ घरेलू देश में काम करने वाले भारतीयों की रोजगार क्षमता को बढ़ाने में मदद करता है, भारत और अन्य देशों के बीच आर्थिक संबंधों को प्रोत्साहित करता है जहां वे रहते हैं। इस अवधि के दौरान, प्रवासी संगठन (और कभी-कभी व्यक्ति भी) अपने मूल देश और निवास वाले देशों में तेजी से मुखर और प्रभावशाली होते देखे जा रहे हैं।

अन्य देशों में भारतीय प्रवासी समूह के अस्तित्व से प्राप्त बहुआयामी लाभों के विलेशण से इस समुदाय के बारे में उनके गृह देश के विकास में उनके योगदान के रूप में कई दिलचस्प विशेषताऐ सामने आ सकती हैं, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह इस तरह की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालता है। भारत की आर्थिक और राजनीतिक छवि के उत्थान के लिए यह समुदाय जहां वे रहते हैं, राजनीतिक और आर्थिक रूप से प्रभावशाली डायस्पोरा का उपयोग राष्ट्र के आर्थिक हितों को आगे बढ़ाने के लिए किया जा सकता है, जो मातृ भूमि के आर्थिक हितों के लिए मेजबान राष्ट्र में नीतिगत निर्णयों को और अधिक प्रभावित कर सकता है और इसे भारतीय डायस्पोरा के मामले में दोहराया गया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि एक अच्छी तरह से वाकिफ, प्रभावित और जानकार भारतीय प्रवासी अपने मूल

देश को तो लाभ पहुंचाता ही है साथ ही अपने क्षेत्रीय संस्कृति सभ्यता तथा कौशल से मेजबान देश को भी अपने योगदान से समृद्ध बनाता है। यह भी महसूस किया गया है कि विदेशों में रहने वाले समुदायों के जीवन की गुणवत्ता को बेहतर बनाने में उनकी सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा के रूप में भारत की एक मजबूत भूमिका है क्योंकि संपन्न वर्गों के अलावा, विदेश में काम करने वाले खासकर खाड़ी देशों में काम करने वाले अकुशल मजदूरों की भी बड़ी संख्या है। भारत को भी सम्मानजनक कार्य और जीवन स्थितियों को सुनिश्चति करने के लिए अनुरूप कदम उठाने चाहिए। भारत सरकार द्वारा घोषित सामाजिक सुरक्षा योजनाएं उनके भविष्य की सुरक्षा के लिए सही दिशा में हैं जैसे प्रवासी कौशल विकास योजना, प्रवासी भारतीय बीमा योजना (पीबीबीवाई) आदि। भारत में, जहां विदेशी प्रेषण राष्ट्र की कुल आय में महत्वपूर्ण योगदान देता है, सरकार के पास एक उचित प्रवासी सहभागिता नीति होनी चाहिए। प्रवासी केंद्रित सार्वजनिक-निजी भागीदारी के विकास को सुविधाजनक बनाने पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। रणनीति यह होनी चाहिए कि अपने सामाजिक नेटवर्क को आर्थिक प्रगति के एक शक्तिशाली स्रोत के रूप में विकसित करने के लिए पहचान और स्नेह की भावनाओं का ध्यान रखा जाए।

इस तथ्य से कोई इंकार नहीं है कि प्रवासी समूह हमेशा अपने मूल देश के साथ-साथ अपने मेजबान देश के लिए भी काम करता है। आवश्यकता इस बात की है कि सफलता की ऐसी कुंजी विकसित की जाए, जो प्रवासी समुदायों के इन लोगों के साथ विश्वसनीय संपर्को के विश्व स्तर पर वितरित नेटवर्क विकसित करने के रूप में हो। दिलचस्प बात यह है कि ये संबंध नीति निर्माताओं, हित समूहों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों आदि सहित सभी आयामों की रुचि की मदद से काफी बढ़े हैं। प्रवासी सदस्य किसी भारत के लिए स्वयं को सॉफ्ट पावर बनाने में मदद कर सकते हैं और एक व्यापक प्रवासी रणनीति को लागू करके इसका उपयोग किया जा सकता है और इसे यथोचित प्रभाव में परिवर्तित किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू : इंडियन डायस्पोरा, ''अ यूनिक फोर्स ग्लोबल सिस्टम'' (द हिंदू, 11 जनवरी 2023) http://www.thehindu.com/indiandiaspora "a uniqueforceinglobalsyste" (aug 11,2023)
2. यंग टीटी, रहमान एम. (2013). इंट्रोडक्शन, डायस्पोरा, इंगेजमेंट एंड डेवलपमेंट इन साउथ एशिया
3. जयराम, एन (1998). सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ द अदर इंडियन : एनकाउंटर बिटविन इंडियन नेशनल एंड डायस्पोरा इंडियंस जर्नल आफ सोशल एंड इकोनामिक डेवलपमेंट, वाल्यूम 1

–डॉ. हिमांशु यादव

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,
श्यामा प्रसाद मुखर्जी राजकीय डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के ललित निबंधों में भारतीय संस्कृति के तत्त्व

—डॉ. गीता अस्थाना
—रूबी सिंह

निबंध गद्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा मानी जाती है। निबंध वस्तुतः एक परिष्कृत और परिमार्जित गद्य का प्रतीक है। इसे आज के संदर्भ में हिन्दी निबंध एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। हिंदी साहित्य में निबध को अपना एक विशेष दर्जा प्राप्त है। यह कथेतर साहित्य के क्षेत्र साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में आज हमारे सामने आया है। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ.रामचंद्र शुक्ल इसे गद्य की कसौटी मानते हैं। निबंध हिंदी साहित्य की एक नितांत आधुनिक विधा के रूप में प्रचलित है। यह प्रबंध और लेख से एकदम हटकर है विषय और शैली की दृष्टि से यह भावात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक ललित व्यंग्य तथा हास्य अनेक रूपों में देखे जा सकते हैं। इन प्रकारों में सबसे प्रचलित ललित निबंध को माना जाता है जो आज साहित्य में एक बहुत ही प्रचलित हो चला है। ललित निबंधों में मुख्य रूप से आत्मपरक विषय प्रधान और व्यक्ति निबंध अधिक आते हैं। ललित से अभिप्राय सुंदरता और रस प्रवणता से हैं। ललित का सामान्य अर्थ सुंदर होता है अर्थात सुंदर तथा मनमोहक निबंध को हम ललित निबंध कह सकते हैं।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के ललित निबंध अत्यंत सहज और सरल स्वभाव के रूप में हमें गदगद करते हैं। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद की मान्यता है कि सुंदरता और सहज मनुष्य के द्वारा निर्मित जो सौंदर्य होता है उसे ही ललित कहा जाता है। लालित्य वस्तुतः औचित्य की सहजता और स्वाभाविक उत्पत्ति का ही दूसरा प्रतीक माना जाता है। ललित निबंधों में इस प्रकार की लालित्य उत्पन्न करने की क्षमता डॉ. विश्वनाथ प्रसाद में साफ देखी जा सकती है। उनके लगभग सभी निबंधों में एक स्वाभाविक कोमलता है जो ललित निबंधों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो उनमें देखते ही बनती है। डॉ. देवी प्रसाद कुंवर के शब्दों में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद समीक्षक कथाकार ललित निबंधकार के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं किंतु ललित निबंधों में इनका मन विशेष रूप से रमा। डॉ. विश्वनाथ ने अपने ललित निबंधों में संवेदना को अधिक महत्व दिया इसलिए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के ललित निबंधों में अपनी अलग पहचान बनाई। उनके निबंधों में आम आदमी की पीड़ा संघर्ष और अपनी मिट्टी के प्रति गहरी प्रेम की अनुभूति देखने को मिलती है। सांस्कृतिक आस्था, राष्ट्रीय अस्मिता, मिट्टी की ललक तथा लोक मन ने अधिक प्रेम दिया है। इनके द्वारा रचित अनेक निबंध अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। मौसम के साथ भरपूर लगाओ विश्वनाथ के निबंधों की महत्वपूर्ण विशेषता है।

ललित निबंधों को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है। प्रथम भावात्मक एंव दूसरा कलात्मक। भावात्मक निबंध मनुष्य के अंतर्मन एवं उसके स्वरूप का निर्माण करते दिखाई देते हैं तो कलात्मक निबंध सामान्यतः उसके बाह्य स्वरूप में सहायक सिद्ध होते हैं। भावात्मक निबंधों के अंतर्गत व्यक्तित्व, विषय, विचार या बौद्धिक विज्ञान तत्व, कल्पना, भाव आदि तत्वों की बात की जाती है। ललित निबंध मुख्य रूप से व्यक्ति परक निबंध ही कहे जा सकते हैं। व्यक्ति अपनी आत्माभिव्यक्ति द्वारा अपने भावों को प्रकट करता है यह आत्माभिव्यक्ति साहित्य में महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि प्रत्येक साहित्यकार अपनी भावात्मक अभिव्यक्ति द्वारा ही आत्म संतोष का सुख पाने के लिए साहित्य लिखा करता है अपनी अपूर्णताओं को पूर्ण रूप देने में वह समाज की ओर अग्रसर होकर इसका पालन करता है। वह अपने हृदय के भाव एवं विचार को संपूर्ण मानव जाति के साथ बांधने का कार्य करता है। व्यष्टि का समष्टि के साथ मिलन में वह अद्‌भुत आनंद की प्राप्ति करता है। आत्मा की अभिव्यक्ति के संदर्भ में डॉ. नगेंद्र की मान्यता है कि 'यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को चाहे उसमें 1 कैसे दुर्गुण क्यों न हो अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है। ''ललित निबंधों में विषय की प्रधानता नहीं होते हुए भी विभिन्न विषयों के प्रति रुझान आवश्यक माना जाता है। एक ललित निबंधकार के लिए विषय की कोई सीमा

निर्धारित नहीं होती। वह दुनिया के प्रत्येक विषयों में से अपने अनुकूल रूप सुन लेता है और अपनी रचना करता है। ललित निबंधों में विचार या बुद्धि का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। विचार वस्तुतः निबधकार के अंतर चिंतन अथवा सहज ऊपरी चेतना से निकलकर निबंधों में आते हैं। विचार अथवा बौद्धिक ज्ञान के अभाव में ललित निबंध केवल प्रलाप मात्र बनकर रह जाता है। एक ललित निबंधकार सर्वत्र ही कोरी कल्पना के सहारे अपने निबध नहीं लिखता बल्कि यथार्थ की ठोस भूमि में वह कल्पना की उड़ान भरता है। ललित निबंधों में निबंधकार के भाव एवं विभिन्न विचारों को संप्रेषित करने के लिए कलात्मक आधारभूत तत्व का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है। इसके अंतर्गत भाषा शैली इत्यादि का समावेश किया जाता है। ललित निबंधकार प्रमुख रूप से अपनी सहज अभिव्यक्ति के लिए सहज भाषा को ही महत्व देता है। उसके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द सार्थक और यथार्थवादी होते हैं। वह कोमलकांत पदावली और कहानी की तरह रसात्मक शैली में अपनी बातें रखता है। वह कहावत और मुहावरों के प्रयोग से भाषा का आकर्षण और अधिक बढ़ा देता है। विभिन्न भाषाओं के शब्द जैसे संस्कृत ,अंग्रेजी, उर्दू आदि द्वारा वह भाषा के अनुकूल अपने मनोभावों को पाठक के सामने लाता है। ललित निबंधों की शैली मिश्रित शैली होती है। इसमें भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक विचारात्मक, प्रवाह लाक्षणिक तार्किक आदि अनेक भेद सभी शैलियों में कहीं ना कहीं मिल जाएंगे। विभिन्न शैलियों के मिश्रित रूप से बनी इस शैली को ललित शैली कहना उचित जान पड़ता है कारण स्पष्ट है ललित निबंधों में समय-समय पर परिवर्तित शैली नवीनता का बोध कराती चलती है। सौंदर्य इसी शैली में उभर कर आता है। इसमें वार्तालाप, कलात्मक आदि सभी के दर्शन होते हैं। सभी शैलियों इसे सहजानंद से भरती है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति में से एक मानी जाती है। भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृतियों में से एक मानी जाती है। इस संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस संस्कृति में विश्व की लगभग सभी संस्कृतियों का समावेश देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति विविधताओं से भरी पड़ी है। इसमें अनेक त्योहार, पर्व, उत्सव आदि का संचालन समय-समय पर होता रहता है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने भारतीय समाज में व्याप्त अनेक त्योहारों एवं उत्सवों का उल्लेख किया है। उन्होंने 'फागुन के दिन चार' नामक निबंध में होली के पर्व का अत्यंत सुंदर ढंग से चित्रण किया है। होली के समय भारतीय समाज के सच्चे और यथार्थ चित्र को उन्होंने अपने इस देश में प्रस्तुत किया है। होली के दौरान घर की क्या स्थिति होती है उसका उल्लेख भी इस प्रकार करते हैं—'' होली में जमाता आए तो सारी योजनाएं टूट गई। आंगन, कमरे, छत सब रंगीन हो गए। मन रंगीली ने अंदर से बाहर तक रंग दिया। इन रंगों में स्नेह का चटक लाल रंग भी था। और जीवन की हरीतिमा का हरा रंग भी था। मैं रंग से अक्सर बसता हूँ। मेरे यहां की होली दोपहर तक रंगों से सराबोर होती है इसलिए मैं घर में ही (सा) दुबका रहता हूँ। इस बार रंग मेरे घर में ही धमाचौकड़ी मचाने लगा था। लड़कों ने भी मौका पा लिया था जमकर होली खेली आज भी आंगन रंगीन है। कमरों की फर्श पर तरह-तरह के रंगों की इबारतें खिलखिलाती रही है। एक बार मन में आया कि धो दूँ फिर सोचा कि रहने दूँ। जीवन सुख के जिन क्षणों में पेंग मारने लगता है जिन क्षणों में वह तरह-तरह के रंगों में अपने को डुबोने लगता है जिन क्षणों में वर्जनाओं स्वयं रखकर टूट जाती है उन क्षणों की यादों को जब तक हो सके संजोकर रखना चाहिए।[2]

भारतीय संस्कृति में भक्ति का विशेष स्थान है। भारत का वर्तमान और इतिहास भक्ति से भरा हुआ है। भक्ति को भारत की आधारशिला कहा जाता है। भारतीय समाज में अनेक धर्मों के लोग वास करते हैं। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने भारतीय समाज में प्रतिष्ठित वैष्णव धर्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कराने का प्रयास किया है। उन्होंने वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण विशेषता का उल्लेख अपने निबंधों के माध्यम से किया है। वैष्णव धर्म अत्यंत प्राचीन धर्म माना जाता है। इस धर्म में विष्णु और उसके स्वरूप को आराध्य मानकर उसकी पूजा की जाती है। वैष्णव धर्म के अंतर्गत मुख्य रूप से चार संप्रदाय आते हैं। प्रथम श्री संप्रदाय, दूसरा ब्रह्म संप्रदाय, तीसरा रुद्र संप्रदाय और चौथा निम्बार्क संप्रदाय। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर उसके संबंध में अपने अपने विचार प्रकट किए है। वैष्णव धर्म की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए उन्होंने 'हरसिंगार नहीं फूला' में लिखा है- ''आज वैष्णवता का अर्थ है पराई पीर को जानना। सुख दुःख में समभाव होना। मान अपमान से परे होना। निंदा और स्तुति में संतुलित होना। राग की एक ऐसी दशा में जीना जहां क्षण-क्षण सप्राण लगे। दिशा-दिशा शंख से गूंजे। श्रीकृष्ण की वंशिका सरगम जीवन को मुक्त करें। श्री राम के सौर्य की तरह सूर्य मन के आकाश को उपर उठाए। चंद्रमा राधा के नूपुर की तरह हो जमुना फिर से राज की धारा बनकर पवित्र हो जाए।[3] "डॉ. विश्वनाथ प्रसाद हरसिंगार के फूलों की तुलना मध्यकालीन वैष्णव धर्म से करते हैं। इस संदर्भ में भी लिखते हैं- ''हरसिंगार मध्यकालीन वैष्णवता है। यह अपनी अकिंचनता में सिमटा रहता है। हर मौसम की मार को सहता है। शरद में गहरा कर फूलता है। काल को भी एक रात खिलखिला कर चुनौती देता है। काल के ललाट

पर वैष्णव के तिलक छापे की तरह दमकता है। जिसकी जिंदगी एक क्षण की होती है। वह काल के पत्र पर अपनी गाथा स्वर्ण अक्षरों में लिख जाता है। वैष्णवों ने यही तो किया था। व्यक्ति का महा भय है मृत्यु। उसका शत्रु है वासना। उसको विक्षुब्ध करती है चित्त की चंचलता। वैष्णवों ने कहा कि भगवत अर्पित हो जाने के बाद इन सबसे मुक्ति मिल जाती है। इस शरीर को छोड़ने के बाद सारूप्य, सानिध्य साजुज्य का लाभ मिलता है।[4]

भारतीय संस्कृति में राजा दशरथ के पुत्र राम का विशेष स्थान है। भगवान श्रीराम भारतीय संस्कृति के प्राण तत्व है। प्रभु राम को धर्म जाति और देश काल का आदर्श माना जाता है। भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या संसार की सबसे पवित्र भूमियों में से एक मानी जाती हैं। अयोध्या भारतीय संस्कृति में धर्म का प्रतीक है। पवित्र धरती अयोध्या पर जन्मे प्रभु श्री राम के व्यक्तित्व को डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने अपने निबंधों के माध्यम से प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है। भगवान राम के आदर्श और महान चरित्र का चित्रण उन्होंने 'मोरी सूनी अयोध्या' नामक निबंध में किया है। भगवान श्री राम के वन गमन की घटना का उल्लेख करते हुए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने लिखा है- "मिलना था सिंहासन और हो गया वनवास। राम वन चले भी गये। मंथरा 'ठकुर सुहाती' में थी। कैकयी ने स्वार्थ वश चंदनवन में आग लगा दी। राज महल से श्मशान जैसी चिरायन्ध गन्ध भभकने लगी। जहां स्वार्थ के कारण आदमी अंधा हो गया हो वहां राम रह भी नहीं सकते थे। सत्ता के गलियारे में मानवीय मूल्यों और सिद्धांतों का गला दबा दिया जाता है। सिंहासन के भूखे भेड़िए राम को सह नहीं सकते हैं। सत्ता का मद पैशाचिक मद होता है। सत्ता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। कैकयी तो बहुत ठीक थी। उसमें कुछ न कुछ है वह शेष रह गया था जिसका गला घोटकर लोग राजनेता बनते हैं।"[5] वेदों भारतीय संस्कृति का मूल आधार माना जाता है।

वेद वह पवित्र साहित्य है वेदों भारतीय संस्कृति का मूल आधार माना जाता है। वेद वह पवित्र साहित्य है जो हिंदुओं के प्राचीनतम ग्रंथों में से एक हैं। भारतीय संस्कृति में सनातन धर्म के मूल और सबसे प्राचीन ग्रंथों में वेदों को ही गिना जाता है। वेदों को ईश्वर की वाणी भी कहा जाता है। वेद वस्तुतः विश्व के सबसे पुराने धार्मिक ग्रंथों में से एक है जिनके मंत्र आज भी प्रयोग में लाए जाते हैं।

वेदों को ईश्वर कृत माना जाता है तथा ब्रह्मा को इसका रचयिता माना जाता है। वेदों के सबसे प्राचीन भाग को संहिता कहा जाता है। वेदों की भाषा संस्कृत है यह वैदिक संस्कृत कहलाती है। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन भारत और हिंदी आर्य जाति के संदर्भ में वेदों को आधार ग्रंथ के रूप में शामिल किया जाता है। संस्कृत के प्राचीन रूप को लेकर भी वेदों का विशेष महत्व बना हुआ है। वेदों को गहराई से समझना प्राचीन काल से ही भारतीय और विश्व के लिए एक पहेली बना हुआ है इसे आज तक कोई भी पूरी तरह से समझ नहीं पाया है। प्राचीन काल के जेमिनी, व्यास, कात्यायन इत्यादि को वेदों का अच्छा जाता माना जाता रहा है। मध्यकाल में रचित व्याख्या उसे इसका भरपूर उपयोग किया जाता है। विदेशी लेखकों या विद्वानों ने भी वेदों के बारे में अपनी-अपनी ओर से आलोचनाएं की है। महान ज्ञानी स्वामी दयानंद सरस्वती के विचार में ज्ञान, कर्म और उपासना तथा विज्ञान ही वेदों का विशेष विषय है जीव ईश्वर प्रति तथा नित्य सताओ का निजी स्वरूप तथा उसका ज्ञान केवल वेदों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वेदों को भारतीय दर्शन और विज्ञान का स्रोत भी माना जाता है। वेद न केवल धार्मिक अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रहे हैं। वेदों में आर्यों की संस्कृति और उसकी सभ्यताओं का उल्लेख मिलता है। मानव जाति के प्रारंभ और विनाश तक की पूरी जानकारी इसमें देखी जा सकती है। जीवन के प्रथम अवशेष वेदों द्वारा ही प्राप्त किए गए हैं। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने अपने निबंधों में वेदों के संदर्भ में भी जानकारी देने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने अनुभव के अनुसार वेद साहित्य के संदर्भ में कुछ विचार प्रस्तुत किए हैं डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने 'गुनगुनी धूप नामक' निबंध में वेद साहित्य के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं। वेदों ने डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद के व्यक्तित्व को अत्यधिक प्रभावित किया है यही कारण है कि वह अपने इस निबंध में वेदों के महत्व को समझते हुए उस पर अपना विचार प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं—"मैं कभी- कभी सोचता हूँ कि जब यह धूप नहीं थी तब क्या था। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी यही प्रश्न उठाया गया है। जब असत्य नहीं था तब भी नहीं था। पृथ्वी नहीं थी आकाश भी नहीं था ब्रह्मांड भी नहीं था। किसका स्थान कहां था। क्या उस समय दुर्गम जल था। उस समय न मृत्यु थी। न अमृता थी। न रात थी और न दिन था। अंधकार से अंधकार ढका हुआ था। सब कुछ अंजाना और जलमय था। तब तपस्या के फल से एक जीव उत्पन्न हुआ फिर परमात्मा के मन में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। इसके बाद कौन कैसे हुआ कहा नहीं जा सकता। ऋग्वेद के इस सूक्त उत्पन्न हुई। इसके बाद कौन कैसे हुआ कहा नहीं जा सकता। ऋग्वेद के इस सूक्त में सृष्टि के रहस्य को जानने की जिज्ञासा है। सृष्टि के उद्भव का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।"[6]

भारतीय संस्कृति में श्रीमद्भागवत कथा का अपना एक विशेष महत्व रहा है। भागवत कथा मानव जीवन का मूल आधार रही है। कहा जाता है कि भागवत कथा सुनने

मात्र से ही मन का शुद्धिकरण हो जाता है। मनुष्य के जीवन को सात्विक और व्यावहारिक बनाने में भागवत कथा का विशेष महत्व है। जीवन को आनंदमय मंगलमय बना कर उसका आत्म कल्याण करना ही भागवत कथा का प्रमुख उद्देश्य है। इस कथा को सुनने से जन्म जन्मांतर के विकार नष्ट होकर प्राणी को एक ठोस आधार प्राप्त होता है जिस पर चलकर वह अपना कल्याण करता है। भगवत पुराण भारतीय संस्कृति के 18 पुराणों में से सबसे प्राचीन हैं इसे ही श्रीमद्भागवत कथा के नाम से जाना जाता है। श्रीमद् भागवत कथा का प्रमुख विषय भक्ति योग है जिसमें श्रीकृष्ण को भगवान के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीमद् भागवत कथा में जिस वामन के अवतार का उल्लेख किया गया है उसकी एक छोटी सी घटना का उल्लेख डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने भी करने का प्रयास किया है। डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद लिखते हैं-''वह तो अवतारी था जिसने अपने त्रिगुणात्मक वामन रूप का विस्तार करते करते उसने पृथ्वी, आकाश, दिशाओं स्वर्ग, पाताल समुद्र पशुओं, पक्षियों मनुष्यों देवताओं और विषयों को आत्मसात कर लिया था। वह तो विश्व रूप भगवान है जो वामन होने का नाटक करता है उसने तो विश्व की सारी विभूतियाँ समाविष्ट है। उसके तो स्पर्श में काम वीर्य में जल पृष्ठ में अधर्म पद विन्यास में यज्ञ छाया में मृत्यु हास्य में माया और शरीर के रोमों में सारी औषधियाँ है।[7]

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने भारतीय संस्कृति में व्याप्त पौराणिक कथाओं को भी आधार के रुप में सम्मिलित किया है उन्होंने विष्णु पुराण में लक्ष्मी और विष्णु के स्वरूप के संदर्भ में अपने प्रसिद्ध निबंध 'मेरा सृश्टा और मेरी सृष्टि' मैं लिखा है-'' विष्णु पुराण में लक्ष्मी विष्णु के स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंधों को अनेक उपमान के द्वारा खोलने का प्रयास किया गया है। विष्णु नियम है और लक्ष्मी नीति है। विष्णु सृष्टा है और लक्ष्मी सृष्टि हैं। विष्णु संतोष है वह लक्ष्मी नित्य तुष्टि है। विष्णु जगत की गति है और लक्ष्मी इस जगत का आधार है। विष्णु चंद्रमा है और लक्ष्मी उसकी अक्षय कांति है। विष्णु महा समुद्र है लक्ष्मी उसकी तरंग है। विष्णु मुहूर्त है और लक्ष्मी कला है। विष्णु दीपक है लक्ष्मी उसकी ज्योति हैं। विष्णु वृक्ष है लक्ष्मी लता है। विष्णु दिन है लक्ष्मी रात्रि है। विष्णु नद है तो लक्ष्मी नदी है। विष्णु ध्वज है तो लक्ष्मी पताका है।[8]

यह स्पष्ट है कि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के ललित निबंधों में भारतीय संस्कृति के तत्व विद्यमान है जो उनके निबंधों में पूर्ण रूप से देखे जा सकते है साथ ही निबंधों में भारतीय संस्कृति की आस्था, झलक एवं त्यौहार को विशेष महत्व दिया गया है। पौराणिकता को समेटते हुये इनके ललित निबंध भारतीय संस्कृति को एक गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन करते है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेंद्र पृ. 40
2. कालका ज्योति मुकुट, डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, पृ. 41
3. वही, पृ. 50
4. वही, पृ. 51
5. वही, पृ. 53
6. वही, पृ. 93
7. वही, पृ. 105
8. आम आदमी की लालटेन, मोरे अंगनवा चनन केरि गदिया, विश्वनाथ प्रसाद, पृ. 16
9. कालका ज्योति मुकुट, विश्वनाथ प्रसाद, पृ. 130

–डॉ. गीता अस्थाना
शोध निर्देशिका

–रूबी सिंह
शोधार्थी
ज्वाला देवी विद्या मंदिर स्नातकोत्तर महाविद्यालय
कानपुर, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय
कानपुर, उत्तर प्रदेश

आदिवासी कविता में प्रस्तुत प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण

—डॉ. अमित कुमार भारती

आदिवासी कविता ने समकालीन हिन्दी साहित्य जगत में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज की है। आदिवासी कवि/कवयित्री अपने जीवनानुभव, सांस्कृति इतिहासबोध एवं प्रकृति के साहचर्य को साहित्य-सृजन का केन्द्रीय विषय बना रहें हैं। वे इस जनसमुदाय की भाषा, लय-स्वर, राग और जीवन-दृष्टि से संलग्न दुनियाँ की अन्तर-यात्र और गहरे मानवीय संवेदनात्मक विषयों से जोड़ रहें हैं। आदिवासी प्रति (जल, जंगल एवं जमीन) से अलग संसार की कल्पना ही नहीं करते हैं। इसीलिए वे प्रकृति और जीव-जन्तुओं पर हमले को, अपने ऊपर संकट के रूप में अनुभूति करते हैं और उसे बचाये रखने के लिए निरन्तर संघर्षरत हैं।

यह समुदाय देश के अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में विभिन्न धार्मिक, सामाजिक पहिचान के साथ जीवन्त हैं। जिन्हें समय-समय पर नाना नामों से सम्बोधित किया गया—''जैसे इंडिजिनस (देषज), प्रिमिटिव (आदिम), एबोरिजिनल (देषज), नेटिव (मूल निवासी), नैव (भोला मानव), सेवेज (जंगली), ओरिजिनल सेटलर्स (आरम्भिक निवासी), बर्बर, ट्राइब, आदिवासी''[01] जनजाति, वनवासी, आदि नामों से भी उन्हें जाना जाता है। डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रदत्त भारतीय संविधान में उनके संरक्षण, सम्वर्धन एवं शिक्षा के लिए किए गये प्राविधानों के कारण, उनमें स्वाभिमान, अधिकार की चेतना जगी है। शिक्षा की रोशनी ने उन्हें अपनी परम्परा, इतिहासबोध, वैचारिक दर्शन एवं सांस्कृतिक मूल्य के महत्त्व से जोड़ा है। जिसकी अभिव्यक्ति वे सशक्त रूप में उपन्यास, कहानी, कविता आदि के माध्यम से करने लगे हैं। चूंकि वे प्रकृति के अंचल में स्वच्छन्द, उन्मुक्त जीवन के आकांक्षी हैं इसीलिए उनके जीवन में गीत-संगीत का गहरा महत्त्व है। वे अपनी भाषा में, मनोभावों को सहज रूप में कविता के द्वारा अभिव्यक्त कर रहें हैं। इनकी कविता के गम्भीर अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्त्री-स्वर, इतिहासबोध, सांस्कृतिक वैशिष्ठ, प्रकृति के प्रति गहरी आसक्ति, विद्रोह एवं संघर्ष का स्वर प्रमुख रूप से दिखाई देता है। परन्तु वे प्रकृति और पर्यावरण संरक्षण के प्रति अधिक सजग-सतर्क दिखाई पड़ते हैं-''अपने समूह और समाज से जुड़कर प्रकृति का साथी बनकर जीना उसकी शैली और स्वभाव रहा है। वह प्रकृति से संवाद करता चलता है उसका सहयात्री है।''[02] देश के विभिन्न हिस्सों में आदिवासी समुदाय अपने विशिष्ट पहचान के साथ विद्यमान हैं, जिसमें- मीना, मुण्ड़ा, भील, गौंड़, सहरिया, संथाल, उरॉव, थारू, खड़िया, बोडो, खासी, गारो, बैगा, बंजारा, कोल आदि प्रमुख हैं।

आदिवासी साहित्य में कविता विधा मुख्य स्वर के रूप में दिखाई पड़ती है। उनकी कविता में जीवन के राग-रंग, संघर्ष, यातना, आक्रोश, प्रकृति के प्रति गहरी आसक्ति के स्वर नजर आते हैं। कविता उनके लिए अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। प्रमुख आदिवासी कवि के रूप में -निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, हरिराम मीणा, सरिता सिंह बडाईक, रामदयाल मुण्डा, महादेव टोप्पो, अनुज लुगुन,ज्योति लकड़ा, ओली मिंच, जसिन्ता केरकेट्टा, वन्दना टेटे, मुन्ना शाह, जमुना बीनी तादर, भगवान गव्हाडे, इरोम चानू शर्मिला, आदि के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं। अध्ययन की सुविधा एवं सीमा के दृष्टिगत आदिवासी कविता में प्रस्तुत प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण से सम्बन्धित कविताओं को अध्ययन के केन्द्र में रक्खा गया है। आदिवासी समुदाय एवं प्रकृति के मध्य अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए आदिवासी प्रकृति के सह-अस्तित्व के साथ जीवन की कल्पना करते हैं। प्रकृति उनके लिए सहचरी, मित्र, पूरखे, आँगन सरीखा है। उनकी कविताओं में प्रकृति के निम्नलिखित रूप दिखाई पड़ते हैं-

1. आधुनिकता बोध और प्रकृति
2. प्रकृति से गहरी रागात्मक आसक्ति
3. पर्यावरण संरक्षण की भावना
4. आदिवासी की दृष्टि में प्रकृति
5. प्रकृति के नष्ट होने की पीड़ा का स्वर

जैसे विषय परिलक्षित होते हैं।

1. आधुनिकता बोध और प्रकृति— औद्योगीकरण, मेट्रो सिटी, स्मार्ट सिटी आदि के कारण लगातार हो रहे

विकास और बेहतर महानगरीय जीवन की वजह से निरन्तर बड़े शहरों पर जनसंख्या का दबाव बढ़ रहा है। जिससे निजात पाने के लिए जंगल काटे जा रहे, नदी-नालों, तालाबों को पाटकर बहुमंजिली इमारतें खड़ी की जा रही हैं, जिससे पर्यावरण पर गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया है। विकास के नाम पर प्रकृति का अन्धाधुन्ध दोहन हो रहा है। कंक्रीट के जंगल खड़े किए जा रहे हैं। फलस्वरूप प्रकृति समय-समय पर विकराल रूप दिखाकर अपने साथ हो रहे अमानवीय कृत्य का एहसास भी करा रही है। पर्यावरण सन्तुलन तेजी से बिगड़ रहा है। इस पर गम्भीर चिंता व्यक्त करते निर्मला पुतुल अपनी कविता 'सन्थाल परगना' में लिखती हैं कि-''बाजार की तरफ भागते/सब कुछ गड़मड़ हो गया है इन दिनों यहाँ/उखड़ गये है बड़े-बड़े पुराने पेड़/और कंक्रीट के पसरते जंगल में''[03] मुन्ना साह आदिवासी की आस्था शीर्षक कविता में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक परिवर्तनों के प्रति चिंता व्यक्त कर रहे हैं। परम्परागत प्राकृतिक स्रोतों के नष्ट होने से उत्पन्न संकटों की तरफ इशारा भी कर रहे हैं तथा शहरी जीवन-संस्कृति की कृत्रिमता, कल्ब संस्कृति की निर्थकता पर करारा प्रहार भी कर रहे हैं- ''अद्यतन कृत्रिम/वादियों के बीच/खड़ा मैं आदिवासी/दूढ़ रहा हूँ/खुद में/प्रकृति का/चिरस्थाई स्वरूप/''[04] इन बदले हुए प्राकृतिक वातावरण का अभ्यस्त आदिवासी नहीं है। जिसे बचाये रखने के लिए वह संघर्षरत है। जसिंता केरकेट्टा यहीं-कहीं-इसी शहर में शीर्षक नामक कविता में जंगलों के निरन्तर हो रहे कटान से उत्पन्न/आसन्न संकटों को गौरैया के माध्यम से रेखांकित करती हैं- ''गायब होती गौरैया ने देखा/शहर के अन्दर कटकर गिरा कोई जंगल/जिसके निशानों के पास/बैठकर उसकी स्मृति के साथ।''[05]

2. प्रकृति से गहरी रागात्मक आसक्ति—आदिवासी प्रकृति-जीवी है, इसीलिए वह प्रकृति के विभिन्न उपादानों की गहरी अनुभूति अपने भीतर करता हैं। यही वजह है कि निर्मला पुतुल अपनी कविता बुढ़ी पृथ्वी का दुःख शीर्षक से लिखती हैं कि ''सुना है कभी/रात के सन्नाटे में अँधेरे से मुँह छाँप/किस कदर रोती हैं नदियाँ।''[06] नदियों के वजूद की चिंता और उसकी पीड़ा की अनुभूति को कवयित्री स्वर दे रहीं हैं। प्रकृति से भावनात्मक सम्बन्ध को उदघाटित कर रहीं हैं। अनुज लुगुन अपनी कविता अघोषित उलगुलशन में पर्यावरण के प्रति मानवीय संवेदनहीनता को रेखांकित करते हैं। प्रकृति जो जीवन दायिनी है वह आज अपने अस्तित्व से जुझने के लिए मजबूर हैं। यह अत्यन्त चिंता की बात है। वे कहते हैं-''कोई नही बोलता जंगलों के कटने पर/पहाड़ों के टुटने पर/नदियों के सुखने पर।''[07] वर्षा रानी शीर्षक से मुन्ना साह प्रकृति का मनुष्य और जीव-जन्तु के बीच अन्तः सम्बन्ध, साहचर्य को उद्घाटित करते हैं। ऋतुओं का मानव जीवन और उसकी मनोवृत्ति पर कैसा प्रभाव पड़ता है उसे कविता द्वारा व्यक्त करते हैं। वर्षा को ''रानी'' के नाम से सम्बोधित कर जल्द आकर अभिसिंचि की कामना करते हैं-''वर्षा रानी अब जल्दी आना/ना करो देर ना कोई बहाना/पेड़-पौधे सब है व्याकुल/ चिंड़ियाँ का गुम हुआ चहचहाना।''[08] क्यों महुए तोड़े नहीं जाते पेड़ से नामक शीर्षक कविता के माध्यम से जसिंता केरकेट्टा कहती हैं-''पेड़ जब गुजर रहा हो/सारी रात प्रसव पीड़ा से/बताओं, कैसे डाल हिला दें जोर से?/बोलो, कैसे तोड़ लें हम/जबरन महुआ किसी पेड़ से?''[09] यह कविता आदिवासियों की गहरी संवेदनशीलता की परिचायक है, वे प्रकृति के स्वभाव, संवेदना से भली-भाँति परचित है। प्रकृति जब-जब हँसती, गाती एवं रूदन करती है, वह भी उसी तरह से अनुकरणात्मक व्यवहार करता है। इसीलिए महुए के फूल के निर्मित्ति की अनुभूति प्रसव-पीड़ा से करता है और प्रकृति में मानवीय संवेदनाओं की तलाश करता है। रामदयाल मुण्डा अपनी कविता 'अगर तुम पेड़ होते' के द्वारा प्रकृति-प्रेम को मानवीय जीवन के रागात्मक सम्बन्धों में भी तलाशते हैं-''अगर तुम पेड़ होते और मैं पंछी/तुम्हारे पेड़ पर ही मैं डेरा डालता/अगर तुम झाड़ी होते ओर मैं तीतर/तुम्हारी झाड़ी में ही मैं वास करता।''[10] रामदयाल मुण्डा अपने प्रिय से उसी तरह की सम्बन्ध की आकांक्षा की कल्पना करते हैं, जैसे पेड़ का सम्बन्ध पंछी से, झाड़ी का सम्बन्ध तीतर से होता है। दोनों का अस्तित्व और सौन्दर्य सह-अस्तित्व पर निर्भर है। इसीलिए रमणिका गुप्ता कहती हैं-''आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी सह-अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊँच-नीच, भेदभाव व छल कपट से दूर है।''[11] प्रो. इन्द्रजीत उरांव अपनी कविता 'जागो' के द्वारा आदिवासी और प्रकृति के परिवेश में विचरते जीव-जन्तु के गहरे तादात्म को रेखांकित करते कहते हैं कि सूर्योदय से पहले ये पक्षियाँ स्वयं नीद से जागकर और अपने मधुर कण्ठ से स्वर उदभाषित कर, हमें भी नीद से जागने का संदेश देतें हैं। फुलों के बीच व्याप्त भवरे, तितलियाँ गुनगुना कर जीवन का संदेश दे रहे हैं-''देखो! चिड़ियाँ, कौवे गाछ में/चेरेबेरे जाग-जगा रहे हैं/उठो, मुर्गे बांग दे रहे हैं/फूलवारी में भवरे-तितली/गुनगुना रहे हैं, गा रहे हैं।''[12] जसिंता केरकेट्टा जंगल कहता है कविता द्वारा कहती हैं कि आदिवासी जंगल के दुरूह परिवेश एवं परिस्थितियों के मध्य जीवन-यापन करते हुए अनुकरण के द्वारा शरीरिक तथा मानसिक स्तर पर पुष्ट होता है और धीरे-धीरे प्रकृति के अनुरूप ढल जाता है। प्रकृति का साहचर्य उसके भीतर राग-रंग, सौन्दर्य एवं माधुर्य भाव से भर देता है। इसीलिए वे कहती हैं- ''जंगल का आदमी सीखता है/पगडँड़ियों से चलना पेड़ों से विकसित

होना/बारिश से नाचना/और गीत/खुखड़ियों की तरह/उग आते हैं खुद-ब-खुद।''[13]

3.*पर्यावरण संरक्षण की भावना*– आदिवासी कविता में प्रकृति, लोक-संस्कृति, लोक-परम्पराएँ एवं लोक-मान्यताओं के संरक्षण का स्वर प्रमुख रूप से सुनाई पड़ता है। वे उसे बचाये रखने के लिए प्रत्येक मोर्चे पर निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं। इस संदर्भ में गंगा सहाय मीणा का कथन दृष्टव्य है कि-''आदिवासी रचनाकारों की कविताएँ आदिवासियों में पहचान के आन्दोलन और संस्कृति, भाषा, जल, जंगल, जमीन और लाठा-जलावन को बचाये की मुहिम का हिस्सा है।''14 यह ऐसा इसलिए है क्योंकि उनका अस्तित्व ही प्रकृति से जुड़कर है जिसे वह प्रत्येक स्थिति में बनाये रखना चाहते हैं। निर्मला पुतुल अपनी कविता आओ मिलकर बचाएँ पर्यावरण संरक्षण के लिए लोगों का आह्वान करती हैं- ''आओ मिलकर बचाएँ/जंगल की ताजा हवाँ/नदियों की निर्मलता/पहाड़ों का मौन/गीतों की धुन/मिट्टी का सोंधापन/फसलों की लहलहाहट।''[15]

सभ्यताओं के मरने की बारीश नामक कविता में जसिंता केरकेट्टा एक महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त साम्प्रतिक विषय को उठा रही हैं। वह कहती हैं कि जिस तरह आधुनिक मनुष्य नितान्त व्यक्तिक हीत-चिंतन के कारण प्रकृति को नष्ट कर रहा, खासकर नदियों को जो जीवन के स्रोत हैं, जो तमाम सभ्यताओं की गवाह हैं, जिन्हें हमने प्रदूषित कर दिया है। पर्यावरण असुन्तलन के कारण नदियों का जल स्तर निरन्तर घटने के क्रम में हैं। वे कहती हैं कि नदियाँ नही बची तो मानव सभ्यता भी खत्म हो जायेगी। वे लिखती हैं-''एक दिन जब सारी नदियाँ/मर जाएँगी आक्सीजन की कमी से/तब मरी हुई नदियों में तैरती मिलेंगी/सभ्यताओं की लाो भी।''[16] प्रकृति अंचल के बहुमूल्य निधि- पेड़, नदी, झरने, पहाड़, मिट्टी एवं जीव-जन्तु सभी सुरक्षित और संरक्षित रहेंगे, तभी मानव का अस्तित्व भी बचा रह सकता है। इसीलिए हरिराम मीणा कहते हैं कि ''जिन मानव समुदायों की संस्कृति प्रकृति से निकट का सम्बन्ध बनाकर विकसित होती रही हैं वे अधिक सौन्दर्यबोधी, आनन्ददायक व कल्याणकारी होती हैं।''[17] इसलिए इन्हें बचाऐ रखने की जरूरत है। वर्तमान समय में सरकारें एवं विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाएँ भी इस दिशा में कार्य भी करती दिख रही हैं और जनसामान्य से अधिकाधिक वृक्ष लगाये जाने का आह्वान भी कर रहीं हैं। कुछ इसी उद्देश्य को लेकर चन्द्रमोहन किस्कू अपनी कविता 'चलो पेड़ लगाये' में कहते हैं–''चलो पहाड़ को बचाते हैं/पूरी धरती को/हरी बनाते हैं/तभी तो काले बादल/धरती पर उतरेंगे/और हमारी जान बचाएंगे।''[18] आदिवासियों के लिए पहाड़ देवता हैं, नदी माँ जैसी है, प्रकृति के विभिन्न अवयव से उनका अभिन्न रिश्ता है। वह उनकी सेवा करते हैं उन्हे अपना इष्ट (देवता) मानकर पूजते हैं, प्रकृति का कण-कण उनमें बसा हुआ है। उन्हे नष्ट होता देख उनका अन्तरमन कराह उठता है। वह प्रकृति से अनन्तर संवाद करता रहता है। यही विचार भावना पर्यावरण कविता द्वारा व्यक्त करते प्यारी दूरी कहती हैं–''हे पहाड़ देवता/हे नदी माता/हे जंगल राजा/पहाड़ टूट गए/नदी सूख गई/जंगल कट गए/किसकी मैं पूजा करूँ।''[19]

4. *आदिवासी की दृष्टि में प्रकृति*–आदिवासी के लिए प्रति पुरखे, मित्र, देवता, सहचर आदि जैसी है। उसका जीवन उसी अंचल में अन्तर्निहित है। जमुना बीनी तादर अपने जीवनानुभव जब आदिवासी गाता है कविता में व्यक्त करते हुए कहती हैं कि प्रकृति के आँगन में लहलहाती फसलों के बीच बहुरंगी तितलियाँ उन्मुक्त भाव के साथ विचरती हैं, तो उसके स्वरूप को देखकर मेरा मन भी उन्मुक्त जीवन के रंगीन सपने बुनने लगता है। तितलियों के सौन्दर्य को देखकर कवयित्री का मन आह्लाद से भर उठता है। वे लिखती हैं–''धान की/हरी-हरी/बालियों के बीच/रंग-बिरंगी तितलियाँ/आँख मिचौली खेलती/इन तितलियों की निहार/मेरा अल्हड़/मन भी/कोई रंगीन सपने बुनता।''[20] हरीराम मीणा अपनी कविता 'बरखा आयी' द्वारा अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि जब नीले गगन-मण्डल में काले-काले मेघों की टकराहट होती है, तब चरचराहट की ध्वनि के साथ बाँस और खजूरों के पेड़ों में बहुत सुन्दर तीर की मानिन्द कल्ले के अंकुर फूट पड़ते हैं। उस समय प्रकृति के अंचल में विचरने वाले भेड़िये, लोमड़ी आदि भी इस भयानक स्वरूप को देखकर दुबक जाते हैं। वे लिखते हैं–''काले मेघों की टकराहट/बाँसों के कुंजों और खजुरों के आँगन में/तीरों से अंकुर फूट पड़े चट-चट/भेड़ियों-लोमड़े दुबके कहीं आड़ लेकर/''[21] अनुज लुगुन सुगना मुण्ड़ा कविता द्वारा अपनी सांस्कृतिक पहचान, जंगल के साथ रिश्ते और उसके महत्त्व को उद्दघाटित करते हैं। आदिवासी और प्रकृति का अंतःसम्बन्ध इतने प्रगाढ़ हैं कि दोनों एक-दूसरे के संकेतात्मक संदर्भों, स्वर, ताल एवं संगीत को ठीक से पहिचानते हैं। प्रकृति का लालित्य, सौन्दर्य और सुगन्धि उनके जीवन को प्रकाशन से भर देता है। अनुज लुगुन उसके सौन्दर्य को रेखांकित करते कहते है–''मंदिर और नगाड़े/छऊ, जदुर और खेमटा/करम और सरहुल/पेड़ की फुनगियों पर/तीतरों की तीरयानी पर/बच्चों की तोतली बोली की तरह थे/''[22] आदिवासी के लिए प्रकृति केवल आश्रय ही नहीं है, बल्कि व्यवहार, संस्कार और जीवन दृष्टि प्रदान करती है।

5. *प्रकृति के नष्ट होने की पीड़ा का स्वर*–आदिवासी कविता में मानवीय और मानवेत्तर प्राणी की मंगलकामना का स्वर विद्यमान है। इसीलिए उसके साहित्य में प्रकृति के क्षरण की पीड़ा का स्वर सशक्त रूप में दिखाई पड़ता

है। प्रकृति पर हमलें के खिलाफ विद्रोह का स्वर उसकी कविता में सुनायी पड़ता है। प्रकृति के नष्ट होने की पीड़ा से वह बेचैन हो उठता है। जिसका जिक्र करते हुए ग्रेस कुजूर अपनी कविता 'एक और जनी शिकार' में कहती हैं-''कहाँ गई वह सुगन्ध/महुआ और डोरी की/गुलर और केमोंद की/कहाँ खो गया बाँसों का संगीत/ और जाने कहाँ जड़ गई/ ''संधना की सुगंध/''[23] ग्रेस कुजूर कलम का तीर होने देश शीर्षक नामक कविता में प्रति दोहन के कारण उत्पन्न भयावह परिस्थितियों का चित्र खिचती हैं। जंगल के अंधाधुन्ध कटान के कारण पर्यावरण में व्यापक परिवर्तन हो आया है। वायु, जल एवं ध्वनि प्रदूषण का स्तर तेजी से बड़ा है देश के कई महत्त्वपूर्ण महानगरों को जहरीली हवा ने आश्रय बना लिया है। यही स्वरूप कमोवेश प्रत्येक नगर और कस्बों में परिलक्षित होने लगा है। पर्यावरण असन्तुलन की भयावह स्थिति बनने लगी है परिणामतः ऋतुओं के स्वभाव में व्यापक बदलाव दिखाई देने लगा है। प्राकृतिक संसाधनों पर गम्भीर खतरे मडराने लगे हैं। जिसका उदघाटन करते कवयित्री कहती है कि-''उगल रही धरती आग है/धुआ हमने पीया है/ बूँद-बूँद को तरसे लोग/बूँद बहा कर जिया है/ नदियाँ हो गई कमान सब पर्वत तीर/''[24] हमारा हिसाब कौन देगा साहब? नामक कविता से जसिंता केरकेट्टा व्यवस्था पर प्रश्न उठाती कहती हैं कि-मुख्यधारा का मनुष्य मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर के नाम पर आन्दोलन करता है। मरने-मारने के लिए पागल हो उठता है, परन्तु जिस प्राकृतिक सम्पदा के पुष्ट होने से मनुष्य एवं जीव-जन्तुओं का जीवन बेहतर होता है, उसके दोहन, क्षरण होने की दशा में विरोध का कोई स्वर नही फुटता है। इसके गम्भीर दुष्परिणाम मनुष्य को भविष्य में भुगतने होंगे। जिसके दुष्प्रभाव को समय-समय पर देखा और महसूस किया भी जा रहा है। जसिंता लिखती हैं-''मंदिर, मस्जिद टुटने पर/तुम्हारा दर्द कितना गहरा होता है/कि सदियों तक लेते रहते हो उसका हिसाब/पर जंगल जिसका पवित्र स्थल है/उनको उजाड़ने का हिसाब, कौन देना सब?/''[25] 'साखू पेड़ ढह गया' कविता के माध्यम से आलोका कुजूर साखू के जंगल काटे जाने के कारण उत्पन्न परिस्थितियों से परेशान हो कहती है जंगल के सौदागार केवल जंगल को ही नही नष्ट कर रहे है बल्कि उस परिवेश में विचरण करने वाले सभी जीव-जन्तु के अस्तित्व को संकट में डाल रहे हैं। जंगल और उसके स्वभाविक सौन्दर्य को तहस-नहस होता देख आदिवासी जन बेहद दुखी एवं संतापग्रस्त है। जिसे रेखांकित करते आलोका कुजूर लिखती हैं-''जिस साखू की डाल पर/आधी रात कोयल कुकती/भिनसारे कौआ का कलरव होता/मूँह अंधेरे भौरे बाँसुरी-तान छेड़ते/जहाँ साखू का पेड़ ढह गया/''[26]उज्ज्वला अनाम तिग्गा अपनी कविता धरती के अनाम योद्धा के माध्यम से प्रकृति के प्रति गहरी चिंता एवं अपने संवेदनात्मक लगाव को अभिव्यक्त करती हैं। प्रकृति के नष्ट होने और उसके अस्तित्व पर उत्पन्न आसन्न खतरों का पुर्वानुमान कर कहती है कि हम प्रकृति के सौन्दर्य, खुशबू परिवेशगत मादकता के बगैर जीवन की कल्पना नही करते। इसीलिए वह कहती हैं कि-''हम जिएँगे जंगली घास बनकर/पनपेंगें, खिलेंगे जंगली फूलों सा/हर कहीं सबओर/मुरझाने, सुख जाने, रौंदे जाने/कुचले जाने,मसले जाने पर भी/''[27] अन्ततः कहा जा सकता है कि आदिवासी कविता मानवीय संवेदना और पर्यावरण संरक्षण के प्रति संवेदनशील है। आज प्रकृति को बचाये रखने और सम्बद्धन करने की आवश्यकता इसलिए भी ज्यादा है कि जिस तरह से आधुनिकता एवं विकास के नाम पर लगातार प्राकृतिक संसाधनों का दुरूपयोग किया जा रहा है। उसके भयावह प्रभाव दिखने लगे हैं, अचानक जलवायु परिवर्तन हो, ओजोन परत के सूराक, ग्लेशियर पिघलने की आंशका हो, या समय-समय पर वैश्विक पटल पर आ रहे भूकम्प के कम्पन्न हों। प्रकृति का यह संकेत है कि यदि यह सब यूँ ही अनवरत क्रियाशील रहा तो खतरे गम्भीर होंगे। जिसकी भयावहता को आदिवासी पहले ही महसूस कर चूके हैं। इसीलिए आदिवासी कवियों की कविता में प्रकृति और उसके अंतःसम्बन्धों दोनों के संरक्षण का स्वर विद्यमान है।

सन्दर्भ

1. केदार प्रसाद मीणा, आदिवासी समाज साहित्य और राजनीति, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 15
2. सं. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2017, पृ. 08
3. निर्मला पुतुल, नगाडे की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2012, पृ. 26
4. मुन्ना साह, डेहरी आदिवासी चेतना का कविताएं, स्वराज प्रकाशन, अंसारी रोड़ दरियागेज, नई दिल्ली, संस्करण-2014, पृ. 25
5. जसिंता केरकेट्टा, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2018, पृ. 16
6. निर्मला पुतुल, नगाडे की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2012, पृ. 31
7. सं.वन्दना टेटे, लोकप्रिय आदिवासी कविताएं, प्रभात प्रकाशन,नयी दिल्ली, संस्करण-2020, पृ. 171
8. मुन्ना साह, डेहरी आदिवासी चेतना का कविताएं, स्वराज प्रकाशन, अंसारी रोड़ दरियागेज, नई दिल्ली, संस्करण-2014, पृ. 46
9. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 141
10. रमणिका गुप्ता, कलम को तीर होने दो, वाणी प्रकाशन,

दिल्ली, संस्करण-2015, पृष्ठ संख्या-49
11. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका डिस्ट्री व्यूटरर्स लिमिटेड, नयी दिल्ली, संस्करण-2014, पृ. 35
12. सं. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2017, पृ. 85
13. जसिंता केरकेट्टा, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2018, पृ. 76
14. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी और हिन्दी उपन्यास, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2016, पृ. 30
15. निर्मला पुतुल, नगाडे की तरह बजते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2012, पृ. 77
16. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 36
17. सं.अनुज लुगुन, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2015, पृ. 17
18. चंद्रमोहन किस्कू, महुआ चुनती आदिवासी लड़की, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण-2021, पृ. 20
19. सं. वन्दना टेटे, कवि जन जनी मन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 89
20. जमुना बीनी तादर, जब आदिवासी गाता है, परिंदे प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2018, पृ. 14
21. हरिराम मीणा, आदिवासी जलियाँवाला एवं अन्य कविताएं, अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 44
22. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुण्डा की बेटी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 36
23. सं. वन्दना टेटे, लोकप्रिय आदिवासी कविताएं, प्रभात प्रकाशन,नयी दिल्ली, संस्करण-2020, पृ. 32
24. सं.रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2017, पृ. 26
25. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 15
26. रमणिका गुप्ता, कलम को तीर होने दो,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2015, पृ. 177
27. सं.वन्दना टेटे, कवि जन जनी मन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2019, पृ. 121

–डॉ अमित कुमार भारती
सहयुक्त आचार्य, हिन्दी विभाग
हीरालाल रामनिवास स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, खलीलाबाद
संतकबीर नगर (उ. प्र.) 272175

हिंदी कहानी के पटल पर विभाजन की दास्तां

—डॉ अनुपम कुमार

भारत पाकिस्तान विभाजन के पचहत्तर साल पूरे हो गए हैं। इसको लेकर हाल ही में पूरे मुल्क में अलग अलग कार्यक्रम आयोजित किए गए। आजादी के समय हुए इस विभाजन ने सिर्फ दो देश ही नहीं निर्मित किए बल्कि मानव समुदाय के बीच अलग अलग दीवारें भी खड़ी की। ये दीवारें नफरत की थीं, हिंसा और प्रतिहिंसा की थी और एक दूसरे प्रति अविश्वास और असहाय बोध की थी। इस भीषण त्रासदी को कलमबद्ध करने का काम पूरे विश्व में इतिहासकारों और साहित्यकारों ने अपने अपने ढंग से किया है। इतिहासकार यास्मीन खान ने अपनी पुस्तक ''विभाजन : भारत पाक का उदय'' में लिखा है, 'विभाजन की देहरी पर पहुंचे खासतौर से सर्वोच्च राजनीतिक गलियारे से संबंधित हिंदू, मुस्लिम और सिख अलग अलग होने की चेतना के साथ रहते थे। यह संचेतना इस बात पर कतई आधारित नहीं थी कि कोई व्यक्ति कितनी बार नमाज अदा करता या मंदिर जाता है क्योंकि इससे तो सिर्फ धर्मनिष्ठा का व्यक्तिगत स्तर ही प्रकट हुआ। समान आस्था वाले अन्य लोगों के साथ भाईचारे का यह ऐसा रिश्ता था जो अंतरजातीय विवाहों, साझे इतिहासों व बचपन से ही मन में बिठाए गए मिथकों तथा रीतियों के प्रचलन के जरिए संरक्षित और समर्पित था।'' कहने का मतलब यह कि दो संप्रदाय यानी हिंदू मुस्लिम जो सदियों से एक ही छत और एक ही मुहल्ले में रहते आए थे। लेकिन उनके बीच अचानक नफरत की आग फैल गई। इस आग में बहुत कुछ झुलस गया। गालिब के शब्दों में कहें तो 'जला है जिस्म जहां, वहां दिल भी जल गया होगा। कुरेदते हो जो अब राख जुस्तुजू क्या है।'' हालांकि मतभेद मिटाने वाली ताकतें भी वहां मौजूद थीं। इन ताकतों में एक बड़ी ताकत महात्मा गांधी जैसे लोगों की थी जिनकी दिल्ली में उपस्थिति देखते हुए लुई फिशर ने लिखा है, 'मुर्दों और पागलों के इस शहर में गांधी जी प्रेम और अहिंसा का उपदेश देने का प्रयत्न कर रहे थे।' समाज और देश में घटित इस मानवीय विभीषिका का अंकन आगे चलकर हिंदी कहानीकारों ने अपने अपने ढंग से किया है। कुछ लेखकों ने जो उस समय तबाही का मंजर देखा था उसे तत्काल अपनी कहानियों में अंकित किया तो कुछ कहानीकारों ने इस पीड़ा और विभाजन की विभीषिका को कुछ अंतराल के बाद। अलग अलग संदर्भ और नजरिए के बीच लिखी गई ये कहानियां आज जटिल सामाजिक संरचना को समझने के लिए एक टूल प्रदान करती है और भीषण सच्चाई की याद दिलाता है जो आज से सत्तर साल पहले घटित हुई थी। उस समस्या के प्रति जागरूक करने का काम करती है जिसके इर्द गिर्द हम पले बढ़े और आगे भी जा रहे हैं। सांप्रदायिकता की यह समस्या आगे भी समाज में बनी रही और कहानी के पटल पर भी इसका चित्रण होता रहा। पचहत्तर साल से लिखी जा रही इन कहानियों को पढ़ना और उस विभीषिका को समझना आज मानव सभ्यता के उस इतिहास को जानना है जो समय समय पर बदरंग नजर आती है। तथाकथित आधुनिक कहे जाने वाले समाज में ऐसी घटनाएं एक कलंक ही तरह है। यह एक ऐसे धब्बे की तरह है जिसे आसानी से मिटाया नहीं जा सकता। कुछ विद्वानों की नजर में ये कहानियां 'अतीत को समझने के लिए दस्तावेज पर निर्भर इतिहास से आगे जाकर, अतीत का साक्षात्कार करने के लिए साहित्यिक स्रोतों की ओर जाना अतीत के आषयघन वर्णन के लिए उपयुक्त है।'' देखा जाए तो विभाजन को आधार बनाकर बहुत सारी कहानियां, उपन्यास और नाटक आदि भी लिखे गए। हिंदी भी इससे अछूती नहीं रही। इसमें लिखी गई कहानियां विभाजन के दौरान की घटनाओं के साथ विशेष तौर पर उन प्रभावों और परिस्थितियों का चित्रण करती है जो इसके परिणामस्वरूप घटित हुआ।

सांप्रदायिक आधार पर हुए विभाजन की विभीषिका को केन्द्र में रखकर अज्ञेय ने एक कहानी लिखी 'शरणदाता।' सन 1947 में लिखी गई इस कहानी में हिंदू समाज से ताल्लुक रखने वाले देविन्दर लाल की चिंता और जीवन को बचाने का संघर्ष कहानी के केन्द्र में है। पाकिस्तान में रह रहे देविन्दर लाल भारत जाने की बात सोचते हैं लेकिन उनका दोस्त जो मुस्लिम समुदाय से है उन्हें जाने से रोकता है। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का हवाला देते हुए वह उस सोच का प्रतिनिधित्व करता है जो मानता है कि बहुसंख्यक समुदाय का यह दायित्व है कि वह अल्पसंख्यक का बचाव करे। ऐसा करके समाज और मोहल्ले में अमन चैन कायम करे। लेकिन उसकी यह सोच सीमित दायरे तक सिमट कर रह जाती हैं। अपने दोस्त देविन्दर लाल को दंगाईयों से बचाकर जिस घर में वह सुरक्षा के लिए रखता है उस घर का मुखिया

ही उसकी जान का प्यासा बन जाता है। कुल मिलाकर देखें तो मनुष्य कैसे अविश्वास, अकेलेपन और असुरक्षा बोध का शिकार बन जाता है इस अहसास को उभारने की कोशिश इस कहानी में की गई है। उस समय और समाज के इर्द गिर्द घटित हो रही घटनाओं के बीच हिंदी में एक और कहानी 'सिक्का बदल गया' कृष्णा सोबती ने लिखी है। देखने में यह कहानी बहुत सामान्य लगती है कि लेकिन अहसास के स्तर पर बहुत गहराई तक उतरती है। यह कहानी विभाजन के बीच उस घटना की याद दिलाती है जहां मानव समाज के संबंधों में एकाएक परिवर्तन आ जाता है। समाज में दो समुदायों के बीच व्याप्त प्रेम नफरत में बदल जाता है। बेटा सरीखा शेरा अचानक खून का प्यासा बन जाता है। कहानी का मुख्य किरदार शाहनी ने जिस मुस्लिम परिवार के बच्चे शेरा को उसकी मां के मर जाने के बाद पाल पोसकर बड़ा किया वही अब हवेली में पड़ी सोने चांदी को लूट लेना चाहता है। हालांकि मन में जब अपनत्व का अहसास होता है तो वह बदले की भावना से बाहर निकलता है। वह मां सरीखी शाहनी के साथ उनके घर तक चल देता है यह सोचकर कि शाह जी ने जो किया वह उन्हीं के साथ चला गया। अब उनकी पत्नी के साथ ऐसा बर्ताव उचित नहीं।

देखा जाए तो यह विभाजन के दौर में उन सम्बधों के झूठा पड़ जाने की कहानी है जो बरसों के त्याग और तपस्या से निर्मित हुई थी। शाहनी भरे पूरे मुहल्ले को भारी मन से छोड़कर दूसरे वतन की ओर चल देती है। इसके लिए वह मन में किसी तरह मलाल नहीं रखती। चलते वक्त वह शेरा को आशीर्वाद देती है, 'तुम्हें भाग लगे चन्ना।' देखा जाए तो यह कहानी यह सीख भी देती है कि नफरत को नफरत से नहीं बल्कि प्रेम से जीता जा सकता है। शाहनी इस औदात्य गुण से सम्पन्न हैं। सोबती की कहानी में विभाजन की विभीषिका बहुत गहरे स्तर पर दर्ज है। यहां विभाजन के दौरान घटी घटनाओं का ज्यादा चित्रण नहीं है, बदले हुए समय और परिवेश का संकेत जरूर है। इन्होंने विभाजन के दौरान घटित घटनाओं को अपनी आंखों से देखा और समझा है। 'बादलों के घेरे' में संकलित उनकी कहानियों में संकलित सिक्का बदल गया' जैसी कहानी अविभाजित पंजाब और देश विभाजन की त्रासदी, यातनाओं और विडम्बनाओं से संबंधित है। इनकी कहानी कला के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए मधुरेश ने अपनी पुस्तक हिंदी कहानी का विकास में लिखा है, मानवीय सद्भाव के क्षरण वाले उस भयावह दौर में भी, भावुक हुए बिना कृष्णा सोबती उस मानवीय तत्व को रेखांकित करती हैं जो मनुष्य में बचे हुए विश्वास को जिंदा रखे हुए था।....सिक्का बदल गया विभाजन की पृष्ठभूमि पर मानवीय सदाशयता को गहरी संवेदनशीलता से रेखांकित करता है।' देखा जाए तो इस विश्वास का ही नतीजा है कि वह शेरा की खूनी नजर से बच जाती हैं। अचानक ऐसा परिवर्तन आता है कि वह उन्हें सुरक्षित जाने या भेजने की सोचने लगता है। मुहल्ला भी भारी मन से उन्हें विदा करता है। विदा देने वालों को यह मलाल है कि हम शाहनी को नहीं रख सके। दूसरी तरफ शाहनी के मन में जरा भी मैल नहीं है। वह उस स्थिति को स्वीकार करती है जिसमें उन्हें एक जगह से दूसरी जगह जाकर रहने को मजबूर होना पड़ता है। सोबती अपनी इस कहानी के माध्यम से उस त्रासदी को भी रेखांकित करती हैं जो जेहन में गहरे तौर पर दर्ज है। उस संरचना को भी सामने रखती है जो स्थितियों के बदलने पर अक्सर घटित होता है। यह विभाजन की कहानी होने के साथ साथ मानव नियति की भी कहानी है।

विभाजन की ऐतिहासिक घटना को लेकर नई कहानी के प्रतिनिधि कहानीकार मोहन राकेश ने भी कहानी 'मलबे का मालिक' लिखा है। वैसे तो उन्होंने अपने दौर में ज्यादातर कहानी या नाटक स्त्री पुरुष संबंधों को लेकर लिखा है लेकिन विभाजन की त्रासदी से गुजरने के कारण इस त्रासदी पर भी कई कहानियां लिखी। इस बारे में आलोचक मधुरेश ने उनका आकलन करते हुए लिखा है, 'अपनी पीढ़ी के अनेक लेखकों की तरह देश विभाजन की छायाएं उनके रचना संसार पर भी झूलती दीखती है। औरों की अपेक्षा उस त्रासदी से, पंजाबी होने के नाते , उनका सीधा और प्रत्यक्ष संबंध भी रहा। 'क्लेम', 'परमात्मा का कुत्ता' और 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियां उनकी इसी अनुभव सम्पन्नता का परिणाम है।' देखा जाए तो इनकी कहानियों में मलबे का मालिक उन घटनाओं के बीच उस सत्य का उद्घाटन करती है जो विभाजन के फलस्वरूप मनुष्य को हासिल हुआ। एक किसिम की निरर्थकता और व्यर्थता का बोध मलबे के मालिक में उस रक्खे पहलवान को हासिल होता है जो विभाजन के दौरान विश्वासघात कर बैठा था। उसकी नजर अमृतसर के बांसां बाजार में रहने वाले अब्दुल गनी के नए घर पर था जो विभाजन के दौरान हुई आगजनी के कारण मलबे में तब्दील हो चुका था। कृष्णा सोबती के यहां शाहनी जिस तरह शेरा के प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करती हैं। उसके भले की चाह रखती हैं। कुछ ऐसा ही हाल गनी मियां का उस पहलवान के प्रति है जो मित्रता का भाव रखने के बाद भी विश्वासघात कर बैठा था। शेरा और रक्खे पहलवान में बस फर्क इस बात का है कि शेरा के अंदर एक परिवर्तन आता है। वह शाहनी को मां की मूरत के रूप में देखता समझता है। बचपन में अपने प्रति प्रदर्शित ममत्व को याद कर अपना दिल कठोर करने से बच जाता है। लेकिन रक्खे पहलवान ऐसा नहीं करता है। वह नफरत की आग

में बहकर गनी मियां के परिवार को खत्म करा देता है। विभाजन के उपरांत सामाजिक संबंध इस कदर बिखर और टूट जाता है कि कल तक जो अपना था वह न जाने कब पराया बन गया था। विभाजन ने दो समाज के बीच अविश्वास और नफरत के बीज बो दिए थे। इसी का परिणाम था गनी मियां के परिवार का खात्मा। इतना सबकुछ होने बाद भी गनी मियां शत्रुता का भाव रखने वाले पहलवान पर प्रेम प्रदर्शित करता है। वह कहता है, 'जो होना था, हो गया रक्खिआ। उसे अब कोई लौटा थोड़े ही सकता है। खुदा नेक की नेकी बनाए रखे और बद की बदी माफ करे। मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया, सो समझूंगा कि चिराग को देख लिया।''

इसी दौर में विभाजन की त्रासदी को बखूबी पिरोने का काम भीष्म साहनी ने अमृतसर आ गया है में किया गया है। इस कहानी में विभाजन और उसके बाद की स्थितियों का चित्रण लेखक साहनी ने अपने ढंग से किया है। यह कहानी एक समूह या संप्रदाय बीच जो नफरत का भाव पैदा हुआ है उसका चित्रण करती है। लेखक ने ट्रेन में सफर करते हुए शरणार्थियों के समूह के बीच जो गुस्सा और घृणा है उसका जीवंत चित्रण किया है। चारों तरफ हिंसा और नफरत के माहौल में जब पाकिस्तान की ओर से ट्रेन भारत में प्रवेश करती है तो अचानक माहौल सख्त सा हो जाता है। अमृतसर जो विभाजन के बाद भारत का हिस्सा बन गया है, ट्रेन का इधर प्रवेश करते ही दुबला बाबू के तेवर में अचानक बदलाव उस मानसिकता या मनोवृत्ति को दर्शाती है जो विभाजन के फलस्वरूप उपजी थी। दुबला बाबू पठान यात्रियों के खिलाफ जिस तरह की हिंसा, नफरत और नफरत का भाव प्रदर्शित करता है उसका चित्रण लेखक ने अपनी कहानी में सहज और स्वाभाविक ढंग से किया है। यह विभाजन उस राजनैतिक निर्णय का नतीजा था जिसने दो देशों के सरहदों को ही नहीं बांटा बल्कि दो समुदायों के बीच भी दीवार खड़ी कर दी थी। एक ऐसी दीवार जिसे आसानी से पाटना मुश्किल था। अमृतसर आ गया के अलावा कमलेश्वर ने अपनी कहानी 'इतिहास कथा' को भी विभाजन पर केन्द्रित किया है। यह कहानी हिंदू, मुस्लिम और ईसाई परिवार के विभाजित मानसिकता को दर्शाती है। इन सबके अलावा हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में ढेरों कहानियां इस त्रासदी पर लिखी गई हैं। बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक में लेखक स्वयं प्रकाश द्वारा लिखी गई कहानी पार्टीशन उस त्रासदी को ही नए संदर्भ में रचती है। इस कहानी के माध्यम से लेखक यह बताने की कोशिश करता है कि देश का विभाजन आधिकारिक तौर पर पहले ही 1947 में किया गया हो लेकिन यह सिलसिला आज भी जारी है। सांप्रदायिक आधार पर होने वाली राजनीति हिंदू और मुस्लिम समुदायों को बांटकर चलती है। दोनों को एक दूसरे के खिलाफ खड़ाकर हिंसा, नफरत और वैमनस्य फैलाती है। कहानी के मुख्य पात्र कुर्बान अली अपनी इस व्यथा को ही जगजाहिर करते हुए एक अजनबी से कहते हैं, 'आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं ? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था! हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है.... ।'' कहानी इस सच्चाई को अपने ढंग से उद्घाटित करती है कि राजनीति का काम तोड़ना है और संस्कृति का काम जोड़ना।

देखा जाए तो हिंदी कहानीकारों ने पिछले पचहत्तर सालों में भारत पाक विभाजन के देश को समय समय पर अलग अलग ढंग से उद्घाटित किया है। उस मानवीय पीड़ा को भी व्यक्त किया है जिसमें संप्रदाय के आधार दो दिलों को तोड़ने, उनके बीच अविश्वास पैदा करने का कार्य किया जाता है। अतीत के इन घटनाओं को कहानी के जरिए देखना समझना आज उस मानवीय सच्चाई को जानना परखना है जो स्थिति विशेष में पीड़ादायी साबित होती है। हिंदी की इन कहानियों में विभाजन की पीड़ा और उसके प्रभावों के साथ मानव समाज में घटित उन घटनाओं का इतिहास भी शामिल है जो अपने अंदर कई अविस्मरणीय प्रसंगों और परिस्थितियों को समेटे हुए है।

संदर्भ

1. यास्मीन खान, विभाजन भारत और पाकिस्तान का उदय, पेंगुइन बुक्स, पंचशील पार्क, नई दिल्ली, हिंदी संस्करण, 2009
2. लुई फिशर, गांधी की कहानी, सस्ता साहित्य मंडल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली, संस्करण, 2005
3. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, अलोपीबाग, इलाहाबाद, अष्टम सं, 2016
4. हितेन्द्र पटेल, आधुनिक भारत का ऐतिहासिक यथार्थ, राजकमल प्रकाशन पेपरबैक्स में, नई दल्ली, दूसरा संस्करण, 2022
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, छठा संस्करण, 1996
6. hindisamay.com
7. hindwi.org

–डॉ अनुपम कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, रामानुजन कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीयता की अवधारणा और साहित्य

—डॉ. राजकुमार राजन

भारतीयता की तलाश में जाना अपनी स्थापित जड़ों को उन्मूलित करना है। यह उन्मूलन हमारा अतीत, परम्परा और संस्कृति से होकर गुजरता है। विश्व सभ्यताओं के इतिहास में भारतीय संस्कृति की विशिष्टता अन्य देशों की संस्कृतियों से भिन्न है। संसार की प्राचीन सभ्यताओं के देशों की विरासत उनके भग्नावशेषों के द्वारा चिन्हित होता है, जबकि भारतीय सभ्यता का अतीत निरंतरता में सुरक्षित है। भारतीयता की तलाश भारतीय सभ्यताओं में सुरक्षित है। आध्यात्मिकता इसकी प्राण शक्ति है। आध्यात्मिकता मनुष्य जीवन के चार महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों में धर्म और मोक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य रहा है। भारतीयता के आकर्षण को विभिन्न घटनाओं से समझा जा सकता है। विश्व के विभिन्न देशों ने भारत को अपना उपनिवेश बनाया लेकिन भारत का आकर्षण देखिए कि उनमें से कुछ देश भारतीय संस्कृति में इस तरह घुल-मिल गए कि वे भारतीयता के हिस्से हो गए। इस तरह बाहर देशों से आए हुए लोग भी भारत के हिस्से हो गए। यह भारत से भारतीयता होने की श्रृंखला है जिसको शब्दों मे बाँधना कठिन है क्योंकि ''भारतीयता एक मनोभाव है।'' भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का एक अभूतपूर्व आकर्षण है कि जो आते हैं शासन करने लेकिन यहीं के होकर रह जाते हैं। भारतीयता की पहचान भारत की अस्मिताओं में संग्रहीत है जिसको सिर्फ महसूस किया जा सकता है।

भारतीयता एक सूक्ष्म मनोदशा है। भारतीयता को समझना भारतीय जनमानस को समझना है। भारतीयता की अवधारणा समन्वय एवं समावेशी है। भारत की पहचान उनकी विभिन्न संस्कृतियों, भौगोलिक क्षेत्र, भाषाओं और विभिन्न बोलियों का समावेश है। भारतीय सभ्यता की विशेषता उसकी विभिन्नता में है। यह विभिन्नता जितना समाजशास्त्र में है, उतना ही भाषा और साहित्य में भी है। भारतीय चेतना बहुआयामी, बहुधर्मी है। भारतीयता की अवधारणा हमारी सभ्यताओं की निरंतरता में भी है। भारतीयता की पहचान भारतीय संविधान में अन्तर्निहित है। भारतीय संविधान भारतीयता की मूल धरोहर है। हमारा संविधान हमारे देश को धर्मनिरपेक्ष राज्य का दर्जा देता है। धर्मनिरपेक्षता का संदर्भ भारतीयता का मूल स्वर है। धर्मनिरपेक्षता समन्वय का अधिकार देती है। यह समन्वय भारत को भारतीय बनाता है। हमारी संस्कृति, भाषा और साहित्य समन्वय का दस्तावेज है। भारतीय संविधान लोकतंत्र का अधिकार सुरक्षित करता है। लोकतंत्र जनता का शासन है जो व्यक्ति के अस्मिता को सुरक्षित रखता है। लोकतांत्रिक मूल्य भारतीयता की अवधारणा को मजबूत बनाता है। भारतीय होने का अर्थ मानवीयता, मनुष्यता, संवेदनशीलता और राष्ट्रीयता होने में है।

भारतीयता 'संलग्नता के सर्वव्यापक बोध' में है। प्रकृति उसका अभिन्न हिस्सा है। भारतीय चेतना में प्रकृति मनुष्य का साहचर्य है। इसलिए भारतीयता का अर्थ प्राकृतिक साहचर्य से भी है। भारतीय साहित्य में प्रकृति का चित्रण सिर्फ काव्य सौन्दर्य नहीं है, मानवीय दुःख-दर्द, हँसी, खुशी का पर्याय भी है। हमारी परम्पराएं हमें भारतीयता का बोध कराती रहती हैं। भारतीय सभ्यताएं परम्पराओं से जुड़ी हैं। परम्पराओं का बोध भारतीयता में निहित है। भारतीयता और भारतीय साहित्य का गहरा रिश्ता है। हमारी परम्पराएं साहित्य में सुरक्षित हैं। ''साहित्य की विशेषता इसमें है कि वह मनुष्य द्वारा सृजित होने पर भी मनुष्येतर शक्तियों से नाता जोड़ता है, अपने को केवल मानव समाज तक सीमित नहीं रखता। साहित्य का संबंध प्रकृति और ब्रह्मांड की उन समस्त अंधकारपूर्ण, रहस्यमय शक्तियों से है, जो मनुष्य के बाहर होते हुए भी उसकी नियति में दखल देती है।''[1] मनुष्य के भीतर मनुष्यता की आकांक्षा साहित्य पैदा करता है। मनुष्य अपने सम्पूर्णता की तलाश में आर्थिक मनुष्य बन जाना चाहता है, फिर भी मनुष्य आधा-अधूरा ही रहता है। मनुष्य की सम्पूर्णता साहित्य में परिभाषित होती है। साहित्य हमें प्रत्यक्षतः रोटी तो नहीं देता है लेकिन रोटी की भूख को जगाकर रखता है। साहित्य सत्य के अन्वेषण की जिजीविषा को बनाकर रखता है। भारतीय साहित्य को जानना, समझना भारतीयता को समझना है। भारतीय साहित्य खासकर हिन्दी साहित्य समन्वय का संसार है। हिन्दी साहित्य में विभिन्न बोलियों का अपना साहित्य है, फिर भी महत्त्वपूर्ण बोलियाँ हिन्दी परिवार का हिस्सा हैं। भाषा सिर्फ संप्रेषण का माध्यम नहीं है, भाषा संस्कृति की वाहक भी होती है। ''आत्म-उत्खनन अथवा आत्म-अन्वेषण का सबसे सक्षम आयुध भाषा है। भाषा मनुष्य की देह का अदृश्य अंग है जो उसे आत्मदृष्टि देता है। भाषा और आत्मबोध का यह संबंध मनुष्य

को समस्त जीव-जंतुओं से अलग एक अद्वितीय श्रेणी में ला खड़ा कर देता है।''[2] भारतीय भाषाओं की निरंतरता बिंबों और प्रतीकों में स्थित है। हिन्दी साहित्य में बिम्बों और प्रतीकों का विशेष महत्त्व है जिसमें भाषा की महती भूमिका है। भारतीयता की खोज बिम्बों और प्रतीकों में विद्यमान है। मिथक भाषा का आदि स्रोत है और भाषा साहित्य की अभिव्यक्ति, यही अभिव्यक्ति भारतीयता की खोज है। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय सामाजिक एवं राजनैतिक विश्लेषण के लिए साहित्य का सहारा लिया गया। आधुनिक युग में गद्य विधाओं में उद्धृत 'भारतीयता' साहित्य की एक नई खोज थी। हिन्दी साहित्य में 'भारतीयता' के कई रोचक प्रसंग है। हमारे अतीत के स्वर्ण युग का वर्णन करते हुए वर्तमान को भयमुक्त करना साहित्य का नैतिक धर्म है। यह धर्म साहित्य की विधाओं में (खासकर नाटकों में) मौजूद है। साहित्य, भाषा, मिथक, बिम्ब और प्रतीकों में भारतीयता परिलक्षित होती है। ''समाज अध्ययन के लिए साहित्यिक विधाओं के उपयोग की परम्परा भारत में ही नहीं है। पश्चिम में भी यह परम्परा रही है।''[3] भारतीय साहित्य हमारी संस्कृति की धरोहर है, भारतीय संस्कृति की भारतीयता का आदि स्रोत है। भारतीयता को समझने के लिए भारतीय संस्कृति की गहन पड़ताल जरूरी है।

भारतीय संस्कृति अतीत के किसी कालखंड में नहीं है बल्कि जीवन बोध के निरंतरता में है। आधुनिक युग के बड़े सांस्कृतिक चिंतक निर्मल वर्मा ने भारतीय संस्कृति को 'तीसरा महाकाव्य कहा है। ''यदि भारत का 'सभ्यता बोध और सांस्कृतिक परम्पराएं आज भी मौजूद हैं, तो उसका मुख्य कारण वह केन्द्रीय आध्यात्मिक तत्त्व है।''[4] अध्यात्मिकता भारतीयता के केन्द्र में है। आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से भिन्न करती है। भारतीय संस्कृति तीसरा अलिखित महाकाव्य है जिसे पढ़ा तो नहीं जा सकता है बल्कि स्वयं उसमें हम सभी जीते हैं। हमारी संस्कृति यदि पाँच हजार सालों से जीवंत है तो यह किसी बाहरी तत्त्वों के दबाव से नहीं बल्कि उन विश्वासों के कारण जो एक साथ रहने और जीने की अर्थवत्ता और सुरक्षा प्रदान करती है। भारत के विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग और जातियाँ अपनी साँस्कृतिक विशिष्टताओं के बावजूद एक सामूहिक बोध में थी। ''भारतीय सभ्यताओं पर असंख्य प्रहार हुए लेकिन फिर भी वह जीवित रहा, यह आकस्मिक नहीं हुआ है, इसके पीछे जातीय स्मृतियाँ हैं। भारतीय सभ्यता-बोध कोई बीती हुई याद न होकर आज भी मेंहदी की तरह हर व्यक्ति की जीवन-प्रणाली के कार्य-अनुष्ठानों में रची-बसी है।''[5] भारतीय संस्कृति की परम्पराएं ठोस और आधारभूत संरचनाओं में अन्तर्निहित है, जबकि यूरोपीय संस्कृति अतीत और वर्तमान में भिन्नता रखती है। यूरोपीय संस्कृति में प्रकृति और मनुष्य का संबंध एक-दूसरे से स्वतंत्र है, जबकि भारतीय संस्कृति एक-दूसरे की वाहक है। यूरोपीय समाज पूरी तरह से यंत्रीकरण की चपेट में है, इसलिए वहाँ मनुष्य के अंदर 'आत्मशून्यता' का भाव है, जबकि हमारे यहाँ प्रकृति मनुष्य का साहचर्य है। भारतीय संस्कृति में अलगाव भी है और जुड़ाव भी। यही कारण है कि भारतीय सभ्यताओं में अतीत और वर्तमान खंडित नहीं है। अतीत और वर्तमान के बीच निरंतरता का बोध है। भारतीय सभ्यताओं में यांत्रिकता का प्रभाव मनुष्य के जीवन को प्रभावित तो कर रहा है लेकिन जीवन के भीतरी संरचनाओं को बड़ा परिवर्तन नहीं कर रहा है। हमारी सभ्यताओं में जीवन की जिजीविषा का आधार ठोस है। इसलिए तमाम संघर्ष के बाद भी व्यक्ति के अंदर का आध्यात्मिक बोध उसे एक संबल देता है। भाग्य और नियति आध्यात्मिकता का ऐसा आधार है जो मनुष्य के असफलताओं को कर्मफलवाद से जोड़कर नियतिवादी बना देता है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य अपनी विफलताओं को ईश्वर की नियति मानकर अपने को संतुष्ट कर लेता है, जबकि पश्चिम का मनुष्य असफलाताओं को खुद की गलती से जोड़कर देखता है। भारतीय संस्कृति मनुष्य को धार्मिक या गैर धार्मिक होने की स्वतंत्रता देती है। हमारे देश में कुछ लोग आस्तिक हैं, कुछ नास्तिक और कुछ दोनों भी हैं। सभी मत के लोगों का यहाँ समान अधिकार है। हर धर्म को मानने वाले को समानता का अधिकार है। यह समान अधिकार ही भारत को 'भारतीयता' बनाता है। 'भारतीयता' बाहरी तत्त्व नहीं है, यह मनुष्य का आंतरिक भाव है जो हमारे व्यवहार, कर्त्तव्य, अधिकार, संवेदनशीलता को व्यवहृत करता है।

वैश्विक स्तर पर भारत की पहचान उसकी 'भारतीयता' में लक्षित है। भूमंडलीकरण के इस युग में संचार क्रांति ने एक आभासी दुनिया निर्मित की है। दुनिया वैश्विक स्तर पर 'बुद्ध दर्शन' से प्रभावित है। आभासी दुनिया ने 'बुद्ध दर्शन' को वैश्विक स्तर पर एक अलग पहचान दिलाई है। भारत वैश्विक स्तर पर 'बुद्ध का देश' कहा जाता है। 'बुद्ध' मनुष्य के दुःख, उनसे ऊपजी पीड़ा और उनके कल्याण के लिए उपदेश देते हैं। मनुष्य का यह दुःख ब्रह्मांड की परिधि में शामिल हो जाता है। बुद्ध दर्शन में मनुष्य की पीड़ा की कल्याण के लिए उपदेश है। यह सिर्फ सैद्धांतिक ही नहीं व्यावहारिक भी है। 'बौद्ध दर्शन' के तीन सिद्धांत, अनीश्वरवाद, अनात्मवाद और क्षणिकवाद है। भारत को 'बौद्ध दर्शन' वैश्विक पहचान दिलाता है। भारत की भारतीयता वैश्विक पहचान से भी है।

इतिहास अशोक को 'चक्रवर्ती सम्राट' कहता है। चक्रवर्ती अशोक का साम्राज्य उत्तर में हिन्दुकुश, दक्षिण में गोदावरी नदी, पूरब में बांग्लादेश और पश्चिम में

अफगानिस्तान, ईरान, ब्लूचिस्तान तक फैला था। भारत की भारतीयता 'अशोक की वीरता' में है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर 'भारत की भारतीयता' की नई पहचान हैं। दुनिया के किसी हिस्से में जहाँ समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के लिए संघर्ष होगा, वहाँ भीमराव अम्बेडकर याद किए जाएंगे। 'अम्बेडकर विमर्श' दमन, शोषण तथा अन्याय के खिलाफ जीवन-संघर्ष को प्रेरित करता है। बाबा साहेब को 'मानवतावादी विचारधारा' का प्रतीक माना जा रहा है। यही कारण है कि अमेरिका ने बाबा साहेब को 'ज्ञान का प्रतीक' कहा है और उनकी स्थापित भव्य प्रतिमा को 'स्टैच्यू ऑफ इक्वेलिटी' कहा है। हाल के दिनों में सुप्रीम कोर्ट में बाबा साहेब की मूर्ति स्थापित की गई है जो भारत को न्याय का संदेश देता है। भारत को भारतीयता की पहचान डॉ. भीमराव अम्बेडकर से भी है।

भारतीयता हमारी सभ्यताओं, संस्कृति से निर्मित होती है। सभ्यताओं और संस्कृतियों के निर्माण में हमारे महापुरुषों का योगदान है। भारत की पहचान भारतीयता से है, भारतीयता हमें विश्व के अन्य देशों से अलग महान बनाती है। हम उस देश के निवासी हैं जहाँ महावीर, बुद्ध, अशोक मौर्य और अम्बेडकर जन्म लिए। भारतीयता का अर्थ भारतीय सभ्यता, संस्कृति और उनकी परम्पराओं में लक्षित होता है। यूरोपीय समाज मानवीय और गैर मानवीय अलगाव से गुजरता है, इसलिए वहाँ मनुष्य प्रकृति के विरुद्ध है। विकास की तमाम धाराएं प्रकृति को उजाड़ कर बनाया जा रहा है, जबकि हमारी सभ्यता में आज भी प्रकृति से मनुष्य का साहचर्य है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता से जुड़ी है, जबकि यूरोपीय संस्कृति भौतिकता से प्रभावित है। यही एहसास विवेकानंद के भाषण में है जो अमेरिका के शिकागों के धर्म-सम्मेलन में दिया गया था, ''मैं तुम्हें अध्यात्म देता हूं, तुम मुझे धन दो।'' यूरोपीय संस्कृति अध्यात्मिकता को गैर-जरूरी समझता है, भौतिकता उसका लक्ष्य है, जबकि भारतीयता बोध आध्यात्मिक चेतना में अन्तर्निहित है। ''सभ्यताओं के इतिहास में भारतीय सभ्यता की एक विशेष पहचान और अस्मिता है। संसार में सभ्यता के कई प्राचीन केंद्र रहे हैं, किंतु उनमें से अधिकांश को केवल उनके भग्नावशेषों के द्वारा ही जानते हैं। भारतीय सभ्यता में एक अविश्रृंखल निरंतरता है।''[6] भारतीय संस्कृति की परम्परा वेद, पुराण और शास्त्रों से जुड़ती है। निःसंदेह भारतीय जीवन पद्धति का क्षेत्र व्यापक है लेकिन जरूरी है, समाज के हर हिस्सेदारी का प्रतिनिधित्व हमारी संस्कृति में हो, तब ही हम 'भारतीयता' को सही अर्थों में परिभाषित कर पाएंगे।

हिन्दी साहित्य 'भारतीयता' को स्थापित करने की भूमिका में है। साहित्य में मिथकों, आख्यानों और अतीत की घटनाओं पर रचनाएं सृजित की जाती हैं। 'भारतीयता' में जो 'आदर्श' और 'नैतिकता' है, उसका आख्यान साहित्य में उपलब्ध है। सत्य को जानने की जिज्ञासा मनुष्य की आदि प्रवृत्ति है। साहित्य में सत्य को जानने की कला मौजूद है। एक रचनाकार भविष्य की भयावहता को अपने समय से पहले पकड़ लेता है, उस भयावहता का समाधान भी मौजूद रहता है। यहाँ तक कि भारतीय इतिहास लेखन का प्रारंभिक स्रोत साहित्य है लेकिन इतिहास की एक सीमा होती है। इतिहास उन प्रहारों का तो उल्लेख करता है, जो मनुष्य पर होता है लेकिन उन घावों का नहीं जो मनुष्य की स्मृतियों में वर्षों तक बना रहता है। साहित्य उन घावों की स्मृतियों को अपने सृजन में व्यक्त करता है। साहित्य हमें एक नैतिक मनुष्य बनाता है। साहित्य को पढ़ते हुए एहसास होता है, कि क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। साहित्य के माध्यम से उस भारत को बेहतर समझा जा सकता है जो भारतीय इतिहास और अन्य शास्त्र में छूट गए हैं। भारत को समझने के लिए 'भारतीयता' को समझना होगा। 'भारतीयता' राष्ट्रीय प्रेम का पर्याय है।

संदर्भ

1. दूसरे शब्दों में, निर्मल वर्मा, पृ. 12
2. वही, पृ. 30
3. ज्ञान की राजनीति, मणीन्द्रनाथ ठाकुर, पृ. 147
4. आदि, अंत और आरम्भ, निर्मल वर्मा, पृ. 15
5. भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, निर्मल वर्मा, पृ. 15
6. परंपरा, इतिहास-बोध और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे, पृ. 41

–डॉ. राजकुमार राजन
एसोसिएट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1

—डॉ. संजीव कुमार गौतम

वरिष्ठ लेखक तथा पत्राकार डॉ. जसवंत सिंह जनमेजय की स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1' अपने प्रकार की अनोखी पुस्तक है। इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकगण यह सोचने को मजबूर हो जाते हैं कि किस प्रकार लेखक ने अपनी पुस्तक 'पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1' में गागर में सागर समाहित किया है। देश के ज्वलंत मुद्दों से संबंधित शायद ही कोई ऐसा पहलू (पक्ष) रहा हो जिसे लेखक ने अपनी इस पुस्तक का अंग (भाग) न बनाया हो। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को लेखक ने उसी प्रकार अंजाम दिया है जिस प्रकार कि एक-एक तिनका एकत्रित करके चिड़िया अपना घोंसला बनाती है। इस पुस्तक का सबसे बड़ा सार्थक पक्ष यह है कि लेखक ने लगभग 16 वर्षों (1996-2012) तक देश के सभी ज्वलंत मुद्दों (पक्षों) से संबंधित लेखों, टिप्पणियों को बड़े ही बेबाक तरीके से लिखा है तथा इन सभी लेखों को देश के लगभग सभी राष्ट्रीय हिन्दी भाषी समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं ने प्रकाशित किया है। कुल 164 पृष्ठों तथा चार खण्डों (1) सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संदर्भ (25-40 पृष्ठ) (2) कला, साहित्य और सांस्कृतिक संदर्भ (43-89 पृष्ठ) (3) बुद्ध, अम्बेदकर, दलित प्रसंग (98 से 148 पृष्ठ) (4) विविध प्रसंग (151-164 पृष्ठ), में विभाजित इस पुस्तक का महत्व उस समय और बढ़ जाता है जब पाठकगण इस पुस्तक को बार-बार पढ़ने को लालायित होते हैं क्योंकि लेखक का लिखने का बेबाक अदांज ऐसा है कि लेखक के लेखों, पत्रों तथा टिप्पणियों को देश के राष्ट्रीय हिन्दी भाषी समाचार पत्रों—दैनिक जागरण, अमर उजाला, हिन्दुस्तान, राष्ट्रीय सहारा, जनसत्ता और नवभारत टाइम्स तथा यू॰ जी॰ सी॰ केयर लिस्ट में शामिल शोध पत्रिकाओं- हंस, वागार्थ, बहुरि नहिं आवना एवं समयांतर तथा देश की प्रतिष्ठित राष्ट्रीय प्रान्तीय पत्रिकाओं- इण्डिया टूडे, वॉयस ऑफ बुद्धा, विज्ञान प्रगति, शिक्षा विकास परिषदः स्मारिका, कत्यूरी मानसरोवर, भीम क्रान्ति, सम्यक पब्लिक भारत, बयान, कथादेश, बहुजन न्यूज, प्रतियोगिता दर्पण, समतावादी भारत पत्रिका, फारर्वड प्रेस पत्रिका, अम्बेडकर टुडे, समता संगठन, संघ दर्पण, अपेक्षा, अम्बेडकर मिशन पत्रिका, गरिमा भारती, हम-दलित, प्रबुद्ध भारत, अश्वघोष, दलित हितेषी, सामाजिक न्याय संदेश, लाइफ पॉजिटिव, पाखी, साहित्य रंजन, कादम्बिनी, युवा संवाद, योजना, शब्द प्रवाह, अभिमूक नायक, विपाशा, सर्वशान्ति, नई दुनिया, व्यंग यात्रा, युवा संवाद, विश्व स्नेह समाज पत्रिका, सरिता, चौथी दुनिया, जगमग दीप ज्योति, सीनियर इण्डिया, मड़ई वार्षिकी, दलित साहित्य वार्षिकी, प्रबुद्ध जगत, परिकथा, हम साथ-साथ, प्रवासी, कथन पत्रिका, दि सण्डे पोस्ट, नया ज्ञानोदय, इण्डिया न्यूज, अक्षरम् संगोष्ठी, द सण्डे इण्डियन, कथा संसार-विशेषांक, उत्तरांचल पत्रिका, भारतीय लेखक पत्रिका, कथन, कथाक्रम, क्रान्ति, लोकायत, युद्धरत आम आदमी, कथा देश, बहुजन केसरी, धम्म दर्पण, दलित अस्मिता में लेखक के पत्रों, लेखों तथा टिप्पणियों को लगातार 16 वर्षों (1996-2012) तक प्रकाशित करने को मजबूर होना पड़ा। समाप्ति की ओर पहुंचते हुए मैं इतना ही कहना चाहूंगा कि अच्छी लेखनी में वो अद्भुत ताकत होती है, जो किसी भी समय, काल, परिस्थिति व क्षेत्र से संबंधित ज्वलंत मुद्दों की वास्तविक तस्वीर आम जनता के सामने ऐसे पेश करती है कि पाठक गण समझें कि यह सब हमारी आँखों के सामने की ही घटनाएं घटित हुयीं हैं और यह सब वरिष्ठ पत्रकार व लेखक डॉ. जसवंत सिंह जनमेजय ने अपनी पुस्तक ''पत्रकारिता में प्रतिक्रिया भाग-1'' के माध्यम से बखूबी कर दिखाया है और इसलिए जसवंत सिंह जनमेजय अपनी इस सारगर्वित पुस्तक को लिखने के लिए सर्वथा बधाई के पात्र हैं।

—डॉ संजीव कुमार गौतम
अध्यक्ष, आधुनिक विद्या संकाय एवं इतिहास विभाग
केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान,
(सम विश्वविद्यालय)

उनतीसवाँ देवीशंकर अवस्थी सम्मान निशान्त को

वर्ष 2023 का देवीशंकर अवस्थी सम्मान के लिए कवि, आलोचक निशान्त को चुना गया है जिन्होंने विशेष रूप से पिछले कई दशकों की कविता पर अर्न्तदृष्टि, विवेक और सहानुभूति से विचार किया है। निशान्त को उनकी पुस्तक 'कविता पाठक आलोचना' के लिए उनतीसवाँ देवीशंकर अवस्थी सम्मान दिया जायेगा। चयन-समिति ने यह निर्णय सर्वसम्मति से लिया। इस वर्ष की चयन समिति में मृदुला गर्ग, सुधीरचन्द्र, पुरुषोत्तम अग्रवाल, अशोक वाजपेयी ओर कमलेश अवस्थी शामिल थे। यह सम्मान 5 अप्रैल, 2024 को दिल्ली में साहित्य अकादेमी के सभागार में एक विशेष आयोजन में दिया जायेगा। इस अवसर पर 'आलोचना और पाठक' विषय पर परिचर्चा भी होगी।

डॉ. कमलेश अवस्थी
संयोजक-सदस्य, सम्मान चयन समिति

RNI NO. : DELHIN/2008/27588
An International Peer Reviewed Research Journal
Website : www.bahurinahiawana.in

सैंया निकस गयो, मैं ना लड़ी थी ॥
ना मैं बोली, ना मैं चाली, ओढ़ चदरिया अकेली पड़ी थी ॥
पांच देवरनियां पचीस जेठनियां, न जानो कुछ इनने कही थी ॥
रंग महल में दस दरवाजा, ना जानो कौन खिड़की खुली थी ॥
कहै कमाली कबीर की बेटी, इस ब्याही ते कुमारी भली थी। ॥

—रैदास[1]

1. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या 309, पद संख्या 72